श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ति आचार्य शांतिसागर

दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था का रौप्यमहोत्सव

तथा

श्री प. पू. १०८ आचार्यश्री का जन्मशताब्दि महोत्सव के उपलक्ष में

संपादन – उपरिनिर्दिष्ट संस्थाओं की ओर से

श्री. वालचंद देवचंद शहा, मुंबई, मंत्री

श्री. मोतीलाल मलुकचंद दोशी, फलटण, मंत्री

प्रकाशक :

श्री. वालचंद देवचंद शहा, मंत्री
श्री चा. च. १०८ आ. श्री शांतिसागर
जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण

मुद्रक :

पां. ना. बनहट्टी,
नारायण मुद्रणालय,
धनतोली, नागपूर **१२.**

संपादकीय निवेदन

प. पू. चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागरजी महाराज को जगत को कल्याणपथ प्रदर्शन करनेवाले एकमात्र जगद्‌बंधु जिनधर्म का प्रसार और प्रभावना हो, जैनकुलोत्पन्न भाइयों का स्थितिकरण हो यह विकल्प शुभोपयोग की भूमिका में रहता था। इसकी पूर्ति के लिए उपलब्ध समस्त सामग्री का उन्होंने उपयोग किया। धर्मसंस्कृति का प्राण उसका साहित्यही होता है तथा उस संस्कृति का प्रचार और प्रभावना एकमात्र उस साहित्य की रक्षा, अध्ययन और प्रसार पर ही निर्भर हुआ करते हैं, यह बात आचार्यश्री ने भलीभांति जानकर अपने जीवनकाल में जिनवाणी की रक्षा तथा प्रसार के लिए श्रावकसमाज को जागृत करके यह कार्य करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप धवलादि प्राचीन सिद्धान्तों के जीर्णोद्धार के लिए उनका ताम्रपट निर्माण तथा प्रमुख दिगंबर जैन आचार्यों के ग्रंथ प्रामाणिक हिंदी टीका-समेत छपवाकर प्रसार के हेतु उनके विनामूल्य वितरण की योजना बनाई। इस कार्य के लिए (१) श्री १०८ चा. च. आ. शांतिसागर दि. जैन जीर्णोद्धारक संस्था (२) श्रुतभांडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण इन संस्थाओं की निर्मिति संवत् २००१ तथा २०१० में हुई।

संवत् २०२६ में उक्त संस्थाओं को सेवा करते पच्चीस साल पूर्ण हुए। संस्था के जीवन में पच्चीस साल कुछ बडा काल नहीं है। परंतु सार्वजनिक संस्था के विषय में समाज में जो उदासीनता रहती है उस दृष्टि से पच्चीस साल तक सेवा संस्था के लिए गौरव की बात है। इसलिए संस्था का रौप्यमहोत्सव तथा स्मरणिका प्रकाशित करने का विचार उद्‌भूत हुआ। रौप्यमहोत्सव की चर्चा करते समय प. पू. चा. च. १०८ आचार्यश्री के जन्म को सौ साल पूरे होते हैं, अतः उनका जन्मशताब्दी समारोह भी बडे पैमाने पर संपन्न करने का विचार समाज के सामने प्रस्तुत हुआ।

दिगम्बर जैन समाज के नवनिर्माण तथा जागरण का इतिहास पू. आचार्यश्री के कार्य का सादर निर्देश किए बगैर लिखा ही नहीं जा सकता। ऐसे महान् साधु की जन्मशताब्दी मनाना यह उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का सुअवसर था। उपरोक्त दोनों संस्थाओं की स्मरणिका को उनके स्मृतिग्रंथ का रूप मिल जाय ऐसी सूचना सामने आई। उक्त दोनों दृष्टिओं से स्मृतिग्रंथ निर्माण करने का संस्था के कार्यकारिणीने निर्णय किया।

स्मृतिग्रंथ में संस्था का परिचय, अहवाल, इतिहास के साथ पू. आचार्यश्री का जीवनचरित्र, उनके संस्मरण तथा श्रद्धांजलि तो अनिवार्य ही थी। किन्तु इसके अतिरिक्त उस ग्रंथ का ऐसा प्रारूप हो की समाज को कुछ लाभ मिले इस विचार से स्मृतिग्रंथ की योजना कार्यान्वित करने के लिए श्री. पं. मोतीचंदजी गौतमचंद कोठारी, पं. जिनदासजी शास्त्री, पं. ब्र. माणिकचंद्रजी चवरे तथा पं. धन्यकुमार भोरे के साथ विचार विमर्श हुआ। उक्त दोनों संस्थाओं के निर्माण में आचार्यश्री का यह प्रधान उद्देश था कि जिनवाणी असली रूप में सुरक्षित हो, संशोधन के नाम पर उसकी कहीं हानि न हो, उसका अंतरंग प्राण और प्रेरणा जिवन्त रहें, अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा जिनवाणी अन्यथा रूप में प्रदर्शित न हो। इस दृष्टि से महान् प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्यों का जो साहित्य उपलब्ध है उसके दृष्टिकोण तथा प्रेरणा का शोध लेकर उन ग्रंथों पर 'विषयपरिचय, दृष्टिकोण तथा उसका निर्वहण' इस रूप में अभ्यासपूर्ण निबंधों का संकलन एकमेव अनोखा तथा उपयुक्त कार्य होगा।

ऐसे निबंध एकही विद्वान के द्वारा लिखे जा सकते हैं किन्तु संपूर्ण दिगम्बर जैन साहित्य का गाढ अध्ययन के साथ ही निर्विवाद पूरा अधिकार प्राप्त हो ऐसी व्यक्ति ढूंढना, तथा एकही व्यक्तिद्वारा २५-३० निबंध लिखे जाना कठिन काम था। स्मृतिग्रंथ तो विशिष्ट कार्यमर्यादा के भीतर प्रकाशित करना था। इस दृष्टि से प्रमुख दिगंबर जैन ग्रंथ चुने गये, उनपर अधिकृत रूप में लिख सके ऐसे विद्वानों की सूची बनाई गई, उनसे संपर्क स्थापित करके स्मृतिग्रंथ की रूपरेखा तयार हुई। हमें प्रसन्नता है की विद्वज्जनों ने हमारे इस कार्य में पूरा पूरा सहयोग दिया जिसके फलस्वरूप आज यह ग्रंथ समाज के सन्मुख है।

ग्रंथ का प्रारूप तैयार करने से प्रकाशित होने तक हमें श्री. ब्र. माणिकचंद्रजी जयकुमार चवरे, अधिष्ठाता महावीर ब्रह्मचर्याश्रम जैन गुरुकुल, श्री. माणिकचंद्र भिसीकर अधि. बाहुबली विद्यापीठ तथा श्री. पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे, कारंजा इनका जो योगदान मिला उसके बारेमें मेरे भाव प्रगट करने के लिए शब्द नहीं हैं। चारचार आठआठ दिन उनके साथ हमारी बैठक हुई, चर्चा हुई, उन्होंने ही प्रेस कॉपी बनवाने में अपना अमूल्य समय दिया, छपवाना, प्रूफरीडिंग, सजावट आदि जिम्मेदारी आखिर तक निभाई। जिनवाणी के तथा जैन साधु के प्रति प्रगाढ श्रद्धा से उन्होंने यह सब किया। वे हमें 'काका' कहते हैं। हमने जो बोझ उनपर डाला उन्होंने उसका पूरा निर्वाह किया। काका अपने भतीजों का कैसा आभार माने। हमें गौरव तथा अभिमान है हमारे इन भतिजोंपर।

इस ग्रंथ में संपूर्ण दिगंबर जैन ग्रंथोंपर निबंध हैं यह संपादकों का दावा नहीं है और वह काल तथा पृष्ठों की मर्यादा में अशक्यप्राय था। किन्तु साहित्य के अध्यात्म, दार्शनिक, न्याय, काव्य, पुराण आदि शाखाओं में प्रभावक आचार्यों की प्रधान कृतियाँ, जिनके विचारों की समाजपर अमिट छाप है, इसमें संमिलित हैं। सहजही तात्त्विक तथा दार्शनिक ग्रंथों को प्राधान्य मिला है। पुराण, काव्य तथा अन्य शाखाओं के परिचयरूप में निबंध मंगाये गये। ग्रंथ के दूसरे भाग का स्वरूप देखने से इसका पता चलता है। फिर भी ग्रंथ की अपूर्णता का हमें खयाल है। दोचार ग्रंथों पर विद्वानों द्वारा हमें लेख प्राप्त नहीं हो सके, इसी कारण जैन आचार्यों द्वारा निर्मित व्याकरण ग्रंथों का परिचय तथा जैन व्याकरण की विशेषता हम नहीं दे सके। फिर भी सब मर्यादाओं के भीतर ग्रंथ ज्यादा तर अधिकृत तथा परिपूर्ण हो इसका खयाल रखा गया।

तात्त्विक विचारों के मंथन के इस काल में इस दृष्टि से संपादित ग्रंथ की आवश्यकता हमें प्रतीत हुई इसलिए इस दिशा में यह अल्प प्रयत्न है। दिगंबर जैन साहित्य का परिचय पाने में यह निबंध उपयुक्त होगा ऐसा हमें विश्वास है। इन निबंधों द्वारा मूल ग्रंथों का अध्ययन तथा स्वाध्याय की प्रेरणा मिली तथा उनका हार्द समझने में कुछ सहाय्यता मिली तो यह प्रयत्न अपनी दिशा में सफल हुआ ऐसा समाधान प्राप्त होगा।

प. पू. आचार्यश्री के जीवन तथा कार्य और संस्था से संबंधित और परिचित मान्यवर साधु तथा सज्जनों से अपनी श्रद्धांजलि तथा संस्मरण भेजने का परिपत्रक भेजा गया था। जैन पत्रों में परिपत्रक प्रकाशित किया गया। समस्त त्यागीवर्ग, कार्यकर्ता सज्जनों का इस कार्य में संपादकों को अच्छा सहयोग मिला। आजतक प्रसिद्ध संस्मरण तथा चरित्र से इसमें कुछ नये संस्मरण, ऐसा कुछ नया भाग प्राप्त होगा जिससे आचार्यश्री की महिमा तथा विवेकशीलता का परिचय मिलता है। हमें विश्वास है की चरित्र तथा इन संस्मरणों द्वारा महाराज श्री का अलौकिक व्यक्तित्व, विवेकशीलता, सामाजिक जागरण की लगन, जीवन की ऊंचाई का दर्शन होगा।

इस ग्रन्थ के संपादन में अनेक महानुभावों की मदद हुई है। ग्रन्थ के संपादन में प्रारंभ से आखिरतक श्री. पं. मोतिचंदजी गौतमचंद कोठारी का बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, सूचनाएँ मिली इसलिए उनका हृदय से धन्यवाद है। चरित्र लेखक श्री. प्रा. सुभाषचंद्र अक्कोळे, संस्मरण भेजनेवाले मान्यवर महानुभाव,

तथा श्रद्धांजलि भेजनेवाला श्रद्धावनत भक्तगण इन सब के सहकार्य से स्मृतिग्रन्थ का पूर्वभाग समाज के सन्मुख आ सका है। उन महानुभावों ने तो अपना भक्तिभाव तथा कृतज्ञताही प्रदर्शित की। परंतु इस स्मृतिग्रन्थ के संपादन तथा प्रकाशन में उनका सहयोग प्राप्त हुआ है। इसलिए उन सब का यथायोग्य विनयपूर्वक कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूं। उत्तरार्ध के संपादन में जिन जिन विद्वानों को हमने निबंध लिखकर भेजने को लिखा प्रायः उन सब विद्वज्जनों ने हमारी प्रार्थना स्वीकृत करके अपने अभ्यासपूर्ण प्रबन्ध भेजे, उनके निबन्धद्वारा ही इस स्मृतिग्रन्थ की उपयुक्तता तथा सौंदर्य बढा हुआ है यह हम जानते हैं। किन शब्दों में हम कृतज्ञता का भाव प्रगट करें? उनका ऐसाही अनुग्रह बना रहे और हमें साहित्य प्रकाशन में उनका सहयोग मिलता रहे ऐसा आंतरिक भाव प्रगट करके उनके ऋण का निर्देश करते हैं।

ग्रंथ की छपाई की निगरानी तथा मुद्रासंशोधन का काम श्री. प्रा. शां. ज. किल्लेदार तथा उनके भाई श्री. हिराचंद्र किल्लेदार इन्होंने संभाला। इसलिए उक्त दोनों भाइयों का हम हृदय से आभार मानते हैं।

ग्रंथ की सुरुचिपूर्ण छपाई तथा सजावट नागपूर के नारायण मुद्रणालय के श्री. पां. ना. बनहट्टी, सुपुत्र मधुसूदन, सेवकवर्ग इन्होंने अच्छी तरह से की। जिन्होंने हमें इस कार्य में सहयोग प्रदान किया उन सबका हम आभारी हैं।

ग्रंथ में जो दोष या त्रुटियाँ रह गयीं उसकी जानकारी हमें देकर विद्वज्जन हमें क्षमा करेंगे ऐसा विश्वास है।

आचार्यश्री के जीवन तथा संस्मरणों से प्रेरणा लेकर तथा उत्तरार्ध में विद्वज्जनों के निबन्ध पढकर मुमुक्षुओं को आत्मकल्याण की प्रेरणा मिलेगी तथा जिनवाणी के अध्ययन में प्रेरणा और मार्गदर्शन मिलेगा ऐसा हमें विश्वास है। इसमें ही हम हमारे प्रयास की सफलता मानते हैं। तथा आचार्यश्री के जन्मशताब्दि के सुअवसरपर यह ग्रंथ समाज के सन्मुख रखते हुए कृतज्ञता का आनंद प्रदर्शित करते हैं।

भवदीय

श्री. वालचंद देवचंद शहा, मंत्री
श्री १०८ चा. च. आ. शांतिसागर
दि. जै. जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था

श्री. मोतीलाल मलुकचंद दोशी, मंत्री
श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति

५।६।१९७३, श्रुतपंचमी

अनुक्रमणिका

प्रथम भाग : अहवाल, चरित्र, स्मृति आदि १ से १७६

श्रद्धा के सुमन : पृष्ठ ४९ से ८४

स्मृति–मंजूषा : ८५ से १७६

दूसरा भाग : दिगम्बर जैन साहित्य परिचय और परिशीलन १ से ३६८

प. पू. १०८ आचार्यश्री शांतिसागरजी महाराज

चर्चासमय आचार्यश्रीकी प्रसन्न मुद्रा
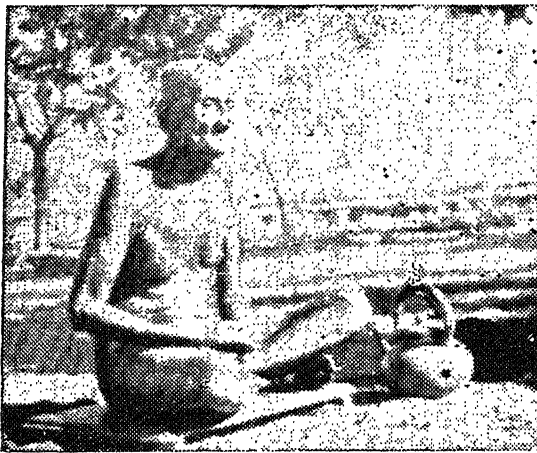
रमणीय निसर्ग में ध्यानमग्न आचार्यश्री

प. पू. समंतभद्रजी के साथ वार्तालाप करते हुये प. पू. १०८ श्री शांतिसागर बोले,
" हा कल्पवृक्ष उभा करून जातो. भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील........विकल्प करू नको........काम पूर्ण होईल ! निश्चित होईल ! हा तुम्हा सर्वांना आशीर्वाद आहे."
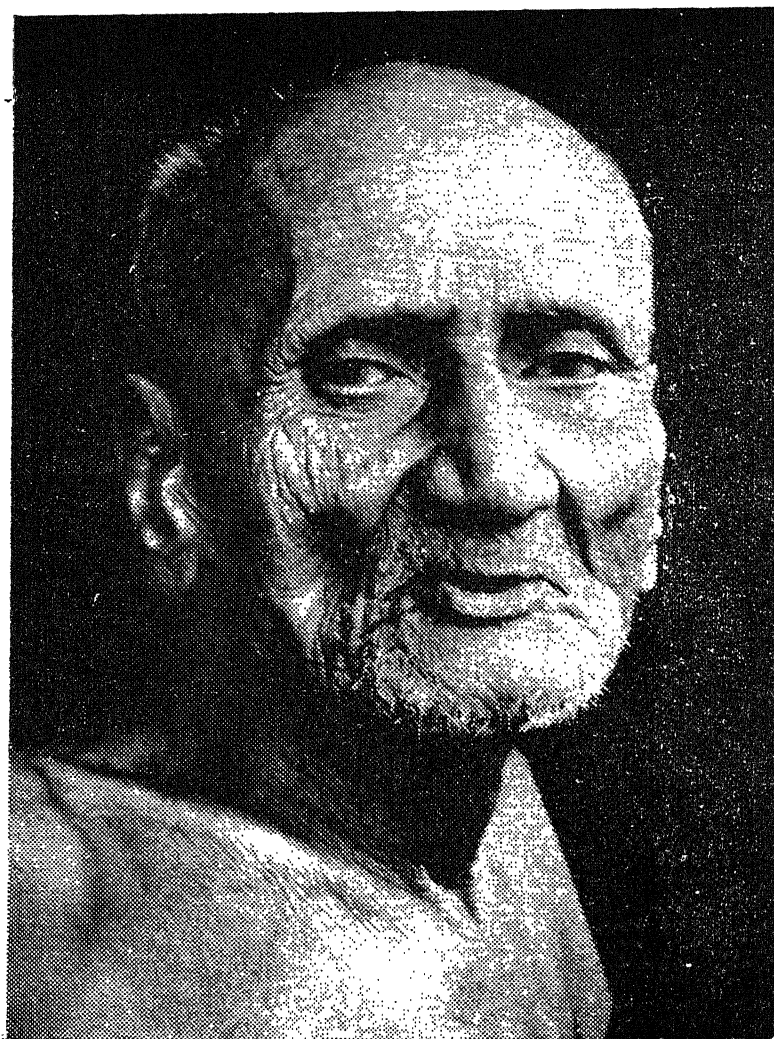
प. पू. १०८ आचार्यश्री शांतिसागर महाराज

प. पू. १०८ आचार्यश्री शांतिसागर महाराज

अंतिम आदेश देते हुए आचार्यश्री

परमपूज्य आचार्यश्रींच्या ध्वनिमुद्रित मौलिक उपदेशातील

अमोल आदेश

(श्री क्षेत्र कुंथलगिरी येथे आचार्यश्रींच्या आपल्या सल्लेखना-महाव्रताच्या २५ व्या दिवशी गुरुवार दिनांक ८-९-५५ रोजी सायंकाळी ५-१० ते ५-३२ पर्यंत २२ मिनिटे मराठी भाषेतून जो विश्व-कल्याणकारी उपदेश दिला तो ध्वनिमुद्रित (Record) करण्यात आला आहे त्यावरून)

"अकरा अंगे व चौदा पूर्व शास्त्र महासमुद्र आहे. त्याचे वर्णन करणारे आज कोणी केवली नाहीत, श्रुतकेवलीही नाहीत. आमच्यासारखे क्षुद्र काय वर्णन करणार ? आत्म्याचं कल्याण करणारी जिनवाणी सरस्वती श्रुतदेवी आहे. ती अनंत समुद्राइतकी आहे. ही जिनवाणी जो कोणी धारण करील त्या जीवाचं कल्याण होईल. त्यापैकी एक अक्षर, 'ॐ' हे एकच अक्षर जो धारण करतो त्या जीवाचं सुद्धा कल्याण होतं. सम्मेदशिखरजीवर भांडण करणारे दोन वानर या मंत्राच्या स्मरणानं स्वर्गाला गेले. याच्या स्मरणानं गोपाल सुदर्शन शेठ होऊन मोक्षाला गेला. सप्त व्यसनधारी अंजनचोर देखील मोक्षाला गेला. असे अनेकजण मोक्षाला गेलेत. हे तर सोडा ! नीच जातीचा कुत्रा जीवंधरकुमाराच्या उपदेशानं सद्गतीला गेला. इतका महिमा जिनधर्माचा आहे. परंतु तो धर्म खऱ्या अर्थानं कोण धारण करतो ? जैन होऊन सुद्धा जिनधर्मावर विश्वास नाही. अनंत कालापासून **जीव** व **पुद्गल** हे दोन्ही भिन्न भिन्न आहेत असं सर्व जग म्हणतं, परंतु विश्वास नाही. पुद्गलाला जीव व जीवाला पुद्गल मानीत आलं आहे. दोन्हीचे गुणधर्म अलग आहेत. हे दोन्ही अलग अलग आहेत. जीव पुद्गल आहे का ? का पुद्गल जीव आहे ? पुद्गल तर जड आहे. स्पर्श, रस, गंध, वर्ण त्याचे गुण आहेत. ज्ञान दर्शनरूप चेतना हे लक्षण जीवाचे आहे. आपण तर जीव आहोत. जीवाचं कल्याण करणं, त्याला अनंत सुखाला पोहोचविणं आपलं काम आहे. परंतु मोहनीय कर्मानं जग सगळं भुलून गेलं आहे. दर्शन-मोहनीय कर्म सम्यक्त्वाचा घात करते. चारित्र मोहनीय कर्म चारित्राचा घात करते. तर आपण काय केलं पाहिजे ? सुख प्राप्त करण्याकरिता काय केलं पाहिजे ? दर्शन मोहनीय कर्माचा क्षय करण्याकरिता **सम्यक्त्व** धारण केलं पाहिजे व चारित्र मोहनीय कर्माचा क्षय करण्याकरिता **संयम** धारण करावा. हाच आमचा **आदेश** आहे व हाच **उपदेश** आहे."

"अनंत कालापासून जीव मिथ्यात्व कर्माच्या योगानं संसारामध्ये फिरत आहे, म्हणून मिथ्यात्व कर्माचा नाश केला पाहिजे. सम्यक्त्व धारण केलं पाहिजे. सम्यक्त्व काय आहे ? याचं समग्र वर्णन कुंदकुंदाचार्यांनी समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि ग्रंथांमध्ये केलं आहे. पण याच्यावर श्रद्धा ठेवतो कोण ? आपलं आत्मकल्याण करून घेणारा जीवच श्रद्धा ठेवून सुख कशानं होईल याचा अनुभव घेतो. असंच संसारामध्ये फिरावयाचं असेल तर,—अनादि कालापासून फिरत आलाच आहे. उपाय नाही. तर आपण काय केले पाहिजे ?

"दर्शन-मोहनीय कर्माचा क्षय केला पाहिजे. दर्शन—मोहनीय कर्माचा क्षय **आत्मचिंतनाने** होतो. कर्माची निर्जरा **आत्म-चिंतनाने** होते. दान पूजा केली तर पुण्यबंध होतो. तीर्थयात्रा केली तर पुण्यबंध होतो. हरएक धर्मकार्य (शुभप्रवृत्ति) पुण्यबंधाला कारण आहे. परंतु केवलज्ञान होण्याला, अनंतं

कर्माची निर्जरा होण्याला **आत्म–चिंतन** हेच साधन आहे. ते आत्मचिंतन चोवीस घंटयांपैकी उत्कृष्ट सहा घडी, मध्यम चार घडी, जघन्य दोन घडी, निदान दहा पंधरा मिनिटे, किमान आमचे म्हणणे पांच मिनिटे तरी प्रत्येकाने करावे. आत्मचिंतनाशिवाय सम्यक्त्व प्राप्त होत नाही; संसारबंध तुटत नाही; जन्म, जरा व मरण सुटत नाही. सम्यक्त्वाशिवाय दर्शन मोहनीय कर्माचा क्षय होत नाही. सम्यक्त्व होऊन सहासष्ठ सागरपर्यंत कदाचित् राहील, तरी चारित्र–मोहनीय कर्माचा क्षय करण्याकरिता संयमच धारण करायला पाहिजे. **भिऊ नका ! संयम धारण करावयास भिऊ नका** !! कपड्यात संयम नाही. कपड्यात सातवे गुणस्थान नाही. संयमाशिवाय वास्तविक कर्मनिर्जरा नाही. कर्मनिर्जरेशिवाय केवलज्ञान नाही व केवलज्ञानाशिवाय मोक्ष नाही. म्हणून भिऊ नका ! भिऊ नका !! संयम धारण करावयास भिऊ नका !!! मुनिपद धारण करा ! त्याच्याशिवाय कल्याण होणार नाही.

" आत्मानुभवाशिवाय खरं (निश्चय) सम्यक्त्व होत नाही. व्यवहार सम्यक्त्व खरं (परमार्थरूप) नाहीं. ते केवळ साधन आहे. फल येण्यास फूल जसं कारण आहे तसं व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयाचं कारण आहे, असं कुंदकुंदस्वामींनी समयसारात सांगितलं आहे.

" पुद्गल आणि जीव भिन्न भिन्न आहेत हे सर्वजण सामान्यपणे समजतात; परंतु ते खरं समजलेलं नाही. खरं समजलं असतं तर भाई, भगिनी, बंधु, माता, पिता यांना आपलं म्हणून समजलं नसतं. हा सगळा पुद्गलाचा संबंध आहे. जीवाचा कोणी नाही रे बाबा ! कोणीही नाही !! जीव हा एकटा आहे ! एकटा आहे !! त्याचा कोणी नाही. एकटाच फिरतो आहे. मोक्षालाही एकटाच जाणार आहे.

" देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान या सहा गृहस्थाच्या क्रिया आहेत. असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आणि विद्या या सहा धंद्यांपासून होणाऱ्या पापांचा त्या सहा क्रियांनी क्षय होतो. त्यामुळे इन्द्रियसुख मिळतं, पुण्य प्राप्त होतं, पंच पापांचा त्याग केल्यापासून पंचेन्द्रिय सुख मिळतं, पण मोक्ष मिळत नाही. संपत्ति, संतति, वैभव, राजपद, इंद्रपद पुण्यानं मिळतं. **परंतु मोक्ष फक्त आत्मानुभवानेच मिळतो.** नय (युक्ति), शास्त्र व अनुभव या तिन्हींचा मेळ घालून पाहावा. मोक्ष कशानं मिळतो ? **मोक्ष आत्मानुभवानेच मिळतो. ही भगवंताची वाणी आहे. ही एकच सत्य वाणी आहे. ह्या वाणीचा एक शब्द ऐकला तरी जीव चढून मोक्षाला जातो. मोक्ष मिळण्यास फक्त आत्मचिंतनच कारण आहे. हे कार्य करायलाच पाहिजे.**

" सारांश, **' धर्मस्य मूलं दया '** जिनधर्माचं मूळ **' सत्य अहिंसा '** आहे. ' सत्य अहिंसा ' आपण सगळे तोंडानं म्हणतो. ' स्वयंपाक–जेवण ' ' स्वयंपाक–जेवण ' असं फक्त तोंडानं म्हटल्यानं पोट भरतं का ? प्रत्यक्ष क्रिया केल्याशिवाय–जेवल्याशिवाय पोट भरत नाही. वचन क्रियेमध्ये आणलं पाहिजे.

" बाकी सर्व सोडा. ' सत्य अहिंसा ' सत्यामये सम्यक्त्व येतं व अहिंसेमध्ये सर्व जीवाचं रक्षण होतं. म्हणून हा व्यवहार करा. हा व्यवहार पाळा. त्यामुळं कल्याण होईल. "

(आता पुरे हे).

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था

पच्चीस सालका अहवाल

परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ति श्री १०८ आचार्यवर्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था का पच्चीस साल का यह अहवाल समाज को प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता होती है। संस्था की मूल प्रेरक शक्ति प. पू. प्रातःस्मरणीय श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज ही थे। भारतीय जैन अजैन जनता प. पू. महाराजश्री क जीवन से भलीभांति परिचित है। भाद्रपद सुदी २ संवत् २०११ में उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् समाज को जो क्षति पहुंची उसकी पूर्ति असंभव है।

वि. संवत् २०००-२००१ वीरनिर्वाण संवत् २४७०-७१ में संस्था की स्थापना हुई। यह पच्चीस बरस का काल दि. जैन समाज के इतिहास में महत्त्वपूर्ण तथा संस्मरणीय रहा। वर्तमान पंचम काल के चालू तीन चार शतकों में दि. जैन साधु की परंपरा खंडितप्राय थी। उसको आगमानुकूल पुनरुज्जीवित करने का श्रेय आचार्यश्री को है। साधु का जीवन यथार्थ में अंतर्मुख दृष्टिसंपन्न होता है। बाहर के कार्यों में उनका कुछ लगाव या आसक्ती नहीं होती। अप्राकरणिक रूप में जो शुभभावरूप क्रिया बन जाती है उससे ही समाज की सांस्कृतिक धारणा बनती है। समीचीन दिगम्बरत्व का पुनरुज्जीवन, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिविहार, भारतीय जैन समाज के अपने स्वतंत्र अस्तित्व तथा धार्मिक अधिकारों की रक्षा, श्रुतप्रकाशन, सनातन दिगम्बरत्व के ऊपर होनेवाले आक्रमण का प्रतिकार, कुप्रथाओं का निर्दालन आदि जो चिरस्थायी तथा ऐतिहासिक कार्य इस समय में हुए उसमें उनकी सहज प्रेरणा थी। ऐसे महात्मा के आशीर्वाद से जो सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्य उनके जीवन में हुआ तथा उनके पश्चात् उनकी पुण्यस्मृती में अभी भी बोरिवली आदि स्थानों पर जो धर्मकार्य हुए उनको समाज कभी भी भूल नहीं सकेगी। परमपावन सर्वतोभद्र जिनागम के रक्षणार्थ श्री १०८ आ. शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था उनके ही प्रेरणा और आशीर्वाद से २००१ में स्थापित हुई। महाराज श्री के जीवनकाल में उनक आशीर्वाद से जो संस्थाएँ स्थापित हुईं उनमें इस संस्था का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में संस्था ने काफी मात्रा में सफलता प्राप्त की है।

वीरवाणी से साक्षात् संबंधित धवल, जयधवल, महाधवल सिद्धान्तग्रंथ ताडपत्रों में लिखितरूप में मुडबिद्री में विराजमान हैं, यह सबको विदित है। वहां श्री धवला की ताडपत्र की दो पूर्ण और एक अपूर्ण,

तथा श्रीजयधवला की एक तथा महाधवला की (महाबंध) ताडपत्र की एक प्रति थी। उपरोक्त तीनों ग्रंथ ताडपत्रोंपर लिखित हैं। श्री आ. पुष्पदंत भूतबलि, गणधर यतिवृषभ आदि आचार्यों के मूलसूत्र तथा चूर्णिसूत्र तथा उनके ऊपर आ. वीरसेन तथा जिनसेन स्वामी की धवलादि टीका पुरानी कन्नड लिपि में लिखी हुई है। (इसका विस्तृत वर्णन परिशिष्ट टिप्पणी में देखो।) भाषा प्राकृत तथा संस्कृत है। वे जीर्णशीर्ण होती जा रही है। उनमें से महाबंध का करीब चारपांच हजार श्लोकप्रमाण हिस्सा कीटकों द्वारा नष्ट हुआ है। अवशिष्ट भाग भी कृमिकीटकों का भक्ष्य बनेगा तो सिद्धान्तग्रंथ नष्टप्राय हो जावेंगे।

प. पू. १०८ आचार्यश्री वि. सं. २००० के चौमासे में कुंथलगिरी क्षेत्रपर विराजमान थे। वहांपर उन्हें मुडबिद्री में विराजमान धवलादि सिद्धान्तग्रंथों की जराजीर्ण स्थिति की जो जानकारी मिली उससे वे अत्यन्त चिंतित हुए। उस क्षेत्रपर (१) पू. १०५ भट्टारक जिनसेन, कोल्हापुर, मठाधीश, (२) श्री. ध. दानवीर संघपति शेठ गेंदनमलजी, मुंबई, (४) श्री. गुरुभक्त शेठ चंदुलाल ज्योतिचंद सराफ, बारामती और (४) श्री. दानवीर रामचंद्र धनजी दावडा, नातेपुते, तथा वहां उपस्थित धर्मानुरागी श्रावकों के सन्मुख पूज्यवर आचार्य महाराज ने आगमरक्षा की अपनी अंतरंग व्यथा सुनवाई। महाराजश्री के उपदेश तथा आदेश से प्रेरित होकर उस कार्य की पूर्ति करने का संकल्प किया। तथापि ऐसे महान पुण्यकार्य में सब दिगंबर जैन समाज सहभागी हो इस मंगल भावना से महाराजश्री के उपदेश और आदेश से उसी समय लगभग एक लाख रुपये के दान की स्वीकृति प्राप्त हुई। तथा कार्य की रूपरेषा निश्चित करने के हेतु एक अस्थायी कमेटी नियुक्त की गई।

उपरोक्त सिद्धान्त ग्रंथ ताम्रपत्रोंपर खुदवाकर उनकी सुरक्षा का स्थायी प्रबंध हो ऐसी आचार्य महाराज की आंतरिक इच्छा थी। प्रथम हस्तकारागिरों से ताम्रपत्रोंपर अक्षर खुदवाने का प्रयास किया गया। परंतु इसमें (१) अशुद्धता का अधिकतर संभव, (२) अति कष्ट, (३) खर्च की बहुलता तथा (४) कार्यपूर्ति में अतिविलंब आदि त्रुटियां अनुभव में आईं। श्री. वालचंद देवचंद शहा बंबईवालों ने इस कार्य की पूर्ति रासायनिक प्रक्रिया से होनी चाहिए, इससे यह कार्य अच्छी तरह से और शीघ्रता से पूरा हो सकेगा, ऐसा सुझाव सामने रखा जो की तत्काल सर्वसंमत हुआ तथा श्री. पू. समन्तभद्र महाराज के सूचनानुसार शेठ वालचंदजी को मंत्रीपद देने का आदेश महाराजश्री ने देकर यह ताम्रपट बनाने का कार्यभार उन्हीं को सौंपा गया।

वि. सं. २००१ फाल्गुन वदी २ के दिन जब पू. आचार्य महाराज बारामती के गुरुभक्त शेठ चंदुलालजी सराफ के बगिचे में विराजमान थे उसी समय समाज के अन्य श्रीमान मान्यवर श्रावक तथा पं. खूबचंदजी, पं. मक्खनलालजी आदि विद्वज्जनों की सभा में १. श्रीधवल, श्रीजयधवल, श्रीमहाधवल आदि सिद्धान्त ग्रंथ संशोधनपूर्वक देवनागरी लिपि में ताम्रपत्र पर अंकित करके उनकी स्थायी रक्षा का प्रबंध करना तथा २. अन्य आचार्यों के ग्रंथों का जीर्णोद्धार के साथ उनका स्वाध्याय के लिए निःशुल्क वितरण करना इन दो प्रधान उद्देशों से **"श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था"** की स्थापना की गई। उपरिनिर्दिष्ट कार्य के लिए

१००० रु. या अधिक दान देनेवाले संस्था के सदस्य हो ऐसी योजना बनाई गई। कार्यपद्धति भी निश्चित हुई। सर्वप्रथम बटरपेपर पर ग्रंथ छपवाकर रासायनिक प्रक्रिया से ताम्रपत्र पर अंकित करवाना तथा मूल ग्रंथ की पांच-पांचसो प्रतियां छपवाना, एक मुद्रित प्रत १००० रु. या अधिक देनेवाले दातारों को भेटरूप में देना, तीर्थक्षेत्रोंपर एक एक प्रत रखना, ऐसा महाराज श्री के आदेशानुसार निर्णय हुआ।

कानुन के अनुसार संस्था रजिष्टर करने के लिए समिति का गठन हुआ। समिति में श्री. वालचंद देवचंद, श्री. बालचंद देविदास चवरे, वकील, अकोला तथा श्री. माधवराव लेले, वकील, सोलापुर सदस्य थे। एकमत से संस्था की नियमावली तयार की गई तथा सोसायटीज रजिष्ट्रेशन ॲक्ट २१-१८६० के अनुसार संस्था का दि. २५-५-१९४५ को अ. नं. १३७२ में रजिष्ट्रेशन संपन्न हुआ।

सिद्धान्त ग्रंथ प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण होने से उनके ताम्रपत्र भी शुद्ध और साफ होना जरूरी था। उपरोक्त सिद्धान्त ग्रंथों में श्रीधवल ७०००० श्लोक प्रमाण, जयधवल कषायपाहुड सहित ८०००० श्लोक प्रमाण तथा महाधवल ४०००० श्लोक प्रमाण है। उन्हीं ग्रंथों की एक हस्तलिखित प्रत पं. गजपती शास्त्रीजी ने बहुत दिन पहिले मुडबिद्री से लाई थी और उसकी प्रतिलिपि सोलापूर में थी। ताम्रपटका काम चालू करने के पूर्व सोलापूर के प्रतिलिपि का मूल ताडपत्र की प्रति के साथ मिलान करना आवश्यक होने से वह प्रतिलिपि मुडबिद्री भेजी गई। इस कार्य में स्व. पं. लोकनाथ शास्त्रीजी का अमूल्य साहयोग प्राप्त हुआ। तथापि कार्य संतोषजनक नहीं हुआ। मूल ताडपत्रों के साथ उक्त हस्तलिखित प्रति का मेल न बैठने के कारण ग्रंथ संशोधन में बहुतसी त्रुटियां रह गई। दिन प्रतिदिन मूल ताडपत्र जीर्ण होते जायेंगे, तथा अगर वे ताडपत्र सुरक्षित रखने का समुचित प्रबन्ध न हो तो उनका दर्शन भी दुर्लभ हो जावेगा, इस हेतु से मूल ताडपत्रों के फोटो लेकर रखने का निर्णय हुआ। पू. आचार्यश्री के आदेश से ब्र. बोधिचंद्रजी मुडबिद्री गये और वहां से श्री. चारुकीर्ति भट्टारक महाराज तथा विश्वस्तों से संमति प्राप्त की। पश्चात् ताडपत्र के फोटो (Negative) लिए गये। प्रथमबार ताडपत्रके फोटो ६"×२" साइज में लाए गये। इस महत्त्व पूर्ण कार्य में ब्र. बोधिचंद्रजी, श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, वहां के ट्रस्टीगण, पं. लोकनाथ शास्त्री, पं. वर्धमान शास्त्री, सोलापुर, बंबई के झारापकर स्टुडिओ के संचालक झारापकर बंधु आदि महाजनों का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ यह धन्यवादपूर्वक साभार नमुद करना जरुरी है।

तदनंतर मूल कन्नड ताडपत्र ग्रंथराज की स्थायी सुरक्षा हो इसलिए आचार्य महाराज ने मूल ताडपत्र का भी ताम्रपट करने का आदेश दिया। इस कार्यपूर्ति के लिए फिर से मंत्री वालचंद देवचंद, पं. वर्धमान शास्त्री सोलापुर, झारापकर बंधु तथा उन के कर्मचारी स्टाफ मुडबिद्री गये। वहाँ पंधरा दिन ठहर कर धवला के तीन प्रति श्रीजयधवल, श्रीमहाधवल तथा उसके बिना नंबर फटे हुए पन्नों के भी १५"×१२" साइज में फोटो लिए गए। उनमें से श्री धवल के एक प्रति का Positive करके २३" Enlarge किया। उसका ताम्रपत्र करने का कार्य शुरू हुआ। किन्तु ताम्रपत्रपर ताडपत्र के अक्षर कोई स्पष्ट कोई अस्पष्ट निकलने लगे। आधे आधे भाग का भी ताम्रपट करने का प्रयास किया। किन्तु फोटो Enlarge करनेपर भी अपेक्षित सफलता नहीं मिली। तब यह महान् कार्य स्थगित हुआ। तथापि फोटो के रूप में

इसका अलभ्य संग्रह संस्था के पास है। वे ग्रंथ के पुनर्मुद्रण के समय उपयुक्त होते हैं। ११०० फोटो लिए गये और संस्था को उसका खर्च ११००० रु. आया। फोटो का कार्य समाप्त होते समय आचार्यश्री की मंत्रीजी के नाम तार और पत्र से आज्ञा आई कि वहां से मैसूर जावे तथा कडी धूप, वर्षा, थंडी, तुफान आदि के कारण श्रवणबेलगोला स्थित महामूर्तिपर छेद दिख रहे हैं वैसा आगे न हो इस कारण महामूर्तिपर छत्र करने की सरकार से अनुज्ञा प्राप्त करना तथा ख्यातनाम इंजिनिअर से खर्चे का अंदाजा भी लाना। आदेशानुसार मंगलोर जाकर श्री नेमीसागरजी भट्टारक, वकील श्री जिनराजय्या के सलाह से, बेंगलोर के संस्कृत महाविद्यालय के प्रिन्सिपल श्री. धरणेन्द्रय्या के साथ रिटायर्ड रेव्हेन्यु कमिश्नर एम. सी. लक्ष्मीपती से चर्चा की। उन्होंने वर्तमान रेव्हेन्यु कमिश्नर मि. शेषाद्री, मैसूर सरकार के, आर्किटेक्ट इंजिनिअर एस्. एस्. लक्ष्मीनरसिय्या आदि सरकारी अफसरों से मिलन का सुझाव दिया। उनके साथ विचारविमर्श हुआ। इसमें पं. शांतिराज शास्त्री, श्री. शांतिराजय्या, श्री. चंद्रय्या, हेगडे बंधु इनका सहयोग मिला। 'मध्यवर्ति सरकार इसका इलाज करनेवाली है, मूर्ति के ऊपर छत्र बनाने से मूर्ति के सब शरीरपर हवादिक के विषमता के कारण उसकी आयु घट जावेगी। यह कार्य महामूर्ति बनानेवालों के इच्छा के विरुद्ध होगा, मूर्ति चारों तरफ से खुली रहने से ही दीर्घकाल तक टिकेगी तथा सरकार आपको अनुमति नहीं देगी' ऐसा विचारविमर्श होने से उसका समाचार महाराजश्री को भेजा गया। बाद में आच्छादन छत्र बनाने का विचार स्थगित हुआ।

वि. सं. २००१ में विद्यावाचस्पति पं. खुबचंद्रजी शास्त्री के जिम्मेदारी पर उनके निगराणी में बंबई के निर्णयसागर प्रेस में श्रीधवल ग्रंथ की छपाई का कार्य प्रारंभ हुआ। मा. पंडितजी की सेवा विनावेतन प्राप्त हुई। आधे से अधिक छपाई होने के उपरान्त छपाई तुरन्त पूरी हो इस दृष्टि से सं. २००२ में सिद्धान्तशास्त्री पं. पन्नालालजी सोनी के देखभाल में सोलापुर के कल्याण प्रेस में उक्त कार्य साडे तीन वर्ष में पूरा हुआ। २६०० पन्नों के धवला का संपादन, संशोधन, छपाई आदि के लिए ३०००० रु. धनराशि खर्च हुअी। श्रीधवल ग्रंथ के छपाई के साथ छपे हुए पृष्ठों के ताम्रपट का कार्य उसी समय बंबई के श्रीपाद प्रोसेस वर्क्स में चलता रहा। श्रीधवल के पत्रों के आकार के ताम्रपत्र बनाने में २१००० रुपये खर्च हुआ।

इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थों के जीर्णोद्धार की कल्पना आचार्य श्री के मन में स्फुरित होने के चार वर्ष बाद श्रीधवल का मुद्रण तथा ताम्रपट का कार्य पूरा हुआ। संशोधित मुद्रित प्रत व ताम्रपट पू. आचार्य श्री को बडे समारोह के साथ अर्पण करने का निश्चय हुआ। किन्तु उस समय पू. आचार्य महाराज बंबई सरकार को हरिजन मंदिर प्रवेश कानून में जैनधर्म और संस्कृति में विरोधी होने से, जैनधर्म की स्वतंत्रता के ऊपर आघात करनेवाला होने से वह जैन समाज को लागू न हो इस दृष्टि से आहारत्याग, जपजाप्यादि तपानुष्ठान में लगे हुए थे। इसलिए समारोह की कल्पना स्थगित करके वि. सं. २००६ में गजपंथाजी क्षेत्र के वार्षिक सभा के अवसरपर श्री शेठ संघपति गेंदनमलजी के शुभ हस्ते भक्तिभाव से समर्पण किया गया।

सोलापुर की आबोहवा श्री. पं. पन्नालालजी सोनी के स्वास्थ्य के अनुकूल न होने से वे ब्यावर गये। वहां उनके जिम्मेदारीपर जयधवला का छपाई कार्य शुरू हुआ। वहां १९६४ पृष्ठ छपने के बाद शेष ३३६ पृष्ठों का

संशोधन पं. हिरालालजी शास्त्री द्वारा करा के उसका मुद्रण बाहुबली में (कोल्हापुर) सन्मति मुद्रणालय में पं. माणकचंद्रजी न्यायतीर्थ के देखभाल में हुआ । यह कार्य २०१० में पूरा हुआ ।

श्रीमहाधवल के छपाई का कार्य श्री. पं. सुमेरचंद्रजी दिवाकर न्यायतीर्थ बी. ए. एल्एल्. बी. के जिम्मेदारी में सीवनी में प्रारंभ होकर संवत २०२० में पूरा हुआ । माननीय पंडित महाशय ने धर्मबुद्धि से बिनापारिश्रमिक खूब कष्ट उठाकर कार्य संपन्न किया इसलिए फलटण में आचार्य शांतिसागरजी के उपस्थिति में समाज ने ' धर्मदिवाकर ' पदवी प्रदान कर उनको संमानित किया ।

इस तरह इन धवलादि तीन सिद्धान्तग्रन्थ की छपाई तथा ताम्रपट को करीब दस साल लगे । महाराजश्री के सल्लेखना के पूर्व ही इन ग्रन्थों का ताम्रपट रूप से जीर्णोद्धार का कार्य पूर्ण हुआ । इसमें पूज्य श्रीको जैसा समाधान हुआ वैसा संस्था को भी कर्तव्यपूर्ति का आनंद हुआ ।

श्रीधवला के ताम्रपत्र तथा तीनों मुद्रित सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियां फलटण में श्री. चंद्रप्रभु मंदिर के ऊपर " आचार्य शांतिसागर श्रुतभांडार भवन " के बडे हॉल में रखे गये हैं । संस्था के तरफ से प्रकाशित अन्य जैन साहित्य भी वहां पर रक्खा है । तथा श्रीजयधवला और श्रीमहाधवला के ताम्रपत्र मात्र संघपति शेठ गेंदनमलजी बंबई के कालबादेवी दि. जैन मन्दिर में विराजमान हैं । इसमें भी आचार्यश्री की आज्ञा प्रमाण है ।

उसी समय ग्रंथ के सत्प्ररुपणा में सूत्र नं. ९३ में " संजदासंजद " के जगह द्रव्यस्त्रीवाचक ' संजद ' शब्द मूडबिंद्री के ताडपत्र प्रति में प्रतिलिपि करनेवाले की भूल से लिखा है अतः वह नये ताम्रपट में से तथा मुद्रित प्रति में से निकालने का आदेश दिया और वह शिरोधार्य किया गया । इस ' संजद ' शब्द के कारण समाज में वाद तथा आंदोलन भी हुआ । फलस्वरूप मतभेद के कारण पं. खूबचंद्रजी ने कार्यभार का इस्तीफा दे दिया । तथा पं. पन्नालालजी सोनी को भी मतभेद के कारण संस्था से अलग होना पडा । इन दोनों महानुभावों ने सिद्धान्त ग्रंथों के संशोधन तथा मुद्रण शोधन की जिम्मेदारी उठाई थी । श्रीधवला का आधा काम पं. खूबचंदजी ने तथा धवला का शेष भाग और जयधवला १९६४ पृष्ठ तक का कार्यभार पं. पन्नालालजी ने अच्छी तरह संभाला । संस्था उनके इस सेवा के लिए साभार कृतज्ञता प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानती है ।

आचार्य महाराज प्रायः गृहस्थ के कल्याण के लिए जिनबिंब प्रतिष्ठा, चैत्यालय निर्माण, पूजादि पुण्यकार्य का अधिकतर उपदेश देते थे । जैनसमाज में धर्मश्रद्धा तो है, किन्तु वह दृढमूल बनने में स्थिति-करण में मुख्य साधन जिनागम का स्वाध्याय मननादिक ही है । बिना स्वाध्याय धर्मश्रद्धान दृढ नहीं होगा और स्वाध्याय के लिए आगमग्रंथों की सुलभता होनी चाहिए । इस अभिप्राय से ज्ञानदान के हेतु स्वाध्याय-प्रसार के लिए एक अभिनव योजना वि. सं. २०१० में फलटण नगरी में प्रस्तुत की । भाद्रपद वदी ५ के दिन फलटण में श्री. १०८ चा. च. आ. शांतिसागर दि. जैन जीर्णोद्धारक संस्था प्रमाणित " श्री श्रुतभांडार तथा ग्रंथप्रकाशन समिति " नाम की संस्था आचार्य श्री के उपदेश और आदेश से स्थापित हुई । इसका

प्रधान उद्देश यह था कि, दिगंबर जैन आर्षग्रंथों का प्रमाणित मुद्रण तथा प्रकाशन और उनका समाज के मंदिर आदि सार्वजनिक संस्था में निःशुल्क वितरण करना।

श्रीदिगंबर जैन महासभा की ओर से पू. महाराजजी का हीरकजयंती महोत्सव बडे धूमधाम से मनाया गया। उसके लिए समाज में काफी चंदा हुआ। खर्चा जाने के बाद बचत में से तथा संस्था ने दी हुई ढाई हजार की मदद से श्री. चंद्रप्रभु मंदिर के सभामंडप के ऊपर एक "श्रुतभांडार हॉल" फलटण के दिगंबर जैन समाज ने बनवाया। वहीं पर धवला का ताम्रपट तथा धवलादि मुद्रित ग्रंथ रक्खे हैं। उसी समय प्राचीन आर्ष ग्रंथ का प्रचलित हिंदी भाषा में सानुवाद प्रकाशन करके प्रत्येक गांव के मंदिर में समस्त श्रावकों के स्वाध्यायप्रीत्यर्थ बिनामूल्य भेजने का कार्य 'ग्रंथ प्रकाशन समिति को' सुपूर्द किया। तबसे समिति ग्रंथप्रकाशन तथा ग्रंथवितरण का कार्य अव्याहत रूप से करती आ रही है।

पू. आचार्य श्री के उपदेश से निम्नलिखित दातारोंने कागज के व्यतिरिक्त विशिष्ट ग्रंथ के प्रकाशन में जो खर्च आया वह सब दानरूप से दिया है। दातारों ने ज्ञानावरण कर्म के क्षय का निमित्त तो प्राप्त किया ही। वे सब उक्त महान दान के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। जिसका विवरण—

दातारों का नाम	ग्रन्थ नाम
१ श्री. गंगाराम कामचंद दोशी, फलटण	श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार
२ श्री. हिराचंद केवलचंद दोशी, फलटण	श्रीसमयसार आत्मख्याति
३ श्री. शिवलाल माणिकचंद कोठारी, बुध	श्रीसर्वार्थसिद्धि वचनिका
४ श्री. गुलाबचंद जीवन गांधी, दहिवडी	श्रीमूलाचार
५ श्री. जीवराज खुशालचंद गांधी, मुंबई	श्रीउत्तरपुराण
६ श्री. चंदुलाल कस्तुरचंद शहा, मुंबई	श्रीअनगारधर्मामृत
७ श्री. पद्मण्णा धरणाप्पा वैद्य, निमगांव	श्रीसागारधर्मामृत
८ श्री. हिराचंद तलकचंद, बारामती	श्रीधवल
९ श्री. बाबूराव भरमाप्पा ऐनापुरे, कुडची	श्रीजयधवल

उपरोक्त दातारों के उदारतापूर्ण दान के लिए संस्था आभारी है।

इनके अलावा संस्था ने पूर्ण खर्च से निम्न ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं।

१० श्रीकुन्दकुन्दभारती
११ श्रीअष्टपाहुड
१२ श्रीश्रावकाचार संग्रह
१३ श्रीआदिपुराण (जिनसेनाचार्य प्रणीत)

} प्रेस में छपाई का काम चालू है।

ग्रन्थप्रकाशन का कार्य संस्था के ध्रुवनिधी का ज्यों व्याज मिलता है उससे चलता है। व्याज का उत्पन्न सालीना नउ या दस हजार का है। ध्रुवनिधी सरकारी बँकों में Fixed Deposit के रूप में रक्खा है। संस्था का बॅलन्स शीट तथा अन्य खास बातें टिप्पणी में दी हैं।

आचार्य महाराज ने परमपावन भगवती जिनदीक्षा ग्रहण करके आत्मोद्धार के साथ समीचीन दिगम्बर साधुपरंपरा का पुनरुज्जीवन किया। उनके पवित्र और असाधारण व्यक्तित्व के कारण उनके उपदेश और आदेश से श्रीधवल, श्रीजयधवल तथा श्रीमहाधवल सिद्धान्त ग्रन्थों के ताम्रपट बनाकर उनकी स्थायी सुरक्षा की योजना कार्यान्वित हुई। प्राचीन आचार्यों के महान् ग्रन्थों का प्रचलित हिंदी भाषा में अनुवाद होकर श्रावकों के स्वाध्याय के लिए जिनमंदिरों में उनका निःशुल्क वितरण हुआ। बृहन्मूर्ति की स्थापना से समस्त विश्व के सामने जैन संस्कृति का वीतरागता का आदर्श उपस्थित हुआ। इस प्रकार यह समाज प. पू. आचार्यश्री का हमेशा कृतज्ञ रहेगा की जो प्रगट करने के लिए शब्द भी असमर्थ हैं।

संस्था का कार्य प. पू. आचार्यश्री के आशीर्वाद से तथा समाज के सहयोग से, विद्वानों की सहाय्यता से अविच्छिन्न निराबाध चालू है। उन सब भाईयों और विद्वानों के तरफ हृदय से आभार प्रदर्शित करके यह अहवाल समाप्त करता हूं।

वालचंद देवचंद शहा, **मंत्री**
स्वस्ति श्री जिनसेन भट्टारक, **अध्यक्ष**
श्री १०८ आ. शांतिसागर दि. जै. जीर्णोद्धारक संस्था

मोतीलाल मलुकचंद दोशी, **मंत्री**
चंदुलाल तलकचंद शहा, वकील, **अध्यक्ष**
श्रुतभंडार तथा ग्रंथ प्रकाशन समिति

संवत २०२७ का श्री १०८ चा. च. आ. शांतिसागर दि. जै. जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था का आढावा

२८७९८२ – ८९ श्री ध्रुवफंड खाते
४६५४ – ३७ श्री केशरफंड खाते
९९६ – ९० श्री टपाल खाते
४५७६४ – २८ श्री वाढवा खाते

३३९३९८ – ४४

१७०४५२–६३ श्री बँक फिक्स डिपॉझीट खाते.
८०००० श्री दे. ना. बँक, बारामती
६०००० श्री महाराष्ट्र बँक, बारामती
२५००० श्री स्टेट बँक, बारामती

१६५००० फिक्स डिपॉझीट
५४१४–२१ दे. ना. बँक सेव्हिंग खाते
३८–४२ सांगली बँक

१७०४५२–६३
१५५२४७–२७ श्री धवलादि ग्रंथ खाते
७३५४–६२ श्री कपाट खाते
३४३९–४० श्री प्रेस खाते
२००० श्री महावीर प्रेस, बनारस
३५८ श्री नेमी मुद्रणालय, फलटण
१०८७–४० श्री अष्टपाहुड खाते

३४३९–४०
२९०४–५२ श्री अनामत खर्च खाते
२१७१ श्री वालचंद देवचंद, मुंबई
७३३–३७ श्री मोतीचंद मलूकचंद, फलटण
०–१५ माणिकलाल तुळजाराम

२९०४–५२

३३९३९८–४४

श्री उत्पन्न खर्च खाते सं. २०२७

११२१२ – ०७ श्री व्याज खाते	१९९ – ८२ श्री टॅक्स खाते
८१४ – ०२ श्री घाटा खाते	६७३६ – ५३ श्री कुंदकुंदभारती खाते
	१९५९ – ०० श्री श्रावकाचार संग्रह खाते
	२५१४ – १० श्री अष्टपाहुड छपाई खाते
	६१६ – ६४ श्री खर्च खाते
	३१ – ०० श्री प्रवास खाते
	५ – ०० श्री बँक कमिशन
	१०४ – ६५ श्री पोष्ट खाते
	४७५ – ९९ श्री फलटण खर्च खाते
	६१६ – ६४
१२०२६ – ०९	१२०२६ – ०९

श्री १०८ चा. च. आ. शांतिसागर दि. जै. जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था के वर्तमान ट्रस्टी व कार्यकर्ता

(१) स्वस्ति श्री जिनसेन भट्टारक पट्टाचार्य महास्वामी, कोल्हापूर, **अध्यक्ष**
(२) श्रीमान् गेंदनमलजी घासीलाल संघपती, मुंबई
(३) ,, हरकचंद दाडमचंद जव्हेरी, मुंबई
(४) ,, चंदुलाल जोतीचंद शहा, सराफ, बारामती
(५) ,, जंबूकुमार रामचंद दावडा, नातेपुते
(६) ,, माणिकचंद तुळजाराम शहा, बारामती, **कोषाध्यक्ष**
(७) ,, माणिकचंद गुलाबचंद शहा, सांगली
(७) ,, चंदुलाल तलकचंद शहा, वकील, सातारा
(९) ,, वालचंद देवचंद शहा, मुंबई, **मंत्री**
(१०) ,, मोतीलाल मलुकचंद दोशी, फलटण, **उपमंत्री**

अ.नं.	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथकार आचार्य का नाम	हिंदी अनुवादकों का नाम	मुद्रित ग्रंथ की संख्या	वितरित ग्रंथ संख्या	छपाई के लिये दातारों के नाम
१	श्री रत्नकरंड श्रावकाचार	आ. श्री समन्तभद्र	पं. सदासुखदासजी	४०५०	३०२२	शेठ गंगाराम कामचंद दोशी, फलटण
२	श्री सर्वार्थसिद्धि	„ „ पूज्यपाद	श्री पं.	३०५०	२९२७	शिवलाल माणिकचंद कोठारी, मुंबई
३	„ उत्तरपुराण	„ „ गुणभद्र	पं. लालारामजी शास्त्री	३११०	२९८०	जीवराज खुशालचंद गांधी, मुंबई
४	„ अनगारधर्मामृत	पं. आशाधरजी	पं. खूबचंदजी शास्त्री	३१००	२७०५	शेठ चंदुलाल कस्तुरचंद शहा, मुंबई
५	„ सागार धर्मामृत	„	पं. देवकीनंदनजी	१५८३	७७३	श्री. पद्मण्णा धरणाप्पा वैद्य, निमगाव केतकी
६	„ मूलाचार	आ. श्रीकुंदकुंद	पं. जिनदास शास्त्री	२८४०	२७६०	शेठ गुलाबचंद जीवन गांधी, दहिवडी
७	„ श्रीसमयसार	आ. श्रीकुंदकुंद	पं. जयचंदजी	३१००	२३७२	शेठ हिराचंद केवलचंद दोशी, फलटण
८	„ षट्खंडागम धवल संक्षिप्त	„ „ पुष्पदन्त तथा भूतबलि	पं. सुमताबेन शहा, सोलापूर	१०८७	८७०	शेठ हिराचंद तलकचंद, बारामती
९	„ कषायपाहुड (संक्षिप्त)	„ „ गुणभद्राचार्य	पं. सुमेरचंद्र दिवाकर	९९५	४९०	श्री. बाबुराव भरमण्णा ऐनापुरे, कुडची
१०	„ कुंदकुंदभारती	„ „ कुंदकुंद	पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य	११००	२१५	संस्था की ओरसे
११	„ अष्टपाहुड	„	पं. मोतीचंद कोठारी, फलटण	११०० (प्रेस में)	प्रेस में	„

१२	,, श्रावकाचारसंग्रह	पूर्वाचार्यकृत	पं. हिरालालजी सिद्धान्तशास्त्री	१०००	,,	,,
१३	,, महापुराण	श्रीजिनसेनाचार्य	पं. जिनदास शास्त्री	१०००	,,	,,
१४	,, षडखंडागम धवल वीरसेनाचार्य के टीकासमेत		—	५००	२००	,,
१५	,, जयधल मूलटीका समेत	,, गुणभद्राचार्य	—	५००	२००	,,
१६	,, महाधवल मूल	—	—	५००	१८२	,,

१. श्री धवलादि ग्रंथ मूल प्रकाशित संख्या १५००
२. ,, वितरित ,, ५८२
३. ,, छपाई तथा ताम्रपत्र का १३९९०१ रु. खर्च

४. अन्य ग्रंथ प्रकाशित संख्या २४०१५
५. ,, वितरित ,, १८९०६
६. ,, प्रकाशन खर्च ६०००० से अधिक

ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण
मोतीलाल मलुकचंद दोशी, मंत्री

अ. नं.	ग्रंथ का नाम	ताम्रपत्र संख्या	साइज	वजन	
१	धवल	१२९३	प्रत्येक का १३" × ८"	हरेक का ६२ तोला	कुल ताम्रपत्र संख्या २८५० कुल वजन दो टन
२	जयधवल	११५०			
३	महाधवल	४०७			

टिप्पणी

फोटो—सं. २००१ व २००२ में दो वक्त श्री. झारापकर और उनके सहकारियों को मूडबिद्री ले जाकर प्रथम ६"×८" तदनंतर १२"×१५" साईज में निगेटिव्ह लिये और १६"×२०" साईज में श्रीधवल ग्रंथों के फोटो एन्लार्ज किये।

फोटो संख्या—८"× ६"- ५४५
१५"× १२"–३२५
१५"× १२"–३२५

धवलादि ग्रंथों का ताम्रपत्र, फोटो तथा छपाई के व्यय का विवरण

४२६००–०० छपाई (प्रेस की मजुरी) धवलग्रंथ का आधा भाग बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में, धवलग्रंथ का आधा भाग और जयधवल का आधा भाग कल्याण प्रेस, सोलापूर में, जयधवल पृष्ठ ६६४ गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर में, महाधवल पूर्ण सिवनी में, जयधवल संपूर्ण पृष्ठ १९६४ से २३०० सन्मति प्रेस, बाहुबली में। (शुरू में कई पृष्ठों का छपाई खर्च प्रतिपृष्ठ रु. १४ लगा।) २४५७५–०० कागद। ४१२००–०० ताम्रपत्र व मजुरी। ताम्रपत्र प्रोसेस का काम १ श्रीपाद प्रोसेस वर्क्स, मुंबई में धवल बहुभाग दर रु. ११, २ राऊत आणि कंपनी मुंबई, धवल का अल्पभाग, ३ झारापकर ब्रदर्स, मुंबई धवल, जयधवल, महाधवल दर प्रति पृष्ठ रु. १० व ८। (ताम्रपत्रों पर दोनों बाजूपर अक्षरों को अंकित करने का काम क्रमशः प्रथम प्रतिपृष्ठ १४, ११, १० व ८ लगा।) ग्रंथों के पृष्ठ ताम्रपत्र देशी लेने से उसपर एक बाजूपरहि अक्षरों को अंकित करना पडा। इसलिए ताम्रपत्रों की संख्या बढ गयी।

१८८७५–०० पंडितों का संशोधन वेतन, १०५५०–०० फोटो खर्च, ८७५–०० प्रवास, ४१००–०० किरकोळ कुल खर्च १,४२,७७५–००

श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों की प्रतियां प्रकाश में आने का संक्षिप्त इतिहास

श्रीमान् शेठ माणिकचंद पानाचंद जे. पी. बंबई इ. स. १८८३ में ससंघ यात्रा करते मुडबिद्री गये थे। वहां उन्हों ने रत्नों की प्रतिमाओं के दर्शन के साथ धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों का दर्शन किया। ताडपत्रीय सिद्धान्त ग्रन्थ जीर्णशीर्ण अवस्था में है यह बात शेठजी के सूक्ष्म दृष्टि में आयी। उन्होंने श्री मा. भट्टारकजी तथा पंचों के साथ इस बाबत विचारविमर्श किया। उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। श्रवण बेलगोला के पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री हि वे ग्रंथ पढ सकते हैं यह जानकारी भी प्राप्त की। उन सिद्धान्त-ग्रंथों के जीर्णोद्धार का उनके मन में जोरसे उठा। यात्रा से वापिस लौटते ही उन्होंने श्री. शेठ हिराचंद नेमचंद, सोलापुर को इन सिद्धान्तग्रंथों के बारे में समाचार दिया। वे अगले वर्ष में इ. स. १९४१ में ब्रह्मसूरि शास्त्री को साथ लेकर मुडबिद्री गये। शास्त्री द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थ पढकर श्रवण किया। उनका जीर्णोद्धार कराने के अभिप्राय से पं. ब्रह्मसूरि शास्त्रीजी को उनकी प्रतिलिपि करने का आग्रह किया। इसके बीच अजमेर के शेठ मूलचंदजी सोनी, पं. गोपालदासजी बरैय्या के साथ मुडबिद्री गये। वहां के भट्टारक तथा पंचों के साथ विचारविनिमय कर के ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा प्रतिलिपि कराने का कार्य शुरू हुआ। करीब तीनसो श्लोकों की प्रतिलिपि होने के पश्चात् कार्य स्थगित हुआ।

इ. स १८९५ में सेठ माणकचंदजी पानाचंद, सेठ हिराचंद नेमचंद आदि महानुभावों ने उन ग्रंथों की प्रतिलिपि कराने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए १४००० रु. का चंदा इकट्ठा हुआ। पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री को मासिक १२५ तनखा देकर कार्य का आरंभ हुआ। उनकी मदद के लिए मिरज के पं. गजपती को भेजा गया। श्रीजयधवला की १५०० श्लोक प्रमाण हिस्से की प्रतिलिपि होने के पश्चात् पं. ब्रह्मसूरि के स्वास्थ्य में बिघाड होकर उनका स्वर्गवास होगया। प्रतिलिपि का कार्य चालू था। पं. गजपति शास्त्री को नागरी लिपि में धवल जयधवल की प्रतिलिपि का कार्य पूरा करने को सोलह साल लगे। उसी समय मुडबिद्री के पं. देवराज सेठी, शांताप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मण्य इन्द्र द्वारा उक्त ग्रंथों की कानडी लिपि में प्रतिलिपि कराई गई। महाधवल की कानडी प्रतिलिपि पं. नेमीराजजी द्वारा कराने का प्रबंध किया गया। १९१८ में उसकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई। सेठ हिराचंद नेमचंद ने पं. लोकनाथ शास्त्री द्वारा महाधवल की देवनागरी लिपि में प्रतिलिपि करवाई। इस प्रकार सन १८९६ से १९२२ तक यह कार्य चलताही रहा। इस कार्य में करीब बीस हजार रुपये खर्च हुआ।

परिशिष्ट

धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों की ताडपत्र पर तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों का परिचय

(१) धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों की एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देश में मूडबिद्री नगर के गुरुवसदि नामक जैन मंदिर में वहां के भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचों के अधिकार में है। तीनों ग्रन्थों की प्रतियां ताडपत्र पर कानडी लिपी में हैं। धवला के ताडपत्रों की लंबाई लगभग २ फूट ३ इंच और कुल पत्रसंख्या ५९२ है। यह प्रति कब की लिखी हुई है इसकी ठीक जानकारी प्राप्त नहीं होती। किन्तु लिपि प्राचीन कानडी है कि जो पांच छह शतक पुरानी है ऐसा अनुमान किया जाता है। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रन्थ पहले जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेळगोळ नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। वहां से किसी समय ये ग्रन्थ मूडबिद्री पहुंचे !

(२) इस धवला की प्रति की कानडी प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इंद्र द्वारा सन १८९६ और १९१६ के बीच की गयी थी। यह लगभग १४ इंच लंबे और ६ इंच चौडे काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर लिखी गयी है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

(३) धवला के ताडपत्रों की नागरी प्रतिलिपि पं. गजपती उपाध्याय द्वारा सन १८९६ और १९१६ के बीच में की गई थी। यह प्रति १५ इंच लम्बे और १० इंच चौडे काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री गुरुवसदि मंदिर में है।

(४) मूडबिद्री ताडपत्रों पर से सन १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्याय ने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायता से जो प्रतिलिपि गुप्त रीति से की थी वह आधुनिक कानडी लिपि में कागज पर है। यह प्रति अब सहारनपुर में लाला प्रद्युम्न कुमारजी रइस के अधिकार में है।

(५) पूर्वोक्त नं. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में पं. विजयचंद्रय्या और पं. सितारामशास्त्री के द्वारा सन १९१६ और १९२४ के बीच करायी गई थी। यह प्रति १२ इंच लंबे और ८ इंच चौडे कागज के १६५० पत्रों में है। पूर्वोक्त नं. ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय एक प्रति पं सितारामशास्त्री ने अपने पास रखी थी।

उसपर से पं. सितारामशास्त्रीजी ने अनेक प्रतियां की हैं जो कारंजा, आरा, सागर, सोलापुर आदि स्थानों में विराजमान है। आगे भी इसपर से नागरी लिपि में प्रतिलिपियां होती गयी। लेकिन इन सब प्रतियों का मूल ताडपत्र से मिलान नहीं हुआ। उन्होंने मिलान नहीं किया। इसलिए ताडपत्र के फोटो संस्था ने फोटोग्राफर भेजकर मंगवाये थे।

सोलापुर में शेठ रावजी सखाराम दोशी की प्रतिलिपि लेकर मूल ताडपत्र की प्रति से मिलान करने के लिए संस्था ने पं. लोकनाथ शास्त्री को मूडबिद्री भेजा था। किन्तु उन्होंने ताडपत्रों से मिलान नहीं किया। इस कारण ताडपत्रों के फोटो संस्था ने फोटोग्राफर झारापकर को भेजकर मंगवाये, जो संस्था के दप्तर में विद्यमान हैं।

मूडबिद्री

श्री सिद्धांतमंदिर के ग्रंथ भंडार में स्थित

अ. नं.	ग्रंथों के नाम	मूलकर्ता	टीकाकार	मूल व टीकाकी भाषा	पत्रसंख्या	पत्रप्रमाण
१	श्रीधवलसिद्धांत	श्रीपुष्पदंत भूतबलि आचार्य	श्रीवीरसेनाचार्य	प्राकृत–संस्कृत	ताडपत्र–५९२	लंबाई २ फूट ६ इंच चौडाई २॥"
२	"	"	"	"	ता. प. ८००	लं. २ फूट १" चौ. २"
३	"	"	"	"	ता. प. ६०५	लं. २ फूट ४" चौ. २॥"
४	"	"	"	"	कागद प्रति १३०३	लं. १। फूट चौ. ११"
५	"	"	"	"	कागद प्रति १३८२	लं. १ फूट ४॥" चौ. ७"
६	"	"	"	"	कागद प्रति २७६०	लं.१फूट१।॥" चौ. ५॥"

वि. सू. यहां पर ताडपत्र के धवलसिद्धांत की तीन प्रतियां हैं। तीनों ही अपूर्ण हैं। १ ली नंबर वाली ग्रंथ में अंतिम वर्गनाखण्ड के आनुमानिक दस पत्र नहीं हैं ऐसा शास्त्री ने लिखा है। २ या ३ नंबर के ताडपत्र प्रति में बीच बीच में बहुत से पत्र नहीं हैं। तीनों कागज प्रतियां उक्त तीनों ताडपत्र ग्रंथों को परामर्श कर लिखा हुवा ऐसा मालुम पडता है। यह पहिला नंबरवाला ताडपत्र ग्रंथ को मंडलि नाडू के भुजबळ गंगपेर्माडि देव की काकी एर्डाव देमियक्क ने कोपण तीर्थ में प्रसिद्ध दानशूर जिन्नप्प सेठी से लिखवाकर बन्निकेरे उत्तुंग चैत्यालय के प्रसिद्ध श्री शुभचंद्र सिद्धांत देव को अपने श्रुतपंचमी व्रत के उद्यापन के समय शास्त्रदान की थी।

श्रीधवलसिद्धांत आदि ग्रंथों की सूची

ग्रंथ में आनुमानिक श्लोक संख्या	१ पत्र में श्लोक संख्या	पूर्ण व अपूर्ण	प्रति–लेखक	ग्रंथ या प्रति लिपि का समय	प्रति–लिपि	विशेष परिचय
७१४८४	१२०॥।	अपूर्ण	दानिग-जिन्नपा सेठी	शा. श. ७३८ वि. श. ८७३ वीर नि.१३४२	प्राचीन कन्नडी	इसमें २, ७१, ७२ और अंत के १० पत्र नहीं हैं।
४८०००	६०	,,	नृपगंडरदेव के सेना-पति मलिदेवने लिखवाया	,,	,,	इसके बीच बीच में अनेक पत्र नहीं है।
१८०४०	१४०	,,	......	,,	,,	इसके बीच के ५६९ पत्र नहीं हैं। अंत में २ पत्रों में ग्रंथप्रशस्ति है।
७१६६५	५५	,,	मिरज गजपति शास्त्री	वी. नि.	नागरी	प्रारंभ वीर नि. २४२३ फाल्गुन सु. ७। अंत्य २४३० कर्मक सु. ५.
,,	५५	,,	मूडबिद्री शांतप्प इंद्र	,,	हळेकन्नडी	
६८०००	२५	,,	मूडबिद्री देवराज सेठी	,,	मध्यकन्नडी	

ताडपत्र में श्री ताडपत्र और भू ताडपत्र ऐसे दो भेद हैं। श्री ताडपत्र भूर्जपत्र के माफिक बहुत पतला है। जो कि आज कल मिलती नहीं। उक्त धवलादि तीनों ही सिद्धांत ग्रंथ श्री ताडपत्र में लाख के शाई से लिखवाया है। लोहे की सुई से नहीं लिखवा जा सकता है। परंतु भू ताडपत्र आज कल सर्वत्र मिलता है। अतएव उसमें लोहे की सुई से लिखवाकर फिर उसमें शाई भरवा दिया जाता है। इसलिए श्री ताडपत्र ही प्राचीन है। भू ताडपत्र अर्वाचीन है।

अ. नं.	ग्रंथों के नाम	मूलकर्ता	टीकाकर्ता	मूल व टीका की भाषा	पत्र संख्या	पत्र प्रमाण
७	श्रीजयधवल सिद्धांत	श्री गुणधराचार्य	श्रीवीरसेन और जिनसेनाचार्य	प्रा. सं.	ताडपत्र ५१८	लं. २ फूट ३" चौ. २॥"
८	"	"	"	"	कागद प्रति १०६७	लं. १। फूट चौ. ११"
९	"	"	"	"	९७४	लं. १ फूट ४॥" चौ. ७"
१०	"	"	"	"	२०९९	लं. १फू ३·५" चौ. ५·५"
११	सत्कर्मपंजिका और महाबंध सम्मिलित	श्रीवीरसेन और भूतबलि आचार्य	भूतबलि आचार्य	प्रा. स. सं.	ताडपत्र २७ } १७६ } =११९	लं. २ फू. ४" चौ. २·५"
१२	सत्कर्म पं. और महाबंध	"	"	"	कागज प्रति ५२५	लं. १फू. २॥" चौ. ८॥"
१३	"	"	"	"	१०००	लं. १फू. १॥" चौ. ७"

वि. सू. जयधवल सिद्धांतकी ताडपत्रप्रति एक ही है। अन्य तीनों कागज प्रतियां है । श्री गुणधराचार्य ने ४६००० पदों में "पेज्जपाहुड" अर्थात प्रायोदोष प्राभृत को संक्षिप्त कर १८० गाथाओं से युक्त कषाय प्राभृत की रचना की। वह आचार्य परंपरा में आर्यमंक्षु तथा नागहस्ति नाम के आचार्यों को प्राप्त होकर, उनसे यतिवृषभाचार्य ने उन गाथा सूत्रों का अध्ययन कर उनको चूर्णिसूत्र नाम की टीका और उच्चारणाचार्यने उच्चार सूत्रों की रचना की। वह दुर्बोध होने से श्रीवीरसेन तथा जिनसेनाचार्यने जयधवल भाष्य की रचना की है। इसको श्रीवीरसेनी टीका कहने पर भी २०००० परिमित आद्यंशकी रचना के समय ही वे स्वर्ग सिधारने के कारण उनके शिष्य श्री जिनसेनाचार्यो ने अवशिष्ठ अंश ४०००० की शा. श. ७५९ में पूर्ति की। इसमें १८० गाथा सूत्र ५३३ व्याख्यान गाथा में गुणधराचार्य प्रणीत हैं। यति-वृषभाचार्य के चूर्णिसूत्र ६००० आचरनाचार्य के उच्चारण सूत्र १२००० इनके ऊपर जयधवल भाष्य ६०००० परिमित ग्रंथ है। इसके ताडपत्र प्रति को "चिक्कमय्य के बल्लिसेठीने" प्रतिलिपि कराकर पद्मसने सिद्धांत देव को समर्पण किया था।

ग्रंथ में अनुमानिक श्लोक संख्या	१ पत्र में श्लोक संख्या	पूर्ण व अपूर्ण	प्रति लेखक	ग्रंथ या प्रतिलिपि का समय	प्रति-लिपि	विशेष परिचय
६६८२२	१२८	पूर्ण	भुजबलि अण्ण बलिसेठी ने लिखवाया	शा. श. ७५८ वीर नि. १३६२	प्राचीन कानडी	
,,	,,	पूर्ण	गजपतिशास्त्री	वी. नि.	नागरी	वी. नि. २४३० में प्रारंभ २४ में अंत्य
,,	,,	अपूर्ण	शांतप्प इंद्र		हळेगन्नड	
,,	,,	पूर्ण	देवराज सेठी		मध्यकन्नड	
३७२६ ४२२८	१,,	पूर्ण अपूर्ण	उदयादित्य	,,	प्रा. कन्नड	
,,	४२	,,	मूडबिद्री पं. लोकनाथ शास्त्री		नागरी	
,,	२४	,,	पं. नेमिराजप्पा		मध्यकन्नड	

वि. सू. तालपत्र के ग्रंथ में २७ पत्र तक सत्कर्मपंजिका परिसमाप्ति हुई है। बाद २८ पत्र में महाबंध प्रारंभ होकर २१८ पत्र में परि-समाप्ति हुई है। परंतु महाबंध के प्रारंभिक पत्र २८ वा अमतिक नहीं मिला। और भी बीच बीच के १६ पत्र नहीं हैं। इसलिए अपूर्ण है। विना नंबर वाले पत्रों को जांच करने का काम समयाभाव से बाकी है। यह तो भूतबली आचार्य कृतमही-बंद होने में संदेह नहीं है। अध्यायांत्य के प्रशस्ति से मालूम पडता है कि इस सत्कर्मपंजिका को शांति नामक राजा ने उदयादित्य से प्रति-लिपि कराकर श्रीमाघनंदि सिद्धांत देव को समर्पण किया था। और महाबंध को रूपसेन की पत्नी मलिकब्बो-देवी ने उक्त उदयादित्य से लिखवाकर अपने श्री पंचमी व्रत के उद्यापना के समय उक्त सिद्धांत देव को शास्त्र दान की थी। यह शांतिनाथ वगैरे कहां के? और किस समय के? आदि जानने की सामग्री नहीं है।

मुडबिद्री स्थित श्रीधवला के ताडपत्रों में से दो ताडपत्रों के छायाचित्र.
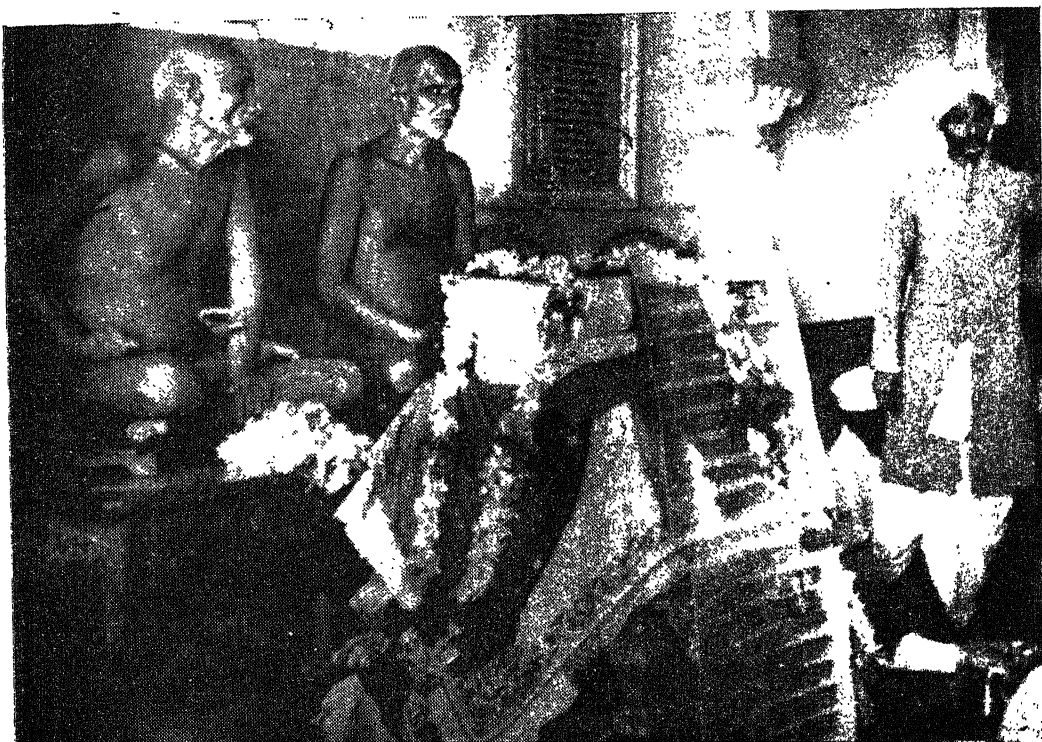
गजपंथ में धवला के ताम्रपत्र महाराजश्री को अर्पित करते समय
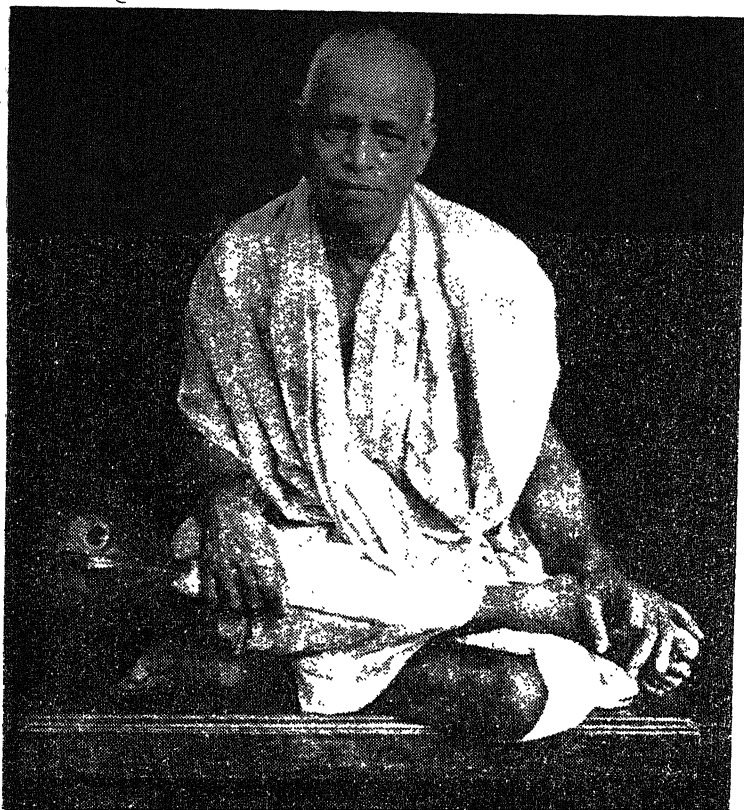
मुडबिद्री के भट्टारक चारुकीर्ति पट्टाचार्य जिनके सहयोग से ताडपत्र के फोटो निकाले गये

धवला—सिद्धान्त ग्रंथ के ताडपत्र के फोटो खिचवाने के लिये सेठ वालचंद देवचंद और झारापकर फोटोग्राफर के साथ मुडबिद्री के अन्य कार्यकर्ता

परमपूज्य तपोनिधि चारित्र चक्रवर्ती

श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज

का

जीवनपरिचय तथा कार्य

डॉ. श्री. सुभाषचंद्र अक्कोळे, एम्. ए., पीएच. डी., जयसिंगपूर

साधु परंपरा

अज्ञान–तिमिरांधानां ज्ञानांजन–शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

'णमो लोए सव्वसाहूणं'

अनादिनिधन पंच णमोकार मंत्र में साधुपरमेष्ठी वंद्य, मंगल तथा लोकोत्तम माने गये हैं ।

अंतर्बाह्य विदेही अवस्था के धनी, परमधर्मरूप वीतरागता के स्वामी, स्फटिकमणि जैसी निर्मलता के धारी, आत्मानंद विहारी सर्वतंत्र स्वतंत्र साध्यस्वरूप सिद्धस्वरूप के उपासक, साधनस्वरूप भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक साधु मंगलमय होते हैं । लोकों में उत्तम होते हैं । संसार में डूबते हुए निराधार के सहज शरण होते हैं । इसलिए उन्हें भक्ति-भावों से प्रामाणिक साधक प्रति दिन वंदना करता ही है ।

प्राचीन काल से जैन-आचार्यों के संघ विहार को सांस्कृतिक इतिहास में प्रमुख स्थान है । श्रीअकंपनाचार्य के संघ में एक हजार मुनिगण थे । आचार्य भद्रबाहु हजारों मुनिगण के साथ विहार करते-करते दक्षिण देश में आये ऐसा ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है । कोण्णूर (गोकाक रोड स्टेशनके समीप) की सातसौ गुफाएँ तथा तेरदल का एक हजार वर्ष से भी पुराना राजा गोंक का आदर्शरूप शिलालेख और गुफाएँ इसके ज्वलंत प्रमाण हैं ।

बीच में कुछ काल दिगंबर जैन साधु का दर्शन दुर्लभसा हो गया था । परंतु दक्षिण महाराष्ट्र और कर्नाटक के सीमा प्रदेश ने विशेषतः तेरदाल, रायबाग, स्तवनिधि, बाहुबली, नांदणी, कोल्हापूर के आसपास के क्षेत्र ने दिगंबर गुरु-परंपरा अक्षुण्ण बनाई रखखी जैसे धरती में गढा हुआ सुरक्षित सुवर्ण धन हो । परमपूज्य श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराजजी का उदय भी इसी मुनि-परंपरा में से हुआ है ।

भारतीय संस्कृति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन प्रमुख जीवन तत्त्वों का अपना एक स्थान है। परंतु उन्नीसवे शतक में भारत में परिस्थिति का कुछ विचित्र परिवर्तन हुआ। समाज जीवन का चित्र ही बदल गया। जीव जाति के लिए प्रकाश स्वरूप अहिंसा और त्याग का आदर्श प्रायः लुप्तसा हुआ। अंधःकार जैसे हिंसा और भोग का ही साम्राज्य चारों ओर बढता गया। जैन समाज में भी प्रायः मिथ्यात्व का प्रचार बहुलता से प्रचलित हो गया। साधना के आधार स्तंभ वीतरागदेव, निर्ग्रंथ गुरु, सिद्वांत शास्त्र की उपासना का महत्त्व कम होता गया। जैसे समुद्र में नीचे नीचे प्रकाश का अभाव होता है। अन्यान्य काल्पनिक देव-देवताओं की पूजा और सग्रंथ गुरु की उपासना ने अपना स्थान जमा लिया। एवं जैन धर्म की अपने आचार-विचार विषयक शुद्ध प्राचीन परंपरा प्रायः लुप्तसी हो रही थी। काल प्रवाह को या औरों को दोष देना व्यर्थ है। चोर उसी घर में अपना स्वामित्व बना लेते हैं जिस घर का स्वामी सोया हो। निसर्ग की ऐसी ही धारा है। इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में सौ वर्ष पूर्व आचार्य श्री शांतिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ विभूति का जन्म होना जैन संस्कृति और जैन समाज के लिये सुनिश्चित वरदान सिद्ध हुआ।

जन्मकाल और बाल्यावस्था

गौरवशाली प्रकाशपुञ्ज आचार्य कुंदकुंद, स्वामी समंतभद्र, विद्यानंदी, जिनसेन इत्यादि आचार्यों की जन्मभूमि तथा उपदेश से पुनीत विहार भूमि—कर्नाटक देश में आचार्यश्री १०८ शांतिसागर महाराज का जन्म हुआ।

बेलगांव जिले के चिकोडी तहसील में दूधगंगा और वेदगंगा के संगम के कारण तीर्थरूप 'भोज' नामक ग्राम के पास 'येळ्ळगुड' गांव में विक्रम संवत १९२९ में (इ. सन १८७३) जेष्ठ मास के कृष्णपक्ष में नवमी तिथि को बुधवार की रात्रि में आचार्यश्री का जन्म हुआ। जन्म नाम 'सातगौंडा' था। पिताश्री का नाम भीमगौंडा था। वे पाटील घराने के थे। 'पाटील' याने नगर के राजा। ऐसा ही समाज में उनका मानसन्मानपूर्ण स्थान था। ऊंची पूरी शक्तिशाली देह थी। पराक्रम-शीलतापूर्ण नैसर्गिक वृत्ति थी। धीर वीर गंभीर सहज मनोवृत्ति थी। माता का नाम देवी 'सत्यवती' था। वह भी श्रद्धालु, धार्मिक और सदाचारसंपन्न थी। भगवान की भक्तिपूजा करना, त्यागी गणों को आहारदान देना, उनका वैयावृत्य कराना, दीन दुखिओं को सहायता पहुँचाना आदि कार्यों में विशेष रुचिपूर्ण सावधान थी। वह माता का सहज स्वभाव था। छोटे बडे व्यसनों से दूर पिताजी ने सोलह वर्ष तक दिन में एकही बार भोजन करने का व्रत लिया था। आचार्यश्री का बालजीवन इस प्रकार से सदाचार संपन्न माता-पिता की छत्र छाया में व्यतीत हुआ। एकप्रकार से निसर्ग योजना में यह मणिकांचन संयोग ही था।

सातगौंडा की विद्यालयीन शिक्षा बहुत कम हुई। वे पाठशाला में तीसरी कक्षा तक पढ पाये। शिक्षा के आदान—प्रदान की व्यवस्था भी आज की अपेक्षा देहातों में सापेक्ष कम थी। संस्कारशील माता—

पिता के द्वारा घर में जो कुछ धार्मिक संस्कार हुए केवल वे ही जीवनी का जीवनाधार बन गये। सत्य सत्य कहना हो तो जीवन में इस मूल मूडी में सातगौंडा ने अच्छी वृद्धि ही की जिससे माता पिता का मुख उज्ज्वल हो गया। पाठशाला में भी सातगौंडा ने एक बुद्धिमान् विद्यार्थी के रूप में ही प्रसिद्धि पायी थी।

जब चरित्र नायक ९ साल के हुए, ज्येष्ठ भाई देवगौंडा और आदगौंडा का विवाह संपन्न हो रहा था। सातगौंडा का भी विवाह बलात् ही किया गया। 'संसारविषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः'। संसार के विषयों में संसारी जीवों की निसर्ग से प्रवृत्ति होती ही है। बच्चों के खेल जैसी प्रक्रिया हो गयी। दैव को वह भी स्वीकार नहीं थी। विवाह के पश्चात् छः माह के भीतर ही विवाहिता की इहलोक यात्रा समाप्त हुई। सातगौंडा बाल्यावस्था में विवाहबद्ध होकर भी निसर्ग से बालब्रह्मचारी रहे। 'लाभात् अलाभं बहु मन्यमानः।' लाभ से अलाभ को लाभप्रद मानने की बालक सातगौंडा की निसर्ग प्रवृत्ति रही। अनंतर किये गये आग्रह के वे शिकार नहीं हुए।

सातगौंडा का शरीर सुदृढ और बलवान् था। दो बैलों से खींचे जानेवाली पानी से भरी हुई मोट वे अपने दो हाथों से अनायास खींच सकते थे। और ज्वार के भरे दो थैलों को एकसाथ उठा सकते थे। इससे उनके शारीरिक सामर्थ्य का पता लग सकता है। बौद्धिक सामर्थ्य भी कम नहीं था। स्वभाव से भी वे अत्यंत शांत, विनयसंपन्न, सेवापरायण, सत्यवक्ता, और न्यायप्रिय पुरुष थे। सहज ही उनके वचनों पर लोगों का विश्वास हो जाता था। वदन प्रसन्नता का सदन था। वाणी में सरलता थी, मधुरता थी और आकर्षकता थी। प्रभावशालिता भी थी। वृत्ति में सरलता थी और प्रवृत्ति सौजन्यपूर्ण थी। खादी की धोती, खादी का सादगीपूर्ण कुरता और सिर के लिए स्वच्छ दक्षिणी ढंग का रुमाल यह सादगीपूर्ण पोषाख थी। जिस में से निसर्ग सुन्दर भावनाओं की सजीव सुन्दरता का सहज ही दर्शन होता था। जो आकर्षक था और प्रभावशाली भी था।

अध्यात्म जीवन का नैसर्गिक आकर्षण

सातगौंडा घरकी खेती करते थे। और कपडे का व्यापार भी कर लेते थे। तथापि उन्हें व्यापार की या खेती की ऐसी कोई खास रुचि नहीं थी। बाहर का लगाव भी न था। आत्मकल्याण भावनाओं का आकर्षण विशेष था। जीव-जाति-संबन्धी दयाभाव-प्रेमभाव रखना, त्यागी गणों की सेवा करना, वैय्यावृत्त्य करना आदि बचपन से किए गए धार्मिक संस्कारों से और साधुसज्जनों के समागम से आचार्यश्री ने अपने आध्यात्मिक जीवन की नींव पूरी पक्की कर ली थी।

भोजग्राम में चातुर्मास काल में मंदिरजी में शास्त्रवाचन होता था। सातगौंडा नित्य नियम से शास्त्र श्रवण करने जाते थे। वे वाचन की अपेक्षा शास्त्र का चिंतन मनन करना अधिक पसंद करते थे। इसी समय में सातगौंडा की 'रुद्राप्पा' नामक लिंगायत जाति के किसी प्रकृतिभद्र गृहस्थ के साथ विशेष मित्रता हो गई। 'सांगत्यं हि सयोनिषु' समशीलों में साहचर्य होही जाता है। आचार्य जिनसेन ने ठीक ही कहा। रुद्राप्पा सत्यभाषी तथा अध्यात्मप्रेमी आत्मचिंतन करनेवाले पुरुष थे। कभी-कभी वे

ध्यानधारणा भी कर लेते थे। आचार्यश्री और रुद्राप्पा दोनों की अध्यात्म विषय में अच्छी चर्चा चलती थी। वह उनके जीवनी का जीवनसत्व बन गया। आप्पा के साहचर्य में सातगौंडा की आध्यात्मिक जीवन की रुचि और बढने लगी।

आत्मानुशासन, समयसार इन दो ग्रंथों का वाचन सातगौंडा प्रारंभ से ही करते थे। विशेष रूप से तत्त्वचिंतन मनन में काल व्यतीत होता था। आयु के १७ वे १८ वे वर्ष में भरी युवावस्था में ही मन में दिगंबरी दीक्षा लेने के सहज भाव होने लगे। परंतु माता-पिता के दबाव वश उस समय वे अपने विचारों को अमल में न ला सके, व्यक्त भी न कर सके। कुछ काल तक उन्हें यथापूर्व घर में ही रहना पडा। परंतु प्रवृत्ति जल से भिन्न कमल की तरह बनी रही।

शास्त्रस्वाध्याय की तरह तीर्थक्षेत्रों की भक्ति का भी आचार्यश्री के जीवन में विशेष स्थान रहा। मोक्ष मार्ग के पथिक साधक के जीवन में तीर्थयात्रा-दर्शन का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान होता ही है। असंग-भाव या वीतराग भावों की धारा प्रवाहिता के लिए दृष्टिसंपन्न साधु यात्रा को अच्छा निमित्त बना सकता है। सातगौंडा यह कर पाये इसी में परिमार्जित तत्त्वदृष्टि स्पष्ट होती है। यात्रा के लिये यात्रा न थी। विहार का प्रत्येक कदम वीतरागता के लिए था, वीतरागता की ओर था।

आचार्यश्री ने दीक्षा लेने के पूर्व काल में भी सिद्धक्षेत्रों की तथा अतिशय क्षेत्रों की वंदना करके गृहस्थ अवस्था में ही अपनी संन्यास मार्ग की भूमिका बना ली। सिद्धक्षेत्रों के दर्शन का उनके मन में विशेष आकर्षण था। जहाँ सामान्य जनता भोगोपभोगद्वारा इन्द्रियों की गुलामी स्वीकार करती है वहीं पर युवक सातगौंडा को इंद्रिय दमन में आनंद का अनुभवन होता था। बाईस साल की आयु में आचार्यश्री जब श्री सम्मेदशिखरजी गये तब वहीं पर उन्होंने तेल और घी न खाने का नियम स्वयंप्रेरणा से ले लिया। घर आने के बाद दिन में एक ही बार भोजन करने का भी नियम बना लिया। त्याग की यह गुणश्रेणि स्वयंभू थी, सजीव थी। श्री शिखरजी की यात्रा के साथ ही साथ चंपापुरी, पावापुरी, राजगृही इत्यादि तीर्थक्षेत्रों की भी यात्रा सातगौंडा ने की।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा से लौटने के अनंतर उनका लक्ष्य संसार से अधिक मात्रा में उदासीन होता रहा। वे अपना समय शास्त्रस्वाध्याय तथा आध्यात्मिक चर्चा में विशेषता से लगाने लगे। रुद्राप्पा बुरजे तथा भीमाप्पा गळतगे जैसे अध्यात्मप्रेमी सज्जनों के सहवास में सातगौंडा ने अपने त्यागमय जीवन का भवन इतना अच्छा प्रशस्त बना लिया कि स्वयं रुद्राप्पा और भीमाप्पा भी सातगौंडा का अत्यधिक आदरभाव करने लगे।

सहज संवेगभाव और वैराग्य

इसी अवस्था में पांच छः साल और बीत गये। सातगौंडा के मन में निर्ग्रंथ दीक्षा लेने के विचार तीव्रता से आने लगे। अबकी बार साहस के साथ माता पिता के समक्ष उन्होंने अपनी भावना व्यक्त भी

की । परंतु पिताजी ने कहा, "हमारे ये अंतिम दिन हैं दीक्षा लेकर हमारी मानसिक यातनाएँ बढेंगी सो ठीक नहीं होगा ! अच्छा नहीं होगा !" "हमारे जीवनी के पश्चात् ही आप अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हो !" पिता की आज्ञा तथा पुत्र-कर्तव्य का विकल्प होने से सातगौंडा का दीक्षा लेने का विचार कुछ समय के लिए स्थगित हुआ ।

शक संवत् १८३३ इ. सन १९१२ में सातगौंडा की माताजी की इहलोक यात्रा समाप्त हुई । उसके कुछसाल पहले ही पिताजी का भी स्वर्गवास हुआ था । अब प्रकृतिसिद्ध त्यागमय जीवन और संयमशील बन गया । कोई लगाव भी न रहा । इसी काल में श्रवण बेलगोला–गोमटेश्वर इत्यादि पुण्यक्षेत्रों की दक्षिण यात्रा भी समाप्त कर सातगौंडा शक सं. १८३६ में भोजग्राम में आये ।

क्षुल्लक पदकी दीक्षा-स्वीकार

सातगौंडाने जीवनी के इकतालीस साल पूर्ण होने के उपरांत दीक्षा लेने का दृढ निश्चय किया । उस समय कर्नाटक में दिगंबर स्वामी श्रीदेवेंद्रकीर्ति विहार कर रहे थे । 'कापशी' ग्राम के निकट 'उत्तूर' नामक देहात है । वहाँ उनका आगमन होनेपर सातगौंडा मुनिश्री के समीप पहुँचे । और दिगंबर दीक्षा देने की प्रार्थना की, परंतु श्रीदेवेंद्रकीर्ति स्वामीजीने प्रारंभ में क्षुल्लक पदकी ही दिक्षा लेने को कहा । ठीक ही है 'क्रमारंभो हि सिद्धिकृत्' गुरु आज्ञा को प्रमाण माना । शक संवत् १८३७ इ. स. १९१८ में जेष्ठ शुक्ल त्रयोदशी तिथि को "सातगौंडा" ने क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की । इस प्रकार स्वतंत्र संयमी जीवन का शुभ प्रारंभ हो गया ।

उत्तूर ग्राम छोटा था । इसलिये गुरु की आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी महाराज चातुर्मास के लिये कागल आये । परंतु इसी काल में कोगनोली से कुछ नैष्ठिक श्रावक कागल पहुँचे । उन्होंने क्षुल्लकजी से प्रार्थना की कि, 'हमारे कोगनोली ग्राम में आपका पहला चातुर्मास हो ।' उनकी प्रार्थना स्वीकार कर क्षुल्लकजी कोगनोली पहुँचे । इस प्रकार क्षुल्लकजी का प्रथम वर्षायोग धारण करने का प्रारंभ कोगनोली से हुआ । ध्यानधारणा तथा शांति अनुभवन के लिए कोगनोली का चौमासा अत्यंत अनुकूल रहा । आचार्यश्री के सहजोद्गार रहे कि 'कोगनोली आमचे आजोळ आहे' याने 'कोगनोली हमारी मां का गांव है' । ननिहाल है । ऐसाही परस्पर व्यवहार रहा ।

क्षुल्लकजी महाराज का चातुर्मास कोगनोली में अपूर्व धर्म प्रभावना के साथ संपन्न हुआ । दूसरा चातुर्मास कुंभोज में और तीसरा चातुर्मास फिरसे कोगनोली में हुआ । अनंतर क्षुल्लकजी महाराज ने कर्नाटक प्रांत में विहार शुरू किया । कोगनोली से जैनवाडी और वहां से बाहुबली क्षेत्र (कुंभोज) में महाराजजी का आगमन हुआ । महाराजजी बाहुबली में आये यह वार्ता सुनकर आसपास के श्रावक गण भी बाहुबली आये । योगायोग से समडोली से कुछ श्रावकलोक इसी समय गिरनारजी की यात्रा के लिये जा रहे थे । उन्होंने महाराजजी से साथ में आने की प्रार्थना की । क्षुल्लकजी महाराज को वाहन में बैठने का त्याग नहीं था । यात्रियों के साथ साथ गिरनारजी यात्रा सानंद संपन्न हुई ।

ऐल्लक पद–दीक्षा और पद–विहार करने की प्रतिज्ञा

श्री गिरनार क्षेत्र का दर्शन लेते समय महाराजजी का हृदय उठी हुई वैराग्य भावनाओं से गद्गद् हो उठा। भगवान् नेमिनाथ के चरणों के पुनः पुनः दर्शन कर क्षुल्लकजी के वीतराग भावों में सहज वृद्धि हुई। सावधानता तो पूरी थी ही। उसी समय श्री नेमिनाथ भगवान् के चरण साक्षी में स्वयं ऐल्लक पद का स्वीकार किया। एक कौपीन मात्र परिग्रह के बिना सब वस्त्रादि परिग्रहों को त्याग दिया। नूतन प्रतिमा की प्रतिष्ठा पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमा के साक्षी में होती है और नया व्रतविधान पूर्व में व्रती के साक्षी से ही होना चाहिए ऐसी एक अच्छी प्राचीन परंपरा है। महाराजजी इस परंपरा को तोडना नहीं चाहते थे जैसा कि निर्ग्रंथ दीक्षा के समय देखा गया। इस समय उनसे रहा नहीं गया। वैराग्य भावों की वेगवान गति को वे रोक नहीं सके। पू. स्वर्गीय अनुभवसमृद्ध वीरसागरजी महाराज ठीक कहते थे। 'गुरु कहे सो करना गुरु करे सो नहीं करना।' अस्तु। इस समय वीतरागता का वैराग्य भाव से अपूर्व मीलन होना था, हो गया। श्री गिरनारजी से लौटते समय ऐल्लकजी ने श्री दक्षिण कुंडलक्षेत्र की वंदना की। श्री पार्श्वप्रभु भगवान् की मूर्ति के साक्षी में ऐल्लकजी महाराज ने सब वाहनों का आजीवन के लिए परित्याग कर दिया। आगे के लिए विहार का रूप 'पद–विहार' ही निश्चित हुआ। 'याजं याज-मटन्नेव तीर्थस्थानान्यपूजयत्।' शुद्ध निर्जंतुक रास्ते से चार हाथ आगे की जमीन को निहार करते हुए सूर्यप्रकाश में चलने की मुनि की प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं। गाडी या मोटार या रेल सवारी का त्याग त्यागी को इसीलिए होता है। श्री क्षेत्र कुंडल से विहार करते–करते महाराज जिनमंदिरों का दर्शन करते करते नसलापूर, ऐनापूर, अथणी इस मार्ग से विजापूर के पास अतिशय क्षेत्र बाबा नगर को आये। पुण्यक्षेत्र के सहस्रफणी श्रीपार्श्वनाथ भगवान् का दर्शन करते हुए लौटकर पुनः ऐनापूर आये। वहां वे १५ दिन तक ठहरे। यहाँ योगायोग से निर्ग्रंथ मुनिराज श्री आदिसागरजी महाराज का सत्समागम मिला।

भगवती निर्वाणरूपा जिनदीक्षा

निपाणी संकेश्वर के समीप 'यरनाळ' ग्राम में पंचकल्याणिक महोत्सव के लिये मुनिराज श्री देवेन्द्रकीर्तिजी पधारे थे। ऐल्लक सातगौंडा महाराज भी वहाँ पहुंचे; उन्होंने गुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति स्वामि को दिगम्बर दीक्षा देने के लिए पुनः प्रार्थना की। एकत्रित जैन समाज को महाराजजी की योग्यता का पूरा परिचय था। वे महाराजजी से प्रभावित भी थे। मुनि दीक्षा के लिए समाजभरने एक स्वर से अनुमोदना की।

निर्ग्रंथ दीक्षा लेने का विचार निश्चित हुआ। दीक्षाकल्याणक के दिन तीर्थंकर भगवान का वनविहार का जुलूस दीक्षा वन में आया। इसी पवित्र समय में ऐल्लकजी ने भी दीक्षा गुरु श्री देवेंद्रकीर्ति महाराज के पास दिगंबरी जिन दीक्षा धारण की। 'नैर्ग्रंथ्यं हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम्।' यह दृढ धारणा थी। भगवान् की दीक्षा विधि के साथ ऐल्लकजी महाराजजी का भी निर्ग्रंथ दीक्षा विधि संपन्न हुआ। केशलोच समारंभ भी हुआ। ऐल्लक सातगौंडा मुनि हो गये। यथा जातरूपधारी हुए। मुनि पद

का नाम श्री 'शांतिसागर' रखा गया। शक संवत् १८४१ फाल्गुन शुल्का १४ उनकी दीक्षा मिति थी। इस पवित्र दिन से महाराज श्री का जीवन-रथ अब संयम के राजमार्ग द्वारा मोक्ष महल की ओर अपनी विशिष्ट गति से सदा गतिशील ही रहा। अंतरंग में परिग्रहों से अलिप्तता का भाव सदा के लिए बना रहना और बाह्य में परिग्रह मात्र से स्वयं को दूर रखना यह मुनि की अलौकिक चर्या है। शुद्ध आत्मस्वरूप मग्नता यह उसका अन्तःस्वरूप होता है। देह के प्रति भी ममत्व का लेश नहीं होता; वे विदेही भावों के राजा होते हैं इसी लिए लोग उन्हें महाराज कहते हैं।

पांच महाव्रत, पांच समिति, पंच इंद्रियों के विषयों पर विजय, छह आवश्यक तथा सात शेष गुण इत्यादि २८ मूल गुणों के ये धारक होते हैं।

भारत-विहार

'सन्त वही विचरन्त मही।' कहावत के अनुसार दीक्षा के अनंतर धर्मसाधना और धर्मप्रचार की पवित्र भावना तथा तीर्थक्षेत्रों के पावन दर्शन की भावना से आचार्य श्री ने भारत भर में विहार करने का संकल्प किया। वे अनेक क्षेत्र और ग्रामों में पैदल विहार करते-करते जिनमंदिरों का दर्शन लेकर वहाँ की भव्य समाज को मोक्ष मार्ग का उपदेश एवं मिथ्यात्व के परित्याग का उपदेश देते रहे। आचार्य श्री के पावन विहार द्वारा जहाँ भी आचार्य श्री पहुँचते थे वहाँ जैन धर्म को तथा जैन समाज को पुनरुज्जीवन मिल जाता था।

विहार द्वारा जैन समाज में धर्म तत्त्व की रुचि और संयमभावों की जागृति उत्पन्न हुई। समाज में यत्र तत्र फैला हुआ अज्ञानमूलक रूढीवश गृहीत-मिथ्यात्व का प्रचार बहुत था। अन्यान्य देव-देवता के पूजन का बडा भारी प्रचलन था। लिखते हुए रोमांच खडे होते हैं। मिथ्या देवी देवताओं के समक्ष होनेवाले वलिदान में भी जैनी भाईयों का योगदान होता था। अभक्ष्य भक्षण करने का, अगालित पानी पीने का, रात्रि में भोजन करने का प्रचार हो रहा था। वह सब आचार्य श्री के उपदेश से बंद होने लगा। जैन समाज में जैनत्व की जागृति उत्पन्न होने लगी। भारत में जहाँ कहीं पर नग्न विहार करने के लिये जो कुछ भी रुकावट थी उस रुकावट को दृढ साहस के साथ हटाकर भारत में सर्वत्र नग्न विहार करने का मार्ग सर्व-प्रथम आचार्यश्री के दृढ प्रयत्न से भविष्य के लिये खुला हुआ।

यरनाळ में दीक्षासमारंभ समाप्त होने के अनंतर महाराज नसलापुर आये। समाज ने बडा आदर किया। भक्तिभावपूर्ण वैयावृत्य किया। उसके बाद महाराज कोगनोळी पहुँचे। वहाँ से लौटकर फिर नसलापुर आकर चातुर्मास किया। बाद में महाराज ऐनापुर पहुँचे। यहाँ जैनसमाज बहुसंख्या में होने से धर्म प्रभावना अच्छी हुई। महाराजजी के विहार काल में कोण्णूर का चातुर्मास बडा महत्त्वपूर्ण रहा। यहाँ महाराज की जीवनी में अतिशय महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी। कोण्णूर ग्राम में प्राचीन गुफाएं बहुसंख्या में हैं। नित्य की तरह गुंफा में आचार्यश्री ध्यानस्थ बैठ गये। उसी समय एक नागराज-बडा सर्प वहाँ आकर महाराजजी के शरीरपर चढकर घूमने लगा। महाराजजी अपने आत्मध्यान में निमग्न थे। नागराज

आया है और वह अपने शरीरपर घूम रहा है इसका तनिक विकल्प भी महाराजजी को नहीं था। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की पालना किस प्रकार हो सकती है इसका यह मूर्तिमान रूप दृष्टिगोचर हुआ। महाराजजी के दर्शनार्थ जो लोग वहाँ पहुँचे थे उन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखी। वे साश्चर्य दिङ्मूढ हो बैठे रहे। वे सांप से डरते थे। सांप भी जनता से घबडाता था। महाराज का आश्रय इसीलिए उसने लिया था। महाराजजी का दिव्य आत्मबल देखकर वहाँ आये हुए यात्रियों में से प्रमुख श्रेष्ठी श्रीमान शेठ खुशालचंदजी पहाडे और ब्र. हिरालालजी बडे प्रभावित हुये। दोनों सज्जन विचक्षण थे। दक्षिण यात्रा के लिए निकले हुए यात्री थे। मिरज पहुंचने के बाद पता चला कि, निकटही दिगम्बर साधु है। इसलिए परीक्षा के हेतु वे वहाँपर पहुँचे थे। उनकी अपनी धारणा थी इस काल में साधक का होना असंभव है। भरी सभा में "क्या आपको अवधिज्ञान है? या आपको ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त है?" आदि वैयक्तिक आचारविषयक प्रश्न भी पूछने लगे। कुछ उलाहना का अंश भी जरूर था। सम्मिलित भक्तगणों में कुछ ऐसे जरूर थे जो इन सवालों का जबाब मुट्ठियों से देने के लिए तैय्यार हो गये। मुनिमहाराज ने भक्तों को रोका। एक एक सवाल का जबाब यथानाम शांतिसागरजी ने शांति से ही दिया। समागत दोनों परीक्षक अत्यधिक प्रभावित हुए। उसी समय दीक्षा के लिए तैय्यार भी हो गये। महाराजजी ने ही उन्हें रोककर यात्रा पूरी करने को और कुटुंबपरिवार की सम्मति लेने को कहा। जब महाराज बाहुबली (कुंभोज) आये तब वहाँ आकर उक्त दोनों सज्जनों ने महाराजजी के पास क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद श्री शेठ खुशालचंदजी का क्षु. 'चंद्रसागर' तथा श्री ब्र. हिरालालजी का क्षु. 'वीरसागर' नामांकन हुआ। समडोळी के चातुर्मास में आचार्यश्री के पास क्षु. वीरसागरजी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। यही महाराज के प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य थे। आचार्यश्री ने आगे चलकर अपने समाधि काल में श्री वीरसागर महाराज को ही उन्मुक्त भावों से आचार्यपद प्रदान किया। श्री वीरसागरजी का दीक्षाविधि हुआ। कुछ ही समय बाद ऐल्लक नेमण्णा ने भी मुनिदीक्षा धारण की। नाम श्री 'नेमिसागर' रखा गया।

आचार्य पद की प्राप्ति व महत्वपूर्ण तीर्थरक्षा कार्य

समडोळी ग्राम में ही सर्वप्रथम आचार्य श्री का चतु:संघ स्थापन हुआ। अब तक केवल अकेले महाराज ही निर्ग्रंथ साधु स्वरूप में विहार करते थे। अब संघ सहित विहार होने लगा। संघ ने उनको 'आचार्य' पद घोषित किया। आचार्य महाराज का संघपर वीतराग शासन बराबर चलता था। संघ सहित विहार करते करते महाराज कुंभोज से श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी आये। क्षेत्रपर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिद्वय के चरण पादुकाओं का पावन दर्शन किया। विहारकाल का उपयोग महाराज श्री जाप्य तथा मंत्र स्मरण के लिए विशेष रूपसे कर लेते थे।

इस समय क्षेत्र का कारोबार श्री परंडेकर, श्री सेठ कस्तूरचंदजी और श्री रावसाहेब भूमकर तहसीलदार यथारुचि देखते थे। संस्थान की अव्यवस्था तथा संस्थान पर कर्ज का बोझ देखकर संस्थान का

कार्य सुव्यवस्थित चलाने के उद्देश से आचार्य श्री जी की प्रेरणा से एक क्षेत्र–कमेटी बनाई गई। उसमें श्री. परंडेकर, श्री भूमकर, श्री हिराचंद अमीचंद उस्मानाबादकर, सोलापूर के श्री. ब्र. जीवराज गौतमचंद और श्री शेठ हरीभाई देवकरण आदि सम्मिलित थे। कमेटी का कारोबार चलाने के लिये सम्मति सूचक सही न करते हुये श्री परंडेकर तथा श्री भूमकर वैसे ही लौट गये। फिर भी उस समय से क्षेत्र का कार्य संचालन नये सदस्य मंडल पर सौंपा गया। तब से अब तक क्षेत्र का कारोबार सुव्यवस्थित चल रहा है। इस कार्य में उस समय के श्री. ब्र. देवचंदजी शहा (आज के प. पू. श्री १०८ समंतभद्र महाराज) ने काफी परिश्रम उठाए। समाज को सचेत किया। समोचित तत्परतापूर्ण परिश्रमों का ही फल है श्री क्षेत्र कुंथलगिरी का शुद्ध सनातन दिगंबर जैन क्षेत्र का शुद्ध स्वरूप नजर आ रहा है।

श्री कुंथलगिरी से संघ सावरगांव आया। वहां से सोलापूर, दहीगांव, नातेपुते, फलटण, वडगांव इत्यादि शहरों में विहार करते-करते संघ बारामती आया। यहां पंच कल्याणक प्रतिष्ठा थी। आचार्यश्री के संघ सहित आगमन से महती धर्म-प्रभावना हुई। यहाँ से संघ कोल्हापूर सांगली होकर पुनः बाहुबली (कुंभोज) पहुँचा।

श्री सम्मेदशिखरजी की ऐतिहासिक पावन यात्रा

[चलता फिरता वीतरागता और विज्ञानता का विश्वविद्यालय]

इ. सन १९२७ के मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा के दिन श्री सम्मेदशिखरजी क्षेत्र की वंदना और धर्म प्रभावना के उद्देश से आचार्यश्री १०८ शांतिसागर महाराजजी की विहार-यात्रा संघ सहित बाहुबली (कुंभोज) क्षेत्र से शुरू हुई।

बम्बई निवासी पुरुषोत्तम श्रीमान सेठ पूनमचंदजी घासीलालजी और सुपुत्र गण आचार्यश्री के पास पहुँचे। उन्होंने आचार्यश्री को ससंघ श्री सम्मेदाचल यात्रा को ले चलने का संकल्प प्रगट किया।

जिसको भी चलना हो संघ के साथ चलने के लिए खुला आमंत्रण था। लाखों का काम था। महिनों के परिश्रम का सवाल था। परंतु गौरवशाली संघपति और कुटुंबपरिवार उन्मुक्त उदारता और परिश्रमशीलता में अपना गौरव समझता था। "को हि श्रेयसि तृप्यति" यही यथार्थ है। संघ सांगली-कोल्हापूर-मिरज विहार होता हुआ हैद्राबाद स्टेट में आळंद नगरी पहुंचा। नैझाम स्टेट में से विहार यह अनहोनी बात थी। सरकारी अधिकारी भी यहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भरी सभा में निझाम सरकार के राज्य में कहींपर भी दिगंबर साधुओं के विहार से रुकावट नहीं होगी इस प्रकार जाहीर किया। लोगों के आनंद की सीमा न थी। आळंद नगरी का रूप आनंद नगरी के रूप में परिवर्तित जान पडता था। अनंतर मुक्तागिरि होते हुए संघ नागपूर आया। विहार मार्ग में ऐसे गांव अनेकों आये जहाँपर निर्ग्रंथ गुरुचरण का स्पर्श नहीं हुआ था। और कई भाई ऐसे थे जिन्होंने गुरुदर्शन कभी किया नहीं था।

नागपूर में संघ का अपूर्व स्वागत हुआ। जुलूस तीन मील लम्बा निकला था। शहर के बाहर ईतवारी में स्वतंत्र 'शांतिनगर' की रचना की गई थी। काँग्रेस के पेंडॉल से शांतिनगर का पेंडॉल कुछ छोटा नहीं था। जनता आज भी उस समय की अपूर्व घटनाओं की स्मृति से आनंद का अनुभवन करती है और स्वयं को धन्य मानती है।

धर्मप्राण वीतरागता और विज्ञानता का पाठ मुनिचर्या ही दे सकती है। योगी की ध्यानावस्था मौनरूप से और प्रत्येक क्रिया प्रात्यक्षिक पाठ के रूप से शिक्षा देती है। चोवीस घंटे अखंड रूप से और व्यापक रूप से, विश्वभर के लिए बिना किसी विकल्प और भेदभाव के पूर्ण निरीह वृत्ति से, अमूर्त वीतरागता उपदेशों के विना ही अपूर्व रूप से मूर्तिमान हो जाती थी। एकत्व-विभक्त आत्मतत्त्व का विज्ञान सूर्य-प्रकाश जैसा स्पष्ट होता ही जाता था। महामना व्याख्यानवाचस्पति स्व. पंडित देवकीनंदजी ने गौरव के साथ इसी नागपूर में भरी सभा में ठीक ही कहा था कि "हमारा संघ यह चलता फिरता यथार्थ में सच्चा और सबसे सस्ता समस्त विश्व के लिए विश्व का वीतरागता का एकमात्र विश्वविद्यालय है और हमारे महाराज उसके पूज्य कुलगुरु हैं" यथार्थ में ऐसा ही संघ का अंतर्बाह्य भव्य प्रशस्त और निसर्गसुन्दर स्वरूप था। योगायोग की घटना है इसी समय संघपति को किसी जवाहारात के व्यापार में लाखों का लाभ होने का समाचार आया। संघपतिजी ने निर्णय किया यह सारा धन धर्मप्रभावना के लिए होगा। श्रीसम्मेदाचल में प्रतिष्ठामहोत्सव करने का शुभसंकल्प यहीं पर हुआ।

संघ की बिदाई हृदयद्रावक थी। साश्रुनयनों से श्रावकश्राविकाओं को अनिवार्य रूप से वह देनी पडी। ता. ९ जनवरी १९२८ को संघ का नागपूर छोडकर भंडारा मार्ग से विहार शुरू हुआ। छत्तीसगढ के भयंकर जंगलमय विकट मार्ग से निर्बाध विहार होते हुए संघ हजारीबाग आया। बाद में फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी सिद्ध क्षेत्र को पहुँचा।

यहाँ पर श्री संघपतिजी के द्वारा व्यापक रूप में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा महती धर्मप्रभावना हुई। भीड की सीमा न थी। भारत के कोने कोने से श्रावक-श्राविकाएँ अत्यधिक प्रमाण में पहुँची। इसी समय हजार से ज्यादह कपडों की झोपडीयाँ बनवायी गयी थी। धर्मशालाएँ खचाखच भर गयी।

तीर्थक्षेत्र कमेटी तथा महासभा आदि कई सभाओं के अधिवेशन भी हुए। तीर्थराज जयध्वनि से गूंज उठा था। धर्मशालाओं के बाहर भी यत्र तत्र लोग अपना अपना स्वतंत्र स्थान जमाए हुए नजर आते थे। नीचे धरती ऊपर आस्मान, पूर्ण निर्विकल्प होकर जनता प्रतिष्ठा यात्रा के उन्मुक्त आनंद रस का पान करती थी। लोग कहते हैं यात्री कहीं तीन लाख से ऊपर होंगे। अस्तु। पंडित आशाधरजी के शब्दों में कहना होगा, 'दलित-कलिलीला-विलसितम्' यही पर्वतराज का सजीव मनोहारी दृश्य था। अनेक भाषा, अनेक वेश, अनेक भूषा में व्यापक तत्त्व की एकता का होनेवाला प्रत्यक्ष दर्शन अलौकिक ही था। निर्विकल्प वस्तु के अनुभव के समय विशेष का तिरोभाव और सामान्य

का आविर्भाव होता ही है। ठीक इसी तरह सांस्कृतिक एकता का यह सजीव स्वरूप प्रभावशाली बन गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की वंदना करके वहाँ से मंदारगिरी, चंपापुरी, पावापुरी, राजगृही, गुणावा आदि अनेक सिद्धक्षेत्रों की संघ ने यात्रा की।

जैन मुनि की आहारचर्या को स्पष्ट करनेवाले 'गोचरी,' 'गर्तापूरण,' 'अक्षम्रक्षण' आदि कई सार्थक नाम पाये जाते हैं। यह वास्तव में एक लोकविलक्षण चर्या है। इसमें अयाचक वृत्ति अत्यंत स्पष्ट होती है। दाता को शुद्धता का पूरा ख्याल रखना पडता है। उद्दिष्टाहारता का इस चर्या में स्वयं परित्याग होता है। आचार्यश्री की सावधानी का क्या कहना? अपनी जीवनी में पू. आचार्यश्री ने जो उपवास किए उनकी सारसंख्या २५ वर्षों की होती है। जिससे महाराजजी को आहार की लिप्सा कतई नहीं थी। उद्दिष्ट आहार के विकल्पों से वे कोसों दूर थे। उत्तर भारत की जनता महाराजजी के शूद्रजल त्यागादि के व्रतों से बडी घबडाती थी। दक्षिण का वातावरण ही ऐसा है जिसमें स्वावलंबन की अधिकता होती है। सादगी विशेष होती है। उन्हीं संस्कारों की शुद्धता से महाराजजी का वर्षों पोषण होने से महाराजजी अपने व्रतों में अडिग ही रहे। विहार करते करते संघ महाकौशल प्रांत में आया। वहां के कुंडलपुर–द्रोणगिरी आदि अनेक तीर्थक्षेत्रों का पावन दर्शन संघ ने किया। संघ ललितपुर आया। यहाँ आचार्यश्री ने "सिंह–विक्रीडित' नाम का महान् दुर्धर तप किया।

उत्तर–भारत की ओर विहार होने के पहले भक्तों के द्वारा एक विकल्प महाराजजी के सम्मुख आया था। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में ज्ञानी पण्डितों की और धर्मतत्त्व के ज्ञाता विद्वानों की संख्या अधिक है। वर्षों से तत्त्वज्ञान की चर्चा भी अधिक होती रही है। शांस्त्रस्वाध्याय का छोटे बडों में पुरुषवर्ग और महिलावर्ग में अच्छा होने से स्वाभाविक रूप से ज्ञान की श्रेणी अपेक्षा से अच्छी है। अधिक संभव है संघ की, साधुजनों के आचार की चर्यापद्धति की नुक्ताचीनी होती रहेगी। चारित्र की परीक्षा भी होती रहेगी। इन सारे विकल्पों का मूल एकमात्र भय ही था। बुंदेलखण्ड तो विद्वानों की, पण्डितों की खानि ही रही। और महाराजजी का विहार ससंघ इसी प्रांत में हो रहा था। अन्तरंग और बहिरंग में एकरूप स्वच्छ समता के स्वामी को भय का कारण ही नहीं था। वे निर्विकल्प ही थे। पूर्ण निर्भय थे। ज्ञान की आदान प्रदान कला में वे सिद्धहस्त थे। देशाटन, पण्डितमैत्री, शास्त्रों का मननपूर्वक अनुभवसहित अध्ययन। सभाप्रवचनों से महाराज श्री अपने ज्ञान में गौरवशाली वृद्धि कर पाये थे। अन्तरंग की स्वच्छता का पूरा बलभरोसा उन्हें था। ठीक मौके पर मुद्दे की बात को ठीक ढंग से कल्याण भावना से वे बराबर कहा करते थे। वैसे प्रसंग तो हजारों आये। फिर भी ललितपुर चौमासे की घटना जो साक्षात् गुरुमुख से स्व. श्रीमान् पण्डित देवकीनन्दजी शास्त्रीजी द्वारा सुनने को मिली अत्यधिक उद्बोधक मालूम होती और पूज्य आचार्यश्री के तलस्पर्शी मनन की, शास्त्रज्ञान की अथाह सीमा को बतलाने में समर्थ हो सकती है।

स्वयं पण्डितजी ने प्रश्न किया—

" महाराजजी ? श्रावकों के मूल गुण आठ होते हैं और उत्तरगुण बारह होते हैं। जिनका श्रावकों को सहज में स्मरण हो सकता है। मुनियों के मूलगुण २८ बतलायें उनका भी मुनियों को स्मरण संभव है; परंतु मुनियों के उत्तरगुण ८४०००००० (चौरासी लाख) बतलाये उनकी साधुओं को यादगारी कैसी होती होगी ? "

प्रश्न पेचिला था। एक तरह से अन्तर्गर्भ आक्षेप भरा भी था। प्रश्न सुनते ही महाराज श्री को खूप हंसी आयी। वे शांति से तत्काल बोले—

" पण्डितजी ? आप हमारी परीक्षा कर रहे हैं। सही बात यह है पंडितजी ! आत्मा जब अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर होती है उस समय सबही मूलगुण और सबही उत्तरगुण वे यदि चौरासी कोटी भी होते तो उनका हिसाब आपही आप बैठ जाना स्वाभाविक होता है। उसके लिए अलग से समय की आवश्यकता नहीं होती है या प्रयत्नविशेषों की या विकल्पों की भी आवश्यकता नहीं होती है। "

पंडितजी को इस विद्वत्तापूर्ण और अनुभवरसपरिपूर्ण उत्तर से परम संतोष हुवा जो स्वाभाविकही था। आचार्य महाराज की उत्तरपद्धति इस ही प्रकार सारगर्भित थी। यथास्थान समयोचित और समुचित होती थी। प्रवचन भी सहज स्वाभाविक प्रेरक होते थे। शब्दों का आडंबर बिलकुल नहीं होता था। कल्याण भावनाओं से ओतप्रोत होने से ही वे अत्यंत प्रभावक होते थे। बोलचाल की पद्धति का ही प्रायः अवलंब होता था।

दीप्तदीपन न्याय से देखने को मिला महाराज श्री के उपदेश से प्रभावित होकर बने हुए त्यागी मुनि ऐल्लक, क्षुल्लक, व्रती आदिकों की संख्या अच्छी ही है। संघपति का उदाहरण देते ही सर सेठ हुकुमचंदजी ने ब्रह्मचर्य व्रत का स्वीकार किया। दिवाणबहाद्दर श्रीमान् अण्णाजी बाबाजी लठ्ठेजी ने पंचाणुव्रतों का स्वीकार किया। ऐसे ही और भी सेकडों उत्साहप्रद उदाहरण देखने को मिल पाये।

स्वर्गीय १०८ पायसागरजी महाराज आचार्य श्री को पारसमणि की उपमा देते थे। अपनी जीवनी के आधार से ही समादर की भावनों से वे अपने प्रवचनों में आचार्य श्री के विषय में गौरवगाथा गाते थे। स्व. आचार्य श्री कुंथुसागर महाराजजी आचार्य श्री के शिष्यों में से उद्भट संस्कृतज्ञ प्रवक्ता रहे जिनके द्वारा गुजराथ में विशेष प्रभावना हुई। आचार्य श्री वीरसागरजी और शिष्यपरंपरा से जो जागरण का कार्य होता रहा वह अविस्मरणीय एवं सातिशयही है।

प्राणांतिक आक्रमण से संघ ऐसे बच पाया

ता. ६ जनवरी १९३० में संघ धौलपूर स्टेट के राजाखेडा शहर में पहुंचा। तीन चार दिन तक महती धर्मप्रभावना हुई। यह धर्मप्रभावना भी एक अजैन भाई को सहन नहीं हुई। एक संगठन बन गया। लाठीकाठी तलवार, आदि शस्त्रास्त्रों के साथ करीब ५०० लोगों के आक्रमण की गुप्त योजना भी बन गयी।

मृगमीनसज्जनानां तृणजल-संतोष-विहितवृत्तीनाम् ।
लुन्धक-धीवर-पिशुना निष्कारण वैरिणो जगति ॥

घासपत्तीपर अपना गुजारा करनेवाले हीरन, जल में अपना निर्वाह करनेवाली मछलियाँ और संतोषामृत का पान करनेवाले साधु पुरुषों का भी शिकारी मछलीमार और दुर्जन व्यर्थही शत्रुता करते हैं। यह सनातन दुष्टता की परंपरा संसार में चली ही आ रही है। इसका प्रत्यंतर राजाखेडा में आया। छिद्दीलाल ब्राह्मण के नेतृत्व में आक्रमण की तैयारी हो गयी थी। संघ का हत्याकाण्ड होने को ही था कि महाराज को अंतरंग सच्छता से अंतर्ज्ञान द्वारा जो कुछ भी संकेत मिला हो उन्होंने संघस्थ त्यागियों से प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र आहार करके लौटने को कहा। तदनुसार समस्त त्यागीचर्या करके ९ बजे के भीतर ही मंदिरजी में वापिस लौट आये। आक्रमक नारे लगाते हुए मंदिरजी की ओर बढे। जैनियों ने इस प्राणांतिक आक्रमण का प्रतिकार भी किया। स्टेट की ओर से पुलिस सहायता भी दौडी हुई आयी। पुलिस दलने आक्रमकों को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन महाराजजी ने करुणाविमल भाव प्रदर्शित कर उनको छोड देने के लिये पुलिस अधिकारी मंडल को बाध्य किया।

साधु की क्षमाशीलता और समता तत्त्वज्ञान मूलक होती है। प्राणांतिक आघात करनेवालों के ऊपर भी तनिक प्रत्याघात का विकल्प भी नहीं आया। 'सत्त्वेषु मैत्री' और 'माध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ' का नित्यपाठ इस रूप में मूर्तिमान् खडा हो गया। फलतः प्रतिपक्षी आघाती के दिल पर भी इन भव्य भावों का असर हुआ। विकारों का विचारों में कायाकल्प होगया। वातावरण बदल गया। हालां कि अधिकारी वर्ग स्वयं गुनहदार को छोडने के लिए तैयार नहीं था। आचार्यश्री ने तत्त्वज्ञान और व्यवहार का ऐसा सुमेल बिठाया कि वह अवाक् हो गया। आचार्यश्री के संकेतानुसार वे छोड दिये गये। दिव्य क्षमा-वृत्ति का एक जीता जागता प्रभावशाली आदर्श जनता के सम्मुख उपस्थित हुआ। सज्जनों की कोमलता, सरलता और शुद्धता साधु का धन होता है। आचार्य शांतिसागर इस सचेतन धन के माने हुए धनी थे।

उत्तर प्रदेश में आग्रा, मथुरा, दिल्ली इत्यादि शहरों में विहार करते करते संघ राजस्थान में जैनपुरी जयपुर आया। उस के बाद वह ब्यावर आया।

एक ऐतिहासिक चातुर्मास

ब्यावर का चातुर्मास एक सांस्कृतिक इतिहास का सुवर्णपत्र हो सकता है। आचार्यश्री १०८ शांतिसागरजी छाणीवालों का भी चातुर्मास योगायोग से ब्यावर में हुआ। दोनों संघों का एकत्र रहना यह विशेषता थी। छाणीवाले महाराज की परंपरा तेरा पंथ की थी जब कि आचार्य महाराज की परंपरा वीस पंथकी थी। फिर भी दोनों में परस्पर पूरा मेल रहा। छाणीवाले महाराज आचार्यश्री का वैयावृत्य भक्ति भाव से बराबर करते रहे और आचार्यश्री ने भी उनके सम्मान की पूरी रक्षा की। जहाँ पर जिस प्रकार के व्यवहार का चलन हो उस प्रकार की प्रवृत्ति चलनी देनी चाहिए उसमें अन्य परंपरा वालों ने किसी मात्रा

में भी ठेस नहीं पहुंचानी चाहिये, सहिष्णुता का भाव होना ही चाहिए, इस प्रकार का संकेत संघस्थ सब को बराबर दिया गया था।

जातिलिंगविकल्पेन येषांच समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवंति परमं पदमात्मनः॥

अर्थात जाति और वेष परिवेष का विकल्प साधना में पूरा बाधक एवं हेय होता है इसी प्रकार तेरह पंथ या वीसपंथ मे विकल्पों से आत्मसाधना अर्थात परमार्थभूत धर्मसाधना अत्यंत दूर होती है। धर्मदृष्टि के अभाव का ही परिणाम है। टंकोत्कीर्ण धर्मसाधना लुप्तप्राय होती जा रही और तेरह वीस के झगडे दृढमूल बनाए जा रहे हैं। और उन्हें धर्माचार का रूप दिया जा रहा है। समाज में आज भी जो भाई तेरह और वीस पंथ के नाम से समय समय पर वितंडा उपस्थित करते हैं और समाज के स्वास्थ्य को ठेस पहुंचाते हैं उनकी उस प्रवृत्ति को जो समाज के लिए महारोग के समान है, हम समझते आचार्यश्री का सामंजस्यपूर्ण दूरदृष्टिता का व्यवहार एक अद्भुत कल्याणकारी अमृतोपम रसायन हो सकता है।

इन तेरह वीस का आज तक कोई प्रामाणिक इतिहास भी उपलब्ध नहीं हो सका। इन विकल्पों से न समाज की कोई भलाई हो सकी न संस्कृति सुरक्षा के लिए सहाय्यता पहुँची। विकल्पों से विकल्प की ही उत्पत्ति होती है। एक धर्म, एक तत्त्व, के प्रचार और प्रसार के लिए अज्ञानमूलक ये पंथ भेद जरूर ही बाधक सिद्ध हुए हैं। इन आपसी झगडों ने तीर्थरक्षा में भी बाधा पहुंचायी है जिसका लाभ दूसरे स्वार्थियों ने उठाया है।

नगरसेठ श्रीमान् चंपालालजी रानीवालों ने और उनके सुपुत्रों ने संघ का जो प्रबंध किया वह अपनी शान का उदारतापूर्ण अलौकिक ही था।

शास्त्रशुद्ध व्यापक दृष्टिकोन

महाराजजी का अपना दृष्टिकोन हर समस्या को सुलझाने के लिये मूल में व्यापकही रहता था। योगायोग की घटना है इसी चौमासे में कारंजा गुरुकुल आदि संस्थाओं के संस्थापक और अधिकारी पू. ब्र. देवचंदजी दर्शनार्थ ब्यावर पहुँचे। पू. आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा के लिए पुनः प्रेरणा की। ब्रह्मचारीजी का स्वयं विकल्प था ही। वे तो उसी लिए ब्यावर पहुँचे थे। साथ में और एक प्रशस्त विकल्प था कि "यदि संस्थासंचालन होते हुए क्षुल्लक प्रतिमा का दान आचार्यश्री देने को तैयार हो तो हमारी लेने की तैयारी है।" इस प्रकार अपना हार्दिक आशय ब्रह्मचारीजी ने प्रगट किया। ५–६ दिन उपस्थित पंडितों में काफी बहस हुई। पंडितों का कहना था कि क्षुल्लक प्रतिमा के व्रतधारी संस्था संचालन नहीं कर सकते। आचार्यश्री का कहना था कि पूर्व में मुनिसंघ में ऐसे मुनि भी रहा करते थे जो जिम्मेवारी के साथ छात्रों का प्रबंध करते थे और ज्ञानदानादि देते थे। यह तो क्षुल्लक प्रतिमा के व्रत गृहस्थी के व्रत है। अंत में आचार्य महाराजजी ने शास्त्राधारों के आधार से अपना निर्णय सिद्ध किया।

फलतः श्री ब्र. देवचंदजी ने क्षुल्लक पद के व्रतों को पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। आचार्यश्री ने स्वयं अपनी आंतरिक भावनाओं को प्रगट करते हुए दीक्षा के समय 'समंतभद्र' इस भव्य नाम से क्षुल्लकजी को नामांकित किया। और पूर्व के समंतभद्र आचार्य की तरह आपके द्वारा धर्म की व्यापक प्रभावना हो इस प्रकार के शुभाशीर्वादों की वर्षा की। कहाँ तो बाल की खाल निकालकर छोटी छोटीसी बातों की जटिल समस्या बनाने की प्रवृत्ति और कहाँ आचार्यश्री की प्रहरी के समान सजग दिव्य दूर-दृष्टिता ?

चारित्रचक्रवर्ति आचार्यश्री

संघ विहार करता हुआ गजपंथ सिद्धक्षेत्र पर आया। यहाँपर संमिलित सब जैन समाज ने आचार्यश्री को 'चारित्र-चक्रवर्ति' पद से विभूषित किया। महाराजश्री की आत्मा निरंतर निरुपाधिक आत्मस्वरूप के अमृतोपम महास्वाद को सहज प्रवृत्ति से बराबर लेने में परमानंद का अनुभवन करती थी। उन्हें इस उपाधि से क्या ? वे पूर्ववत् उपाधि-शून्य स्वभावमग्न ही थे। साधु परमेष्ठी या आचार्य परमेष्ठी की आंतरिक जीवनी का यथार्थ दर्शन यह चक्षु का विषय नहीं होता। वह अपनी शान का अलौकिक ही होता है। जहाँ जीवनाधार श्वासोच्छ्वास की तरह इन परमेष्ठियों का श्वास आत्मा को स्वात्मा में स्थिर बनाये रखने के लिए होता है वहाँ उच्छ्वास विश्व में अपनी आदर्श प्रवृत्ति के द्वारा शांति स्थापना में और धर्म प्रभावना में उत्कृष्ट निमित्त के रूप में उपस्थित होने के लिए होता है। आचार्यश्री की लोकोत्तम, लोकोत्तर अलौकिकता और वैभवशाली विभूतिमत्ता इसीमें थी। 'चारित्र-चक्रवर्ती' उपाधि का महाराज को तो कोई हर्ष विषाद ही नहीं था। "चारित्र के चक्रवर्ती तो भगवान् ही हो सकते हैं। हम तो लास्ट (Last) नंबर के मुनि हैं। हमें उपाधि से क्या ? स्वभाव से निरुपाधिक आत्मा ही हमें शरण है।" समाज ने अपनी गुणग्राहकता और त्याग संयम के प्रति निष्ठा का जो औचित्य-पूर्ण प्रदर्शन किया वह योग्य ही हुआ।

हरिजन मंदिर प्रवेश बिल जैनमंदिरों पर आक्रमण

जब भारत स्वतंत्र हुआ उसके थोडे ही दिन बाद इ. सन १९४७ के अनन्तर बम्बई राज्य में 'हरिजन मंदिर प्रवेश' बिल पास हुआ। राष्ट्रीय ऐक्यता के लिए वह योग्य ही था। परंतु इसकी अपनी एक व्याप्ति थी, मर्यादा थी। परंतु उसे ख्याल में न लेकर "जैन भी हिंदू हैं। जैनियों के मंदिरों में भी हरिजनों को जाने का कानूनन अधिकार है" ऐसा भी प्रचार दृष्टिशून्य कुछ लोगों के द्वारा होने लगा। सांगली, फलटण, सोलापूर आदि स्थानों के जिन मंदिरों में हरिजनों का प्रवेश जबरन् लाठी काठी के बल पर कराने के कुछ प्रयास भी हुए। परंतु अंततो गत्वा वे सफल नहीं हो पाये। यह एक महान् सामाजिक उपसर्ग ही था। जैनियों की तात्त्विक भूमि का शुरू से स्वच्छ थी। जो जिस देवता के और धर्म के उपासक नहीं उनके मंदिरों में जाने का अधिकार कानूनन किसी भी अन्य धर्मावलंबियों को नहीं हो सकता। यह

आक्रमण सामान्य सारासार विचार से भी परे है। इस आपत्ति को सजग क्षत्रिय की आत्मा किसी हिस्से में बरदाश्त नहीं कर सकती। जैन–मंदिरों पर और जैन तीर्थक्षेत्रों पर आया हुआ उपसर्ग निवारण करने के हेतु आचार्यश्री ने अन्न–आहार न लेने का संकल्प किया।

केवल दूध–पानी–फलाहार मात्र की छूट रखी थी। अन्त में अकलूज के मंदिर प्रवेश के बाबत बम्बई हायकोर्ट में मुकदमा दाखिल ही करने पडा। समाज भर में हलचल मची। जागृति भी काफी हुई। भाग्योदय तथा आचार्यश्री के तपोबल से कोर्ट का फैसला जैन समाज के पक्ष में हुआ। वास्तव में स्वाधीन राष्ट्र में अल्पसंख्यांकों के अधिकारों की सुरक्षा होनी ही चाहिए। यह मानवता की प्रथम पैडी हो सकती है। जो अपने सांस्कृतिक अधिकारों के लिए सदा सजग रहते हैं उनके अधिकारों की सुरक्षा होती भी है। जैनी भाई इस विषय में असंगठित एवं दुर्बल तथा सांस्कृतिक अधिकारों के विषय में उपेक्षक होने से ही राष्ट्रपति तक डेप्युटेशन ले जाने पडे। कुछ मामले को सलटाने के लिए तीन वर्ष लगे और सोते हुए समाज को जगाने के लिए महामानव आचार्यश्री को अपने प्राणों की बाजी लगानी पडी।

"जैन हिंदू नहीं हैं। जैन धर्म स्वतंत्र धर्म है। जैन मंदिरों में हरिजनों को अथवा हिंदू धार्मियों को भी कानून से प्रवेश का अधिकार नहीं हो सकता।"[1] इस प्रकार का कोर्ट का फैसला हुआ। तीन वर्षों के बाद आचार्यश्री के उद्देश की पूर्ति हुई। सुप्रीम कोर्ट से भी हेरफेर नहीं हो सकता ऐसा पक्का निर्णय होने पर ही ता. १६ अगस्त १९५१ को पूर्व की तरह अन्नाहार का प्रारम्भ हुआ। उस समय महाराजजी बारामती में थे।

संपूर्ण जैन समाज के लिए वह गौरवशाली महत्त्वपूर्ण आनंद का दिन था।

---

१. "बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सवर्ण हिंदुओं के समान मंदिर प्रवेश का अधिकार देता है। जैनियों तथा हिंदुओं में मौलिक बातों की भिन्नता है। उनके स्वतंत्र अस्तित्व तथा उनके धर्मसिद्धान्तों के अनुसार शासित होने के अधिकारी के विषय में कोई विवाद नहीं है। अतः हम एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते हैं कि कानून का ध्येय जैनों तथा हिंदुओं के भेदों को मिटा देना है।"

"दूसरी बात यह है कि, यदि कोई हिंदू इस कानून के बनने के पूर्व किसी जैनमंदिर में पूजा करने के अधिकार को सिद्ध कर सके तो यही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकता है। अतः हमारी राय में प्रार्थियों (Petitioners) का यह कथन मान्य है कि जहां तक सोलापूर जिले के जैन मंदिर का प्रश्न है हरिजनों को उनमें प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है, यदि हिंदुओं ने यह अधिकार कानून, रिवाज या परंपरा के द्वारा सिद्ध नहीं किया है।"

"कलेक्टर का कार्य भी कानून के अनुसार ठीक नहीं था। कानून के नियम के नियम नं. ४ के अनुसार कलेक्टर को इस बात का संतोष हो जाय, कि इस अकलूज के जैन मंदिर में हिंदुओं को कानून, रिवाज या परंपरा के अनुसार अधिकार था, तो उसे यह करना उचित होगा कि उस जैन पर कारवाही करे जो इस कानून के द्वारा प्रदत्त अधिकार में बाधा डालता है। किन्तु नियम नं. ४ के शिवाय कलेक्टर को ताला तोडने का अथवा हरिजनों को मंदिर में प्रविष्ट कराने में सहाय्यता देने का अधिकार नहीं था।"

[चारित्रचक्रवर्ती, पृष्ठांक ३७५]

निर्वाण भूमि की तरफ

हीरकजयंति महोत्सव के उपरान्त आचार्यश्री के विचार दिन प्रतिदिन निर्वाण भूमि की तरफ गमन करने के लिय होते चले। निर्वाण भूमिपर ही अपने शेष जीवनी के अंतिम दिन व्यतीत करने के विचार उत्पन्न हुए। श्री मुक्तागिरि अथवा कुंथलगिरि क्षेत्र निर्वाणभूमि निश्चित की गई। किसी के कहने से मात्र महाराजजी ने कुंथलगिरि क्षेत्र निश्चित किया हो ऐसा कहना उचित नहीं। वह तो अज्ञानभरा कोरा विकल्प ही है। भाव अपने और साधु के माथे मारना विचारशून्य प्रवृत्ति होगी। साधुजनों ने अंतिम सल्लेखना किसी निकटवर्ति सिद्धक्षेत्र पर धारण करनी चाहिए — यह शास्त्रविधान है तथा प्रशस्त प्राचीन परंपरा भी है। तदनुसार महिनों के विचारों के अनंतर आचार्यश्री ने श्री कुंथलगिरी सिद्धक्षेत्र ही अंतिम सल्लेखना का इष्ट स्थान निश्चित किया।

जब आचार्य श्री गजपंथ क्षेत्र पर थे उसी समय, विजयादशमी के शुभ मुहूर्त पर आचार्यश्री ने 'बारह वर्ष का उत्कृष्ट नियम सल्लेखना' का नियम बना लिया था। गजपंथ, लोणंद, फलटण, वालचंदनगर, बार्शी होते हुये महाराज श्री चातुर्मास के लिये कुंथलगिरि क्षेत्र पर आये। यहाँ पर चार माह के वास्तव्य में परिणामों की शांति तथा विशुद्धता विशेष वृद्धिंगत होती ही गई। दृष्टि-संपन्न साधु की ध्यान वस्तु एकमात्र शुद्ध होती है। ध्रुव होती है। चैतन्य धातुस्वरूप होती है। इसलिए उनकी आत्मा नित्य ही परिस्थिति-निरपेक्ष, निर्विकल्प सुखास्वाद करने में समर्थ होती है। बहिर्दृष्टि जीव साधु का आहार विहार उपदेश मात्र से प्रभावित होते हैं परंतु साधु का वास्तव जीवन शारीरिक, वाचिक कर्मकाण्ड से अत्यंत भिन्न तो होता ही है। परंतु परवस्तुसापेक्ष विकल्पों से भी अत्यंत परे होता है। "निष्कर्मशर्म पयमेमि दशांतरं सः' ऐसी ही शब्दातीत वास्तव अनुभूति में आचार्यश्री की आत्मा मग्न होती थी। अंतिम समाधि का स्थान निर्विकल्प होकर श्रीकुंथलगिरि क्षेत्र ही निश्चित हुआ।

चातुर्मास के अनन्तर कुछ दिन कुंथलगिरि क्षेत्र पर रह कर दक्षिण प्रांत में पुनः बिहार शुरू हुआ। जो इस पर्याय का अंतिम ही था। आचार्य श्री नान्द्रे, सांगली, शेडवाळ इत्यादि स्थानों में पहुंचे। हर जगह हजारों लोक उनके पुण्य दर्शन के लिये एकत्रित होते थे। छाया की तरह यशःकीर्ति नामकर्म प्रकृति भी अपना काम प्रामाणिकता से करती ही जाती थी।

शेडवाळ में पूर्वाश्रम के ज्येष्ठ भ्राता श्री वर्धमानसागर महाराज को अनेक साल के बाद आचार्यश्री का दर्शन होने से अपरिमित हर्ष हुआ। इसी समय शेडवाळ श्रीशांतिसागर अनाथाश्रम (रत्नत्रयपुरी) के भूतपूर्व महामंत्री श्री बाळगौंडा पाटील ने आचार्यश्री के पास भगवती दिगंबर मुनि-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा नाम 'आदिसागर' रक्खा गया। यहां कुछदिन तक वास्तव्य करने के पश्चात् फिर से बारामती की तरफ जाने का विचार था। परंतु प्रकृति की अपनी योजना में और एक काम होना बाकी था।

एक प्रशस्त विकल्प

वर्षों से एक प्रशस्त संकल्प चित्त में था। जैसे मां के पेट में बच्चा हो। वह करुणा कोमल चित्त की उद्भट चेतना थी। महाराष्ट्र की जैन जनता प्रायः किस्तकार है। धर्मविषयक अज्ञान की भी उनमें बहुलता है। आचार्यश्री का समाज के मानस का गहरा अध्ययन तो अनुभूति पर आधारित था ही। 'शास्त्रज्ञान और तत्त्वविचार' की ओर इनका मुडना बहुत ही कठिन है। प्रथमानुयोगी जन मानस के लिए एक भगवान का दर्शन ही अच्छा निमित्त हो सकता है। इसी उद्देश को लेकर किसी अच्छे स्थानपर विशाल काय श्रीबाहुबली भगवान की विशाल मूर्ति कम से कम २५ फीट की खडी करने का प्रशस्त विकल्प जहां कहीं भी आचार्यश्री पहुँचे थे प्रगट करते थे। परंतु सिलसिला बैठा नहीं। 'भावावश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते'। होनहार होकर ही रहता है। योगायोग से इसी समय अतिशय क्षेत्र बाहुबली (कुंभोज) में वार्षिकोत्सव होनेवाला था। 'संभव है सत्य संकल्प की पूर्ति हो जाय' इसी सदाशय से आचार्यश्री के चरण बाहुबली की ओर यकायक बढे। १८ मील का विहार वृद्धावस्था में पूरा करते हुए नांद्रे से महाराज श्रीक्षेत्र पर संध्या में पहुँच पाये। इस संकल्प के लिए कमेटी और कार्यकर्ताओं की पूर्ण स्वीकृति मिलते ही एक नया अत्यंत पवित्र आनंदोल्लास का वातावरण पैदा हुआ। संस्थां के मंत्री श्री सेठ वालचन्द देवचन्दजी और मुनि श्री समंतभद्रजी से संबोधन करते हुए भरी सभा में आचार्यश्री का निम्न प्रकार समयोचित और समुचित वक्तव्य हुआ। जो आचार्यश्री की पारगामी दृष्टि-संपन्नता का पूरा सूचक था।

"तुमची इच्छा येथे हजारो विद्यार्थ्यांनी राहावे शिकावे अशी पवित्र आहे हे मी ओळखतो, हा कल्पवृक्ष उभा करून जातो. भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील. मिळेल तितका मोठा पाषाण मिळवा व लवकर हे पूर्ण करा." मुनिश्री समंतभद्राकडे वळून म्हणाले, "तुझी प्रकृति ओळखतो. हे तीर्थक्षेत्र आहे. मुनींनी विहार करावयास पाहिजे असा सर्वसामान्य नियम असला तरी विहार करूनही जे करावयाचे ते येथेच एके ठिकाणी राहून करणे. क्षेत्र आहे. एके ठिकाणी राहाण्यास काहीच हरकत नाही. विकल्प करू नको. काम लवकर पूर्ण करून घे. काम पूर्ण होईल! निश्चित होईल!! हा तुम्हा सर्वांना आशीर्वाद आहे."

आपकी आंतरिक पवित्र इच्छा यहाँपर हजारो विद्यार्थी धर्माध्ययन करते रहे इसका मुझे परिचय है। यह कल्पवृक्ष खडा करके जा रहा हूं। भगवान का दिव्य अधिष्ठान सब काम पूरा कराने में समर्थ है। यथासंभव बडे पाषाण को प्राप्त कर इस कार्य को पूरा कर लीजिए। मुनि श्री समंतभद्रजी की ओर दृष्टि कर संकेत किया—"आपकी प्रकृति को बराबर जानता हूं। यह तीर्थभूमि है। मुनियों ने विहार करते रहना चाहिए इस प्रकार सर्वसामान्य नियम है। फिर भी विहार करते हुए जिस प्रयोजन की पूर्ति करनी है उसे एक स्थान में यहीपर रहकर कर लो। यह तीर्थक्षेत्र है एक जगहपर रहने के लिए कोई बाधा नहीं है। विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार से कार्य शीघ्र पूरा हो सके पूरा प्रयत्न करना। कार्य अवश्य ही पूरा होगा। सुनिश्चित पूरा होगा। आप सब को हमारा शुभाशीर्वाद है।"

पूर्णिमा का शुभमंगल दिन था। शुभ संकेत के रूप से पचीस हजार रुपयों की स्वीकारता भी तत्काल हुई। काम लाखों का था। यथाकाल सब काम पूर्ण हुआ। 'पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः।' पानी से कमल, कमल से पानी और दोनों से सरोवर की शोभा बढती है। ठीक इस कहावत के अनुसार भगवान की मूर्ति से संस्था का अध्यात्म वैभव बढाही है। अतिशय क्षेत्र की अतिशयता में अच्छी वृद्धि ही हुई। अब तो मूर्ति के प्रांगण में और सिद्धक्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ बनने से यथार्थ में अतिशयता या विशेषता आयी है। महाराज का आशीर्वाद ऐसे फलित हुआ।

टंकोत्कीर्ण श्रुतकी टंकोत्कीर्ण सुरक्षा

वि. सं. २००० (इस. १९४४) की घटना है। आचार्यश्री का चौमासा कुंथलगिरि था। श्री पं. सुमेरचंदजी दिवाकर से धर्मचर्चा के समय यह पता चला कि अतिशयक्षेत्र मुडबिद्री में विद्यमान धवला–जयधवला और महाबंध इन सिद्धान्त ग्रंथों में से महाबंध ग्रन्थ की ताडपत्री प्रति के करीब ५००० सूत्रों का भागांश कीटकों का भक्ष्य बनने से नष्टप्राय हुआ है। भगवान् महावीर के उपदेशों से साक्षात् सम्बन्धित इस जिनवाणी का केवल उपेक्षामात्र से हुवा विनाश सुनकर आचार्यश्री को अत्यंत खेद हुआ। आगम का विनाश यह अपूरणीय क्षति है। इनकी भविष्य के लिए सुरक्षा हो तो कैसी हो? इस विषय में पर्याप्त विचारपरामर्ष हुआ। अंत में निर्णय यह हुआ कि, इन ग्रंथराजों के ताम्रपत्र किए जाय और कुछ प्रतियाँ मुद्रित भी हो।

प्रातःकाल की शास्त्रसभा में आचार्यश्री का वक्तव्य हुआ। संघपति श्रीमान् सेठ दाडिमचंदजी, श्रीमान् सेठ चंदुलालजी बारामती, श्रीमान् सेठ रामचंदजी धनजी दावडा आदि सज्जन उपस्थित थे। संघपतिजी का कहना था कि, जो भी खर्चा हो वे स्वयं करने के लिए तैयार है। फिर भी आचार्यश्री के संकेतानुसार दान संकलित हुआ जो करीब डेढ लाख हुआ।

"श्री १०८ चा. च. शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था" नामक संस्था का जन्म हुआ। ग्रन्थों के मूल ताडपत्री प्रतियों के फोटो लेने का और देवनागरी प्रति से ताम्रपट करने का निर्णय हुआ। नियमावली बन गयी। कार्य की पूर्ति के लिए ध्रुवनिधी की वृद्धि करने का भी निर्णय हुआ। कार्य की पूर्ति शीघ्र उचित रूप से किस प्रकार हो इस विषय में पत्र द्वारा श्री समन्तभद्रजी से परामर्श किया गया। 'आर्थिक व्यवहार चाहे जिस प्रकार हो यदि कार्य पूरा करना है तो कार्यनिर्वाह की जिम्मेदारी किसी एक जिम्मेदार व्यक्ति के सुपूर्द करनी होगी। हमारी राय में श्रीमान् वालचंदजी देवचंदजी शाह बी. ए. को यह कार्य सौंपा जाय' इस सलाह के अनुसार कार्य की व्यवस्था बन गयी। आचार्यश्री के संकेत को आज्ञा के रूप में श्री सेठ वालचंदजी ने शिरोधार्य कर कार्य संभाला। प्रतियों के मुद्रण तथा ताम्रपत्र के रूप में टंकोत्कीरण का कार्य श्रीमान् विद्यावारिधी पं. खुबचंदजी शास्त्री, श्रीमान् पं. पन्नालालजी सोनी, श्रीमान् पं. सुमेरचंदजी दिवाकर, श्रीमान् पं. हिरालालजी शास्त्री, श्री. पं. माणिकचंदजी भीसीकर आदि विद्वानों के यथासंभव सहयोग से यह कार्य पूरा हो पाया। जिसमें ९ वर्षों का समय लगा। मुडबिद्री

के प्रतियों के फोटों की कारवाही के लिए बम्बई के सुप्रसिद्ध छायाचित्रकार श्री झारापकर का योग अच्छा रहा। श्रीमान् वालचंदजी ने महिनों मुडबिद्री रहकर इस कार्य को संपन्न किया। मुडबिद्री, भट्टारकपीठ के भट्टारक श्री चारुकीर्ति महाराज की व्यापक और अनुकूल दृष्टि तथा पंचों के द्वारा प्राप्त पूरा सहयोग का इस कार्य की पूर्ति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ताम्रपत्र देवनागरी प्रति के आधार से देवनागरीलिपि में ही किये गये। जो कार्य बम्बई में मशीन द्वारा किया गया। धवला के उत्कीर्ण ताम्रपत्र फलटण में तथा जयधवला और महाबन्ध के ताम्रपत्र बम्बई के काळबादेवी जिनमंदिर में सुरक्षित रखे गये। मूल कनडी प्रतियों के फोटो १००० के करीब है जो ६"×८" साईझ में और १२"×१५" साईझ में है फलटण में सुरक्षित हैं। इस प्रकार श्रुतरक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य पूज्य आचार्यश्री के सहज प्रेरणामात्र से संपन्न हुआ। ग्रंथों को सं. २०१० में पू. आचार्यश्री के हीरक जयन्ति महोत्सव के समय हाथीपर महोत्सवपूर्ण जुलूस निकाला गया और ग्रंथ उत्साहपूर्ण वातावरण में आचार्यश्री से समर्पण किये गये।

इस कार्य के लिए जो रकम संकलित की गयी उस ध्रुवनिधि के आमदनी में से तथा व्यक्ति विशेष द्वारा जो समय समय पर दान प्राप्त हुआ उसमें से निम्नलिखित ग्यारह ग्रंथों का प्रकाशन और विनामूल्य वितरण भी हुआ। ग्रंथों की ५००।५०० प्रतियाँ छपवाई गयी। यह सब कार्य जिनवाणी जीर्णोद्वार संस्था के अन्तर्गत 'श्रुतभाण्डार और ग्रंथ प्रकाशन समिति' द्वारा संपन्न हुआ। प्रकाशित ग्रंथों की सूची निम्न प्रकार है—

१	श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार	२	श्री समयसार प्राभृत
३	श्री उत्तरपुराण	४	श्री सर्वार्थसिद्धि
५	श्री अनगारधर्मामृत	६	श्री सागारधर्मामृत
७	श्री मूलाचार	८	श्री कषायप्राभृत सूत्र
९	श्री षट्खण्डागम (सूत्र)	१०	श्री कुंदकुंदभारती
११	श्री अष्टपाहुड		

संस्था के अध्यक्ष स्व० श्रीमान् जिनसेनजी भट्टारक रहे। कोषाध्यक्ष—स्व० श्रीमान् सेठ तुळजारामजी चतुरचंदजी शहा, बारामती रहे। बाद में आपके ही सुपुत्र श्रीमान् सेठ माणिकचंदजी ने कार्य को संभाला है। मंत्री श्रीमान् सेठ वालचंदजी देवचंदजी शहा तथा सहाय्यक के रूप में श्रीमान् स्व० माणिकचंदजी मलुकचंदजी दोशी वकील ने काम किया। अनन्तर श्रीमान् मोतीलालजी मलुकचंदजी दोशी का योगदान रहा।

कुंथलगिरिक्षेत्र पर बृहज्जिनबिम्ब का विकल्प

कुंथलगिरि दक्षिण का सीमावर्ती सुंदर सिद्धक्षेत्र है। 'यहाँ पर एकाद विशालकाय बाहुबलि भगवान् की मूर्ति हो तो अच्छा होगा' यह भव्य आशय कमेटी के सबही सदस्यों को एकदम पसंद आया। पूज्य आचार्यश्री के समक्ष कार्य पूरा होना असंभव था। महाराजजी ने यमसल्लेखना का नियम

कर ही लिया था। इसी अवसर पर एक समाचार विदित हुआ कि दक्षिण में म्हैसूर स्टेट के अंतर्गत 'बस्ती हळ्ळी' देहात में एक १५ फूट ऊंची मनोज्ञ मूर्ति है और वह एक अजैनभाई के खेत में करीब अज्ञात अवस्था में पडी हुई है, उसीको लाकर खडी करने का विचार किया गया। स्व० श्रीमान् सेठ रावजी देवचंद शहा आदि सज्जन स्वयं वहाँ पहुँचे। काफी प्रयास किया गया। परंतु सफलता नहीं मिल पायी। केवल फोटो मात्र मिल पाया। उसेही सिरपर रखकर आचार्यश्री ने धन्यता के भाव प्रगट किये। वीतरागता की साधना में परम वीतराग मूर्ति के दर्शन से अद्भुत आनंद की और धर्मोल्लास की लहर होना सहज था। आचार्यश्री के चर्यापर वह दृगोचर हुई। आचार्य महाराज के भव्यभावों की पूर्ति होनीही चाहिए इस प्रकार का भव्य भाव समीपवर्ती सेवाभावी सरल प्रकृति श्रेष्ठीवर्य श्रीमान् नेमचंदजी मियाचंदजी गांधी, नातेपुते के चित्त में आया। 'यदि महाराजजी की आज्ञा हो तो इसी क्षेत्र के ऊपर १८-२० फुट ऊंची बाहुबली भगवान् की मूर्ति विराजमान् करने का मेरा भाव है' योगायोग की घटना है दो वर्ष पूर्वही सन १९७० में १८ फीट ऊंची बाहुबली भमवान् की मूर्ति पहाडी के ऊपर पूर्वाभिमुख विराजमान होकर प्रतिष्ठा भी संपन्न हो गयी। इस प्रकार एक तरह से महाराज के संपूर्ण काम सिद्ध हुए।

हीरक जयन्ति महोत्सव

जैनीयों की दक्षिणकाशी फलटण नगरी धर्मकार्यों को उत्साह तथा उल्हास के साथ करतीही आरही है। सन १९५२ की घटना है। पूज्य श्री के जीवनी ८० वर्ष पूरे हुए। इस प्रसंग से हीरक जयन्ति महोत्सव संपन्न करने का निर्णय एक स्वर से किया गया। आचार्यश्री को उत्सवों से कोई हर्ष विषाद नहीं था। एक तरह से त्याग तपस्या का ही यह गौरव होना था। जून की ता. १२।१३।१४ ये तीन दिन विशेष आनंदोत्सव के रहे। सर्वत्र चहलपहल रही। भारत के कोने कोने से हजारों भाई फलटण पहुँचे। इंदौर से रावराजा सेठ राजकुमारसिंहजी, रावराजा सेठ हीरालालजी पहुँचे। बम्बई से सेठ रतनचंदजी, सेठ लालचंदजी, अजमेर से सेठ भागचंदजी, कलकत्ता, देहली, कोल्हापूर, बेळगांव, नांदगांव, नागपूर, सिवनी, जबलपूर, बेळगांव, बाहुबली, सांगली, शेडवाळ, भोज आदि शहरों से सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए। सभा सम्मेलन हुए। योजनाबद्ध रूप से श्रद्धांजलियों का समर्पण हुआ। पूजाप्रभावना हुई। ताम्रपत्रो के ऊपर उत्कीर्ण धवलादि ग्रंथों का हाथीयों के ऊपर जुलूस निकालकर वे ग्रंथ भक्तिभाव-पूर्वक पूज्य आचार्यश्री को समारोह के साथ समर्पण किये गये। छोटेमोटे सबही कार्यों में विशेष सातिशय सजीवता दिखलायी देती थी। स्वयं फलटणस्टेट के अधिपति श्रीमान् मालोजीराव निंबाळकर फलटन नगरी का यह अहोभाग्य समझते रहे। हीरक जयन्ति महोत्सव के निमित्त से एक सचित्र स्मरणिका प्रकाशित हुई। जिससे उत्सव का सचेतन स्वरूप सुस्पष्ट होता है। इस समय महाराजश्री के अनुभव रसपूर्ण हुए। 'रत्नत्रयधर्म की साधना जीवन का एक मात्र लक्ष्य होनी चाहिए। धर्म सेही शेष पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं सफलता होती है' ऐसे ही भावपूर्ण वक्तव्य हुए। आचार्यश्री जीवनी के क्षणों का मूल्य बराबर जानते थे। उपचार और परमार्थ दोनों का परिज्ञान उन्हें बराबर था। सदा की भांति वे अपनी आत्मसाधना में विशेष तन्मय हुए। रत्नत्रयों के श्रेष्ठ आराधक रत्नत्रयों के अकम्प प्रकाश में अविचल रूप से सुस्थित थे। निर्ग्रंथ साधु की विशेषता के पुण्यदर्शन बराबर होते थे। आचार्य महाराज खूब जानते थे।

तिथिर्वोत्सवा सर्वे व्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं ते विजानीयात् शेषमभ्यागतं विदुः ॥

सब ही तिथियाँ पर्व और उत्सव सम्बंधी विकल्पों से ये महर्षी सदा ही दूर होते हैं। इसीलिए इनका यथार्थ नाम 'अतिथि' होता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार करनेपर आत्मा तो यही कहती है कि, महाराज वर्तमान युग के महान् सत्पात्र तो रहे ही हैं। परंतु उनके द्वारा जो ज्ञानदान और दृष्टिदान हुआ है उससे विश्वास के साथ निर्धारपूर्वक कहा जा सकता है कि महाराज श्रेष्ठ से श्रेष्ठ दानी भी रहे। पात्र समझकर जो चढांया गया वह थोडा था और दाता समझकर जो कुछ समाज के द्वारा लिया गया वह भी थोडा था इस सत्य को स्वीकार करना होगा।

आदर्श सल्लेखना

विचार और भावनाओं का समसमा संयोग आचार्यश्री के जीवनी की एक विशेषता थी। भावनाओं में आकर शक्ति को व्यर्थ खोना या व्यर्थ खोने का विकल्प करना यह असंभव था। भविष्य की आशा में वर्तमान को गंवाना वे प्रकाश के बदले में अंधःकार को खरीदना जैसा मानते थे। वर्षों से अखण्ड रूप से की गयी हजारों मीलों की पदयात्रा, यथासंभव अनुकूल प्रतिकूल आहार का संयोग, उपवासों की धाराप्रवाहिता, स्वाभाविक वृद्धावस्था, अल्पनिद्रा आदि कारणों से दृष्टि में पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक मंदता का अनुभव होने लगा। वैद्य और तज्ज्ञ डाक्टरों से समयसमय पर बराबर परामर्श होता था। शुद्ध उपचारों का विशुद्ध भावनाओं से अमल भी होता था। दृष्टिविनाश होने के बाद समितियों का पालन और प्राणस्वरूप मुनिचर्या असंभव है, इसलिए साधनों की सुरक्षा सावधानतापूर्वक अप्रमाद भाव से आचार्यश्री प्रारंभ से ही करते रहे। आचार्यश्री विनोद में शरीर को सवारी का घोडा कहा करते थे। जब घोडे से काम लेना है और घोडा बराबर काम देता है तो उसे मात्रा में चना देना ही होगा। शरीर की या इंद्रियों की गुलामी यह कोई अलग चीज होती है। विदेही भावनाओं के धनी चारित्र-चक्रवर्ति इस जन्म से प्राप्त घोडे से ठीक काम लेना बराबर जानते थे। राणा प्रताप के ईमानदार 'चेतक' की तरह महाराजश्री के देह ने महाराज के आत्मा को पूरी साथ दी; परंतु देहधर्म की अपनी प्रकृति है उसे शिथिल और कमजोर पाकर महाराजश्री बिलकुल सचेत हो गये। शुरू में कांचबिंदु बतलाया गया और अंत में डॉ. आरोसकरजी के द्वारा मोतिबिंदु की निश्चितता सुनिश्चित होनेपर निर्विकल्प रूपसे सल्लेखना ही एकमात्र शरण है ऐसी अंतरङ्ग में दृढ धारणा हो गयी।

समाधि, सल्लेखना, समाधिमरण, वीरमरण, मृत्यु महोत्सव ये ऐसे सार्थक शब्द हैं जो यह बतलाते हैं कि साधक किन पवित्र भावनाओं से सावधानतापूर्वक मृत्यु का सहर्ष स्वागत करता है। शरीर का गल जाना, विनश जाना यह अटल प्रकृति है। वास्तव में जन्म जितना सत्य होता है उतनाही मृत्यु सत्य होता है। परंतु भोगी बहिर्दृष्टि लौकिक पुरुष जन्म का सहर्ष स्वागत करता है, आनंद मनाता है और

मृत्यु से डरता है, मृत्यु के नाममात्र से रोता है, यही विकल्पपरायण अज्ञानी की अज्ञानता है। जन्म होना, छोटे से बडा होना, परिपुष्ट होना और अंत में गल जाना यही प्राणीयों के प्राणों का स्वभाव होता है। जीवन का कोई विश्वास नहीं यह सब कोई कहते हैं और नित्य नये विकल्पों को करते भी जाते हैं। यही अज्ञानियों का अज्ञान है। महाराजजी ने जीवनी से पूरा काम लिया था। रसपूर्ण गन्ने का पूरा रस निकाला हुआ था। सारहीन भाग यदि ठीक ढंग से जलता हो तो उसमें शोक वृथा होता है। विकल्प निरर्थक होते हैं। वस्तुतत्त्व के आधार से संकल्प विकल्पों का परित्याग और आत्मस्वरूप स्थिरता यह समाधि या सल्लेखना की आत्मा होती है और आहार के क्रमशः विधिपुरस्सर परित्यागपूर्वक होनेवाला देहविसर्जन यह समाधि का कलेवर होता है। शरीर की धारणा बनी रहना यह उपजीवन है और स्वरूप में अकंप स्थिरता यह आत्मा का जीवन है। यह दोनों का सुनिश्चित स्वरूप है वैसे ही जीवन के लिए उपजीवन होता है न कि उपजीवन के लिए जीवन यह पारस्परिक सम्बन्ध भी उतनाही निश्चित है। जीवनी को यह सम्यग्दर्शन पूज्य महाराजजी की युवावस्था से ही यथार्थ रूप में था। इस लिए परलोक यात्रा की तैयारी सहर्ष भावना से पूरी हो गयी थी। दिनांक १८।८।५५ को महाराजजी का यम सल्लेखना का जो ही निर्णय प्रगट हुआ समाज भर को, देश भर को भूचाल जैसा धक्का लगा। जो स्वाभाविक ही था।

अंतिम आहार और परित्याग

अन्न आहार के रूप में अंतिम ग्रास दिनांक १८।८ को दिया गया। ता. २६।८ को मध्याह्न में सल्लेखना विधि के अनुसार महाराजश्री के द्वारा क्षमा याचना का क्षमा के आदान प्रदान का भाव व्यक्त हुआ। यह संपूर्ण दृश्य अभिनव था। सभा में गंभीरता का वातावरण भर आया। उपचार विधि में पूरी परमार्थता किस प्रकार हो सकती है इसका वह मूर्तिमान रूप था। बस अब सदा के लिए अन्नाहार बंद हो गया। केवल पानी मात्र की छूट थी। आगे चल कर पानी का भी दिनांक २८।८।५५ को परित्याग कर दिया। फिर भी मंदिरों के दर्शन, यथाशक्ति वंदना, अभिषेक, पूजा इत्यादि का अवलोकन, मंत्रस्मरण आदि में कोई खण्ड नहीं रहा। लोगों की बढती हुई भीड का क्या कहना? कुंथलगिरि के उस वीरान् पहाडी में जनसागर उमड पडा। जिसको ही समाचार मिला और अनुकूलता मिली वह साधकोत्तम महापुरुष के अंतिम दर्शन के लिए वहांपर पहुँचा। महासाधक की वह महायात्रा थी। सम्मिश्र भावनाओं का सम्मिश्र रस रूप दृगोच्चर होता था। जहां महाराजश्री स्वाभाविक रूप से सहज-भावना से अपूर्व आनंद रसमें उन्मुक्त मन से अधिकाधिक मग्न होते हुए नजर आते थे! शांतिसागर स्वनामधन्य शांतिसागर अथाह शांति के सागर में निमग्न थे। उसी समय जनता सागर शोक में डूबता हुआ दृष्टिगोचर होता था। कुंथलगिरि का दृश्य कुछ अपूर्व था। बाहर की दुनिया में जैनाजैन समाचार पत्रों में अनुकूल प्रतिकूल समाचार साभिप्राय प्रगट होते ही थे। अपने अपने विकल्पों को सबके लिए छूट होती ही है। व्यक्तिस्वातंत्र्य का युग है। कोई 'जैन साधु की पवित्र महायात्रा' लिखता था कोई 'जैन साधूची आत्महत्या' लिखता था। युद्ध में मृत्यु हो तो 'वीरमरण' कहना। देशभक्त

को यदि फांसी हो तो उसे हुतात्मता कहना यहां तक ही लौकिक दृष्टि की पहुंच हो सकती है। इससे भी बढकर साधक की समाधि हो सकती है इसका इनको क्या पता? धर्म और अहिंसा जैसी पवित्र–पवित्रतम वस्तुओं की वर्षों से समय असमय में बराबर खाल उतारी जाती है वहां सल्लेखना और समाधि जैसी अत्यंत पवित्र लोकोतम 'व्रतशिरोरत्न' की जो छानबीन की चेष्टा ज्ञानी कहे जाने अज्ञानीयों के द्वारा हुई उसका क्या हिसाब? पवित्रता की विटंबना ही मानो इस युग की विशेषता रही हो!! जिसके पास सच्चा मापतोल ही नहीं। सूखी लकडीयों के साथ गीली को और कोयले को ही तोलने का तराजु हो वह क्या उनसे रत्नों का और जवाहरात का माप तोल कर सकता है? धर्मकाटा कोई अलग वस्तु होती है! यही बात सच्ची है।

महाराजश्री की शांत स्वात्मनिर्भरता यथापूर्व हाथी के चाल से कदमकदम पर आगे के लिए बढती ही जा रही थी। दिनांक २२–८ को महाराजश्री के संकेत से ही श्रीमान् सेठ वालचन्द देवचंद शहा का ताम्रपट तथा ग्रंथमालों से की गयी श्रुतसेवा के लिए सभासंयोजना पूर्व सत्कार किया गया और मानपत्र समर्पण किया गया। स्वयं महाराजश्री आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित हुए।

आचार्य महाराज का अंतिम शब्दांकित प्रवचन

दिनांक ८–९–५५ को योगायोग से टेपरेकॉर्ड का प्रबंध हो सका। वह उपवास का २५ वां दिन था। फिर भी महाराज २२ मिनिट धारावाही बोले। बोले क्या? रत्नत्रय धर्म का पूरा आविष्कार था! सचेत जीवन की सचेतन कमाई का भव्यों के लिए समर्पण था! कहना होगा 'खात् पतिता नो रत्नवृष्टिः।' आकाश से रत्नवर्षा के समानही वह प्रेरणादायी अमृतवृष्टि रही। जो जितना ग्रहण कर लेवे। कहना होगा। जैन समाज के पास प्रभावना के साधन हो सकते है परंतु वह समय पर उनका उपयोग करने में सावधानी नहीं रख पा रहा है। महाराजश्री के मुख से निकल गया 'फार उशीर झाला!' टेपरेकॉर्ड के लिए बहुत देरी हो गयी। अस्तु। महाराजश्री के उपदेश का कुछ भागांश स्वतंत्ररूप से मुद्रित है। जहाँ शास्त्रों में 'संयमबिन घडीयमइक्कजाहु' 'संयम के बिना मेरी एक घडी भी न जावे' इस प्रकार की आत्मप्रेरणा रही, प्रशस्त संकेत रहा। फिर भी छोटा बच्चा जैसा आग से डरता है, भागता है ठीक उसी तरह से अज्ञानी संयम से डरता है महाराजश्री का वह न रहा; 'संयम से मत डरो' दृष्टि यदि सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान यदि सम्यग्ज्ञान है, भीतर से मुमुक्षु वृत्ति जगी हुई है तो संयम से घबडाने का कोई कारण नहीं। संयम कोई अलग से वस्तु नहीं जिस दृष्टि से मोक्षमार्ग पाया है, जिस ज्ञानानन्द का रसास्वाद यह जीव ले रहा है उसीकी स्थिर प्रवृत्ति कालविशेष के लिए बन जाना यही संयम है। संयम के नाम से भी उसीको चीड हो सकती है जिसने केवल कर्मकाण्ड के रूप में संयम को देख पाया। राग मात्र या राग का विकल्प मात्र भी बन्ध का या संसार का कारण होता है और वह सर्वथा हेय होता है। परमार्थभूत ज्ञानशून्य अज्ञानियों का व्रत–तप यह सुतराम् बालतप या बालव्रत होता है। परमार्थभूत ज्ञान का अनुभवनमात्र सामायिक होता है। बुद्धिपूर्वक होनेवाले केवल स्थूल कषायों के हट जाने मात्र से संभवनीय

विशुद्ध परिणामों से जायमान कर्मोदय सापेक्ष भावों का नाम संयम नहीं इसको भी महाराजश्री खूप जानते थे। भीतर से इस प्रकार पूर्ण आत्मरसनिर्भर होकर आत्ममग्नता के लिए संयमी का–बाह्य में अविनाभावी रूप से रहनेवाला मुनि का नग्नदिगम्बर स्वरूपसुन्दर रूप साधक ही होता है, उसे बाधक समझना केवल कोरा अज्ञानही है। इस आशय को लेकर जो भी प्ररूपणा रही उसमें महाराजश्री का वर्षों का स्वात्मानुभव निहित है।

अंतिम दर्शन

शास्त्रों में सामायिक और छेदोपस्थापना का जो भी सूक्ष्म वर्णन आता है, निर्विकल्प शुद्धात्मस्वरूप मग्नता और विकल्पों में से निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप में मग्न होने का जो सावधान प्रयत्न, इन दोनों अंतरंग प्रक्रियाओं का जराजर्जर तपसा क्षीण देही महाराज की विदेही सावधान प्रवृत्ति में जो प्रत्यक्ष दर्शन हो पाया वह सुनिश्चित ही अद्भुत, अपूर्व, चैतन्यचमत्कारपूर्ण था। वैसे ही महाराज की निद्रा अत्यल्प थी। अब तो आत्मजाग्रण का सविशेष स्वरूप था। थकावट से निवृत्त होते ही ॐकार के उच्चारण से जागृति होती थी। उनका संकेत था 'हमें औरों के द्वारा जागने की आवश्यकता ही नहीं है?' हम हमारे आत्मा में, हमारे घर में पूर्ण सावधान है! सातिशय आत्मबल का ही प्रभाव समझना होगा। महाराज अंत तक परमात्मस्मरण कर पाये। णमोकार मंत्र का उच्चारण कर पाये। ॐकार की वही अनुभवरसपूर्ण ध्वनि निकटवर्तियों को अंत तक बराबर सुनने को मिली। भीतर की सावधानता का और कौनसा बाहरी रूप हो सकता है? दिनांक १८।९।५५ को भाद्रपद शुक्ल बीज रविवार प्रातःकाल ठीक ६ बजकर ५० मिनिट पर महाराजश्री की परमपवित्र निरामय तपस्या से पुनीत आत्मा 'ॐसिद्धाय नमः' के उच्चारण के साथ अंतिम श्वास ले पायी। मोक्षमार्ग के साधक ने इस पर्याय की अपनी पवित्र जीवनयात्रा इस प्रकार पूरी कर परलोकयात्रा के लिए प्रस्थान कर लिया।

अब भक्तों के लिए आचार्य महाराज की केवल पुण्यस्मृति और तपस्या-पुनीत देहमात्र शेष थी। विमान बनाया गया। जयनाद से आकाश गूंज ऊठा। श्रीमान् सेठ गोविंदजी रावजी दोशी तथा श्री. सौ. कुमुदिनीबाई ने विमानयात्रा का बहुमान किया। विमानयात्रा के बाद दाहसंस्कार निर्धारित उसी स्थान पर हुआ जहाँ आज भी इस युगपुरुष की चरणपादुकाएँ विद्यमान है। अब ऊपर से संगमरवर की सर्वांगसुंदर छत्री भी बन गयी है। प्रेरणा लेनेवाले भक्तों के लिए चरण आज भी प्रेरणा दे सकते है। लेनेवाला ले सकता है।

तीन भुवन में सार वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार–नमहूँ त्रियोग सम्हारिके॥

ॐ नमः।

"मूर्ख का गुरू बनने की अपेक्षा
ज्ञानी का शिष्य बनना उत्तम है"

—आचार्य शान्तिसागर
शेडबाल

श्रद्धाञ्जलि

आचार्य परमेष्ठी

पूज्य आचार्यश्री को सदा ही विषयों की आशा से अतीत, संसार के आरम्भ और अन्तरंग बहिरंग परिग्रहों के विकल्पों से विरहित, ज्ञान–ध्यान–तप में निरत, आत्माभिमुख, स्वरूपगुप्त एवं प्रभावशाली परमेष्ठी के रूप में पाया। अंतरंग की स्वच्छता यह आचार्यश्री का स्वभावसिद्ध सहज भाव था। पूर्वाचार्यों की विवेक–आलोक–संपन्न मोक्षतत्त्व की आचार्य महाराज के आत्मा में नित्य प्रतिष्ठा थी। रत्नत्रयात्मक मोक्षतत्त्व–साधनतत्त्व के रूप में बिना विकल्प देखनेपर ही आचार्यश्री के जीवन का यथार्थ मूल्यांकन हो सकता है। भेदाभेद रत्नत्रय धर्म ही वास्तव में मंगल है, लोकोत्तम है और सदा शरण है, इस महान् तत्त्व को पूज्य आचार्यश्री के निश्चल पवित्र जीवनी से हम निःशल्य होकर ही बहुत कुछ सीख सकते हैं। तपःपुनीत पवित्र आत्मा की पुण्यस्मृति सुखदा है।

बाहुबली (कुम्भोज)
२०।३।७३

समन्तभद्र

तपःपूत साधक और प्रभावक

"परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज देश की एक महान् विभूति थे। उन्होंने अपनी तपःपूत साधना और प्रभावक व्यक्तित्व के द्वारा जैन निर्ग्रन्थ परम्परा के लुप्तप्राय त्याग मार्ग की दक्षिण और उत्तर भारत में पुनःस्थापना की और आर्षप्रणीत जैन आचार–विचार का भारत के प्रत्येक कोने में व्यापक प्रचार किया। आज दिगम्बर जैन परम्परा के अधिकांश त्यागी पूज्य आचार्य महाराज के ही शिष्य-प्रशिष्य समुदाय में हैं। पूज्य आचार्य महाराज के चरणों में हम बारंबार 'नमोऽस्तु' करते हैं।

आप आचार्य शान्तिसागर दि. जैन जिननवाणी जीर्णोद्धारक संस्था का रौप्य महोत्सव मना रहे हैं। संस्था के सभी सदस्यों को हमारा शुभाशीर्वाद है।"

दिल्ली
५।४।७३

आ. देशभूषण

" णाणं णरस्स सारो "

प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री शांतिसागरजी के चरणों के सान्निध्य में मैं कुछ समय तक रहा और उनके श्रीमुख से "**समयसार**" महान आध्यात्मिक ग्रन्थ का अमृत–रस–पान किया था। वे जिस समय समयसार पर प्रवचन करते थे सभी श्रोताओं को अध्यात्म–नंदनवन में प्रविष्ट कर देते थे। अतएव आज भी उस समय की पूज्य श्री की स्मृतियाँ मानस–पटल पर अंकित है। मैं सविनय मन, वचन, काय की त्रिशुद्धि से त्रिकाल नमोऽस्तु करता हुआ भावाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

दिगम्बर जैन मन्दिर, अलवर, राजस्थान
दि. १७–४–७३

विद्यानन्दमुनि
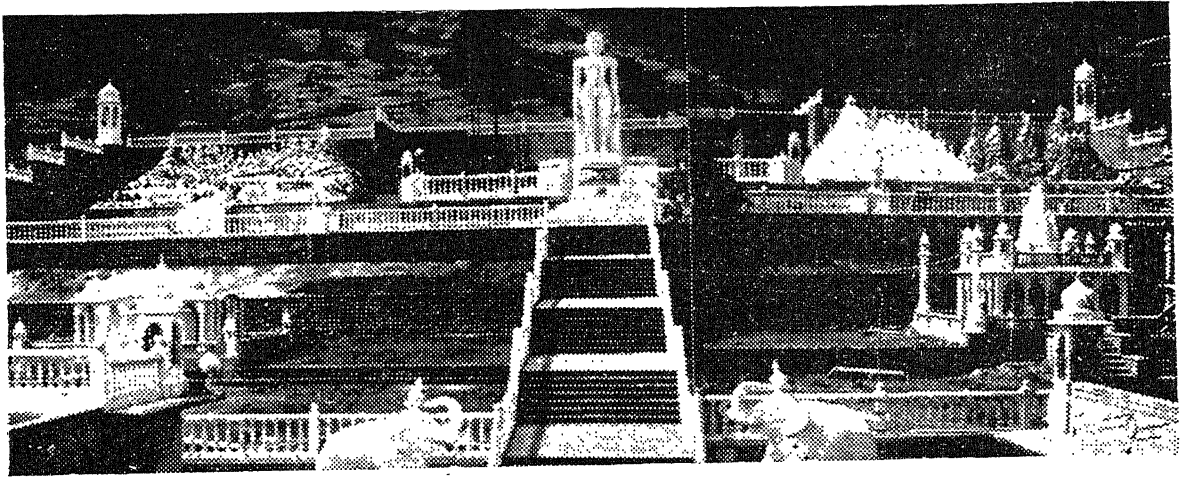
श्री अतिशयक्षेत्र बाहुबली (कुंभोज, जि. कोल्हापूर) में स्थित पावनदर्शन

बाहुबली क्षेत्र में रथोत्सव प्रसंग पर भरी हुई सभा में
आचार्यश्री आदेश देते हुए
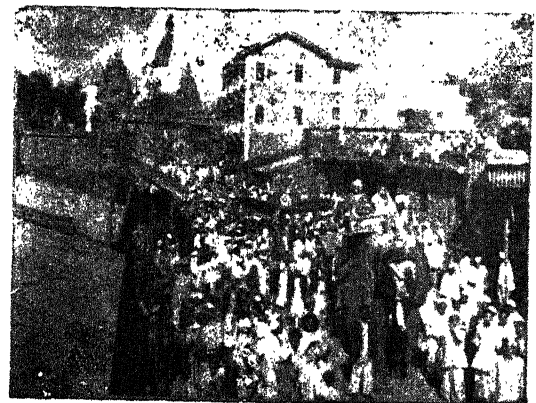
फलटण में आचार्यश्री के हीरकजयंती के समय
धवलादि सिद्धांत ग्रंथों के ताम्रपत्र का
हाथी परसे भव्य जुलूस

समाधि के समय अंतिम जलाहार ग्रहण

श्री १००८ देशभूषण-कुलभूषण स्वामी के दर्शन के हेतु कुटी से बाहर निकलते समय
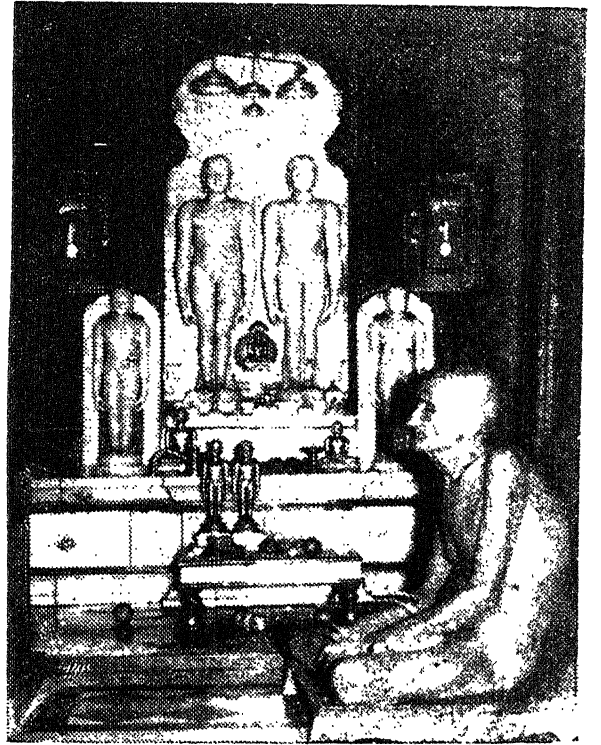
श्री १००८ देशभूषण-कुलभूषण स्वामी के पावन सन्निधि में ध्यानमग्न आचार्यश्री
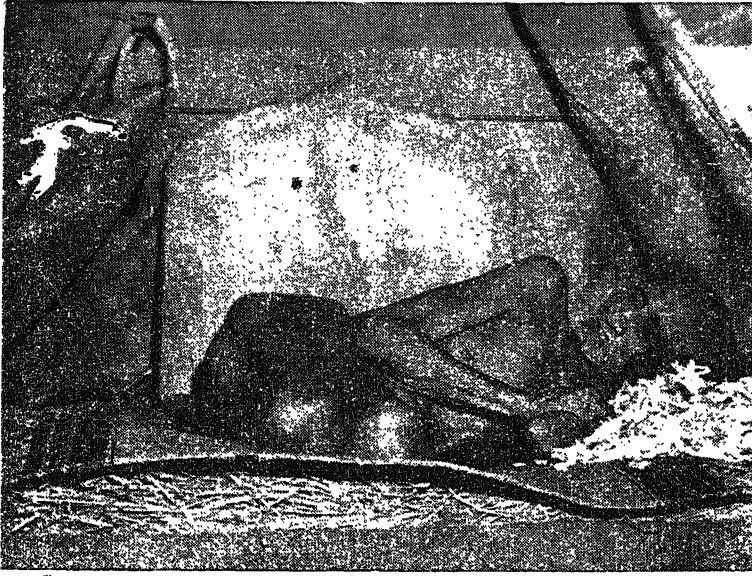
सल्लेखनासमय अपूर्व शांति में अन्तर्मग्न आचार्यश्री

सल्लेखना के समय उपस्थित समाज के सामने क्षमायाचना तथा क्षमाप्रदान करते हुए आचार्यश्री।
बाजू में पू. क्षु. सुमतिसागर, श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक पट्टाचार्य तथा श्री ब्र. जीवराज गौतमचंद आदि
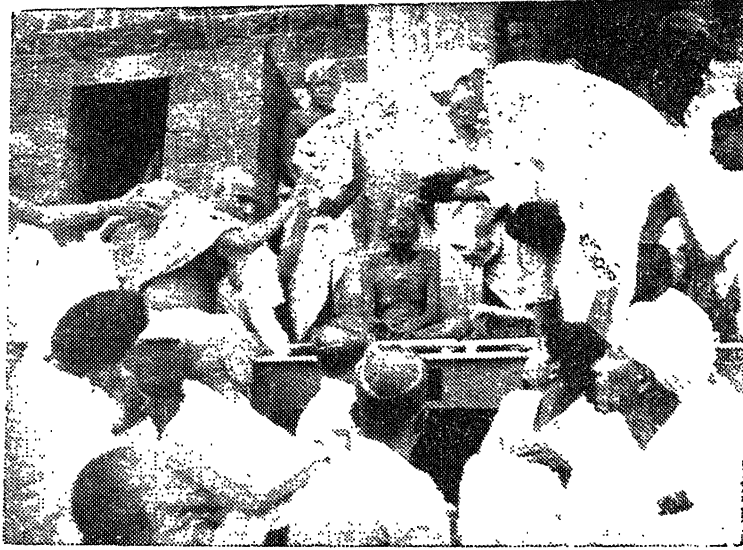
आचार्यश्री के उपस्थिति में उनके आदेशानुसार श्री. वालचंद देवचंद शहा को सन्मानपत्र वितरण
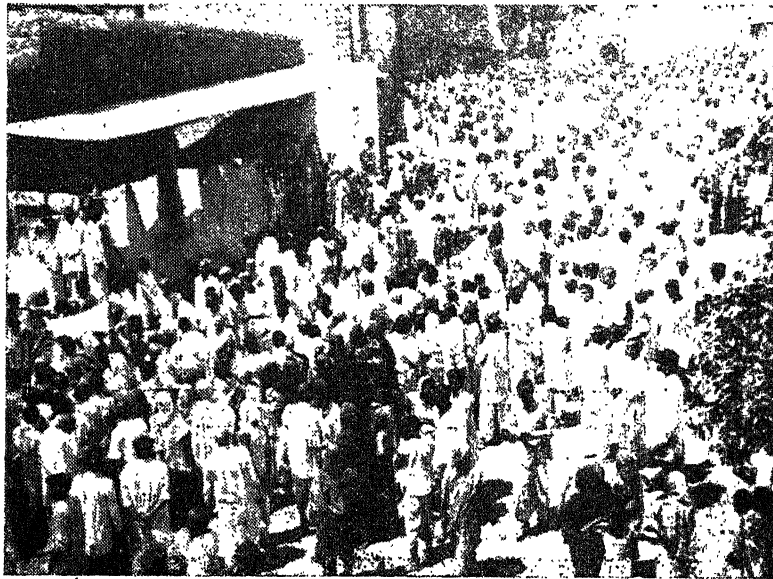
श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी के नंदीश्वर मंदिर से निकली हुई विशाल विमानयात्रा
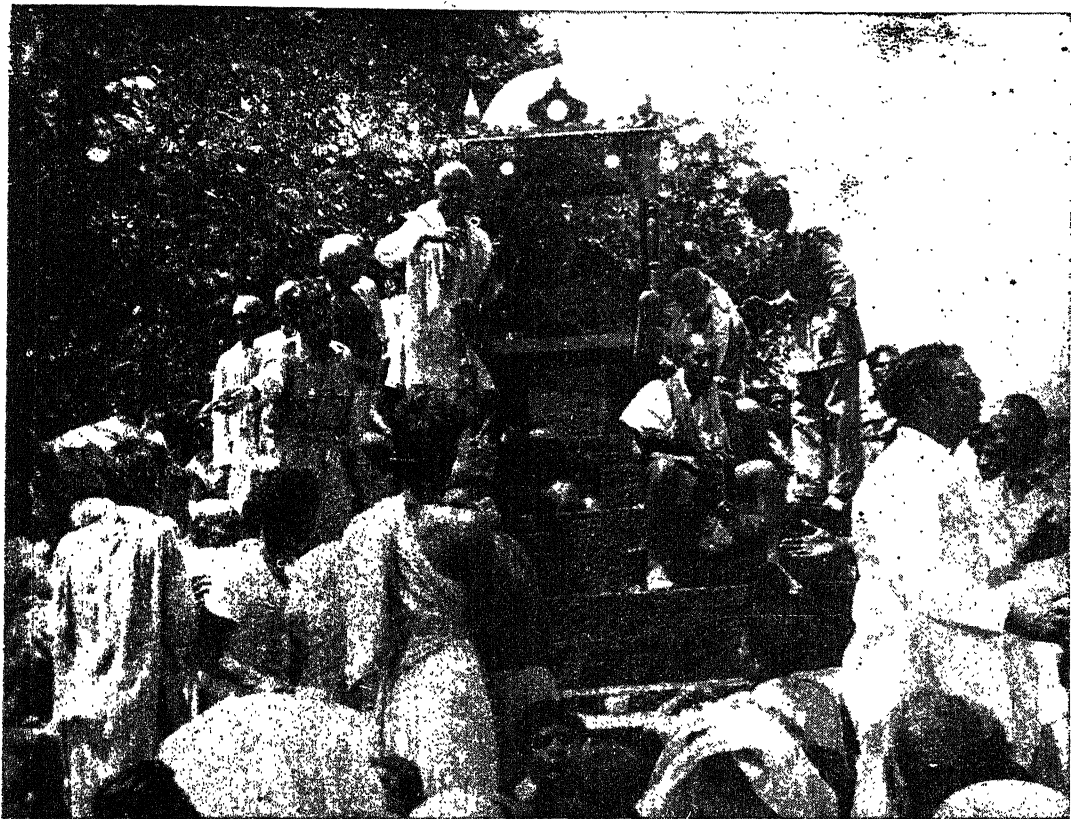
आचार्यश्री के महानिर्वाण के बाद विमानस्थ देह लोगों के दर्शनार्थ

आचार्यश्री के पार्थिव शरीर का दहनसंस्कार

आ. शांतिसागरजी जन्मशताब्दि स्मृतिग्रंथ

श्रद्धा के सुमन

विचारवंतों के दृष्टि में

Tributes to Acharyashri from Foreign Personnel

Praveen Wadgonkar
D. M. E. D. E. E., Engineer, Walchandnagar.

Param Pujya Acharya Shri 108 Shantisagar Maharaj was the greatest personality in the Digambar Jain Community. He was admired due to his holy and noble personality in India as well as in foreign countries also. It is my great pleasure to put foreign personnel's expres sion about Acharya Shri Shantisagar Maharaj.

1. Prof. J. B. S. Haldane, England.

I regret that I have no first hand knowledge of the work of Acharya Shantisagar Maharaj. Nevertheless I realise that in an age where violence is increasing, men whose whole lives are a non-violent protest against violence are greatly needed. I also realise that **the attitude of the Jains to animals is one which can lead to important advances in Biology.** It is extremely difficult to make observations of certain kinds on them unless you love them, and recognize that they are our kin. May I venture to hope that some Jains may take the study of animal behaviour, if only to convince those who cannot accept all the views of Mahavira that men have duties even towards fish and insects. For these reasons. I join in greeting Acharaya Shantisagar.

2. Mr. Chester Bowles.

Ambassador of U. S. A. in India

Spiritual leadership is the world's greatest need today, as it has been through the ages. In my country, as in India, this is a need people

recognize in their hearts. We may seem at times to be preliminary concerned with material things, but under the surface lies a deep respect and awe of those who dedicate themselves to selfless and saintly living. As a representative in India of the Government and people of United States, therefore, it is with reverence and humility that I join those who pay tribute to the great saint Acharya Shri Shantisagar Maharaj.

3. Dr. Juan Marin,

Ambassador of Chile in India

The greatest lesson of India to the world is Ahimsa and in that field Acharya Shri Shantisagar Maharaj reached unequalled heights. I am proud to associate myself with celebrations of his 81st Anniversary and to shine with the light that still radiates from his great soul.

4. Dr. Najib Ullah,

Ambassador of Afganisthan in India

I am very happy to know that you intend celebrating throughout India the Diamond Jubilee of this great Man of Peace and wish to convey to you on this auspicious occasion my fraternal greetings and all good wishes for the success, peace and prosperity of all the All India Digambar Jain Mahasabha. May the glorious and peaceful teachings of this great and noble man prove ever beneficial and an example to all.

5. Mr. Roy Gollan,

High Commissioner of Australia in India

All the world is covinced that our best efforts to improve the material conditions of mankind will fail unless **there is some spiritual content and an idealism underlying them.** With this realisation I felicitate Acharya Shri Shantisagar on his 81st brithday and trust that his followers will faithfully carry out his ideals and teachings.

आचार्यश्रींचे वीरमरण

प्रा. द. रा. बेन्द्रे

चारित्र्याने प्रत्यंतर

आपल्या भरतखंडात अनेक मते नांदत आहेत. सर्वत्र व्याप्त अशी एकच एक वस्तू आहे असे म्हणणारे आहेत. बाह्यात्कारी व्यापलेले आणि प्रत्यक्ष दिसणारे त्याचेच तेवढे अस्तित्व मानणारे आहेत. आत आणि बाहेर काही तरी व्यापलेले आहे हाच मुळी भास आहे, असेही एक मत आहे. चवथे एक मत आहे, बाह्य आणि आंतरिक यांची जी सरमिसळ अनुभवास येते त्याचा विवेक करून बाह्यापासून आंतरिकाची सोडवणूक करणे, आणि अशा या अंतरात्म्याच्या आत्यंतिक स्वरूपाचा अनुभव घेणे हेच जीवनाचे परम ध्येय आहे. जैन मताची रीत या चौथ्या प्रकारची आहे. पहिल्या तीन मतांत मरणाचा प्रश्न तितका मौलिक होत नाही. देहवाद्याला मरण वेगळे नाहीच. सर्वांतून आलेले आणि सर्वांत मिसळणारे यांना मरणात मोठे संवेदनीय असे काही नाहीच. जैन मतात देहाहून निराळा जीव नावाचा कोणी प्रत्येक आत्मा मानला आहे. तो आत्मा ओळखावा लागतो, साधावा लागतो, आणि सिद्ध करता करता देहधारी जीव हा मरणशील नाही याचे प्रत्यंतर चारित्र्याने द्यावे लागते.

शरणाचे गुण मरणात दिसतात

मरण कबूल करणारे आणि न करणारे अथवा त्याला भिणारे आणि न भिणारे या सर्वांना देहत्याग करावाच लागतो. मरणाचा शिक्कामोर्तब करून घ्यावा लागतो. तेव्हा मरणकाल या अटळ गोष्टीविषयी वागत असताना आपले आचरण कसे राहते याला फार महत्त्व आहे. '**शरणाचे गुण मरणात दिसतात**' अशी कन्नड भाषेत एक म्हण आहे. त्याचा अर्थ हा मोठेपणाचा दिमाख इतर कोणत्याही वेळी करता येईल पण तो मरणकाळी टिकणे फार कठिण आहे.

म्हणून मरणकाळी एखाद्याचे वर्तन किंवा मनाची स्थिती कशी असते त्यावरून त्याच्या मोठेपणाचा अजमास होऊ शकतो. आत्महत्या करून घेणारे हे मरणाला भीत नसतात असे नव्हे. जेव्हा विवेक खुंटतो आणि दुसरे काय करावे हे कळत नाही तेव्हा मरणाचा रस्ता सोपा आणि जवळचा वाटतो. रणांगणावर मरणारे सामान्य आणि असामान्य वीर तेथे आपली मरणाशी गाठ आहे हे जाणूनही न डगमगता लढाई छेडतात आणि अनेक वार सहन करूनही मरणान्त लढत असतात. त्यांच्या प्राणशक्तीची तारीफ ही केलीच पाहिजे. तो एक उत्साह भावनेचा, उत्कट वीर्याचा प्रकारच आहे. 'मरणकाळी हे देवा तुझे स्मरण राहो' अशा अर्थाच्या प्रार्थना कित्येक आहेत. जीवनव्यवहारात बराचसा 'देव देव' करणारा मरणकाळी भांबावून जातो आणि लौकिक गोष्टींनी चिंतामग्न होतो. कित्येकांना त्यावेळी स्मृतीही रहात नाही. जागेपणा असेल तर स्वास्थ्य नसते. याचे कारण असे—

'देही नित्यं अवध्योऽयं देहे सर्वस्य '

अशी ओळ तोंडपाठ असणे निराळे आणि देहातील अशा अवध्य जीवाची जाणीव आणि सिद्धी प्राप्त करून घेऊन त्या बरहुकूम चारित्र्य ठेवणे अथवा ती सिद्धी अजूनही अप्राप्त असल्यास आमरणांत त्याची साधना ठेवणे निराळे. दुसरे जैन मार्गातील खडतर व्रत आहे.

शांतीच्या सागरातच हे शक्य आहे

नाही तरी आपण दररोज मरणाऱ्यांना पाहातच आहोत. कोणातरी लहान मोठ्या माणसाचा मरण—वृत्तान्त रोज आपल्या दैनिकातून झळकल्याशिवाय रहात नाही. (अनिवार्य अशा मरणाला निमूटपणे तोंड देणे निराळे आणि अनेक दशके खडतर तपस्येत घालवून धर्मसाधनेला आता हा देह अपुरा पडणार हे जाणून त्याच्याशी असलेला स्नेहसंबंध निष्कामपणे सोडवून घेणे हे निराळे.) या साधुत्वाची कसोटी फार निराळी आहे आणि ते प्रत्यक्ष पाहण्यास मिळणे ही फार दुर्लभ गोष्ट आहे. पूज्य श्री शांतिसागर महाराज यांचा निर्याणकाळ हा एक अद्भुत प्रसंगच म्हणावा लागेल. शरिरावर, प्राणांवर, मनावर, संयमसिद्धी कितपत असू शकते याचे प्रात्यक्षिकच त्यांनी आपल्या अंत्यकाळच्या ३५ दिवसांत दाखविले. गोष्ट अशी असते की, कोणतीही गोष्ट एकदा करायची ठरविल्यावर ती होता होईल तो चट्कन् व्हावी अशी सर्वांचीच अपेक्षा असते. आणि त्यातूनही अंत्यकालासारखी किचकट गोष्ट चुटकीसरशी झाल्यास बरी असे वाटणे साहजिक आहे. मरण येत नाही म्हणून खेद नाही व मरणमहोत्सवाचा हर्षही नाही अशा उच्च उदासीनतेने इतर कारभार राखूनही ३५ दिवस प्रतीक्षा करणे हे एवढे चारित्र्य मोठे बिकट आहे आणि सिद्धीचे लक्षण आहे. सल्लेखनेचे आणि समाधिमरणाचे वर्णन आपण ग्रंथांतरी वाचतोच, परंतु मरणकाळी शांती टिकविणे म्हणजे काय याचा खरा अर्थ असला एखादा प्रसंग पाहीतोपर्यंत खरा लक्षात येत नाही. आहार आणि पाणी त्याग केल्यावरही लोकांची दर्शनेच्छा सफल करण्याकरिता आयास न मानता जा ये करणे; इतर वेळी नियमित कार्य करणे, सभोवती रागद्वेषाचा गोंगाट होत असतानाही स्तब्ध शांतीत राहणे हे शांति-सागरातच साध्य आहे. एवढ्या तेवढ्या टिपूसभर शांतीला ते असाध्य झाले असते. गांभीर्याला सागराची उपमा देतात, आणि **श्री शांतिसागर महाराज यांच्या ठिकाणी शांतिगांभीर्याचा काही वेगळाच विलास जवळ जवळ महिनाभर पाहावयास मिळाला.** अशामुळे जुन्या शास्त्रवचनांना काही नवीन अर्थ प्राप्त होतो आणि **देहात राहून मरणाला न जुमानणारी, जणु काही मरण आपल्या घरचे नव्हेच अशा तटस्थतेने वागणारी ही वृत्ती जातिवंत आणि जिवंत वस्तू आहे,** अशी सोदाहरण खात्री दशकानुदशके टिकून राहते. प्राणोत्क्रमणाच्या वेळी जीव स्थिर नसलेला माणूस दैहिक ताटातूट सहन करू शकणार नाही. अशा या स्थिर प्रज्ञेतून जीवाची जीवकळा अनुभवास येते, आणि **जिंकणारी वस्तु जीव आहे आणि तो अमृत आहे** हे प्रत्ययास येते. म्हणून अशा या जीवाच्या अमर भावनेला, वीर भावनेला, शांत भावनेला अनंत प्रणाम असोत.

[सन्मति : आचार्य श्री विशेषांकावरून]

आचार्य श्री दिव्यज्ञानी होते

१९३५ साल मधील एक सत्य घटना

१९३० मे ८ रोजी महात्मा गांधींना ब्रिटिशांनी अटक केली. त्यामुळे सोलापुरातील सर्व जनता संतापली. तीव्र आंदोलन सुरू झाले. माझे हुतात्मा मित्र मल्लप्पा धनशेट्टी आदि पकडले गेले. माझ्यावर वारंट होतेच. मी बाहेर भूमिगत राहून कार्य करू लागलो. श्रीशैल येथे भिल्ल लोकांमध्ये सहा महिने राहिलो. तसेच गुलबर्गा, कोल्हापूर, कोकण प्रांतात जावून बेळगावलाही गेलो. जुने बेळगावात असतांना तेथील जिनमंदिरामध्ये श्री आचार्य शांतिसागर महाराज यांच्या संघाचे वास्तव्य होते. त्यांचा उपदेश ऐकण्यास दररोज जात होतो. सुमारे एका महिन्यानंतर उपदेश संपल्यावर कानडीमध्ये आचार्य श्री मला बोलावून म्हणाले, " की बाळ ! तू किती महिन्यांपासून आपले जीवन लपून ठेवलेस परंतु आता वेळ संपली आहे. तू निर्धास्त आपल्या जन्मभूमीस जावू शकतो." त्यानंतर मी सोलापुरास आलो. मात्र आचार्य शांतिसागर महाराज यांचे वाक्य अजूनपर्यंत माझ्या कानावर गुंगतच राहिले आहे. खरोखर आचार्यश्रींना हे गुपित कळले कसे ? हे आजपर्यंत गुपितच राहिले आहे.

आचार्यश्रींनी कुंथलगिरी येथे यमसल्लेखना घेतल्यावर तीन वेळा जावून दर्शन करून आलो. त्यांचा मजवर प्रसादपूर्ण आशीर्वाद होता यात शंका नाही. त्यामध्ये मला धन्यता वाटते.

सिद्रामाप्पा फुलारी
माजी नगराध्यक्ष, सोलापूर

हीरक जयन्तीप्रसंगी आलेल्या शुभभावना

(१४ जून १९५२)

' असेच ऋषी आमच्या देशाच्या आत्म्याची मूर्तिमंत प्रतीके होत.'

—सर राधाकृष्णन्
(तत्कालीन) उपराष्ट्रपती, भारत

' आचार्यश्रींचे जीवन केवळ त्यांच्या अनुयायींनाच नव्हे तर साऱ्या सार्वजनिक कार्यकर्त्यांना प्रेरणा देणारे आहे. या शुभप्रसंगी त्यांच्या चरणी माझी आदराञ्जलि अर्पित करतो.'

—जी. व्ही. मावळणकर
अध्यक्ष, भारतीय लोकसभा

' शुद्ध आणि पवित्र पुरुष मग तो कोणत्याही धर्माचा असो, कोणत्याही सिद्धान्तास मानणारा असो, तो विशिष्ट समाजात वा जातीत जन्म घेऊनही त्या समाजाचा किंवा जातीचाच केवळ असत नाही. अशा थोर विभूती मानवजातीलाच हितकर असतात. आचार्यश्री अशाच महान् संतांपैकी एक आहेत. **अहिंसा**

आणि भूतदया यांनी ओतप्रोत असलेले त्यांचे जीवन आमच्यापुढे असा ज्वलंत आदर्श ठवत की जे आम्हा सर्वांना अनुकरणीय आहे. हेच सत्पुरुष आम्हाला खऱ्या मार्गाने नेणारे असतात.'

— सर एम्. चंद्रशेखर अय्यर
न्यायाधीश, सुप्रीम हायकोर्ट, दिल्ली.

'असे संत प्रकृतीचे सत्पुरुष श्रद्धेला आणि आदराला पात्र आहेत.'

—आसफ अली
भारतीय राजदूत, स्वित्झर्लंड

'विश्वभ्रातृत्वाची स्थापना, प्रेम व अहिंसेचा प्रचार यासाठी होणाऱ्या प्रत्येक प्रयत्नाचे मानवताप्रेमी माणसाने स्वागत केले पाहिजे, इतकेच नव्हे तर त्यास सहकार्य केले पाहिजे. आचार्यश्री चिरंजीव होवोत व प्रेमाचा संदेश सर्वत्र पसरो.'

—श्री. रंगनाथ दिवाकर
भूतपूर्व केन्द्रमंत्री व राज्यपाल, बिहार

शांति व अहिंसा यांचा प्रसार करणाऱ्या आचार्यांच्या चरणी मी श्रद्धाञ्जली समर्पित करताना स्वतःला धन्य समजतो. माझी इच्छा आहे त्यांचे अनुयायी त्यांचे महान् उदाहरण डोळ्यांपुढे ठेवून जीवनाचा मार्ग आक्रमतील आणि भारताला पुनः प्राचीन श्रेष्ठता व शांती, समृद्धी मिळवून देण्यात सहाय्यक होतील.

—श्री. आर. के. सिध्वा
केन्द्रिय राज्यमंत्री, गृहखाते

'विश्वमैत्री, भ्रातृत्व व विश्वशांती यांचे प्रतीक श्री आचार्य शांतिसागर महाराज मानव जातीचे जे आध्यात्मिक कल्याण साधक आहेत त्यासंबंधी कोण अपरिचित आहे ? आजच्या कठीण समयी आचार्यश्रींची गंगेसारखी पवित्र व निःस्पृह वाणी केवळ आत्मोद्धारकच नव्हे तर समाजघातक प्रवृत्तींना रोकण्यास सिद्ध झाली आहे. केवळ जातिविशेषासाठी नव्हे, समस्त मानव जातीस ती लाभदायक आहे. आचार्यश्रींच्या चरणी श्रद्धा व भक्ती प्रदर्शित करून त्यांना दीर्घायूची कामना करतो.'

— ना. मिश्रीलाल गंगवाल
मुख्यमंत्री, मध्यभारत

'भारताच्या पुनरुत्थानाचे श्रेय जर कोणत्या धर्माला द्यायचे असेल तर ते जैनधर्माला व त्यातून उत्पन्न झालेल्या महान् संतांनाच दिले पाहिजे. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यांचे सिद्धान्त राष्ट्रपिता गांधीजी स्वतंत्रता व जनतंत्रवाद यांच्या प्राप्तीसाठी अमलात न आणते तर ते केवळ अस्पष्ट व अग्राह्य असे आदर्शमात्र राहिले असते. **आणि ते अंमलात आले याचे कारण सर्व जैन संतांचे निर्मळ जीवनच होय.** आमचे सौभाग्य आहे की अशा सत्पुरुषांचे मुकुटमणी आचार्यश्री शांतिसागर विद्यमान आहेत व त्यांची ८१ वी हीरकजयंती भारतात साजरी होत आहे.

डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या

आपले राष्ट्रपिता महात्मा गांधींनी ज्या सत्य-अहिंसेचा राजनीतीमध्ये अद्‌भुत प्रयोग करून एक चमत्कार आपल्या डोळ्यादेखत करून दाखविला **त्याची पूर्ण प्रतिष्ठा आपल्या महान जीवनात करणारे जे महापुरुष निरंतर त्या तत्त्वांकडे आम्हास प्रेरित करतात ते वंदनीय होत.** मला आशा आहे आचार्यश्री शांतिसागर यांच्या महान जीवनापासून जैन समाज प्रेरणा प्राप्त करील व राष्ट्राच्या एका महान आवश्यकतेची पूर्ती करील.

—ना. ब्रिजलाल बियाणी
अर्थमंत्री, मध्यप्रदेश

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती

प्रेषक : आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

आपके दर्शन का सौभाग्य सब से पहले मुझे गृहस्थावस्था में जयपुर, इंदौर, सिद्धवरकूट आदि स्थानों में प्राप्त हुआ। पर अन्तिम दर्शन मुझे क्षुल्लक अवस्था में हुए। जब गुरुदेव १०८ श्री चंद्रसागरजी महाराज आपके दर्शनार्थ कुंथलगिरी पधारे थे। आपके साथ विशेष सम्पर्क तो न हो सका पर आपके व्यक्तित्व, त्याग और तपस्या से मैं इतना प्रभावित हुआ कि शीघ्र ही आपके पट्टशिष्य स्वर्गीय गुरुवर्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज से मैंने दिगम्बरी दीक्षा धारण की और कल्याणमार्ग पर अग्रसर हो सका। जब आपकी जीवनी को पढते हैं तो चतुर्थ काल में जिनकल्पी साधु के जीवन में जो बातें होती हैं व जिनका दिग्दर्शन योगभक्ति में होता है वे सब आपके जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं। सच पूछा जाय तो हम शतांश में भी पालने में असमर्थ हैं।

वास्तव में आपका जीवन एक अलौकिक जीवन था। आपने मोक्ष प्राप्ति के हेतु अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग परिग्रह का त्याग कर परम दिगम्बरत्व धारण किया, जो ख्याति, लाभ, पूजा, भोग, आकांक्षा आदि संसार सागर में डुबोनेवाली प्रवृत्तियों से दूर रहकर परम उत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ की साधना में सदा निरत रहे हो। आप स्वयं ज्ञान, ध्यान व तप में सदैव रत रहते थे। आपने पूर्व आचार्यों के पद चिन्हों का अनुसरण करके वर्तमान समय में सैकडों वर्षों से लुप्त विशुद्ध मुनिमार्ग को प्रगट किया। आचार्यों के छत्तीस गुणों का वर्णन जैसा आगम में पाया जाता है उसमें आप पारगामी थे।

स्वयं पंचाचार का पालन करते थे और अपने शिष्यों से पालन करवाते थे ऐसे परम योगी सम्राट् आचार्य प्रवर महाराज! आपके पुनीत चरणों म मेरा सिद्ध भक्तिपूर्वक शत शत वंदन (नमोस्तु)। मेरी भी अन्तरंग अन्तिम भावना यही है कि साधु जीवन के इस पर्याय का परम लक्ष्य समाधिमरण है—

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धी सद्घोषे।
मम भवतु जन्म जन्मनि संन्यसन-समन्वितं मरणं॥

वही मुझे भी प्राप्त हो।

आचार्य श्री स्वयं एक संस्था

परमपूज्य जगद्वंदनीय स्व. आचार्य श्री शांतिसागरजी के चरणों में त्रिकाल नमोस्तु ३ व सनम्र भावों से श्रद्धांजलि समर्पित है।

पूज्य आचार्य श्री स्वयं एक समादरणीय व्यापक संस्था थे। उन्होंने पूर्वाचार्यों की परम्परा की स्थापना की। अपने उत्कृष्ट आचारशुद्धि से दिगंबरत्व की प्रतिष्ठा बढाई। आप के उपदेश से मुनि–आर्यिका, ऐल्लक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि रूप से प्रशस्त त्याग का प्रचलन प्रवाहित हुआ। विद्यमान आचार्य गण–साधुगण और त्यागीगण पूज्य आचार्य श्री का सदा के लिए कृतज्ञ रहेगा।

संघस्थ मुनि श्री विनयसागरजी, विजयसागरजी, भरतसागरजी, बाहुबलीजी आदि सबकी सविनय श्रद्धांजलि है।

शिखरजी चौमासा

श्रद्धावनत

आ. विमलसागर

श्रद्धांजलि

पूज्य प्रातःस्मरणीय धर्म व जगदुद्धारक युगपुरुष भारत संत गुरुवर्य आचार्य चारित्र चकवर्ति स्व. श्री शांतिसागरजी महाराज के चरणों को कोटी कोटी प्रणाम और हृदय कुसुमांजलि कृतज्ञता-पूर्वकार्पण।

दोहा— " **सब धरती कागज करुं, । लेखनी सब बन राय ॥**
सप्त समंदर स्याही करुं, । गुरु गुण लिखे न जाय ॥ १ ॥

वात्सल्यार्णव ! " **यत्कृपालवमात्रेण । मूढस्त्यजति मूढताम् ॥**
पांतु वो गुरवो शांता । तापत्रयनिवारकाः ॥ १ ॥

आपने गजपंथा पर दयार्द्रता से पंचाणुव्रत देकर मेरी आत्मा को पुनीत किया है।

दीनोद्धारक !! श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी पर सल्लेखना के १५ वे उपवास के दिन वात्सल्यता से सप्तम ब्रम्हचर्य प्रतिमा को शुभ आशीर्वाद पूर्वक देकर पावन किया है, यह अनुग्रह भव भव में इस दीन अनाथ के साथ रहेगा। असार दुःखमयी संसार का स्वरूप बतला कर आत्मकल्याण के सुखद मार्ग पर दृढ कराकर " बाबांनो भिऊ नका, संयम धारण करा " इस अमृतमयी अभयवाणी से ही, व आप के व्रतारोपण संस्कार से ही, महाव्रत के बीज चित्त में दृढ हुये। और " महान विद्वानतपस्वी, स्वपरकल्याणक बालब्रह्मचारी, निष्काम दीनबंधु, बाहुबली (कुंभोज) अतिशय क्षेत्रोद्धारक, अनेक गुरुकुल संस्थापक निरीह श्रमणोत्तम प्रा. पूज्य श्री गुरुदेव १०८ समंतभद्राचार्य के पाद मूल में भगवती दीक्षा का पात्र आपने ही मुझे बनाया। सदा के लिये सुखद व शाश्वत् आनंददायी ऐसे शिव मार्ग में मुझ को राही किया।

" **मुझसे हैं आपको अनेक । आपसे हैं मुझको ही एक** " ॥
" **सदहा तेरे लाखों में । मैं भी हूँ एक दीवाना ॥** "

गाथा— **गुरुभक्ति संजमेणय, तरंति संसार सायरं घोरं ।**
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्म ण मरणं ण पावंति ॥ १ ॥

हे महान करुणार्णव युग पुरुष !!! आप फिर एक बार तीर्थंकर अवस्था में अवतरित होकर अनंत भव्यों का उद्धार करते हुये इस अनाथ को भी तारो ! तब तक आपकी चरण स्मृति रहे !! इस मंगल भावना से हे भारत संत, परमपावन पुराणपुरुष; मुनिधर्मोद्धारक उग्रतपस्वी, दिगंबर जैनाचार्य ! आपके चरण स्मृति में आपके ही चरणोंपर कृतज्ञतापूर्वक कोटी कोटी प्रणाम करके हृदय कुसुमांजलि सादर श्री सिद्ध-श्रुताचार्य भक्ति से त्रिकरण शुद्धि से, नम्रता से अर्पण करता हूँ। ॐ ॥

" प्रा. गुरुदेव श्री १०८ समंतभद्राचार्य " विनयावनत शिष्य
" **मुनि आर्यनंदी** "

आपसे सदा प्रकाश मिलता रहा

स्व. चारित्र चक्रवर्ति आचार्यवर्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज के मंगल स्मृति में नतमस्तक होने में मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूं।

वात्सल्यमूर्ति ! मैं ७ वी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी अवस्था में जब कि, मैं क्षुल्लक बनू। ऐसे सिद्ध क्षेत्र पर आये हो तो त्याग करो। आत्म कल्याण करो और पूंछा कि ७ वी प्रतिमा किनसे ली ? मैंने कहा आचार्य वीरसागरजी से ली। बडे वात्सल्य भाव से साथ रखकर प्रतिक्रमण भी साथ ही कराया। आत्म कल्याण के लिए मुनि व्रत पालने का उपदेश दिया। २–३ बार आहार देने का भी भाग्य मिला।

करुणाघन ! इस प्रेम भरे स्नेह दृष्टि से दिये हुये उपदेश का मेरे हृदय पर गहरा असर पडा। जीवन सार्थक बनाने की भूमिका आपने ही बना दी। योगायोग से श्री आ. १०८ वीरसागरजी महाराज के पास मुनिव्रत धारण किये। आपकी स्मृति में मुझे चारित्र पालन का सदैव प्रकाश मिलता रहा। आपके चरणों की स्मृति मैं कभी न भूलूंगा।

हे महापुरुष, मुनिधर्मोद्धारक ? मेरी आत्मसिद्धार्थ कृतज्ञतापूर्वक आपके चरणों में श्री सिद्ध श्रुताचार्य भक्ति से विनयपूर्वक शतशः प्रणाम है। नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु।

विनम्र

मुनि पद्मसागर

(चातुर्मास सम्मेद शिखरजी)

जीवितप्रेरणा

श्री १०८ अजितसागरजी महाराज

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय वात्सल्य गुणधारी चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर महाराजजी के परम पुनीत दर्शनों का लाभ सर्वप्रथम सौभाग्य से मुझे कवलाणा ग्राम में प्राप्त हुआ था। यद्यपि मैं आपके चरण सान्निध्य में मात्र तीन चार दिवस ही रह सका, किन्तु उतने अल्प समय में ही मुझे जिस अपूर्व शक्ति का संचय हुआ था उसका शब्दों द्वारा अंकन करना इस जड लेखनी की शक्ति के बाहर की बात है।

" देव ? त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात् पुनर्दशनम् " इसी आन्तरिक भावनानुसार यम सल्लेखना के अवसरपर सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरी में पुनः आपके पवित्र दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ। और अंतिम सल्लेखना तक मैं वहां रहा। वह सल्लेखना का अपूर्व दृश्य तथा आपका आत्मबल, अद्भुत धैर्य, आत्मशक्ति का विलक्षण आविष्कार शरीर के प्रति निस्पृहता, आत्मनिरीक्षण एवं आत्मध्यानादि के अनुपम प्रभाव की महिमा को लिखने में मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जिस प्रकार लेखन कला से अनभिज्ञ, मूक बालक अपने मनोभाव व्यक्त करने में असमर्थ होता है। प्रतिदिन हजारों भव्य प्राणी आपके परमपुनीत दर्शन कर

अभूतपूर्व पुण्य संपादन कर प्रसन्न होते थे। " डरो मत, संयम धारण करो " यह अन्तिम सन्देश आज भी मेरे कर्णों में गूंज रहा है। इस मंत्र को पढने सुनने एवं चिन्तन करने से हृदय में धर्म और शक्ति स्फुरायमान हो उठती है।

वर्तमान काल अति निकृष्ट काल है। इसमें भोगलिप्सा, धनलिप्सा, यशोलिप्सादि अनेक अवगुणों से समन्वित मनुष्यों का ही बाहुल्य देखा जाता है। अतः इस श्रद्धा एवं चारित्रहीन युग में श्रद्धा और चारित्र को दृढ करनेवाले आचार्यप्रणीत ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग की निर्दोष प्रवृत्ति में सहायक हो सकते हैं। अतएव दिवंगत आत्मा ने अपनी अत्यन्त दूरदर्शिता से ही मानो इस संस्था की स्थापना कराई है। समीचीन ग्रन्थ प्रकाशन के माध्यम से ही जीवों का लोकोत्तर हित हो सकता है। जैसा भगवत् वाणी का अपूर्व महात्म्य दर्शाते हुए कुन्दकुन्दाचार्यों ने कहा है कि,

जिण वयणं मो सह मिणं, विसयसुह विरेयणं अमिद भूदं।
जरमरण वाहि वेयण खयवरणं सव्व दुक्खाणं ॥७६॥

भाव यह है ज्यों वचन ही औषधि है तथा वही ऐसा अमृत है जिससे सर्वांग में अपूर्व सुख प्राप्ति होती है। इस औषधि के सेवन से इन्द्रिय सुखरूपी मल निकल जाता है; तथा जन्म-मरण रूपी व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदना एवं अन्य सब दुःखों का नाश हो जाता है।

अद्वितीय महापुरुष आचार्य श्री ने इस संस्था की स्थापना कर मात्र जिनवाणी का उद्धार ही नहीं किया तो बल्की सैकडों मिथ्या मार्गों में भटकते हुए भव्य जीवों के लिए एक प्रकाश स्तम्भ का ही निर्माण किया है। अतः संस्था के व्यवस्थापकों से हमारा यह कहना है कि आचार्य श्री ने जिस अभिलाषा एवं विश्वास से आप लोगों पर यह कार्य छोडा था उसे दृष्टि में रखते हुए आपको इस रौप्यमहोत्सव के शुभावसर पर दृढ संकल्प करना चाहिए कि ध्रौव्य फण्ड को स्थायी रखते हुए मात्र उसकी आय से ही प्रतिवर्ष महाराज श्री की पुण्यतिथि के शुभ अवसर पर कमसे कम एक ग्रन्थ का प्रकाशन अवश्य ही करेंगे।

गुरुओं की आज्ञा एवं मनोभिलाषा की पूर्ति करना ही भक्ति का सच्चा द्योतक है।

श्री आचार्य चरणों में भक्तिपूर्ण शतशत वंदन।

गुणनिधि रत्नकोष के चरणकमलों में

मुनि श्री १०८ अभिनंदनसागरजी आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी संघ

छत्तीस गुण समग्गे पंचविहाचार करण संदरिसे।
सिस्साणुग्गह कुसले धम्मा इरिये सदा वन्दे ॥२॥

वर्तमान युगमें मुनिधर्म के मार्गदर्शक आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के चरणकमलों में त्रिवार नमोस्तु।

आचार्य शांतिसागरजी महाराज संसार समुद्र से तैरने के लिये पोत के समान थे। संयम रूपी बगीचे को हरा भरा रखने के लिये सुयोग्य माली के समान थे। रत्नत्रय के जोहरी थे। चारित्र के चक्रवर्ति थे। शिष्यों को सुयोग्य चारित्रवान् बनाने के लिये सुयोग्य कलावान मानसविज्ञ थे। जन्म मरण के रोगों को मिटाने के लिये चतुर वैद्य के समान थे।

आपने अनेक मुनिरत्नों को जन्म दिया। आचार्य वीरसागरजी, श्री चंद्रसागरजी महाराज, सुधर्मसागरजी, कुन्थु सागरजी, नेमिसागरजी, पायसागरजी इत्यादि।

शिष्योत्तम आचार्य श्री वीरसागरजीने आ. महावीरकीर्तिजी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य कल्प-श्रुतसागरजी, आचार्य धर्मसागरजी इ. अनेक त्यागीयों को मोक्षमार्ग में लगाया। प्रशिष्य आचार्य शिव-सागरजी ने श्री ज्ञानसागरजी, श्री अजितसागरजी इत्यादि अनेक शिष्यों को मोक्षमार्ग में लगाया। आचार्य धर्मसागरजी ने मुनि पुष्पदन्तसागरजी आदि अनेक त्यागीयों को संसार जंगल से बचाया।

देखो रत्नों की खान से रत्न ही पैदा होते हैं।

वर्तमान में भी चाहे त्यागी वर्ग हो या गृहस्थ वर्ग हो आचार्य श्री के वताये मार्गपर चलेंगे तो अपनी अपनी आत्मा का अन्वेषण कर पाएगें। नहीं तो इस संसाररूपी मरुस्थल में प्यासे मरना पडेगा, इस महान जंगल में भटकना पडेगा, इस समुद्र में डूबना पडेगा, इन कर्मरूपी चोरों से स्वभावरूपी धन को लुटाना पडेगा। कैसा कल्याण होगा?

आज का मानव त्याग मार्ग से कोसों दूर जा रहा है, रात में खानपान करना, होटलो में अभक्ष्य का खानपान करना। ज्यादा क्या कहे? अहिंसा के पुजारी आदि का नाम धराकर अंडे-मांस-शराबादि का भी प्रयोग चालू हो गया। परिवार नियोजन कराना, वेषभूषादि में विदेशियों की नकल करना। कैसे कल्याण होगा?

धर्मलाभ के पूर्व में भी इतनी धर्माभिमुखता तो होनी ही चाहिए। आचरण शुद्धि विचारशुद्धता के लिए पोषक ही होती है। अंतर्मुख दृष्टि बनेविना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे होगी? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कैसे होगा?

ज्यादा क्या कहूं? आचार्य श्री गुणों के भंडार थे, उनका गुणानुवाद गान में मेरी शक्ति नहीं। उनका आत्मा शीघ्र ही मनुष्य पर्याय पाकर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग दिखाते हुए मोक्ष पधारे।

मैं आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव न करता हूँ।

ॐ जय

आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का नाम लेते ही आत्मा प्रसन्न हो जाती है। हम छोटे थे तो एक दफा मुरेना में आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहुंचे। वहां वडी दूर दूर से लोग आये थे। महाराजजी की शास्त्र सभा में हजारों जनता धर्मलाभ उठाती थी।

आज जो समस्त भारत वर्ष में १००–१२५ मुनि दिखाई दे रहे हैं वह सब उन्हीं के विहार करने के कारण हो सका। आचार्य महाराज को देखते ही मेरी रुची बदल गई और सोचता था ऐसा कब समय आवे कि 'मैं भी इस प्रकार सम्यक् चारित्र धारण करूँ'।

आत्मा जाग्रत हो गई और निर्णय कर लिया कि संसार असार है और एक आत्म दृष्टि ही लाभदायक है। इसके शिवाय मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

मैं इन शब्दों के साथ आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धांजली अर्पित करता हूं।

श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
जेलरोड, आरा (बिहार)

आचार्य कल्प
मुनि सुमजिसागरजी महाराज

जे भवजलधि जिहाज

प. पूज्य श्री आचार्यवर!

आपने इस पंचमकाल में भी लुप्त–प्राय दिगम्बर निर्ग्रंथ लिंग को, जो कि मोक्ष का साक्षात् कारण है उत्तर भारत, दक्षिणभारत में प्रसार कर महान् उयकार किया हैं। जिससे मुमुक्षुओं को पावन मुनी दर्शन का तथा आहारदान धर्मोपदेश आदि का लाभ हो रहा है। तथा आपके उपदेश से प्रभावित होकर व्रती महाव्रती रत्नत्रय संस्कारों प्राप्त कर इस भव तथा परभव को सुधार रहे हैं। यह अपूर्व देन परम पूज्य प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य शांतिसागरजी की ही है।

हम लोगों की सद्भावना है कि वो पवित्रात्मा साक्षात् तीर्थंकर होकर अनेकों को मोक्ष पथपर लगाकर शाश्वत लक्ष्मी का लाभ करें।

हम उनके पुनीत चरणों में शुभ श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

मधुवन
(हजारी बाग)

१०८ मुनि सुव्रतसागर
[संघ पू. १०८ आ. विमलसागरजी महाराज]

आत्मध्यान मग्न

इस युग के एक आदर्श साधु गुरुवर १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने आजीवन उत्तम साधना की और अन्तिम दिनों में यम सल्लेखना ग्रहण करके एक महत्त्व पूर्ण आदर्श उपस्थित किया है। आंखों की ज्योति क्षीण होनेपर ही संयम की विराधना न हो इस उद्देश से उचित समय पर सल्लेखना ग्रहण की तथा अन्तिम समय तक अत्यन्त भक्तिपूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हुए इस नश्वर देह का त्याग किया।

ऐसे महान योगी के लिये मैं बारम्बार भावभक्तिपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

मुनि श्री वीरसागर
(आ. विमलसागरजी के शिष्य)

यदि अक्षुण्ण रख सके

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री के प्रशस्त मार्ग को हम अक्षुण्ण रख सकें यही सच्ची गुरु-भक्ति है। जिनधर्म की और जिनवाणी की सेवा है।

हार्दिक कामना है कि वह सावधानता का सामर्थ्य बना रहे।

आचार्य श्री के चरणों में त्रिकाल नमोस्तु ३।

मुनि वासुपूज्य
(प. पू. १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराजजी के शिष्य।)

त्यागपरंपरा के प्रवर्तक

पूज्य श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज जब संघ सहित चौरासी मथुरा में पधारे थे तब सर्व प्रथम मैंने उनके दर्शन किये थे। उस प्रथम दर्शन से ही मेरे हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया। तदनन्तर जयपूर के चातुर्मास में चार माह तक संपर्क में रहने से मेरा वैराग्य भाव और भी सुदृढ हो गया।

आज दिगम्बर समाज में करीब १०० मुनि अनेक आर्यिकाएँ तथा ब्रह्मचारी गण है यह सब उन्हीं का प्रभाव है। उन्हीं की कृपा से सर्वत्र मुनियों का निर्विरोध विहार होता है।

उन पूज्य आचार्य श्री के चरणों में मेरी नम्र श्रद्धांजलि हैं।

चातुर्मासयोग, वर्णीभवन, सागर **मुनि जयसागर**

साधकोत्तम

पू. १०८ आचार्य श्री के विषय में जितना भी कहा जाय थोडा है। उनकी साधना अपूर्व रही है। वे साधकोत्तम थे। दृष्टि संपन्न थे। निरतिचार चरित्र पालना में सदा ही सावधान थे। उनकी पवित्र आत्मा को सविनय नमोस्तु—

मुनि अरहसागर

वंदो मैं जिनवीरको–सब विधि मंगलकार।
श्री शांतिसागर–भवि जीवन सुखकार।

श्रद्धावनत
मुनि सुधर्मसागर
चौमासा खानिया, जयपूर. शिष्य श्री आचार्य १०८ महावीर कीर्तिजी महाराज

पू. आचार्य श्री के सहजोद्गार संस्मरणीय होते थे।

'हमें अपनी आत्मा के सिवाय पर पदार्थ की कोई चिन्ता नहीं हैं। हम तो हनुमानजी जैसे हैं। जिन का मंदिर गांव के बाहर होता है। गांव के जलने से हनुमानजी का क्या बिघडता हैं। संसार का

कुछ भी हो जाय हमें उसका क्या डर ? और से नहीं, केवल जिनवाणी का डर अवश्य हैं। कभी किसी प्रकार से मार्ग की निराधना न हो।'

आचार्य श्री की महत्ता रत्नत्रय के अभिव्यक्ति में थी जो कि आदर्श स्वरूप थी।

आचार्य श्री के चरणों में सादर श्रद्धांजलि समर्पित हो ?'

मुनि सम्भवसागर
मुनि बाहुबली सागर

यदि अवतार न होता ?

यदि आचार्य महाराज का इस प्रशांत और आदर्श रूप में इस भारत भूमि में अवतार न होता तो दिगम्बर जैन मुनि के दर्शन असंभव होते। आचार्य श्री के चरणों की स्मृति में सादर नमोस्तु। आचार्य श्री की पुण्यस्मृति ऐसी हो जिससे आत्मोन्नति के लिए प्रकाश मिलता रहे और वैराग्य भाव जागृत होता रहे।

मुनि श्री भव्यसागर
[चौमासा अकलूज]

पवित्र-जीवनी

(मुनि श्री १०८ नमीसागरजी आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति द्वारा दीक्षित)

मैं परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज की जीवन गाथा से प्रभावित हूँ। उनके नाम से स्थापित श्री शांतिसागर अनाथ छात्राश्रम शेडवाळ (म्हैसूर) इस आश्रम में मैं पढा हूँ। जब मैं बाल्यवस्था में पढता था तब उनकी समाधि श्री सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पर हुई। आश्रम के विद्यार्थियों को समाचार सुनकर बहुत दुःख हुआ।

आचार्य श्री का जन्म चतुर्थ जाती में हुआ। आचार्य श्री की पवित्र जीवनी हमारे लिए श्रद्धा की वस्तु है।

इस महा विभूति ने जिनधर्म और मुनिमार्ग प्रचलित (प्रकाशित) किया, जिसका हम जैसे अल्पज्ञ क्या वर्णन करें।

उनके स्मृति में कृतज्ञता पूर्वक कोटिशः प्रणाम करके आदरांजलि अर्पण करता हूँ।

परम श्रद्धास्पद

श्री १०८ नेमीसागर महाराज

आचार्य श्री का दर्शन हमें बाल्यवस्था में हमारे गाँव में (नखाली – राजस्थान) आये थे तब हो पाया था। इसके बाद में कभी आपका दर्शन नहीं मिल सका। आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्तीजी महाराज के सम्पर्क में रहकर उन्हीं के पास दीक्षा ली। स्व. पूज्य आचार्य श्री की पवित्र जीवनी हमारे लिए श्रद्धा की

वस्तु है। थोडा भी अमृत रस का पान आनन्द का कारण होता है। अगर आपका अवतार भारत में न होता तो आज मुनि धर्म और मुनिमार्ग प्रचलित न होता। हम जैसे अल्पज्ञ क्या वर्णन करे। आपके स्मृति में कृतज्ञता पूर्वक कोटीशः प्रणाम करके आपके चरणों में आदरांजलि अर्पण करते हैं। त्रिवार नमोस्तु।

महान् आत्मा

श्रीमत् परमपूज्य गुरुवर को श्रद्धांजलि किन शब्दों में अर्पित करूं? निकृष्ट पंचमकाल में पूरा विश्व अधिभौक्तिक चकाचोंध में व्याकूल है। आत्मा से पराङ्मुख है। विषय कषायों में घिरा हुआ है, स्वपर भेद विज्ञान की बात से कोसों दूर है ऐसे काल खण्ड से आचार्य श्री का जीवन अध्यात्म क्षेत्रमें दैदीप्यमान सूर्य के समान ही था।

युग पुरुष महाराज की साधना सातिशय थी। अमूर्त त्याग भाव महाराज की चर्या में मूर्तिमंत बिखरता हुआ प्रतीत होता था। स्वात्म चिंतामें सदा सावधानता, परोपकारमें सहजता, प्रवृत्तिमें वीतरागता, मूलोत्तर गुणों में नैष्ठिकता, समीचीन व्यवहार में निडरता आदि सातिशय विशेषताओं का सहजहि स्मरण हो जाता है।

आपके चरणों की भक्ति भविष्य में भी सदा बनी रहे। आपकी महान् आत्मा को त्रिवार नमोस्तु।

चौसामा, तारंगाजी **ऐल्लक भावसागर**

पुनीत चरणों में कोटिशः प्रणाम

आर्यिका १०५ विशुद्धमती माताजी

आपका धैर्य निर्भयवृत्ति और गंभीरता के विषय में अनेक पुण्य कथाएँ सुनी है। आपने दिगंबरी दीक्षा लेने के उपरान्त चार पाँच दिन तक लोगों को आहार विधि का परिज्ञान न होने के कारण आपको आहार का लाभ नहीं मिला। किन्तु धन्य है आपको जो आपने दिगंबररूपी नभोमंडल पर सूर्यसदृश उदित होकर अपनी रत्नत्रयरूपी किरणों से भ्रष्टमार्गी भव्यों को समीचीन मार्ग दिखाकर मोक्षमार्ग में लगाया।

अन्त में त्यागीयों से यही आशीर्वाद प्राप्त हो कि आत्मशान्ति प्राप्त हो, रत्नत्रय की वृद्धि हो, स्त्रीपर्याय का नाश हो और अन्त में समाधिपूर्वक मरण हो।

आचार्यवर! आपके परम पुनीत चरणों में कोटिशः नमन!

धन्य वे महात्मा

श्री. प. पूज्य योगीन्द्र चूडामणि सिद्धांत पारंगत धर्मसाम्राज्यनायक विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज जी से भेंट पहले इटावा या मुरैना में हुई। जब महाराजजी का आगमन

हुआ तो हमारे गांवके पिताजी और अन्य लोग बैलगाडी लेकर दर्शनार्थ पधारे सो महाराज के पास जाकर नियम व अन्य गृहस्थों को त्याग व्रत दिलवाए।

दुबारा दर्शन देहली में हुए। यह मुझे बहुत याद है। चा. च. आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्ति महाराज के साथ में आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के गांव में भी पधारे। भोजगांव में जाकर के आचार्य महाराज की जन्मभूमि के दर्शन किए व अन्य गावों में जाकर के जहाँ पर महाराज तप ध्यान करते थे उन गुफाओं के दर्शन किए जिन गुफाओं में महाराज के उपर एक सर्प का उपसर्ग हुआ था। उस गुंफा को भी देखा।

मैं श्री १००८ श्री २४ तीर्थंकर भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि आाचर्य महाराज स्वर्गों में जहाँ कहीं भी हो जल्दी से आकर इस पंचम काल में जैन धर्म का झण्डा फहराएँ जैसा पहले तीर्थप्रवर्तकों ने फहराया था, और हम लोगों को सुबुद्धि देवे।

धन्य वे महात्मा जिन्हों ने अपनी तपस्या से स्वयं को कृतार्थ किया।

आचार्य श्री के चरणों में सविनय श्रद्धांजलि समर्पित हों।

क्षु. रतनसागर
चातुर्मास, जयपूर

आचार्य शिरोमणि !

मुझे आपका पुण्यमयी दर्शन जयपूर खानिया में जब आपका चातुर्मास था उस समय हुआ। मैं स्वयं उस समय करीब २५ वर्ष का था। मेरी यह आंतरिक भावना है कि आप जैसी निर्विकारता-वीतरागता बनी रहे उसमें ही परमार्थता है।

आपके चरणों में अत्यंत भक्तिभाव पूर्वक आदर पूर्वक नमोस्तु।

क्षुल्लक सुदर्शन सागर
लाडनूं (राजस्थान)

अपूर्व प्रकाश

स्व० पूज्य आचार्य महाराजजी के स्मृतिमें प्राचीन शास्त्रों का जीर्णोद्धार आदि की योजना सराहनीय है। प्रकाशन की सफलता चाहता हूँ। पू० आचार्य महाराजजी से समाज को जो प्रकाश प्राप्त हुआ है वह अपूर्व है। आचार्य श्री के प्रति सादर श्रद्धांजलि

वीतराग के वरवचन परम शास्त्र रसपान।
पीवे प्रेम बटायके पावे केवल ज्ञान ॥

जयपूर खानिया

क्षुल्लक वर्धमानसागर
शिष्य श्री १०८ आ. महावीरकीर्तिजी महाराज

पूज्यश्री

हे निर्मल गुरु तुम्हें प्रणाम ।
हे ज्ञानदीप आगम प्रणाम ।
हे शान्ति के मूर्तिमान ।
शिवपथ पंथी गुरु प्रमाण ।

क्षुल्लक आदिसागर
मुनि श्री कुंथुसागरजी द्वारा दीक्षित
जयपूर, खानिया

प्रभावी व्यक्तित्व की गहरी छाप

त्याग व शान्तिमूर्ति १०८ स्व. श्री आचार्य शांतिसागरजी महाराज के व्यक्तित्व की मेरे गृहस्थ जीवन में अमिट छाप पडी और यही कारण है कि मैं आज की स्थिति में पहुंच सका हूँ ।

मैं पूज्य स्व. श्री १०८ आचार्य महाराज को अपनी हार्दिक श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ ।

क्षुल्लक ज्ञानसागर
सागवाडा (दाहोद)

श्रद्धासुमन

चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य प्रवर शांतिसागरजी महाराज;

यद्यपि हमको आपके प्रत्यक्ष दर्शनों का भाग्य नहीं मिला, फिर भी देश के ख्याति प्राप्त त्यागियों, विद्वानों और उन सम्बन्धी विपुल साहित्य से यह भली भांति विदित हो गया है कि आप महान् आत्मा थे । आप से धर्म, देश और जाति के उद्धार का जो कार्य हुआ, उसे जैन समाज सैंकडों पीढियों तक स्मरण करती रहेगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । हम आपकी महान् आत्मा को श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हुए अपना जीवन धन्य समझ रहे हैं ।

क्षुल्क शीतलसागर
चौमासा, अवागढ (उ. प्र.)

उपवास–महर्षि

क्षु. शांतिसागर, आ. विमलसागरजी के संघस्थ

पूज्यातिपूज्यैर्यतिभिस्सुवंद्यं, संसारगंभीर–समुद्रसेतुम् ।
ध्यानैकनिष्ठा गरिमागरिष्ठं, आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

स्वरूपनिष्ठ सदा सावधान आचार्य श्री तपस्या में भी विशेष सावधान थे । देह के प्रति निर्ममता सातिशय थी।

आपने उत्तूरग्राम में क्षुल्लक दीक्षा ली थी। क्षुल्लक दीक्षा में मिथ्यात्व का त्याग कराकर फिर आहार लेते थे। भगवान् नेमिनाथ की निर्माण भूमि में आपने ऐलक दीक्षा ली।

आपने पंचकल्याणक में अपार जनसंख्या समूह में दिगम्बर दीक्षा ली। समडोली में आचार्य परमेष्ठी के रूप में औरों के द्वारा आपकी प्रतिष्ठा हुई।

पैंतीस वर्षों में आचार्य श्री ने कुल मिलाकर ९३३८ दिन उपवास किए। अर्थात् उनके मुनि जीवन में २५ वर्ष एवं ७ मास अनशन में बीते हैं। आपने कई उपसर्गों को सहन किया। आज जो मुनि धर्म उनका विहार जो यत्र तत्र सर्वत्र हो रहा है वह सब आपकी ही देन है।

ऐसे महान् योगी के लिए मैं बारम्बार भावभक्तिपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

त्याग तपस्या की अमरवेल

स्वस्ति श्री प्रातःस्मरणीय चारित्र चक्रवर्ति आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के शिष्य श्री आचार्य वीरसागर महाराज के शिष्य क्षुल्लक सुमतिसागर की त्रिकाल वन्दना आचार्य महाराज के परम्परागत चरणों में।

सं. वि. २४८९ वैसाख बदी एकम के दिन पूज्य श्री के करकमलों के द्वारा बसवा ग्राम में रत्नत्रय धारण किया था। जयपूर में चातुर्मास हुआ उस वक्त श्री आचार्य महाराज के साथ में पांच मुनिराज श्री १०८ मुनि श्री वीरसागरजी, श्री १०८ मुनि नेमिसागरजी, श्री १०८ मुनि चन्द्रसागरजी, श्री १०८ मुनि कुन्थुसागरजी, श्री १०८ मुनि सुखसागरजी। क्षुल्लक दो श्री १०५ ज्ञानसागरजी और १०५ श्री यशोधरजी थे। आचार्य महाराज का परंपरा शिष्य–परिवार ही सब जगह प्राप्त हो रहा है।

उन वीतराग दिगंबर सिंह वृत्ति के धारक आचार्य श्री की अमरवेल बढती ही जा रही है। आचार्य परंपरा के शिष्य श्री १०८ आचार्य धर्मसागर महाराज ससंघ जैन धर्म की ध्वजा को फहरा रहे हैं। यह सब ही उन आचार्य शान्तिसागर महाराज की ही विश्व के लिए अनमोल देन है।

उनके चरण कमलों को हम पुनः पुनः स्मरण कर नमोस्तु करते है और श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

छोटा दिवाणजी का मंदिर, लालजी सांड का रास्ता
चातुर्मास, जयपूर

क्षु. सुमतिसागर

वे गुरु मेरे मन बसो ?

प. पूज्य आचार्य महाराजजी ने जैन धर्म पर आई हुई ग्लानि को दूर करने का प्रयास किया है। धर्मप्रचार और धर्मप्रसार किया है। उनका गुण गौरव, चारित्र, तपश्चरण, धर्मप्रभावना आदि कार्यो का जितना वर्णन करे उतना थोडा ही है। हम जैसे पामर क्या वर्णन करे? आपने कितने ही जीवों का कल्याण किया उन्हें सन्मार्ग दिखाया। उनमें से मैं भी एक उपकृत हूँ।

आपके सोलापूर, कुंथलगिरी में दर्शन हो पाये, मेरे भाव उमड़ आये। आपकी शांतमुद्रा तपश्चर्या पुनीत प्रभा देखते ही "धन्य धन्य श्रेष्ठ गुरु" ऐसे शब्द सहज ही बाहर आए। चरण स्पर्श कर, दर्शन कर वहीं मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने का संकल्प किया।

आचार्य श्री के आशीर्वाद से हि आज यह पद प्राप्त हो सका है। आज जो साधुवर्ग दिखता है, सो आपकी ही कृपा है।

आपके चरण द्वयको हमारा कोटी प्रणाम हो।
वे गुरू मेरे मने बसो, मेरे हरहुं पातक–पीर ॥

क्षुल्लक १०५ जयकीर्ति महाराज
चौमासा (अक्कलकोट)

रत्नत्रयधारी

सम्यग्ज्ञान श्रद्धा के धारी आचार्य श्री शांतिसागरजी, ऐसी अमिट छाप हृदय पर उनके दर्शन से अंकित हुई कि साहित्य दर्पण तथा आ. वसुनंदी की मूलाचार की वृत्ति के अनुसार मैं ऐसे महापुरुष को परमेष्ठी कहने में संकोच नहीं करता हूं।

इंदौर, रतलाम, मांगी तुङ्गी आदि स्थानों में जो आचार्य श्री के समागम और उपदेश श्रवण आदि का परम सुअवसर मिला, वह प्राकृतिक शांतिलोक में निवास करने के तुल्य था।

"सारी दुनिया गई नजर से गुजर।
तेरी शानी का कोई वशर न मिला॥"

मैं सभक्ति नमस्कार पूर्वक शुद्धात्म चमत्कार पूर्ण महात्माजी को श्रद्धांजलि समर्पण करता हूं।

क्षुल्लक सिद्धसागर
मोजमाबाद.

आदर्शरूप अपूर्व जीवन

परमपूज्य आचार्य श्री के स्मृति में श्रुत संकलन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। पढकर प्रसन्नता हुई। पू. आचार्य श्री का व्यक्तित्व–अनुभव–त्याग–तपस्या अपूर्व थी। वह हमारे लिए आदर्श स्वरूप हैं। लोक-वंद्य विभूति के लिए हमारी सादर श्रद्धांजलि हैं।

आर्यव्रती अकलंक स्वामी
चौमासा, महिप वाडगी–म्हैसूर स्टेट

सहज प्रश्न का सहज और मार्मिक उत्तर

पू. आचार्यजी से अंतिम समय में पूछा गया। क्यों महाराजजी अभी किसका ध्यान कर रहे हो। मुनिनाथ से उत्तर मिला—

हमें अपनी आत्मा के सिवाय और कोई पर पदार्थ की चिन्ता नहीं है।

मोक्ष पुरुषार्थी–रत्नत्रय संपन्न आत्मा को सादर श्रद्धांजलि।

क्षु. १०५ सिद्धमती
चौमासा, सम्मेद शिखरजी

आत्मविकासाच्या मार्गावर अग्रेसर दिगंबर

पूज्य आचार्यवर !

आपण शुद्धात्मपदप्राप्तीसाठी अंतरंग व बहिरंग परिग्रहाचा त्याग करून विशुद्ध दिगंबरत्वाचा अंगीकार केला. आ. कुन्दकुन्द समन्तभद्रादिकांच्या पावलावर पाऊल ठेऊन आत्मविकासाच्या साधनेमध्ये अग्रेसर राहिलात व समीचीन दिगंबरत्वाचा आदर्श कलिकालामध्येही समोर ठेवलात ! आपला अपार अनुग्रह आहे ! आपल्या पावन चरणी त्रिवार वन्दन !

श्री क्षु १०५ श्री अजितमती अम्मा
मु. रुकडी, जि. कोल्हापुर

सबके आदर्श

प. पूज्य चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शांतिसागरजी महाराज जी के पुनीत चरणों में सविनय कृतज्ञता पूर्वक हार्दिक कर स्मृति–कुसुमाञ्जलि द्वारा शतशतवन्दन एवं नमोस्तु।

दिगम्बर आम्नाय के प्रतिभाशाली महामुनि भदंत आचार्य श्री शान्तिसागरजी आधुनिक काल में योगियों के नवजन्म दाता है।

आचार्य श्री का उज्ज्वल जीवन ही सबको न्याय, नीति, क्षमा का प्रकाश प्रदान करता था। अपने शिष्यों के प्रति शासन कार्य में आपका कभी भी पक्षपात, अदेख सखा भाव, अनीति, अन्याय का लवलेश नहीं होता था। इस हेतु से ही वे स्वयं और उनके शिष्य आत्मध्यान, शास्त्र अध्ययन आदि आवश्यक क्रियाओं में सतत सजग रहते थे।

लम्बे लम्बे उपवासों के बाद आहारदान में अज्ञ पुरुष द्वारा प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थों के दिए जाने पर भी आप क्षुब्ध नहीं होते थे, यह आपके जीवन तपोबल के कारण आपके अन्तरंग में एक अद्भुत और अद्वितीयता थी। जिसके कारण संसारिक प्राणियों को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, स्वाभाविक, लौकिक, अलौकिक, पारमार्थिक सभी शक्तियाँ एवं योग्यताएं विनावार्तालाप किए स्वतः मिल जाती थी। दुःखीयों को तो आपका दर्शन अमृतका पाठ था। सहजहि स्मरण होता है।

“शशि शांत किरण तप हरण हेत स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।”

सतसाहस पौरुष निर्भयता, दृढता और कार्य तत्परता ।
इन्द्रिय विजय और धर्म अहिंसा, में न कहीं थी कायरता ॥

हे गुरुदेव ! यही प्रार्थना है कि जैसे आप मिथ्याध्यवसायों से विश्रान्ति पाकर विशेष रूप से नैसर्गिक स्वभाव को प्राप्त हो गए । वह शक्ति मुझमें आजाए ।

ऐसे महामुनिराजजी के चरणों में नम्र श्रद्धांजलि अर्पण है ।

क्षु. जयमती

विलक्षण योगायोग

परम पूज्य आचार्य श्रींच्या जन्म शताब्दीचा काल व संस्थेच्या रौप्य महोत्सवाचा काल योगायोगाने एकच येत आहे.

पू. आचार्य श्रींची जन्म शताब्दि म्हणजे त्याग-तपस्या-अनुभव-रत्नत्रय धर्म यांचा महोत्सव. या उत्कृष्ट निर्मिताला घेऊन जे करू ते थोडे ! या कालखण्डामध्ये अशा महापुरुषाचा समागम लाभणे हे समाजाचे परमभाग्य होय.

महाराजांचे चरणी मठाची निरंतर भक्ति राहिली आहे. आज पुनः अत्यंत विनयाने त्रिवार नमोस्तु व श्रद्धांजलि अर्पण करताना धन्यता वाटते.

कोल्हापूर मठ
८।१।७३

भट्टारक पट्टाचार्य लक्ष्मीसेन

परमार्थी युगपुरुष

श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागरजी महाराज इस युग के परम तपस्वी साधु थे । उन्होंने समस्त भारत में विहार कर दिगम्बर जैन धर्म का उद्योत किया है ।

जब वे संघ सहित सागर पधारे थे तब मैं एक छोटा विद्यार्थी था । अतः उनसे अधिक संपर्क स्थापित नहीं कर सका । परन्तु उस समय उनके शुभागमन पर नगर में जो उल्लासपूर्ण धार्मिक वातावरण बना था और हजारों की जनसंख्या में उनके जो सारगर्भित प्रवचन होते थे वह सब दृश्य अब भी आँखों में झुलता है ।

पूज्य श्री का आदेश पाकर उनके नाम पर जो जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था स्थापित हुई थी । उसकी रजत जयंती के प्रसंग पर मैं स्वर्गस्थ आचार्य प्रवर के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं ।

पं. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर.

वर्तमान साधुसृष्टि के परमोद्योतक आचार्य परमेष्ठी
परमपूज्य श्री शांतिसागरजी महाराज

लोकवन्द्य विद्वद्वन्द्यपाद परमपूज्य आचार्य शांतिसागर महाराज साधुसमाज एवं श्रावकसमाज चतु:संघ द्वारा चारित्रचक्रवर्ती, योगींद्रचूडामणि, आचार्यशिरोमणि आदि यथार्थ पदगरिमाओं से विभूषित इस शताब्दि में साधुरत्न हुए हैं।

वे परम वीतराग एवं ध्यान स्वाध्याय में तत्पर महातपस्वी, घोर उपसर्ग विजयी थे। परीषह विजयी, मन–वचन–काय एवं इंद्रिय दमन करनेवाले कषाय–विजेता मुनीन्द्र थे। मुनिगुण उनके चरणसान्निध्य में बैठ कर शांति लाभ करते थे।

आचार्य महाराज भाषासमिति का पूर्ण पालन करते हुए परिमित भाषी थे। अधिक बोलना उन्हें इष्ट नहीं था। आवश्यकतानुसार सारी बात कहकर चुप हो जाते थे। घी, नमक, मीठा आदि रसों का परित्याग उन्होंने मुनिदीक्षा धारण करने के कुछ समय पीछे ही कर दिया था।

उनकी सभी प्रकार की चर्या और निर्मलभाव चतुर्थकाल के निर्मोक्ष ध्यानरत साधुओं के समान हि था। वे महाविवेकी साधु परमेष्ठी थे।

ऐसे साधुरत्न के प्रति मेरी अनंतानंत श्रद्धांजलि समर्पित हो।

श्री मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना

हम भी मुनिव्रत धारण करें

हमने गुरुदेव के बारबार दर्शनका सौभाग्य पाया। उसीके ही फलस्वरूप हम इनके मार्ग का अनुसरण कर रहे है। मेरी यह उत्कट भावना है हम भी उनके समान महान् दिगंबर मुनिव्रत धारण करे। आचार्य श्री के चरणों में बारबार साष्टांग वन्दन करके वे मुमुक्षु जनों को चिरकाल तक पथप्रदर्शन करे ऐसी भावना हृदय से प्रगट करता हूँ।

रा. ब. सर शेठ हुकुमचन्दजी, इन्दौर

वीतराग मार्ग के प्रभावक

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री. १०८ आ. शांतिसागरजी महाराज के जन्मशताब्दि महोत्सव के उपलक्ष्य में ‘स्मृतिग्रन्थ’ प्रकाशित करने की योजना समुचित है। आचार्य श्री इस युग के सर्वाधिक प्रभावशाली तपस्वी थे। उनके पुनीत दर्शनों का सौभाग्य मुझे कई बार प्राप्त हुआ। इन्दौर में सन १९३४ में आचार्य श्री के ससंघ पधारने पर मेरे पूज्य माताजी दानशीला कंचनबाई ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया था। देशके अनेक प्रान्तों में आचार्य श्री और उनके प्रमुख एवं प्रभावशाली शिष्य दि. जैन साधु-समूह के विहार होने से समाज और जन साधारण के आचार विचार में बहुत कुछ सुधार हुआ, मुक्तिमार्ग के प्रति श्रद्धा की भावना वृद्धिंगत हुई, साथ ही श्रमण संस्कृती के और वीतराग मार्ग की प्रभावना हुई है।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व लोकोत्तर था। उनकी साधु शिष्य परंपरा से उनकी स्मृति चिरकाल कायम रहेगी। आचार्य श्री के चरण कमलों में इस पावन अवसर पर मेरी विनम्र श्रद्धांजलि है।

रा. ब. सर सेठ राजकुमार सिंह, इन्दौर

पुनीत चरणों का सान्निध्य-परम सौभाग्य

प्रातःस्मरणीय धर्म साम्राज्य नायक चारित्रचक्रवर्ती, परम तपोनिधि, योगीन्द्र चूडामणि, परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज इस युग के महानतम ज्ञान-चारित्र की विभूति थे। वर्तमान में आध्यात्मिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करनेवाले अद्वितीय साधु-रत्न थे। उनकी कठोरतम तपश्चर्या इस युग की एक आश्चर्यजनक विजय थी। इस कलि काल में आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द की अक्षुण्ण परम्परा के वे साहसी संवाहक थे। उन्हें देखकर प्राचीन महर्षियों की स्मृति पुनर्जीवित हो उठती है।

मेरा परम भाग्योदय था कि मैंने आचार्य श्री का अनेक बार निकट सान्निध्य प्राप्त किया। भा. दिगम्बर जैन महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष के रूप में परमपूज्य आचार्य श्री से सामाजिक दिशा-बोध हेतु आदेश प्राप्त करने का भी अनेकों बार सुअवसर मिला। उनकी त्वरित निर्णय-बुद्धि, युक्तियों व विवेक पूर्ण दीर्घ चिन्तन से गंभीरतम संकटों व समस्याओं का अबाधित सुविधाजनक निष्कर्ष प्राप्त कर आश्चर्यान्वित हो जाना पडता था। वस्तुतः आचार्य श्री अलौकिक अद्भुत प्रतिभा के पुंज थे।

स्व. पूज्य आचार्य श्री ने देश-व्यापी धर्म-दुन्दुभि का व्यापक उद्घोष किया था। उनके अजमेर पदार्पण पर हमें निकट सेवा का भी परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अजमेर के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व शुभावसर था। जिसकी पावन स्मृति आज भी जैन व अजैन समुदाय पर अंकित है। परमपूज्य आचार्य श्री का चरण सान्निध्य समग्र भक्त समुदाय के लिए चरम सौभाग्य था।

दक्षिण भारत से उत्तर भारत में मुनि विहार का मार्ग प्रशस्त करनेवाले आप आद्य मुनीश्वर थे। इस युग में मुनि संस्था का यशस्वी संस्थापक यदि आप को कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

ऐसे महान् तपस्वीरत्न ऋषिराज के प्रति श्रद्धाभक्ति समर्पित करने के लिये एक स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना स्वागतार्ह है।

मैं परमपूज्य आचार्य श्री के तपःपूत पावन चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धा समर्पित करता हूँ।

ध. श्री सेठ भागचंदजी जैन, रईस, अजमेर

श्रद्धांजलि

पू. आचार्य श्री शांतिसागर यांचे जीवन आपणा सर्वांना एखाद्या दीपस्तंभासारखे मार्गदर्शन देणारे होते. त्यांच्या जीवनरूपी सागरातील एक ओंजळ पाण्याइतके आचरणही आपल्या आयुष्यात अतीव हितकारक ठरेल.

सेठ लालचंद हिराचंद, मुंबई

सातिशय पुण्यशाली महात्मा

पं. तनसुखलालजी काला, मुंबई

स्व. प. पू. चा. च. श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज के आदेशानुसार जब हम उनका आशीर्वाद लेकर दि. ५–१२–४९ को स्व. राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी के पास देहली पहुंचे तब स्व. प. पू. आचार्य श्री के प्रति पूर्ण अनुराग एवं भक्ति प्रगट करते हुवे अतीव प्रभाव से प. पू. आचार्य श्री को उन्होंने अपना नमोस्तु निवेदन करने को कहा जो कि समस्त दि. जैन समाज के लिए महान् गौरवास्पद था।

स्व. आचार्य श्री की महान् तपश्चर्या तथा पुण्यबल से 'जैनधर्म' प्रचलित हिंदुधर्म से तत्त्वदृष्टि से सर्वथा भिन्न तथा स्वतंत्र धर्म है यह घोषणा स्व. पं. जवाहरलालजी नेहरू ने अपने पत्र दि. ३१-१-५० द्वारा प्रगट की। फलस्वरूप दि. २४-७-५१ को बम्बई हायकोर्ट ने स्पष्ट जाहिर किया कि जैन संस्कृति और धर्म हिंदु संस्कृति से भिन्न है जिसके लिए स्व. आचार्य श्री ने तीन वर्षतक अन्नत्याग किया और अंत में अपनी अटल प्रतिज्ञा तथा धर्मायतनों पर विजय प्राप्त कर धर्म की महान् रक्षा की।

जिनवाणी की होती हुई अवज्ञा को न सहन कर उन्होंने धवल, जयधवल, महाधवल को ताम्रपत्र पर अंकित कराया तथा जिनवाणी जीर्णोद्धार ग्रंथमाला की नींव सुदृढ बना कर अनेक मौलिक शास्त्रों को समाज में वितरण कर सम्यक्ज्ञान के प्रचार का बडा भारी कार्य किया।

आज समाज में जो अनेक निर्ग्रंथ दि. साधु ऐल्लक, क्षुल्लक तथा अर्जिकाएँ एवं प्रतिमाधारी त्यागियों का निर्माण होकर उसकी परम्परा चालू है यह सब उन्हीं आचार्य श्री की देन है।

उनके महान् उपकारों से समाज कभी उऋण नहीं हो सकती। हम अत्यंत नम्र भाव से उनके पुनीत चरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए भावना करते हैं कि धार्मिक समाज उनके पावन शुभाशीर्वाद से सतत अपने वास्तविक सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होकर शीघ्र सत्पथगामी बने।

शांति के दूत

श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज

गत शताब्दि के वैज्ञानिक तेज विकास में कल्याणकारी मानवीय मूल्यों की द्रुतगति से जो अवनति होती गई उनकी पुनः स्थापना करने में जिन जिन महापुरुषों ने प्रामाणिक अथक प्रयास किया तथा विश्व के लिये अपनी जीवनी द्वारा जो मानवता का आदर्श प्रस्थापित कर सके ऐसे महान् तथा वंदनीय पुरुषरत्नों में स्व. प. पूज्य १०८ प्रातःस्मरणीय आचार्य शांतिसागरजी थे। वास्तव में आपकी आत्मा महान् पवित्र आत्मा थी। अहिंसा और शांति का पाठ विश्व को आपके द्वारा मिला है।

कई शताब्दियों के अन्तराल के बाद अंतरंग बहिरंग दिगंबरत्व का यथार्थ स्वरूपदर्शन आप में पाकर कृतार्थता होती है। सहज वीतरागता और अमूर्तशांति के मूर्तिमान् दर्शन आपके रूप में पाकर धन्यता होती है।

आपके चरणों में अनेकशः नमोस्तु विदित होवे।

श्री. भरतकुमार तेजपालजी काला, नांदगाव

काव्य

धर्मदिवाकरं नमामि यतिनायकम् ।

१०८ चारित्रचक्रवर्ति श्री शांतिसागर महाराज गुणस्तुति

रचयित्रा–क्षु. राजमती माताजी, हिंमतनगर

संयम–द्रव्य–संपन्ने भेदज्ञान–जलाश्रिते ।
ध्यानहुत–भुजा–तप्ते संस्थिते शील–चुल्लके ॥१॥
शुद्धानुभूति–संपन्ने चारित्र–मणि–भाजने ।
निजात्म–मलिनं वस्त्रं कर्मकाम–कलंकितम् ॥२॥
मज्जनोन्मज्जनं कृत्वा स्वानुभूति-सुधारसे ।
सम्यग् रत्नांचिते शैले संस्थाप्य बहु निर्मले ॥३॥
तपो दंडं करे धृत्वा दंडयंश्च पुनः पुनः ।
मोह–क्षोभ–मदोद्भूतं भवकोटिषु दुःखदम् ॥४॥
निपीडयति मालिन्यं निजगुप्ति–त्रयेण वै ।
रजते लभते सौख्यं स्वराज्यमविनश्वरम् ॥५॥
रजोहरमीदृशं च स्वात्मनो रसिके सदा ।
सुषष्टं वा सप्तमं स्थानं संचरंतं तपोनिधिम् ॥६॥
उरग–वेष्टिता कायं धीरं वीरं स्थिरासनम् ।
महौजसं महाध्यानीं ज्ञानसाम्राज्यभास्करम् ॥७॥
चारित्रचक्रिणं पूज्यं शूरं श्रीशांतिसागरम् ।
स्व–संवेदन–मग्नं वै त्यक्तदेहं समाधिना ॥८॥
राजीमती समाख्याता क्षुल्लिकापदमाश्रिता ।
त्रिकरणेन शुद्धेन नमामि यतिनायकम् ॥९॥

ॐ

आचार्य प्रवर श्री शांतिसागर स्तुतिः

रचयित्री, आर्यिका श्री ज्ञानमतीजी

१

सुरत्नत्रयैः सद्व्रतैर्भ्राजमानः ।
चतुःसंघनाथो गणीन्द्रो मुनीन्द्रः ॥
महा-मोह-मल्लैक-जेता यतीन्द्रः ।
स्तुवे तं सुचारित्रचक्रीशसूरिम् ॥

२

भवव्याधिनाशाय दिग्वस्त्रधारी ।
भवाब्धेः तितीर्षुः जगद्दुःखहारी ॥
भवातंक विच्छित्तयेऽहं श्रितस्त्वां ।
स्तुवे शांतिसिंधुं महाचार्यवर्यं ॥

३

महाग्रंथराजं सुषट्खण्डशास्त्रं ।
सुताम्रस्यपत्रे समुत्कीर्णमेव ॥
अहो ! त्वत्प्रसादात् महाकार्यमेतत् ।
प्रजातं सुपूर्णं चिरस्थायि भूयात् ॥

४

अनेके सुशिष्याः प्रसिद्धा तवेह ।
स्तुवे वीरसिंधुं महाचार्यवर्यं ॥
शिवाब्धिं च सूरिं गुणाब्धेः समुद्रं ।
मुदा पट्टसूरिं स्तुवे धर्मसिंधुम् ॥

५

महासाधवो ह्यार्यिकाः क्षुल्लकाद्याः ।
प्रसादात् हि ते श्रावकाद्याश्च जाताः ॥
सुनक्षत्रवृंदैर्युतश्चंद्रमाः खे ।
सुसंघैर्युतः शांतिसूरिः स्तुवे तं ॥

६

महाकल्पवृक्षं महाचार्यरत्नं ।
कृपासागरं शांतिसज्ज्ञानमूर्तिम् ॥
गभीरं प्रसन्नं महाधीरवीरं ।
महातीर्थभक्तं सदा त्वां प्रवन्दे ॥

७

नमोस्तु मुनिचंद्र ! ते भवनकैरवाल्हादकृत् ।
नमोस्तु मुनिसूर्य! ते जन मनोऽन्धकरांतकृत् ॥
नमोऽस्तु गुरुवर्य ! ते सकलभव्य-चिंतामणे ।
जयेति जय सूरिवर्य ! भुवि शांतिसिंधो !
सदा ॥

८

श्री शांतिसागराचार्यं वंदे भक्त्या पुनः पुनः ।
बोधिज्ञानवती सिद्धि-र्भूयात् मे पूर्ण शांतिदा ॥

सन्मार्गरुद मुनिमूर्ति-प्रशांतमूर्ति

सरस-सुंदर यथार्थ जीवनचित्र

ध्यानी, सुधी विमलमानस आत्मवादी।
शुद्धात्मके अनुभवी तुम अप्रमादी।

रचयिता—१०८ आचार्य ज्ञानसागर महाराज के प्रथम शिष्य-मुनिविद्यासागर

वसंततिलका छन्द

मैसूर राज्य-अविभाज्य विराजता जो
शोभामयी--नयन--मंजुल--दिखता जो
त्यों शोभता मुदित-भारत-मेदिनी में
ज्यों शोभता मधुप--फुल्ल सरोजनी में ॥१॥

हैं वेलग्राम उसमें जिलहा निराला
सौंदर्यपूर्ण जिसमें पथ हैं विशाला
अभ्रंलिहा परम--उन्नत सौध--माला
है जो वहाँ अमित-उज्वल औ उजाला ॥२॥

है पास भोज इसके नयनाभिराम
राकेन्दु सा अवनि में लखता ललाम
श्री भाल में ललित--कुंकुम शोभता ज्यों
जो भोज भी अवनि मध्य सुशोभता त्यों ॥३॥

आके मिली विपुल--निर्मल--नीरवाली--
हैं भोज में सरित दो सुपयोजवाली
विख्यात है यक सुनो वर दूधगंगा
दूजी तथा सरस--शान्त--सुवेदगंगा ॥४॥

श्रीमान्--महान्--विनयवान्--बलवान्-सुधीमान्
श्री भीमगौंड मनुजोत्तम औ दयावान्
सत्यात्म थे कुटिल आचरणज्ञ ना थे
जो भोज में कृषिकला अभिविज्ञ औ थे ॥५॥

नीतिज्ञ थे सदय थे सुपरोपकारी
पुण्यात्म थे सकल--मानव हर्षकारी
जो लीन धर्म अरु अर्थ सुकाम में थे
औ वीर--नाथ--वृष के वर भक्त यों थे ॥६॥

थी भीमगौंड-ललना अभि सत्यरूपा
थी काय-कान्ति जिसकी रति सी अनूपा
सीता समा-गुणवती वर नारि रत्ना
जो थी यहाँ नित नितान्त सुनीतिमग्ना ॥७॥

नाना-कला निपुन भी मृदु भाषिणी थी
शोभावती-मृगदृगी कुलतारिणी थी
लोकोत्तरा-छविमयी-जन-वाहिनी थी
सर्वंसहा अवनिसी समतामयी थी ॥८॥

मंडोदरी समसुनारि विलक्षिणी थी
औ प्राणनाथ खरआलस-हारिणी थी
हंसानना, शशिकला, मनमोहिनी थी
लक्ष्मी समा अथच सिंह कटी यहीं थी ॥९॥

हीरे समा नयनरम्य सुदिव्य अच्छे
या सूर्य-चन्द्र-सम तेज सुशान्त बच्चे
जन्में दया-भरित नारि सुकूंख से थे
दोनों अहो! परम-सुन्दर लाडले थे ॥१०॥

था जेष्ठ, पुष्ट, अति हृष्ठ, सुदेवगौंडा
छोटा बडा चतुर बालक सातगौंडा
दोनो मनो सुकुल के यश-कोष ही थे
या प्रेम के परम-पावन सौध ही थे ॥११॥

होता विवाह हत ! शैशव काल में ही
पाती प्रिया अनुजकी द्रुतमृत्यु यों ही
बीतीं कई तदुपरान्त अहर्निशांये
जागी तदा नव-विवाह-सुयोजनायें ॥१२॥

मा ! मात्र एक ललना चिरसे बची है
ऐसी न नीरज–मुखी अब लौं मिली है
हो चाहती मम-विवाह मुझे बता दो
जल्दी मुझे अहह ! हाय ! शिवांगनादो ॥१३

ऐसा कहा द्रुत सुनो वच भी स्वमाके
जो भीमगौंड-सुतने सुमृगाक्षिणी को
जो भीमगौंड पति के अनुगामिनी थी
यों कुंदिता, मुकुलिता, दुखधारिणी थी ॥१४

काटें मुझे दिख रहें घर में यहीं जी
चाहूँ नहीं घर निवास अतः कभी जी
आधार और वर सार सुधर्म ही है
माजी ! अतः मुनि बनूँ यह ही सही है ॥१५॥

तू जायगा यदि अरण्य उषा-सवेरे
उत्फुल्ल-लोल-कल-लोचन-कंज मेरे
बेटा ! अरे ! लहलहा कल ना रहेंगे
होंगे न उल्लसित औ न कभी खिलेंगे ॥१६॥

रोती, सती, विलखती, गतहर्षिणी थी
जो सातगौड–जननी, गजगामिनी थी
बोली निजीय सुत को नलिनी मुखीयों
औ पुत्र सम्मुख तथा रख दी व्यथा यों ॥१७॥

माजी ! अहो ! भव-भयानक-काननी में
कोई नहीं शरण है इस मेदिनी में
सद्धर्म छोड सबही दुख-दायिनी है
वाणी जिनेन्द्र कथिता सुखदायिनी है ॥१८॥

माधुर्य-पूर्ण-समयोचित-भारती को
मा को कही सजल-लोचन-वाहिनी को
जो भीमगौड-सुतने वचनावली को
मा के तजी श्रुति-निकेतन में श्रुती को ॥१९॥

विद्रोह, मोह, निजदेह-विमोह छोडा
आगे सुमोक्ष-पथ से पर नेह जोडा
देवेन्द्र कीर्ति-यति से अति भक्तिसाथ
दीक्षा लिया, वरलिया, वर–मुक्तिपाथ ॥२०॥

गंभीर-पूर्ण सुविशाल-शरीर-धारी
आधार-हीन जन के द्रुत आर्तहारी
औ वंश-राष्ट्र पुर-देश-सुमाननीय
जो थे सुशान्ति गुरुजी नितदर्शनीय ॥२१॥

विद्वेष का न इनमें कुछ भी निशानी
सत्प्रेम के-सदन थे पर थे न मानी
अत्यन्त जो लसित थी इनमेंऽनुकम्पा
आशा तथा मुकुलिता वरकोपचम्पा ॥२२॥

थे दूर नारि-कुल से अति भीरु यों थे
औ-शील-सुन्दर-रमा-पति किन्तु यों थे
की आपने न पर की वृष की उपेक्षा
थी आपको नित-शिवालय की अपेक्षा ॥२३॥

स्वामी तितिक्षु न बुभुक्षु, मुमुक्षु जो थे
मोक्षेच्छु-रक्षक, न भक्षक, दक्ष औ थे
ध्यानी, सुधी, विमल-मानस-आत्मवादी
शुद्रात्म के अनुभवी तुम अप्रमादी ॥२४॥

निश्चिंत हो निडर, निश्चल, नित्य भारी
थे ध्यान, मौन धरते तप औ करारी
थे शीत, ताप सहते गहते न मान
रात्रिंदिनि स्वरसका करते सुपान ॥२५॥

शालीनतामय सु जीवन आपका था
आलस्य-हास्य विनिवर्जित शस्य औ था
थी आपमें सरसता व कृपालुता थी
औ आपमें नित-नितान्त-कृतज्ञता थी ॥२६॥

थे आप शिष्ट, वृषनिष्ठ, वरिष्ठ, योगी
संतुष्ट औ गुणगरिष्ठ, बलिष्ठ, यों भी
थे अंतरंग-बहिरंग-निःशंक नंगे
इत्थं न हो यदि, कुकर्म नहीं कटेंगे ॥२७॥

था स्वच्छ, अच्छरु अतुच्छ चरित्र तेरा
था जीवनाति भजनीय पवित्र तेरा
ना कृष्य देह तव जो तप-साधना से
यों चाहते मिलन आप शिवांगनासे ॥२८॥

प्रायः कदा चरण युक्त अहो धरा थी
सन्मार्गरूढ-मुनि-मूर्ति न पूर्व में थी
चारित्र का नव-नवीन-पुनीत पंथ
भो ! किन्तु जो दिख रहा तव देन संत ॥२९

ज्ञानी, विशारद, सुशर्म-पिपासु साधु
औ जो-विशाल-नर-नारि-समूह, चारु
सारे विनीत इनके पद्-नीरजों में
आसीन थे भ्रमर से निशि में दिवा में ॥३०॥

संसार-सागर-असार-अपार-खार
गंभीर-पीर सहता इह बार, बार
भारी-कदाचरण-भार व मोह, धार
धिग् धिक् अतः अबुध जीव हुवा न पार ३१

थे शेडबाल गुरुजी यक बार आये
इत्थं अहो सकल मानव को सुनाये
भारी प्रभाव मुझपे तव भारती का
देखो ! पडा इसलिये मुनि हूँ अभी का ॥३२
॥ युग्म ॥

अच्छा, बुरा सब सदा न कभी रहे हैं
यों जन्म भी मरण भी अनिवार्य ही हैं
आचार्यवर्य मुनिवर्य समाधि ले के
सानन्द देह तज, शान्ति गये अकेले ॥३३॥

छाई अतः दुख-निशा ललना-जनों में
औ खिन्नता, शिथिलता, भयता, नरों में
आमोद, हास-सविलास, विनोद सारे
हैं लुप्त मंगल सुवाद्य अभी सितारे ॥३४॥

सारी विशाल-जनता महिमें दुखी है
चिंता-सरोवर निमज्जित आज भी है
चर्चा अपार चलती दिन-रैन ऐसी
आई भयानक–परिस्थिति हाय! कैसी ।।३५।।

फैली व्यथा, मलिनता, जनता–मुखों में
हा ! हा ! मची, रुदन भी नर-नारियों में
क्रीडा-उमंग तजके वय-बाल-बाला
बैठी अभी वदन को करके सुकाला ।।३६।।

आघात ! हा ! अशनिपात ! हुवा यहाँपे
आचार्य-वर्य-गुरुवर्य गये कहाँपे
जन्मे सुरेन्द्र पुर में दिवि में जहाँपे
हूँ भेजता स्तुति-सरोज अतः वहाँपे ।।३७।।

संतोष-कोष-गुरुजी तुम शान्ति सिन्धू
मैं बार बार तव पाद-सरोज वन्दूँ
लेता सुनाम अथवा तव लाख बार
विध्या प्रणाम करता इह बार, बार ।।३८।।

ॐ

श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी मुनिराज की स्मृति में

भाव श्रद्धांजलि

(रचियता–श्री मुक्तागिरी लक्ष्मणराव जैन, अध्यापक हॉ. स्कूल, कसाबखेडा)

आचार्य श्री शांति सिंधु का शुभागमन औरंगाबाद ।
पाये दर्शन बैयालीस में धर्मसाम्राज्य के हो तुम नाथ ।।१।।

उमड पडी जिन जनता आये दर्शनार्थ जागे थे भाग ।
करन लगे जयघोष 'शांति' का मन में शांति भरा उल्हास ।।२।।

औरंगाबाद से गमन आपका शीघ्रही होने वाला था ।
'विरह-गीत' रच गाया था ऐसा न समय कभी आना था ।।३।।

भावों से भरे थे हृदय परि जे सब का तो दिल भरा आया था ।
मैंने भी कविता जीवन में ऐसी कभी न गाया था ।।४।।

कविता सुन आचार्य दिये आशिस कविता रचते रहना ।
प्राप्त हुआ वरदान गुरु का जागी प्रतिभा क्या कहना ।।५।।

'म्हसवड' में कल्याण कथा भाषण हितखडा किया मुझको ।
सूरज सम्मुख दीपक का क्या होगा उजाला लगा मुझको ।।६।।

महाराज कहे 'कहते जाओ वक्तव्य तुम्हें तो देना है ।
भाव पूर्ण कविता पुरुषार्थ से बढो न पीछे रहना है' ॥७॥

आशिस मिला उत्साह धीर से कविता करते आया हूँ ।
स्वागत गीत, भजन, समयोचित रचना से रिझाते आया हूँ ॥८॥

उन्निससो सत्तर साल मुनि आर्यनंदिजी फलटण थे ।
वर्षा योग मुनिराज विराजे हमने प्रभु गुण गाये थे ॥९॥

वैराग चौबीस तीर्थंकर को किन कारणों से है प्राप्त हुआ ।
फलटण समाज सुन मुग्ध हुई औ टेप रेकार्ड तो करही लिया ॥१०॥

फलटण समाज ने 'काव्यभूषण' पदवी से अलंकृत करही दिया ।
भाग्य जगा आचार्य आशिस से 'संगीतप्रवीण' का मान दिया ॥११॥

गुरु आशिस से स्नेह समाज का काव्य निधि भी पायी है ।
श्रद्धांजलि गुरुवर 'शांति' चरणों में अर्पित जयमाला गायी है ॥१२॥

तुमने कीन्हा है सत्यपथ प्रदर्शन

परमपूज्य, चारित्रचूडामणि, त्यागमूर्ति, आध्यात्मिक संत, स्वर्गीय १०८ पूज्य श्री शांतिसागरजी के चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण

रचियता—हास्यकवि श्री हजारीलाल जैन 'काका' पो. समरार, जि. झांसी

परम पूज्य आचार्य शांतिसागर को शत शत वंदन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ॥ध्रु०॥

वर्तमान में श्रमण संस्कृति को गतिमान बनाया,
सुप्त हुई निर्ग्रंथ दशा को पौरुष से चमकाया,
बन महान् योगी दुनिया में कीन्हा सत्य प्रदर्शन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ॥१॥

जड चेतन से प्रथक, जीव का नहीं देह से नाता,
जड पर शासन किया आपका पौरुष यही बताता,

ले समाधि त्यागा शरीर जड किया सत्य का दर्शन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ॥२॥

इनके पद चिन्हों पर चलकर आतम ज्योति जलाओ,
आपा पर का भेद जानकर तन से मोह हटाओ,
'काका' निजानंद रस पीकर करो मोक्ष का दर्शन,
श्रद्धा सहित युगल चरणों में श्रद्धांजलि समर्पण ॥३॥

स्व. परम-पूज्य आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणों में

श्रद्धांजलियां

पद १

बनेंगे सिद्ध शांतिमुनिराज !
पदनत हम महाराज !
साधु बने तुम पूर्ण दिगंबर,
भव-झंझट तन-माया तजकर

आत्मध्यान धुनी निज उर में घर
हार कर्म त्रैलोक्य-शुभंकर
होंगे मुनिसम्राट !
बनेंगे देवन के सिरताज !!

सिद्धक्षेत्र का वास मिला है
सिद्ध होने के भाव खिरे हैं
वीतरागता, ना विकारता
आत्मा में संपूर्ण भरे है ।
जाओ यहीं तुम बिराज !

पद २

तुम शांत यतिवर शांत
और प्रशांत ध्यान तुम्हारा
पद में प्रणिपात हमारा ॥

निजतनपर माया ना करते
आत्मा से नेह सदा रखते
व्रत संयम शील तुम्हारा
है कछु न्यारा ॥ पद में ॥

मित भाषण मधुर भरा रस का
भवि-जीवन को भव में हित का
उद्धारो बरसाकर बोधामृत धारा
॥ पद में ॥

शुभ भाव महोन्नत नित रखते
तुम हरिक जैसे जगमगते
इस कलियुग में तुम ही हो
धर्मसहारा ॥ पद में ॥

आ. शांतिसागरजी जन्मशताब्दि स्मृतिग्रंथ

स्मृति-मंजूषा

Acharya Shri Shantisagar Maharaj And How He Influenced Me

Justice Shri **T. K. Tukol,** M. A., LL. B.
Retired Judge, High Court of Mysore.
Vice–Chancellor, Banglore University.

Today is an unforgettable moment of my life. It is as sacred as it is joyful. We are all happy that we are meeting today for the inauguration of the Pravachana Mandir built to commemorate memory of that Divine Saint **Acharya Shri Shantisagar Maharaj.** He is unquestionably the greatest of all Jain Saints of this Century. He travelled throughout the length and breadth of our country and spread the gospel of Jainism amongst the rich and the poor, the educated and the uneducated. He was worshipped even during his own life-time and continued to be worshipped with greater devotion after he had attained Heaven. He was described as the Emperor amongst Saints आचार्य चक्रवर्ती, Emperor of Righteous conduct चारित्र चक्रवर्ती and the Light of Spiritualism आध्यात्मिक ज्योति. All these epithets connote his unequalled greatness as a learned saint of remarkable character and vision. Numerous books have been written about him in many languages and innumerable poems have been composed by poets and devotees alike.

What then should I say on this occasion to an august assembly like the one before me ? I feel that the most appropriate subject for this inaugural talk is about the manner and the nature of his influence on my own life. I know that millions of my countrymen have been influenced by his noble precepts and practices but my humblest tribute to his great Saint is to tell you how he shaped my life.

My attraction towards **Acharya Shantisagar Maharaj** was more or less instinctive; for long before I saw him, I had begun to revere him. I had even composed a couple of poems in Kannada when I was a student in the Jain Boarding House at Hublli. It was not till 1924 or so that I had the good fortune of having his Darshan when he camped at Hubli

with his disciples on his way to the Mahamastakabhisheka at Sravana-belgola. As I was a young student then, I merely fell at his feet and heard his discourse in the local Jain temple.

His most momentous impact on my mind was in 1926 or so when I was studying in the Willingdon College and staying in the R. D. Jain Boarding House at Sangli. It was perhaps a Sunday. All students had collected to hear the discourse of Shantisagar Maharaj who was spending his Chaturmas at Sangli. Numerous ladies and gentlemen from the town had gathered on that occasion. One of the senior students put some questions and Shantisagar Maharaj was quietly and affectionately, as was usual with him explaining the points. The student could not either understand or was not convinced. So he persisted in getting further clarification. Another saint who was sitting by the side of Shantisagar Maharaj got angry; for, he must have felt that the student was either disrespectful or rude. He used some harsh language towards the student and asked him to sit down. The student was quite impulsive and questioned the authority of the other saint. This evoked angry remonstrations from some influencial members of the audience; they demanded the expulsion of the student. Shantisagar Maharaj advised everybody to cool down and nothing else happened that day.

The next morning at 10 a. m. or so, we received the news that Shantisagar Maharaj had undertaken a fast for two days. It was obviously to atone for the conduct of others. I felt very sad then, but further deliberation chastened me. What a great penance it is to fast for the conduct of others ? The whole event is still fresh in my mind and its profound effect on me is as firm as it was then.

I wondered then and wonder even now what unimaginable heights the purity of his soul must have scaled. His was a generous heart that knew no anger or ill-will towards anybody. It was one of gracious pardon for all and of self-immolation to oneself. This deepened my reverence for the Maharaj. This event has been for me a tangible illustration of the axiom, **'To err is human, to forgive is devine.'** To a youth of my mental make-up, it was the noblest lesson on purification of minds and hearts of others. How true it is that example is better than precept.

For about fifteen years thereafter, there was no event of importance that had any influence on my mind. I used to read about Shantisagar Maharaj and hear about him from others.

The year 1944 proved to be most eventful. I was then working as Chairman of the Debt Adjustment Board at Pandharpur. To my great consternation, I was informed by a friend that a criminal case was then pending in the Court of the First Class Magistrate at Pandharpur against Shantisagar Maharaj. It was in connection with some rioting that had taken place at Natepute when Shantisagar Maharaj had visited that place. A private person had filed a complaint against six or seven persons including the Maharaj. By the time I was posted to Pandharpur, all other persons had been discharged. The summons could not be served on the Maharaj. He was moving in between the Princely States of Sangli, Miraj and Budhagaon. The devotees, I was told, used to have the summons returned with some endorsement of non-service. I could imagine then that Shantisagar Maharaj must have had many pangs due to his movements being fettered for fear of Court Case. Except one or two local men, none seemed to be worried about the case. I felt that as a man of law, it was my duty to consider what was the law on the point at issue and how I could secure him his freedom. The complainant was not interested in prosecuting the saint. He had lost all interest after the discharge of other accused. He was not taking steps to furnish the correct address of the saint. Under the circumstances, the question was whether a complaint could be dismissed for default of the complainant. I found some decisions in support of the proposition and had them placed before the Magistrate through a lawyer. The complaint was dismissed for non-prosecution. The news was conveyed to the saint, who, I was told, felt extreemly happy aud blessed me for my humble work. He started immediately for Kunthalagiri. The route lay through Pandharpur.

He was to arrive at Pandharpur one evening. I went with the local gentry to receive him at a distance of two or three miles from the town. On seeing me, Shantisagar Maharaj blessed me with a joyful smile. I fell at his feet and he spoke to me in endearing terms. What he said to me, " I am happy to see you. Our people should become educated and get into high offices. **There should be young men like you who hold**

positions of power and yet have love for religion. It is people with faith in their religion that can protect it and serve its cause." I felt extremely flattered by his words of praise or appreciation. I submitted that it was all his grace and my good fortune to have had the chance of using my knowledge of law for a noble cause. My faith in religion grew stronger. My contact with Shantisagar Maharaj became more intimate; others who came to know about these matters developed an unexpected respect for me. The result of it all was that there grew in me a higher sense of moral responsibility to justify their expectations by opposite thoughts and conduct. I acquired or attempted to acquire greater understanding of the principles of Jain philosophy and culture.

During the period of stay of Shantisagar Maharaj at Kunthalagiri, I visited that place of pilgrimage three or four times. Each time I stayed for a couple of days. I found that the Maharaj was a person of great vision; he knew the weaknesses of human nature and the limitations of ordinary men and women. He would expound the principles of religion in simple and understandable language. He exemplified by his own conduct all that he preached to others. He would not put people into embarrassing situations. He would never press people to take vows. If anybody went to him with a request for administration of some vow, he would caution him or her and test his or her mental capacity to keep it up. My wife prayed to the Maharaj to give her the vow of **Ahosha** (not eating after sunset). He cautioned her and told her that I was going to be ' a big man ' and that she might not find it possible to keep up the vow. My wife submitted that she would keep up the vow whatever positions I might reach. She was given the vow and she has kept it up both in letter and spirit. His utterance was prophetic and I rose to the highest position in the Judiciary. My wife's practice of the vow has naturally compelled all of us in the family to take food before sun-set whenever I am at the head-quarters.

After spending four months at Kunthalagiri, Acharya Shantisagar Maharaj came to Modnimb and spent a few days there. Just then, I received an order of transfer to Belgaum. At the desire of Shantisagar Maharaj the Jains at Modnimb arranged to present me an address in a silver casket. Even the address was got printed and a casket was purchased. According to Government Servants' Conduct Rules, I could

not accept the address without the permission of Government. I explained to him what the rules were. I told him that I would be happy with his blessings and I needed no address. He understood the delicacy of the situation. He said that if acceptance of the address meant some trouble to me, he would ask the people to drop the idea and that a simple farewell meeting would suffice. Accordingly a meeting was held and I received his blessings. He advised me that **if I conducted myself according to the principles of religion, religion would protect me and save me from all troubles. 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'** His words inspired me with enthusiasm for a code of righteous conduct, consistent with principle of Ahimsa. His blessings and advice contained all the religion that I needed to know in my social conduct and discharge of my official responsibility.

After this fruitful year (1944), I had few occasions of having the Darshan of the Maharaj. I once called on him at Phaltan. When I was in Bombay as Special Officer in the Political and Services Department, he had sent some leaders to take my advice on the temple entry by the Harijans. At Phaltan, I was profoundly impressed by the singularly novel service rendered by him to the Jain Sidhants by getting the scriptures engraved on copper plates for being preserved to posterity. These copper plates stand out as monuments of his vision and foresight as much as of the universal and eternal validity of the principles they embody.

Barring a few visits of casual nature, the last Darshan of the Maharaj, was at Baramati in March or April 1955. I was then District and Sessions Judge at Satara. He was then camping in a garden away from the town. I had a quiet discussion with him. He asked me about my daily puja and study of religious scriptures. **He told me that mere puja and repetition of Namokara Mantra would be of no use unless they were followed by quiet meditation on the nature of the self and its contact with Karma, besides making conscious efforts for liberation from the bondage of Karma.** The short discourse was a great enlightenment to me. It was a sermon on Jain philosophy and the practice of it by a devoted house-holder.

When I parted the next morning, little did I dream that it was to be my last **Darshan** of him. It was an irony of fate that when he took

the vow of Sallekhana (सल्लेखना) at Kunthalagiri prior to his Niryana, I was lying seriously ill at Karwar. My mind was yearning for his last **Darshan** but my bodily ailment was too serious to permit a long journey.

Looking back over the last forty-five years, I have realised how this great saint of ours brought new light into my life and through me into my family and **showed us the way to a meaningful life of piety and brotherhood.**

I am glad that I have this opportunity of declaring this Shantisagar Maharaj Pravachan Mandir open. It stands as a monument for one who showed the way to purity of life to millions in the country. **His was a life that was an embodiment of the three jewels of Jainism. He showed both by precept and example that self-knowledge, self-reverence and self-control shall alone lead man to sovereign power, paving the way for self-realization.**

Most of us do not think of religion seriously. ‘ We say that we have no time for it.’ What a great blunder we are committing ? **Religion is within us and with us.** We must open our eyes and our heart and see how affectionately it becons us to a life of peace and happiness. We all need religion because we want to be good citizens, affectionate members of the family and loving neighbours in our village or town. All that is required of us, is that, we should snatch a few moments of the day or night and **think how blessed we are for inheriting a philosophy that lifts us up with least exertion only if we have the will to be guided by it.**

May this Pravachan Mandir remind us of the great religious tenets that Shri **Shantisagar Maharaj** preached and practised in his life and kept the torch burning in order that others might light their humble lamps to drive away the darkness from their own nooks and corners. May the sages will expound the principles of this universal religion from the platform of this Mandir wake us and the generations to come, to a life **which shall be guided by the united flood-light of the three jewels; right faith, right knowledge and right conduct.**

May I thank the Organizers for the opportunity afforded to me to pay my humble tribute to the great saint and you, ladies and gentlemen, for your patient hearing ?

हिन्दी-विभाग

मेरी स्मृतिकुञ्ज में

जगमोहनलाल शास्त्री, कटनी

इस युग के महान् संत श्री ९०८ आचार्य शान्तिसागरजी के पुण्य जीवन की कुछ घडियां इस व्यक्ति के जीवन के साथ भी सम्बन्ध रखती है। इस प्रकरण में उन्हीं घटनाओं के कुछ उल्लेख निम्न प्रकार है।

सन १९२६ में आचार्य श्री ने परमपूज्य सम्मेदशिखर तीर्थराज की यात्रा की थी। यह यात्रा श्री संघपति घासीलाल पूनमचन्दजी मुंबईवालों द्वारा निकाले गए श्रावक संघ के साथ उनकी प्रार्थना पर आचार्य संघ ने की थी। हजारो श्रावकों के उस पैदल संघ के साथ संयमी मुनिराज ३ थे, ६ क्षुल्लक ऐलक थे।

उस समय 'जातिप्रबोध' नामक पत्र में संघ के विरुद्ध आलोचनात्मक लेख निकले थे। उन्हें पढकर मुझे भी ऐसा लगा की मुनि संघ कि क्रियाएँ आगमानुकूल नहीं हैं। यात्रार्थ रेलमार्ग से मैं भी शिखरजी गया था कारण यह की संघपति महोदय की ओर से उस समय पंच–कल्याणक प्रतिष्ठा बडे समारोह से हो रही थी, लाखो जैन बन्धु वहां पहुंच रहे थे। उस आनन्द का लोभ संवरण मैं भी न कर सका।

विशाल पंडाल था जिस में ५० हजार आदमी एक साथ बैठ सके। मुनि संघ के साधुगण बीच में स्थान स्थान पर खडे होकर उपदेश देते थे। लाउड स्पीकरों का उस समय प्रचलन नहीं था। लाखो व्यक्ति लाभ उठा रहे थे। पर इस नगण्य के मानस पटल पर "जातिप्रबोधक" की पंक्तियाँ नाच रही थीं। एक सप्ताह से अधिक समय तक वहां रहने पर भी मैं अपने विपरीत परिणाम के फलस्वरूप न तो संघ की वन्दना कर सका और न उपदेश का लाभ ले सका। उस पंडाल के आसपास तमाशबीन हो कर समवशरण के आसपास फिरने वाले ३६३ कुवादी मिथ्या दृष्टियों की तरह चक्कर लगाता रहा।

घर लौटने पर कुछ महिनों बाद समाचार मिला कि मुनिसंघ व श्रावक संघ इलाहाबाद आ चुका है। चातुर्मास के लिए समय थोडा शेष था। इलाहाबाद में कानपुर–लखनउ–आगरा–देहली–बनारस से जैन समाज के प्रमुख सज्जन उस समय महाराज श्री से अपने२ नगरों में चातुर्मास करने की प्रार्थना कर रहे थे। कटनी के स्व. श्री हुकमचंदजी भी दैववशात् वहां किसी अन्य कार्य से पहुंच गए थे। सबको

देख उन्हों ने भी कह डाला कि महाराज चातुर्मास कटनी करे। वे जानते थे कि इतने २ बडे लोगों की प्रार्थना के आगे हमारे अकेले की बात कौन सुनेगा। पर कहने में क्या हानि है ?

आचार्य श्री के निर्णय की बडी आशा और उत्सुकता से लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने चातुर्मास के लिए बचे दिनों की और स्थानों के माईलेज की गणना की। कुछ स्थान पास थे और कुछ अत्यधिक दूर, अतः उन्होंने कटनी के चातुर्मास की घोषणा कर दी।

स्व. भाई हुकमचंदजी बहुत घबडाये और हर्षित भी हुए। वे सोचने लगे की इतने बडे समुदाय की प्रार्थनाएँ बेकार हुईं। और हमारी प्रार्थना जिसका कोई दूसरा समर्थक भी साथ नहीं था स्वीकृत हुई इस बात का तो परमहर्ष था। पर हमने न तो अभी अपने नगर की पंचायत से अनुमति ली और अबतक यहां कोई चर्चा है। अचानक यह चर्चा पंचायत के सामने रखने पर न जाने पंचायत इन आगामी ५ माह के (लोंदमास था) चातुर्मास में होनेवाले संघ के व्ययभार तथा स्थानादि की व्यवस्था का भार सम्हालने की बात अपनी असमर्थता को देखते हुए स्वीकार करेगी या नहीं। उस समय क्या होगा ?

वे शीघ्र कटनी आए। पंचायत हुयी। पंचायत ने तो अपनी असामर्थ्य देखकर तथा मेरे द्वारा किए गए अश्रद्धामूलक विरोध को पाकर तार द्वारा अस्वीकृति संघपति को इलाहाबाद भेजी। तार जवाबी था, पर उत्तर न आया। पत्र भी दिया पर जबाब न आया। दुबारा जवाबी तार दिया, उत्तर न आया। तब पंचायत ने २ व्यक्ति इलाहाबाद भेज कर इस आमंत्रण को लौटाने का निर्णय किया।

भाग्य से यह कार्य मुझे तथा मेरे साथ पं. गुलजारीलालजी को सौंपा गया। हम दोनों इलाहाबाद पहुंचे। धर्मशाला में पहुंचते ही सामान रख नहीं पाए कुछ आदमियों ने हमारा परिचय पूछा। जब उन्हें बताया गया कि हम दोनों कटनी से आए तो लोगों ने हम दोनों को उचंगा उठा लिया और कहने लगे धन्य भाग्य हैं आप लोगों के। आप संघ को लेने को पधारे हैं। भाई क्यों न हो भाग्यवान जीव ही तो यह लाभ पा सकते थे। हम लोग तो भाग्यहीन हैं इत्यादि इत्यादि। हम हतप्रभ हो गए। ये क्या कह रहे हैं और हम क्या कार्यक्रम लेकर आए हैं। इनके सन्मुख अपना अभिप्राय क्या कहें। मालुम हुआ कल संघ कटनी तरफ के मार्ग की ओर रवाना हो चुका है और ८ मील पर ठहरा हुआ है, वहाँ आहार है।

स्नानादि कर देवदर्शन कर श्रावकों द्वारा कराए गए नास्ता कर हम श्रावकों सहित मोटर से उस स्थान पहुंचे जहां संघ ठहरा था। पहुंचने पर देखा साधुसंघ आहार को निकल पडा है। सब आहार देखते रहे, हम दोनों इस विपत्ति से छुटकारा पाने की योजना बनाते रहे। आहार की समाप्ति पर संघ अपने स्थान गया। हजारों श्रावक उनके साथ उस पंडाल तक गए। हम दोनों आग्रह किए जानेपर भी उन श्रावकों के साथ नहीं गए।

हम संघपति के डेरे गए। उन्होंने परिचय पाकर अत्यंत स्वागत किया। भोजन का आग्रह किया। भोजन तो करना था। अतः उसे स्वीकृत करके भी पहिले निमंत्रण लौटाने की बात करना थी। एकान्त में बात करने की प्रार्थना की और एकान्त हो गया। बडे २ झूठे बहाने किए ताकि संघ लौट जाय और इज्जत भी हमारी रह जाय। पर संघपति के तर्कपूर्ण व भक्तिमूलक उत्तरों के सामने हमारी न चली। तारों व

पत्रों के जबाब न मिलने की शिकायत की तो उत्तर मिला कि हम लोगोंने समझा कि नगर में कोई विरोधी की यह करामात के पंचायत के नाम से तार दे दिया होगा। अतः उपेक्षा कर इस तरफ संघ ने प्रयाण किया।

हमें स्पष्ट शब्दों में विरोध प्रकट करने सिवाय कोई मार्ग नहीं रह गया। मेरे विरोध की स्पष्टता को आंकते हुए संघपतिजी को घोर आश्चर्य हुआ, वे अवाक् हो गये। उन्हें ऐसी आशा न थी। सम्हल कर थोडी दर बाद बोले कि अब संघ चल चुका है पीछे न जायगा। आपका निमंत्रण लौटा लिया गया संघ का चातुर्मास मार्ग में कहीं किसी अन्य नगर में हो जायगा। मैंने कहा कि हमारे प्रांत में यह संयम नहीं है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि जंगल में टीन के टपरे डाल कर हम चातुर्मास कर लेंगे पर संघ अब वापिस न जायगा।

हम हतप्रभ हो कटनी लौट आए। पंचायत में उक्त समस्या रखी। पंचायत ने भी आनेवाली इस अप्रत्याशित घटना के मुकाबिले की तयारी की। चंदा हुवा। स्थानों की व्यवस्था बनाई गई। इस प्रदेश में प्रथम चातुर्मास था। संघपति का लवाजमा बडा था, पांच मास में आने जानेवाले श्रावकों की संख्या भी १०–२० हजार होगी, यह सब विचार कर व्यवस्था करना शक्ति के बाहिर दीखा। पर अब उपाय क्या ? वह तो करना ही पडेगा। किया गया। सारा नगर कार्यव्यस्त हो गया, उमंगे बढने लगी। पर मुझ भाग्यहीन का चित्त उदास था।

सोचा खुफिया तौरपर संघ के साथ १ सप्ताह रहकर उनकी गतिविधि देखी जाय और फिर समाज के सामने उनकी यथार्थ स्थिति रखी जाय तो समाज इस काम से विरत होगी। घरसे चुपचाप चल दिया। मार्ग से रींवा के आगे जाकर संघ के साथ हो लिए। भाग्य से संघपति मुंबई चले गए थे। अतः पहिचाननेवाला संघ में कोई न था।

मुनिसंघ की चर्या देखने तथा गुणदोष परखने का ही प्रमुख काम था। जैसे जैसे दोषों की खोज करता था वहाँ वैसे वैसे गुण नजर आते थे। १ सप्ताह में जब पूरा विश्वास हो गया कि अखबारों के आधार पर हमने अपनी धारणाएँ गलत बनाई थीं, संघ तो परम निर्दोष है तब एक दिन वंदना की। इसके पूर्व कभी उनकी वंदना नहीं की थी। और रेलमार्ग पकड घर लौट आया। लोग आश्चर्यान्वित थे कि ये कहाँ चले गए थे। सबका आश्चर्य दूर हुआ और सब आनंद विभोर हो गए जब मैंने अपनी इस खुफियाँ यात्रा का विवरण सुनाया और यह बताया कि संघ के सभी साधु उत्कृष्ट चारित्रवाले अनुपम तपस्वी हैं।

उत्साह की लहर भर गई और बडे समारोह पूर्वक संघ का स्वागत हुआ तथा अभूतपूर्व चातुर्मास हुआ कि लोग आज भी उसका पुण्यस्मरण करते नहीं अधाते।

हजारों यात्रियों का प्रतिदिन आगमन भक्ति–श्रद्धा–पूजन-धर्मोपदेश, आहार, दर्शन–आदि सभी धार्मिक प्रक्रियाएँ बडे उल्हास के साथ सम्पन्न हो रही थीं। चातुर्मास ५॥ माहका हुआ। कब समय निकल गया पता नहीं।

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी, स्व. सरसेठ हुकमचंदजी, बैरिस्टर चंपतरायजी आदि प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् व धीमान् इस मध्यकाल में कटनी पधारे।

कितने उत्साह में, कितने उल्लास में कितनी धार्मिक भावना व उसके पुण्य वातावरण में यह चातुर्मास पूर्ण हुआ वह अभूतपूर्व आनंद लेखनी से बाहिर था।

इसी चातुर्मास के पुण्यावसर पर इस अधम की विपरीत धारणाएँ समाप्त हुई। घोर विरोध के भाव रहने पर, विपरीतता भेजने पर भी उत्तम होनहार पूर्ण सौभाग्य अलग किलकिला रहा था, और वह सामने आया। इन दिनों संघ के सान्निध्य में उत्तम स्वाध्याय हुआ, ज्ञान प्रगति के साथ आचार्य श्री ने मुझे व्रत देकर पवित्र किया और मेरा जीवन सफल हो गया।

उखट वृक्ष फला फूला

कटनी चातुर्मास में एक दिन एक धर्मात्मा श्रावक सेतूलालजी के घर जिनका घर छात्रावास के सामने ही है महाराजजी का आहार हुआ। पश्चात घर में स्थान की कमी से वे छात्रावास के प्राङ्गण में एक उखटे हुए आम वृक्ष के नीचे महाराज को चौकी पर बैठा कर उनका पूजन करने लगे।

मैंने देखा तो उन पर व्यंग किया कि लालाजी आप बडे धर्मात्मा है, पंचाश्चर्य होंगे। लालाजी बोले हमारी भक्ति यदि सच्ची होगी तो उनके होने में आश्चर्य नहीं।

छह माह बाद जब वैशाख मास आया तो लोग यह देख कर हैरान थे कि उस वृक्ष की जो सूख गया था एक शाखा जिसके नीचे महाराज श्री की पूजा की थी मात्र वह हरीभरी फूली और फली है, शेष वृक्ष सूख गया है। और उसी साल फिर वह गिर गया।

यह एक अतिशय था जो मेरे व्यंग का करारा उत्तर था।

चातुर्मास की विदाई पर ५००० जनता का समूह एकत्रित था। जैनेतर भाई भी बडी संख्या में थे, सब चातुर्मास से बहुत आनंदित थे, अतः विदाई के समय सभी नरनारियों के आंखों में आंसुओं की धार थी—केवल निर्मल नेत्र में तो आचार्य श्री के वहां विमलता और वीतरागता झलक रही थी। ऐसे दुःखद वातावरण में अपने को निश्चल रखना भी महापुरुषों का कार्य है, सामान्य जन का नहीं।

छोटे मोटे और भी अनेक तथ्यपूर्ण अतिशय देखने में आए पर हम उन सब का यहाँ उल्लेख नहीं करना चाहते। इसका कारण यह है कि इस युग के नरनारी अतिशयों पर घोर अविश्वास करते हैं अतः उनकी चर्चा न करना ही श्रेयस्कर है। संघ जबलपुर की ओर रवाना हुआ। मार्ग में सेवा करने का मुझे भी अवसर प्राप्त हुआ।

ललितपुर चातुर्मास में

आचार्य श्री ने सं. १९८६ में ललितपुर चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में सिंह निष्क्रीडित व्रत की आराधना की। मैं सपरिवार ललितपुर गया उस समय महाराज के ८ उपवास थे तथा पारणाबाद ९ उपवास

उन्हें लेना थे। मध्य पारणा के समय मेरे सौभाग्य से वे मेरे द्वारा ही पडिगाहे गए। उस समय महाराज श्री ने समस्त रसों का तथा समस्त सचित्त फलादि का भी त्याग कर रखा था। केवल बिना नमक उबली डाल और रोटी रुखी ये दो चीजें ही आहार में लेकर वे पारणा करेंगे, पश्चात ९ उपवास लेंगे इस स्थिति में कहीं कुछ अन्तराय आ जाय तो क्या होगा? इस शंका के मन में उठते ही मेरा शरीर पसीना२ होगया, मुझे चक्कर सा आने लगा, मैं आहार न दे सका। मेरी दुरवस्था का मानकर मेरी पत्नी ने साहस दिया और फलटण के वकील साहब तलकचंद शाह को उन्हें बुलाकर उनका सहयोग लेकर महाराज को निरंतराय आहार दिए। अन्त में खडा होकर २-३ ग्लास जल मैंने भी दिया।

सर्व रसत्याग तप

ललितपुर में एक सज्जन ने आचार्य श्री से चातुर्मास के प्रारंभ के प्रथम या द्वितीय सप्ताह में एक दिन यह आलोचना की कि महाराज यह प्रान्त तो गरीबों का है, और महाराजों की आहारों में अनार, मोसम्मी आदि फलोंका बडा भारी खर्च है। इस प्रदेश में ये सब दिल्ली से मंगाये जाते हैं।

महाराज श्री ने उसी समय समस्त साधु संघ को बुलाया और उक्त परिस्थिति को अवगत कराया तथा आदेश दिया की चातुर्मास में कोई साधु फलादि ग्रहण न करे साथ ही अन्य रसों में जो त्याग जिससे बने वह अवश्य त्याग करे। मै स्वयं फलादि त्याग के साथ सर्व रसों का त्याग करता हूँ। आदेशानुसार सभी संघ ने फलादिका चातुर्मास में सर्वथा त्याग किया तथा यथा योग्य अन्य रसों का भी त्याग किया। कोई किसी प्रकार की आलोचना करे, पर आचार्य श्री उसकी यथार्थता पर दृष्टि रखकर उसका लाभ उठाते थे। उसे बुरे रूपमें उन्होंने कभी ग्रहण नहीं किया।

बैरिस्टर चंपतरायजी

दिवंगत श्री बैरिस्टर चम्पतरायजी भी उस समय ललितपुर पधारे। वे निकट भविष्य में धर्म प्रचार हेतु इंग्लेंड जानेवाले थे। उस समय हवाई यात्राएँ नहीं थी। जल जहाजों से जाया जाता था। बैरिस्टर सा० को धर्म प्रचार की बडी लगन थी। वे अपने पवित्र आचार विचार की सुरक्षा के लिये अपना रसोईया साथ ले जाते थे। स्वयं के खर्च पर विदेशों में धर्म प्रचार करते थे। कभी किसी व्यक्ति या संस्था से उन्होंने आवागमन का खर्च भी नहीं लिया।

आचार्यश्री के दर्शनार्थ वे पधारे थे। वे कहते थे कि इतनी दूर की यात्रा है। जीवन का भरोसा नहीं अतः मेरा इरादा है कि यहाँ आचार्य संघ के तथा जबलपुर में चतुर्मास कर रहे श्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी के पुण्य दर्शन कर बाद वहीं से इंग्लैंड चला जाऊं।

स्थिति ऐसी होनेपर भी कुछ लोग उनके विरुद्ध आचार्य संघ में मिथ्या भ्रांत धारणाएं फैलाते थे। उस समय भी यही हुआ।

बैरिस्टर सा० को प्रायश्चित्त शास्त्र के अध्ययन पर २२ प्रश्न थे जिसका समाधान वे पहिले जैन विद्वानों से कर चुके थे तथा ७१८ प्रश्न ऐसे थे जिनका समाधान उन्हें प्राप्त न हो सका था। वे चाहते थे इन प्रश्नों को आचार्यश्री के पास रखा जाय और उनका समाधान प्राप्त किया जाय।

उन्हों ने मुझ से इस संबंध में सहायता देने की बात कही। वे चाहते थे कि मैं पहिले उनके संबंध की भ्रान्त धारणा मिटाकर अनुकूल वातावरण बना दूं ताकि महाराजश्री से उन्हें अवश्य उत्तर अपने प्रश्नों का मिल जाय।

मैं पहिले आचार्य महाराज के पास गया तो बाहिर से ही सुना कि एक ब्रह्मचारी बैरिस्टर सा० की गलत आलोचना कर आचार्यश्री को उनके संबंध में भ्रांति उत्पन्न कर रहा है। मेरा माथा ठनका। थोडा रुककर जब ब्रह्मचारिजी चले गये मैं पहुंचा और मैंने निवेदन किया की बैरिस्टर सा० आपके दर्शन को आए हैं और उनकी कुछ जिज्ञासाएँ हैं जो वे शिष्य भाव से पूछना चाहते हैं। आचार्यश्री ने कहा कि वे विलायत सैर करने जा रहे हैं वहां मांसाहारी होटलों में भोजन करते हैं। मुंबई में भी होटलों में ऐसा करते देखे गये। उन्हें धर्म के प्रति आस्था नहीं तो वे यहां क्यों आये हैं ? कुछ समाज से खर्च हेतु चंदा जमा करने आये होंगे ?

महाराज के उक्त कथन से मैं समझ गया कि उन्हें ये बातें बताई ही गई हैं। मेरे द्वारा उक्त बातों का खण्डन कर जब यथार्थ स्थिति बताई गई तब उन्हें आश्चर्य हुआ। उनका समाधान हुआ। उन्होंने ब्रह्मचारी को बुलाया और मेरा सामना कराया। ब्रह्मचारीजी सटपटाने लगे और बोले मैंने ऐसा सुना था।

आचार्य श्री कडक कर बोले अभी आपने कहा था कि मुंबई में हमने उन्हें मांसाहारी होटलों में खाते देखा है अब कहते हो सुना है। गुरु के सामने मिथ्या भाषण कर पराई झूठी निंदा करते हो। क्या तुम मुंबई में उस होटल में गए थे ? यदि गए थे तो तुम क्या करने गए थे ? ब्रह्मचारीजी कुछ उत्तर न दे सके।

आचार्य श्री ने ब्रह्मचारी को मिथ्या भाषण व मिथ्या प्रवाद के लिए प्रायश्चित्त दिया। अब वातावरण सही था। मैंने बैरिस्टर सा० से चलने का आग्रह किया। वे गए सभी साधुओं की वन्दना करते हुए आचार्य श्री के पास गए। वन्दना के पश्चात् अपने प्रश्न रखे।

आचार्य श्री द्वारा यह कहने पर कि प्रायश्चित ग्रन्थ तो गृहस्थ के स्वाध्याय के नहीं है। अतः आप इतना समाधान करके क्या करोगे ? बैरिस्टर सा० ने महाराजश्री की बात स्वीकार की तथा निवेदन किया कि कालदोष से आजकल गुरुओं का अभाव है तब ग्रंथ रखे जीर्ण होंगे, कोई स्वाध्यायवाला नहीं रहेगा तो उनका प्रचार प्रसार रुक जायगा।

महाराज ने उनकी बात मान ली और प्रश्नोंका यथोचित समाधान किया। कुछ आगम प्रमाण से कुछ गुरु परंपरा से प्राप्त पद्धति से। बैरिस्टर सा० बहुत प्रसन्न मुद्रा से वहां से निकले और जबलपुर को चले गए। वहां भी श्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी के पुण्य दर्शन कर वहांसे मुंबई जाकर इंगलेंड चले गए।

देहली चातुर्मास

सम्भवतः विक्रम सं. १९८८ में देहली में आचार्य संघ का चातुर्मास था। मुझे भी देहली जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं एक दिन दोपहर में आचार्य श्री के पास बैठा चर्चा कर रहा था। ४०-५० आदमी उपस्थित थे।

महाराज ने लघुशंका को जाने की इच्छासे कमंडलु उठाया और ज्योंही बाहिर दरवाजा के निकले त्यों ही १०-१५ आदमी दौड कर साथ हो गए। मैंने उनमें से २-१ को रोका कि आप साथ क्यों जारहे हैं ? वे तो लघुशंका से निवृत्त होकर अभी आ रहे हैं, वे सज्जन बोले, क्या हुवा ? साथ तो जाना ही चाहिये।

मैंने कहा बैठिये, जाने की जरूरत क्या है ? वे मेरा हाथ झटक कर बोले तुम क्या समझे जाना जरूरी है। मुझे उत्तर से संतोष न हुआ तो एक अन्य सज्जन से मालुम किया तो यह जानकारी मिली कि इस नगर में नग्न साधुओं के विहार की आज्ञा सरकार से नहीं मिली, तब जैनी भाईयों की ओर से प्रार्थना करने पर कलेक्टरने कहा कि वे वस्त्र लपेटकर ही बाहीर निकल सकते हैं। जब जैन भाईयों ने इसे असंभव कार्य बताया तब यह दोनों पक्षोंमें तय हुआ की आप दस आदमी उनको घेरकर ही गमनागमन करें ताकि उनकी नग्नता का प्रदर्शन अन्य लोगों को न हो।

जैनियों ने इसे स्वीकार कर लिया था अतः उसे पालते हुए ही हम बाहर महाराज के साथ सदा १० व्यक्ति रहते हैं। मुझे आश्चर्य था कि ऐसी शर्त के साथ चातुर्मास आचार्य महाराज ने कैसी स्वीकार किया।

मैंने एकान्त में उनसे चर्चा की, तो यह ज्ञात हुआ कि उन्हें इस गोप्य वार्ता की अभी तक कोई जानकारी नहीं है, मेरे मुहसे हो वे आज यह जान रहे हैं।

दूसरे दिन प्रभात उन्होंने घोषणा की कि हम धीरज पहाडी के श्री जिन मंदिर के दर्शन को जायंगे और हमारे साथ मार्गदर्शक केवल १ व्यक्ति ही जा सकेगा आप लोग नहीं। लोग घबडाए। नियम विरुद्ध विहार पर कलेक्टर जैनियों पर आपत्ति लावेंगे। सब कुछ कहने पर श्री आचार्य श्री बोले जैन दि. साधु को अपने विहार में किसी की आज्ञा नहीं चाहिये। आप निश्चिंत रहे। कलेक्टर आपत्ति करे तो आप कह दे कि हमारे कहने भी साधु इस प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। परिणाम हम देखेंगे। प्रातः महाराज १ व्यक्ति को साथ लेकर दर्शनार्थ गए। लौटते वक्त चौराहे पर एक पुलीसमेन ने उन्हें रोका। महाराज खडे होगए।

पुलिसमेन बोले, आप नग्न रूप में आगे नहीं जा सकते।

महाराजश्री—तो पीछे जाऊ ?

पुलिसमेन—नहीं, आप पीछे भी नहीं जा सकते।

महाराजश्री—फिर किधर जाऊं ?

पुलिसमेन—आप किधर भी नहीं जा सकते।

आचार्य श्री बीच सडक में खडे थे वही बैठ गए।

पुलिसमेन—आप यहाँ क्यों बैठे ?

आचार्यश्री—तो मैं क्या करू ? आप बताइए।

पुलिसमेन भौंचक्कार रह गया, क्या उत्तर दे ?

उसने आफिस फोन किया, आफिस ने कलेक्टर को फोन किया चौराहे पर हजारों की भीड थी। कलेक्टर ने आदेश दिया कि साधु को रोको मत जहाँ जाना चाहे चले जाने दो।

पुलिसमेन ने उन से यथेच्छ विहार की प्रार्थना की और महाराज अपने नियत स्थान पर आगए।

अब तो वे प्रति दिन शहर में जाते, एक जैन फोटो ग्राफर साथ रखते–जामामसजिद, लालकिला, सरकारी भवन, वायसराय भवन, असेंब्ली भवन आदि उन सभी स्थानों के सामने खडे होकर अपना फोटो लिवाया।

सामान्य अनभिज्ञ जनता में चर्चा उठी, महाराज को फोटो खींचवाने का बडा शौक है। नगर की बडी २ बिल्डींग के सामने फोटो खिंचाई है। यह जनवाद उनके कानों तक पहुँची। दोपहर के व्याख्यान में उन्होंने इसका स्पष्टीकरण दिया।

महाराज बोले, मेरे सुनने में आया है की महाराज को फोटो का बडा शौक है। भाई इस अर्द्ध दग्ध असंस्कारित जर्जर शरीर का क्या फोटो और गृहरहित तपस्वी वे चित्र कही टांगेगा ? क्या गले में लटकावेगा ? आप को यह प्रश्न है।

मेरा अभिप्राय फोटो उतरामे का यह है कि मुनि विहार सर्वत्र निर्बंध हो। यह प्रमाण आपकी भावी पीढी रखे कि देहली का कोई मंदिर–मसजिद–सरकारी भवन ऐसा नहीं बचा जहाँ जैन साधु का विहार न हुआ हो।

महाराज कितने दीर्घदर्शी और निर्भय तथा निश्चल थे उसका यह ज्वलंत प्रमाण था। पता नहीं हमारी वैश्य समाज की महलों में वे चित्र आज है या नहीं।

आचार्य श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती
श्री शांतिसागरजी के पुण्य दर्शन

पं. ब्र. चंदाबाईजी, श्री जैनबाला विश्राम, आरा

सन १९२२ में जब कि यहाँ उत्तरदेश में श्री मुनिराजों का विहार नहीं होता था। दक्षिण में ही दर्शन होते थे। तब हम शेडवाळ गयी और श्री १०८ आचार्य श्री चारित्रचक्रवर्ती शांतिसागरजी महाराज के दर्शन किये। कुछ दिनों वहाँ रहकर धर्मलाभ लिया तब आचार्य श्री हिन्दी भलीभाँति नहीं बोल सकते थे। पश्चात् प्रत्येक चातुर्मास में आचार्य श्री के दर्शनों हम जाती थी। शेडवाल (दक्षिण), कटनी, दिल्ली, राजाखेडा, मथुरा, फलटन, कुम्भोज, उदयपुर (आयरग्राम) गजपंथा, शान्तिनाथ (प्रतापगढ) इन दस स्थानों के चातुर्मासों में आचार्य श्री के दर्शनों को करते हुए आहारदान देने का लाभ भी लिया।

भारतयात्रा का सुयोग

कुम्भोज (हाथकलंगडे) में आचार्य श्री का चातुर्मास हुवा तब हम भी वहाँ १५ दिन वही थी, तथा श्री शेठ घासीलालजी बंबई से अपने पुत्रों के साथ आये थे, तब आचार्य श्री को उत्तरदेश में लानेका प्रोग्राम बनाया गया। श्री सम्मेदशिखर पर सेठ साहब ने मंदिर बनवाना प्रारम्भ किया। आचार्य श्री बहुत कम बोलते थे। साथ में पुस्तकादि का संग्रह भी नगण्य ही रहता था। साथ में साधु समुदाय भी कम था।

एकबार आचार्य श्री अपनी दीक्षा के विषय में कहने लगे कि—"पहले दक्षिण में मुनिमहाराजादि मन्दिर में बैठे रहते थे और एक श्रावक कमण्डलु उठा कर चलता था, तब उसी के साथ मुनिमहाराज जाकर एक घर में आहार ले लेते थे। आचार्यश्री ने स्वाध्याय किया तब यह क्रिया उनको खटकी और उन्होंने कहा कि हम चर्या करके ही आहार लेंगे, जैसा कि शास्त्रोक्त विधान है। इस पर श्रावकों ने कहा कि इस काल में यह नहीं हो सकेगा। तब आचार्य श्री ४—६ दिनों तक आहारार्थ नहीं उठे। अगत्या कई घर के लोग प्रतिग्रह करने के लिए खडे हुए, तब आचार्य श्री ने आहार ग्रहण किया। तबसे अबतक वही मार्ग चला आ रहा है।

संकल्प में पूरी सावधानी

आचार्य श्री ने हरिजन आन्दोलन के समय अन्न आहार लेना त्याग दिया था। तब श्रावकों को चिन्ता हो गई। हम दिल्ली जाकर राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसादजी से मिले तथा अन्य राज्य के संचालकों और बम्बई जाकर श्री प्रधान शासक खेर साहब से मिले, किन्तु सफलता नहीं मिली। हरिजन मन्दिरों में जाकर प्रतिबिम्बों को छूने लगे इत्यादि होता ही रहा, तब अकलूज में मुकदमा दायर किया गया। सेठ गजराजजी गंगवाल कलकत्तावाले आरा आये और पटना से बैरिस्टर श्री. पी. आर. दास को बहस करने के

लिए ले गये। वहाँ उनकी बहस से मुकदमा सुलझ गया और जैन मन्दिरों में हरिजन न जायें यह तय हो गया। तब बारामती (पूना) में आचार्य श्री शान्तिसागरजी से कहा गया कि अन्नाहार ग्रहण करिये, किन्तु आपने अन्न नहीं लिया और कहा कि शायद अपील में हार हो जाये, तब तक अन्न नहीं लेना होगा। यह ज्ञात कर हमने सुबोधकुमार अपने (पौत्र) को पटना भेजा और बैरिस्टर दास से अपील को देखने को कहा। बैरिस्टरजी ने भलिभाँति अपील देखी और कहा कि इसमें कोई दम नहीं है, दूसरे पक्ष से अपील नहीं होगी और केस को उल्टा भी न जा सकेगा। जब यह निश्चय हो गया तब हमने बारामती (पूना) को तार दिया कि अपील खारिज ही समझें, मुकदमा नहीं हो सकता है। अतः सबों ने आचार्य श्री को पी. आर. दास बैरिस्टर की सम्मति सुनाई। हमारा तार भी सुनाया तभी अन्नाहार हुआ, धन्य भाग्य थे जो कि सफलता मिली।

व्रतों का दान परमकृपा हुई

श्री १०८ आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागरजी से सन १९३४ मित्ती कार्त्तिक सुदी पूर्णिमा को 'आयठग्राम' (उदयपूर) में हम को सप्तम प्रतिमा के व्रत लेने का अवसर प्राप्त हुआ था। नत मस्तक होकर आचार्य श्री के चरणों में शत शत नमन।

त्याग और त्यागियों के विषय में आचार्य श्री का मार्गदर्शन

धर्मदिवाकर पं. सुमेरचंद दिवाकर B.A.,LL.B. सिवनी (म. प्र.)

जैन धर्म में त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोक्षप्राप्ति के लिए त्याग धर्म का आश्रय अनिवार्य है। इस कारण समाज में विद्यमान परमपूज्य मुनिराज प्रत्येक व्यक्ति को उच्च त्याग का उपदेश दिया करते हैं। मैंने स्वयं अनेक मुनिराजों को अनेक मुनियों को सर्व साधारण के लिए आग्रह पूर्वक मुनि बनने के लिए उपदेश देते देखा है। जो व्यक्ति अष्ट मूलगुण धारण करने तक की पात्रताशून्य है उसे भी महाव्रती बनने का उपदेश दिया जाते देख आश्चर्य हुआ करता है। ऐसा उपदेश देते समय वे यह सोचने की कृपा नहीं करते कि यदि श्रावक ने शक्ति के बाहर अधिक आग्रहवश दिगंबर मुनि की दीक्षा ले ली और उस महान् पदवी प्रतिष्ठा के अनुरूप आचरण नहीं किया तो उस जीव की क्या गति होगी और जैनधर्म की कितनी क्षति होगी? मैंने अनेक मुनिदिक्षा का आग्रह करनेवाले साधुओं से तथा उनके आचार्यों से भी प्रार्थना की श्रावक की योग्यता को देखकर उसे व्रत दिया जाना चाहिए। आचार्य पद्मनन्दी ने अपनी पंचविंशतिका में "**गृहस्था मोक्षहेतवः।**" 'गृहस्थ भी मोक्ष के हेतु हैं' ऐसा कहा है। समन्तभद्र स्वामी ने मोहविहीन गृहस्थ का पद ऊंचा बताया है। उन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है। "मोही मुनि की अपेक्षा मोहरहित गृहस्थपद अच्छा है। ऐसा गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है।"

ऊंचा वेष धारण करने मात्र से कार्यसिद्धि कदापि नहीं होगी। इस संबंध में प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री शांतिसागर महाराजजी की कार्यपद्धति सब को सम्यक् प्रकाश प्रदान करती है। आचार्य महाराज व्यक्ति की शक्ति, पात्रता आदि को ध्यान में रखकर व्रत देते थे। मैंने अनेक बार देखा कि कई व्यक्ति ऊंचा व्रत मांगते थे किन्तु महाराज उस व्यक्ति की अल्प शक्ति देख उसे उसकी इच्छानुसार व्रत नहीं देते थे। व्रत देते समय महाराज बडी दूरदर्शिता से काम देते थे। इस संबंध में कुछ उदाहरण मार्गदर्शन करते है।

(१) बेंगलोर हाईकोर्ट न्यायाधीश श्री. **टी. के. तुक्कोळ** जो इस समय बंगलोर विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं, आचार्य महाराज के विषय में अपना अनुभव इस प्रकार दिया है 'वे व्रत लेने के लिए कभी भी लोगों पर दबाव नहीं डालते थे, यदि कोई व्यक्ति उनके पास जाकर व्रत देने के लिए प्रार्थना करता था तो वे उसे सावधान करने के साथ उस व्रत पालन करने की क्षमता की जाँच भी करते थे।' श्री तुकोळ ने लिखा है—"एक बार मेरी पत्नी ने महाराज से रात्रि भोजन न करने के व्रतदान हेतु प्रार्थना की। उस समय महाराज ने उसे सचेत करते हुआ कहा कि 'मैं एक बडा व्यक्ति अर्थात् उच्चाधिकारी बनूंगा और उस परिस्थिति में उसके लिए व्रत का पालन करना सम्भव न होगा। 'मेरी पत्नी ने विनय-पूर्वक कहा कि" वह पूर्णतया प्रतिज्ञा का पालन करेगी, भले ही मैं कैसे ही पद पर पहुंच जाऊं।" इसके पश्चात् महाराज ने मेरी पत्नी को व्रत दिया तथा उसने उसका पूर्णतया पालन किया।

(२) एकबार आचार्य महाराज के पास एक तरुण ने आकर जीवनभर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत के लिए प्रार्थना की। उस परिचित व्यक्ति के आग्रह पर मैंने कहा "महाराज, यह सज्जन व्यक्ति है, इस व्यक्ति को व्रत देकर कृतार्थ किजीए"। वह व्यक्ति मन वचन काय से ब्रह्मचर्य मांग रहा था। महाराज ने उस व्यक्ति को ध्यान से देखा, और केवल काय से ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत दिया। मैंने कहा 'महाराज वह व्यक्ति जब उच्च व्रत मांगता था तब आप ने उसे वह व्रत क्यों नही दिया?' महाराज ने कहा "उस जीव का भविष्य सोचकर हम व्रत देते हैं, कारण यदि उस ने व्रत का पूर्णतया पालन नहीं किया, तो वह दुर्गति में जाकर दुःख भोगेगा"।

(३) एक व्यक्ति महाराज के पास मुनिदीक्षा के लिए पहुंचे थे। महाराज ने उसकी अटपरी वृत्ति को देखकर शीघ्रही अपने पास से अन्यत्र जाने को कहा। आगे उस व्यक्ति ने बिना गुरु के मुनिमुद्रा धारण कर ली और आज वह आगम के विरुद्ध प्रवृत्ति करता हुआ धर्म का उपहास कर रहा है। उनका नाम लेना उचित नहीं लगता। वह आचार्य वाणी का तिरस्कार कर बडे बडे आचार्यों की भूल निकाल रहे हैं। स्वयं आचार्य महाराज का जीवन त्याग के विषय में मार्गदर्शक है। पहले वे ब्रह्मचारी बने, फिर क्षुल्लक हुए, पश्चात् ऐलक बने। इसके बाद वे मुनि बने थे। अपने ज्येष्ठ बंधु वर्धमानसागर महाराज को ब्रह्मचर्य व्रत देने के उपरांत उन्होंने उन्हें अनेक बार प्रार्थना करने पर बहुत सोचकर क्षुल्लक दीक्षा दी। अंत में जब वर्धमान महाराज ने बारबार विनय की, कि मनुष्य जन्म की श्रेष्ठ विभूति मुनि पदवी प्रदान कर मेरा जन्म कृतार्थ कीजिए तब बडी कठिनता से आचार्य श्री ने बारामती में उन्हें मुनिदीक्षा दी थी।

ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह स्पष्ट होता है कि महाराज व्रतदान के विषय में बहुत सावधानी रखते थे।

वर्तमान पूज्य साधुवर्ग से प्रार्थना है कि वे आचार्य शांतिसागर महाराज की दृष्टि को ध्यान में रखकर उससे लाभ लेंगे।

त्यागियों के विषय में उद्बोधन —एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था, कि यदि कोई मुनि आगम के आदेश को भूलकर स्वच्छन्द आचरण करे तो उस व्यक्ति के प्रति समाज को क्या करना चाहिए ?

महाराज ने कहा, 'चतुर व्यक्ति के द्वारा उस व्यक्ति को सन्मार्ग का दर्शन कराना चाहिए। उसके स्थितिकरण हेतु पूर्णतया उद्योग करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। मैंने पुनः पूछा, यदि वह व्यक्ति किसी की न सुने तथा आगम की भी परवाह न करे, तब ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ? क्या पत्रों में उसके विरुद्ध आंदोलन किया जाएं या नहीं ?' महाराज ने कहा, "यदि वह व्यक्ति नहीं सुनता है तो उसकी उपेक्षा करो। उसे आहार मात्र दो। उसके विरुद्ध पत्रों में लेख छापने से धर्म को क्षति पहुंचेगी। अपने धर्म के विरोधी लोग इसके द्वारा अपने धर्म की निंदा करेंगे। इससे अच्छे साधुओं के मार्ग में मिथ्यादृष्टियों के द्वारा बाधा भी आवेगी। इसलिए साधु की निंदा का लेख अथवा पत्रों द्वारा प्रचार करना अहितकारी है। जिस व्यक्ति की होनहार खराब होगी वह व्यक्ति कुमार्ग पर चलेगा। अपने कृत्य का वह फल पावेगा। उसका प्रचार कर धर्म को नुकसान पहुंचाना उचित नहीं।"

आशा है मुनिनिंदा के क्षेत्र में अग्रसर होनेवाले व्यक्ति आचार्य श्री के मार्गदर्शन द्वारा अपने कर्तव्य को पहिचानेंगे।

इस युग के आदर्श तपस्वी

पं. कैलासचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

कवलाना में आचार्यश्री का चातुर्मास था और हरिजन मन्दिर प्रवेश के विरोध में आचार्य महाराज ने अन्न का त्याग किया था। इससे समाज में बडी चिन्ता थी। फलतः एक बडा सम्मेलन बुलाया गया था। उसमें मैं भी सम्मिलित हुआ था। उस समय महाराज ने कहा था यदि आप लोगों में किन्ही बातों को लेकर परस्पर में मतभेद है तो रहो, किन्तु इस विषय में ऐकमत्य होना चाहिए। और मैंने महाराज के इस कथन का अनुमोदन किया था। वही उनका अन्तिम दर्शन था। फिर तो कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

जब उन्होंने आंखोमें मोतिया बिन्दु आ जाने के कारण समाधिपूर्वक मरण का निश्चय किया, जैन समाज में ही नहीं भारत भर में एक उत्सुकता और जिज्ञासा की लहरसी फैल गयी। वह एक आदर्श निर्णय था और उसका पालन भी उम्होंने आदर्श रूप में ही किया। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद् यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

सर्वज्ञ देव तप का फल समाधिमरण कहते हैं। इसलिये शक्तिभर समाधिमरण का प्रयत्न करना चाहिये।

आचार्य महाराज ने सर्वज्ञों के इस कथन को चरितार्थ कर दिखाया। जिस शान्ति से उन्होंने शरीर त्यागा वह उल्लेखनीय है। आज कल श्रावकों में अज्ञान का बाहुल्य है और भक्ति का अतिरेक है। अतः उनके बीच में रहनेवाला साधु यदि स्वयं सावधान न हो तो वह अपने चारित्र का पालन कर नहीं सकता। आचार्य महाराज इस स्थिति से परिचित थे और वे सदा सावधान रहते थे तथा विद्वानों को भी गलत कार्य करने पर फटकार देते थे। एकबार एक विद्वान ने एक फूल उनके चरणों के ऊपर चढा दिया। महाराज ने उन्हें इसके लिये फटकारा।

उनके उपदेश से जो एक शास्त्रोद्धार फण्ड स्थापित किया गया था उसमें आठ ग्रन्थ छपाकर मन्दिरों को वितीर्ण किये गये थे। उनमें रत्नकरंड श्रावकाचार की पं. सदासुखजीकृत भाषा टीका भी है। पं. सदासुखजी की टीका में ऐसी कई प्रवृत्तियों की आलोचना है जो दक्षिण भारत में प्रचलित है, जैसे पद्मावती पूजा, सचित्त पूजा, रात्रिपूजा आदि। आचार्य महाराज ने अवश्य ही उसकी स्वाध्याय की होगी और, उसे उपयोगी जानकर ही प्रकाशित करने का सुझाव दिया होगा। यह उनके वीतराग मार्ग के प्रति गहरी आस्था और विचारता का द्योतक है। हम उनके प्रति सादर नमन पूर्वक अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

वे त्याग और निस्पृहता का उत्कृष्ट उदाहरण थे

(संस्मरण)

डॉ. दरबारीलाल कोठिया
रीडर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

सन् १९५५ के अगस्त-सितम्बर की बात है। सिद्धक्षेत्र श्री कुंथलगिरी (महाराष्ट्र) में चारित्र-चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी ने समाधिमरणपूर्वक देहोत्सर्ग किया था। (कई शताब्दियों बाद दिगम्बर साधुत्व का साकार एवं निरपवाद रूप उन्होंने प्रस्तुत किया था। दृढ़ संयम, घोर तप, अद्वितीय निःस्पृहता और असामान्य त्याग के द्वारा आचार्यश्री ने लुप्तप्राय एवं निष्प्राण मुनिधर्म को उज्जीवित करके उसकी निर्दोष परम्परा को पुनः प्रवृत्त किया था)। दक्षिण से उत्तर और पश्चिम से पूर्व सभी दिशाओं एवं प्रदेशों में पादविहार करके विशाल संघ के रूप में विस्मृत एवं अदृश्य हुए दिगम्बरत्व का लाखों लोगों को दर्शन कराया था। इससे जनता में उनका अद्भुत प्रभाव था और जनता की भी भक्ति एत्र श्रद्धा उनके प्रति अद्भुत थी।

महाराज ने १४ अगस्त १९५५, रविवार को शरीर की अशक्तता और आखों में काचबिन्दु हो जाने से उत्पन्न मन्दता के कारण समाधिमरण लिया था, जो १८ सितम्बर १९५५, रविवार तक ३५ दिन रहा था। १८ सितम्बर को प्रातः ६-५० बजे अत्यन्त शान्ति और समताभावपूर्वक शरीर का उन्होंने त्याग किया था। समाधिमरण काल में जो उनकी दृढ़ता, तपश्चर्या और संयम का रूप निखरकर आया था वह अद्वितीय था। ३५ दिन तक चले उनके समाधिमरण को देखने और उनके अन्तिम दर्शन करने के लिए हजारों लोग कुंथलगिरि पहुंचे थे। हमें भी इस अवसर पर पहुँचने का सौभाग्य मिला था और वहाँ १९ दिन दाह-संस्कार तक रहे थे। समाधिमरण काल में ३५ दिनों में महाराज की जैसी प्रकृति, चेष्टा और चर्या रही थी उसका पूरा विवरण अपनी दैनंदिनी (डायरी) के आधार से जैन बालआश्रम, दिल्ली के मासिक मुखपत्र '**जैन प्रचारक**' (नवम्बर–दिसम्बर १९५५) में दिया था और उसका पूरा ही अंक '**सल्लेखनांक**' विशेषांक के रूप में निकाला था।

यहां हम महाराज के सम्बन्ध में एक–दो संस्मरण दे रहे हैं। महाराज ने १४ अगस्त ५५ को पण्डितमरण समाधि के दूसरे भेद इंगिनीमरण समाधिव्रत को लिया था। इससे पूर्व महाराज ५ वर्ष से पण्डितमरण के पहले भेद भक्त प्रत्याख्यान के अन्तर्गत सविचार भक्तप्रत्याख्यान का, जिसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है, अभ्यास कर रहे थे। इंगिनीमरण समाधिव्रत को लेते समय उपस्थित लोगों को निर्देश करते हुए महाराज ने कहा था कि '**हम इंगिनीमरण संन्यास ले रहे हैं। उसमें आप लोग हमारी सेवा–टहल न करें और न किसी से करायें। पंचम काल होने से हमारा संहनन प्रायोपगमन समाधि (पण्डितमरण के तीसरे भेद) को लेने के योग्य नहीं है, नहीं तो उसे धारण करते।**'

महाराज के इस निर्देशन और इंगिनीमरण संन्यास के धारण से, जिसमें परकी सेवा की बिलकुल भी अपेक्षा नहीं की जाती, क्षपक स्वयं ही अपने शरीर की टहल करता है, स्वयं उठता है, स्वयं बैठता है, स्वयं लेटता है और इस तरह अपनी तमाम क्रियाओं में सदा स्वावलम्बन रखता है, ज्ञात हो जाता है कि उनकी शरीर के प्रति कितनी निःस्पृहता थी। एक दिन तो यह भी महाराज ने कहा कि '**हमारे देह का दाह–संस्कार न किया जाय, उसे गृद्धादि पक्षी भक्षण कर जायें। भगवती आराधना में ऐसा ही लिखा है।**' यह उनकी कितनी उत्कृष्ट निःस्पृहता है। जिस शरीर को जीवनभर पाला–पोसा और उसे सन्तुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ दिये, उस शरीर के प्रति यह निर्भयता कि उसे पहाड पर यों ही फेंक दिया जाय और गृद्धादि पक्षी खा जायें। निःसन्देह उन्हें आत्मा और शरीर का भेदज्ञान था। वे आत्मा को ही अपना और उपादेय मानते थे तथा शरीर को (पुद्गल–जड) और हेय समझते थे। तभी दृढता के साथ उक्त निर्देशन दिया था।

ध्यातव्य है कि यद्यपि किन्हीं आचार्यों के मतानुसार इंगिनीमरण संन्यास आरम्भ के तीन संहनन-धारी ही पूर्ण रूप से धारण के अधिकारी हैं, तथापि आचार्य महाराज ने आदि के तीन संहनन के धारक न होनेपर भी जो उक्त संन्यास को धारण किया और ३५ दिन तक उसका निर्वाह किया, जिसका अवलोकन उनके सल्लेखना महोत्सव में उपस्थित सहस्रों व्यक्तियों ने किया, वह '**अचिन्त्यमीहितं महात्मनाम्**'

महात्माओं की क्रियाएँ अचिन्त्य होती हैं, इस उक्ति के अनुसार विचार के परे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाराज के आत्मबल, मनोबल और कायबल तीनों असामान्य थे।

२७ अगस्त ५५, शनिवार की बात है। भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन बोले—'**महाराज! कुछ सुनावें?**' महाराज ने तुरन्त जबाब दिया कि '**सब कण्ठमें है। स्वयं जागृत हूँ। मैंने इंगिनी-मरण व्रत ले रक्खा है। अतः किसी की अपेक्षा नहीं है।**' उस दिन महाराज को कुछ झपकी आगयी हो, ऐसा ज्ञात कर ही भट्टारकजी ने कुछ सुनाने की प्रार्थना की थी। किन्तु महाराज ने जो तत्काल उत्तर दिया वह उनके सदा जागृत रहने का एक ऐसा प्रमाण था, जिसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता था।

७ सितम्बर ५५, बुधवार को अशक्तता के कारण महाराज खडे नहीं हो पाते थे। कुछ निकटवर्ती भक्तजनों ने उनसे जलग्रहण करने की प्रार्थना की तो महाराज ने कहा कि '**जब शरीर बिना आलम्बन लिए खडा नहीं रह सकता तो हम पवित्र दिगम्बर साधुचर्या को सदोष नहीं बनावेंगे।**' महाराज का यह उत्तर कितनी दृढ़तापूर्ण और शास्त्रोक्त था। '**आगमचक्खू साहू**' साधु का नेत्र शास्त्र है। उससे देखकर ही वे अपनी क्रियाएँ करते हैं। जब शास्त्र में सहारा लेकर आहार ग्रहण साधु के लिए वर्जित है तो महाराज शास्त्र की उपेक्षा करके जल ग्रहण कैसे कर सकते थे। हम तो समझते हैं कि दिगम्बर चर्या का महाराज ने जैसा पालन किया और शिथिलाचार को हटाया वह सदा स्मरणीय रहेगा।

महाराज को मूलाचार और भगवती आराधना दोनों का अच्छा अभ्यास था। इनका कोई भी स्थल उनसे अपरिचित नहीं था। अतएव जीवन को सफल करनेवाली सल्लेखना को धारण कर और उसका ३५ दिन तक निर्दोष निर्वाह कर महाराज ने शरीर को, जो जर्जरित, रुग्ण और पीडादायक बन गया था, त्यागा था। महाराज ने, लगता है कि, भगवती आराधना के निम्न पद्य को अपने जीवन में चरितार्थ किया था—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमत्तूण॥

'जो जीव एक भव में समाधिमरणपूर्वक मरण को प्राप्त होता है वह सात-आठ भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता।'

महाराज ने वस्तुतः इसे जीवन में उतारकर समाधिमरण के मार्ग को प्रशस्त किया, जिसे हम भूलते जा रहे थे। कृतज्ञ जनता उनकी सदा आभारी रहेगी और उनका स्मरण करेगी।

ब्यावर-चातुर्मास के दृष्टिदान करनेवाले कुछ संस्मरण

श्री सेठ तोतालाल हीरालाल रानीवाला

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आ. शान्तिसागरजी महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य सर्वप्रथम हमें सन १९२७ में तीर्थाधिराज सम्मेदशिखरजी पर प्राप्त हुआ जब हम पूरे परिवार के साथ वहाँ गये थे। तभी हमारे सारे परिवार की यह भावना हुई कि यदि आचार्य महाराज का विहार हमारे प्रान्त में हो और ब्यावर में चातुर्मास का सुयोग प्राप्त हो, तो हम लोगों का जीवन कृतार्थ हो जाय। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' की नीति के अनुसार हम लोगों की भावना सफल हुई और वी. सं. १९९० में आचार्य महाराज के संघ का चातुर्मास ब्यावर में हुआ। उस समय हमारा सारा परिवार आनंद विभोर होगया, जब पूरे चौमासे भर हमें महाराज श्री के चरणों के समीप बैठने, उनका उपदेशामृत पान करने और सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस समय के कुछ संस्मरण इस प्रकार हैं।

(१) इस चातुर्मास की सब से बडी उल्लेखनीय बात तो यह थी कि आचार्य महाराज के संघ के साथ ही आचार्य श्री शांतिसागरजी छाणी के संघ का भी चातुर्मास ब्यावर में ही हुआ था और दोनों संघ हमारी नसिजीयां में एकसाथ ही ठहरे थे। छाणीवाले महाराज बडे महाराज को गुरुतुल्य मान कर उठते बैठते, आते जाते, उपदेशादि देने में उनके सम्मान-विनय आदि का बराबर ध्यान रखते थे और बडे महाराज भी उन्हें अपने जैसा ही मान कर उनके सम्मान का समुचित ध्यान रखते थे। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि छाणीवाले महाराज अवसर पाकर प्रतिदिन बडे महाराज का नियमित रूपसे वैयावृत्य करते थे।

(२) हमारे नसियांजी में पूजन, अभिषेक आदि तेरह पंथ की आम्नाय से होता है और आचार्य श्री के अधिकांश व्यक्ति और दक्षिण से आनेवाले दर्शनार्थी वीसपंथी आम्नाय से अभिषेक पूजनादि करते हैं तब अपने संघ को एवम् दक्षिण से आनेवाले लोगों को लक्ष्य करके श्री आचार्य महाराज कहा करते थे कि, जहाँ जो आम्नाय चली आ रही हो, वहाँ उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये और सब को अपनी अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार यह कार्य करना चाहिये।

(३) उस चातुर्मासभर रा. ब. सेठ टीकमचन्दजी भागचंदजी सोनी अजमेर वालोंका चौका लगा और उनके परिवार ने प्रतिदिन संघ को आहार देकर पुण्य उपार्जन किया। सेठ रावजी सखारामजी दोशी सोलापुर भी सपत्नीक आकर एकमास रहे और नसिया में अपनी पत्नी के साथ संगीतमय कीर्तन करते और संघ को आहारदान देते रहे। चौमासे भर शहर में तो वीसों चौके लगते ही थे, पर नसियाजी में भी २०-२५ चौके बराबर लगते रहे चौमासे भर यहाँ चौथेकाल जैसा दृश्य दिखाई देता रहा। बाहिर से, दूर दक्षिण देश से सैंकडों दर्शनार्थी आते रहे और हम लोगों को सबके समुचित आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

(४) इसी चौमासे में श्री नेमिसागरजी महाराज एक दिन सायंकाल नसियां के चबूतरे के नीचे पाटेपर घुटनों के बल खडे होकर सामायिक कर रहे थे कि ४–५ फुट लम्बा एक साप ४–५ बार लगातार महाराज के पैरों के समीप आ आकर के लौटता रहा। हम लोगों ने जब देखा, तो उसे पकडने के लिए आदमी को बुलाया। महाराज की दृष्टि उसपर पडी, तो उन्हों ने उसे नहीं पकडने के लिए हाथ से इशारा किया। महाराज की यह दृढता देखकर हम सभी उपस्थित लोग दंग रह गए।

(५) यहां के चौमासे के समय आचार्य महाराज को दूध के सिवाय सभी रसों का और हरित मात्र का त्याग था। उनके जैसी दृढता, शान्तता और वीतरागता के दर्शन अन्यत्र बहुत ही दृष्टिगोचर हुए।

(६) फलटन में सिद्धान्त ग्रन्थों के ताडपत्रों की प्रतियाँ आचार्य महाराज को भेंट करने के समय एक महोत्सव का आयोजन किया गया था। हम लोग भी ब्यावर से वहाँ गए थे। जब हम पहुंचे तब मानस्तम्भ की प्रतिमाओं के अभिषेक का आयोजन हो रहा था। महाराज मचान के ऊपर विराजमान थे, मचान ऊंचा होने से हम लोगों को अभिषेक का कुछ भी दृश्य नहीं दिखाई दे रहा था। पता नहीं कि महाराज की दृष्टि कैसी हम लोगों पर पड गई। और एक स्वयंसेवक को भेजकर हमें ऊपर बुलवा लिया। हालां कि मचान के ऊपर अभिषेक करनेवालों के अतिरिक्त और कोई नहीं था। महाराज के इस वात्सल्यमय अनुग्रह से हम लोगों के हर्ष का पारावार नहीं रहा और हम लोग उनके चरणों में नत मस्तक हो गए।

(७) जब कभी भी बाहिर आचार्य महाराज के दर्शनों को पहुंचा, तो हमें सम्बोधित करते हुए कहा करते थे कि कब तक घरपर बैठे रहोगे? अब तो घर को छोडो और आत्म कल्याण में लगो। आचार्य महाराज को हमारी सदा श्रद्धांजलि समर्पित है।

धन्यता का अनुभवन प्रतिदिन सहजहि होता है

श्री १०८ श्री सुबुद्धिसागर मुनिराज, (भूतपूर्व संघपति श्री मोतीलालजी)

आचार्य श्री शांतिसागर मुनि महाराज के पूर्व मुनिमार्ग नहीं सा था। दक्षिण भारत में कुछ मुनि होंगे लेकिन् जो भी थे वे शास्त्रोक्त मार्गानुसारी नहीं मालूम होते थे। आचार्य श्री के दीक्षा के बाद उन्हों ने जैसा शास्त्रोक्त मुनिमार्ग चलाया था और जो कुछ शिथिलता थी वह दूर की। आप बालब्रह्मचारी थे। बाल्यावस्था में वैराग्यभाव था। उस समय दक्षिण भारत में भी मिथ्या देवदेवताओं का प्रचार बहुत था। उनके उपदेश से लोगों ने मिथ्यात्व का त्याग किया।

उनका आहार भी जो मिथ्यात्व का त्याग करता था वहाँ ही होता था।

उनकी तपस्या भी महान थी। उनके पहले साधु संघ रूप में नहीं थे। महाराज के समय में नई दीक्षाएँ होकर साधु संघ की स्थापना हुई। उन्हों ने योग्य व्यक्तियों को ही दीक्षा दी।

दीक्षा देने में वे बडे कठोर एवं प्रतिगामी थे। महाराज के पास कई लोग दीक्षा मांगते थे। लेकिन वे प्रौढ और सुयोग्य व्यक्ति देखकर ही दीक्षा देते थे।

हमें महाराज श्री के दर्शन ४५ वर्ष पहले मस्तकाभिषेकोत्सव के समय गोमटेश्वर में हुए। पीछे वहाँ से महाराज श्री को उत्तर भारत में लाने के लिए हमारे विचार हुए। उस समय महाराज के साथ १०८ मुनि वीरसागरजी, १०८ नेमिसागरजी, ऐल्लक चंद्रसागरजी, क्षुल्लक पायसागरजी, कुंथुसागरजी, पार्श्वसागरजी थे। हम लोगों का विचार मुनिसंघसहित तीर्थराज सम्मेदाशिखरजी यात्रा जाने के लिए हुआ। इसके लिये हम लोग महाराज के पास चातुर्मास में पहुँचे। और महाराजजी से प्रार्थना की, "महाराज! संघसहित शिखरजी चलिए" बहुत आग्रह करने पर महाराजजी ने प्रार्थना मान्य की। बम्बई में संघ की यात्रा के लिये सारी व्यवस्था बनाई।

ऐतिहासिक विहार

विहार करते करते गुजराथ से महाराज श्री का विहार सौराष्ट्र (गिरनार) में हुआ। इसके बाद महाराज सोनगढ में पहुँचे। और एक घंटा प्रवचन करने के बाद तुरंत ही वापिस लौटे। उस समय रास्तों में ध. रामजी भाई आदि प्रमुख व्यक्ति रोज मोटार लेकर आते थे और महाराज श्री से शंका समाधान और आते समय कई प्रश्न लिखकर लाते थे। इस तरह महाराज के विहार से सारे भारत में अपूर्व धर्म प्रभावना हुई। कई नई दीक्षाएं हुई। और जनता जो धर्म मार्ग भूल गयी थी उन्हें मार्गदर्शन मिला।

जब महाराज श्री का चौमासा हुआ, तब चौमासा के बाद कालु में महाराज का विहार हुआ। जहां जहां दिगंबरी घर सौ थे मंदिर भी था। लेकिन वहां सभी भाई साधुओं का विहार न होने से स्थानक में ही जाते आते थे। क्योंकि कालु में उसमार्गी साधुओं का विहार होता था। परंतु महाराज श्री के पहुँचने पर उपदेश से सब मिथ्यामार्ग को छोड कर सच्चे कट्टर जैनी बने। मंदिर में पूजापाठ आदि होने लगे। मुहपत्ती का त्याग हुआ। उनके उपदेश से हर जगह कई लोग मुनि, ऐल्लक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका व्रती बने। श्रावकों ने बारा व्रत ग्रहण किये।

हम लोगों ने महाराज श्री के उपदेश से ही बम्बई जैसे शहर में १००८ श्री पार्श्वनाथ स्वामी का मंदिर कालबोर्दे में बनाया। ४०-४५ साल तक हम लोग महाराज श्री के पास चौका लेकर जाते-आते रहे। दूसरी प्रतिमा के व्रत भी महाराज के पास हीरकमहोत्सव के समय फलटन में लिये थे। अन्तिम सल्लेखना महोत्सव महाराज श्री का कुंथलगिरि सिद्ध क्षेत्र में अभूत-पूर्व प्रभावना के साथ हुआ। भारतीय जनता सागर उमड पडा था।

आज भी मुनिधर्म हमने जो धारण किया वह भी महाराज श्री के आशीर्वाद का ही फल है। शांति और समाधान का जीवन अनुभव में आ रहा है। पूज्य गुरुदेव के स्मरण से धन्यता का सहजही अनुभव होता है।

पूज्य आचार्य श्री की आचार्य-परंपरा

संहितासूरी श्री. ब्र. सूरजमलजी

हम दोनों ऐसे बचे

विक्रम सं. २०१० में परम पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का ससंघ वर्षायोग निवाई में हुआ था। तब आपका चातुर्मास दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरी में हुआ था। उस समय में मैं और निवाई निवासी श्री रतनलालजी गिंदोडी आचार्य श्री के दर्शनार्थ कुन्थलगिरी को निकले। जालना स्टेशन पर मुसाफिरखाने में हम दोनों सो रहे थे। स्टेशन पर अंधेरा छाया हुआ था। मैं कुछ अर्ध नींद में था। इतने में आवाज आई, मैं देख ही रहा था कि फुंकार करता हुआ सांप मेरी छाती पर चढ बैठा। हवाश भी भूल गया, कुछ भी सूझ नहीं पड रही थी। थोडी देर बाद कुछ होश आया तब मन ही मन भक्तामरकाव्य और 'श्री पार्श्वनाथाय नमः।' जपता रहा। कम से कम १५ पंधरा मिनट तक सीने पर चढा रहा। मैं तो हात पैर भी इधर-उधर हिला न नका। उस समय आत्मा भय से इतनी काँप रही थी कि शरीर से प्राण निकलना ही शेष रह गया था। जब छाती पर से सांप उतर गया सो ही मेरे साथी सेठ रतनलालजी की गर्दन पर चढ गया और फौरन ही गर्दन पार कर गया।

आप गाढ निद्रा में थे सो कुछ भी पता नहीं चला। मैंने सेठ साहब से दिनभर बात नहीं की और कहने की इच्छा भी नहीं थी। किन्तु अचानक ही मुँह से निकल गया कि रात को तुम्हारी गर्दन पर बडा भारी सर्प चढ गया था। बस बेहोश होकर वमन और दस्त हो गया तथा ज्वरमान १०५॥ डिग्री हो गया। उन्हें संभालना कठीन सा हो गया। ऐसे करते हुए तीन दिन हो गए। सुस्त रहते हुए आचार्य श्री ने देखकर कहा कि ब्रम्हचारीजी तुम दो दिन से सुस्त क्यों हो। मैंने कहा, "महाराजजी आपके दर्शन करते हुए किसी की भी याद नहीं आती है। हां? मेरे साथी की इस तरह हालत खराब हो गई है। इसी चिन्ता में मैं डूबा जा रहा हूँ।" महाराज ने सारे समाचार सुनकर आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा, "अच्छा, उस रतनलाल को हमारे पास ले आओ।" जैसे तैसे उठाकर रतनलालजी को महाराज श्री के पास लाया। महाराज श्री ने पूछा 'अरे भाई तुम्हें क्या हो गया?' तब रतनलालजी ने कहा 'महाराजजी मेरी गर्दन पर सर्प चढ गया था।' 'काटा तो नहीं?' 'हाँ महाराज, नहीं काटा'' तो सर्प चढने से इतने घबरा गये? अच्छा तुम घबराओ नहीं, अच्छे हो जाओगे।' ज्यों ही आचार्य श्री ने रतनलालजी के सिर पर पीछी रखी सो तत्क्षण ही रतनलालजी का बुखार उतरकर गया और वह खडे होकर चलने लगे। उलटी, दस्त सब बन्द हो गए। यह अलौकिक चमत्कार आचार्य श्री की ही तपस्या में देखा। रतनलालजी बच गए।

ऐसे निकृष्ट पंचम काल में निःसंशय आचार्यश्री महान् चारित्र को धारण करनेवाले थे। आपकी प्रभावशाली कडी तपस्या तथा सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण ने जनता को चतुर्थ काल सा दिखा दिया।

आचार्यपद प्रदान

विक्रम सं. २०१२ में प. पूज्य स्व. वीरसागरजी महाराज ने ससंघ वर्षायोग जयपुर (खानिया) में किया था। उस समय आचार्य श्री का चातुर्मास श्री सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरी में हो रहा था। उस समय आचार्य श्री ने सच्चिदानंद चैतन्य स्वरूप आत्मा को शरीर से पृथक् समझकर सच्चे अध्यात्म योगी बनकर सल्लेखना घोषित की। इस घोषणा को सुनकर हिन्दुस्थान के कोने-कोने से परम तपस्वी सौम्य छबी के दर्शनार्थ अपार जनसमुदाय उमड पडा। प्रतिदिन दस हजार यात्री आते थे। उसी शुभ अवसर पर प. पू. श्री वीरसागरजी महाराज से आज्ञा लेकर मैं श्री कुन्थलगिरी पहुँचा।

जब मैं आचार्यश्री की समाधि कुटी के पास पहुँचा तो वहाँ श्री भट्टारक लक्ष्मीसेनजी, जिनसेनजी तथा श्रीमान् संघभक्त संघपति सेठ गेंदमलजी जौहरी, बम्बई तथा अन्य सज्जन गण भी बैठे हुये थे। मैंने कहा कि, 'मुझे महाराज श्री के दर्शन करा दो' मेरे सौभाग्य से किवाड खोले गए। आचार्य श्री की सौम्यमूर्ति को देखकर अपार आनन्द हुआ। हृदय गदगद हो गया। आँखों सजल होकर तीव्र वेग से बहने लगी, रोके जाने पर भी नहीं रुक रही थी।

नमोस्तु। नमोस्तु। कहते ही महाराज श्री ने आवाज पहिचान लिया। महाराज श्री ने पूछा कौन ? सूरजमल है ? हाँ महाराज। आगे जो भी वार्तालाप हुआ सो इस प्रकार—

प्रश्न—क्या जयपुर से आये हो ? वीरसागरजी ने चौमासा जयपुर में ही किया है ?

उत्तर—हाँ ? महाराजजी जयपुर में ही किया है। वीरसागरजी महाराज ने आपके पावन चरणों में सजल नेत्रों से 'बार-बार नमोस्तु' कहा है और अन्तिम प्रायश्चित माँगा है। सो गुरुदेव! दीजियेगा।

महाराज बोले—क्या दूं ?

महाराज ? जो भी आपकी इच्छा हो।

वीरसागरजी आहार में क्या क्या लेते हैं ?

महाराज ? आपकी यम सल्लेखना सुनते ही उन्होंने मठा (तक्र) गेहूँ और एक पाव दूध के अलावा सब पदार्थों का त्याग कर दिया है।

महाराज बोले—अच्छा। ऐसा क्यों किया ? ऐसा उन्हें नहीं करना चाहिए। मोह का त्याग करने से ही कल्याण होगा। हमारे वीरसागरजी बडे कोमल हृदय के है, गुरुभक्त है, हमारे प्रथम शिष्य है। उनका बडा संघ होते हुए भी उन्होंने अपने पीछे आचार्य पद नहीं लगाया। खैर अब वीरसागरजी को कह देवे की ८ दिन तक मट्ठा आहार में नहीं लेवे। पुनः मैंने ही चलकर कहा कि महाराज! उनके लिए अन्तिम शुभाशिर्वाद देवें ताकि वे चिरंजीव रहें। और उनकी छत्रछाया में हम लोग धर्मसाधन करते रहें।

हमारा तो शुभाशीर्वाद है ही। अच्छा लो वह मूँगा की माला। हमने इस मालापर करोडो जाप किये हैं उन्हें दे देवे।

गुरुदेव ! वीरसागरजी महाराज तो अंगुलियों पर जाप लगाते, हैं । माला से कभी भी नहीं फेरते ।

अच्छा, तो अब क्या दूं ?

महाराजजी आपके पास तो तीन लोक की निधि है ।

वह तो वीरसागरजी को भी प्राप्त है ।

महाराज हम भूल रहे हैं । आप जौहरी हैं । आपने सच्ची मणी की पहचान कर ली है ।

अच्छा ! अब ज्यादा समय नहीं है । तुम्हारे गुरुजी को हम आचार्यपद देवेंगे । कल का दिन अच्छा है ।

महाराज ! इससे बढकर और क्या होगा ? मुझे इसमें पूर्ण सन्तोष है ।

क्या वे आचार्य बन जावेंगे ?

महाराज उन्हें आपकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पडेगी । फिर दूसरे दिन ही प्रथम भाद्रपद शुक्ला सप्तमी के दोपहर को २ बजे हजारों जनसमुदाय में आचार्यश्री ने निम्न शब्द कहते हुए पू. वीरसागरजी को आचार्य पद की घोषणा की ।

“**हमने प्रथम भाद्रपद कृष्णा ११ रविवार ता. २४–८–५५ से सल्लेखना व्रत लिया है । अतः दिगम्बर जैन धर्म और श्रीकुन्दकुन्दाचार्य परम्परागत दिगम्बर जैन आम्नाय का निर्दोश संरक्षण तथा संवर्धन हो इसलिये हम आचार्यपद शिष्य श्री वीरसागरजी मुनिराज को आशीर्वादपूर्वक आज प्रथम भाद्रपद शुक्ला सप्तमी विक्रम सं. २०१२ बुधवार के प्रभातं समय त्रियोग शुद्धिपूर्वक संतोष से प्रदान करते हैं ।**” प. पू. आचार्यश्री ने पू. वीरसागरजी महाराज के लिये इस प्रकार आदेश दिया है ।

“इस पद को ग्रहण करके तुम को दिगम्बर जैन धर्म तथा चतुर्विध संघ का आगमानुसार संरक्षण तथा संवर्धन करना चाहिये । ऐसी आचार्य महाराज की आज्ञा है । श्री आचार्य महाराज ने आपको शुभ आशीर्वाद कहा है ।”

लिखी—१. गेन्दमल बम्बईवालों का त्रिवार नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु ।

२. चन्दूलाल ज्योतीचन्द बारामती का त्रिवार नमोस्तु, नमोस्तु नमोस्तु ।

यह सुनते ही सारे जन समुदाय में अपार आनन्द की लहरे दौड गयी । एवं जयघोष के नारे लगाये । परमपूज्य आचार्यवर ने उत्तराधिकारी श्री वीरसागरजी महाराज को बनाकर आप अपने इस नाशवन्त शरीर से ममत्व त्याग कर आत्मसाधना में तन्मय हो गये ।

प. पूज्य आचार्यवर श्री वीरसागरजी महाराज ने अपने दिव्य ज्ञान से .भव्य जीवों को संबोधित करते हुए आचार्य पद में तीन वर्ष तक इस भारत भूपर विहार किया । आचार्य श्री का ज्ञान अलौकिक था ।

आप परम शान्त निष्कषायी थे। आपके साथ में विशाल संघ भी था। अंत में आप भी इस भौतिक शरीर को नाशवंत जान कर विक्रम सं. २०१४ आश्विन कृष्णा अमावास्या के प्रातः १०-५० मिनट पर अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री १०८ शिवसागरजी को अपना उत्तराधिकारी बनाकर स्वर्गवासी हो गये। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज शरीर से बहुत कृश थे। किन्तु आत्म तेज बडा प्रबल था। परम तपस्वी थे। पूर्वोक्त दोनों महाराजों की तरह आप भी बडे ज्ञानी विद्वान् थे। १२ वर्ष तक आचार्य पद में रहकर आपने बडे भारी विशाल संघ का संचालन किया। सारे भारतभर में आपकी तपस्या की छाप जमी हुई थी। किन्तु अचानक ही आपके कंठ में टिटॅनस की बिमारी हो गई सो बहुत कुछ उपचार करने के उपरान्त भी विक्रम सं. २०२६ के फाल्गुन कृष्णा अमावास्या के दोपहर को श्री अतिशय क्षेत्र शान्तिवीरनगर (श्रीमहावीरजी) में सावधानता पूर्वक नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हुए स्वर्गस्थ हो गये। आपके अनंतर आपके गुरुभाई परम पूज्य मुनि धर्मसागरजी महाराज हुए। जो वर्तमान में ससंघ यत्र तत्र विहार करते हुए भव्य जीवों को धर्मदेशना दे रहे हैं। यह हार्दिक भावना है कि स्वर्गस्थ तीनों आचार्य विभूतियाँ शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करे।

कठिन धारणा और विलक्षण योगायोग

श्री. मिश्रीलालजी पाटणी, ग्वालियर

इ. स. १९३० में प. पू. चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का ५ दिनके लिए ग्वालियर में शुभागमन हुआ। उपदेश से प्रभावित होकर हमने शूद्र-जल-त्याग आदि नियम लिए। एक दिन दानावली धरमशाला चंपा बाग में आहार के हेतु ठहरे। पडगाहन के समय विधी नहीं मिलने से महाराजजी वापिस लौट गये। हमने भी एक घंटे के बाद धोती दुपट्टा उतार रक्खे। महाराज श्री वापिस लौटने की खबर मिलते ही तुरन्त उतारे हुए कपडे भीगो कर निचोड कर पहिने और पडगाहन किया। विधि मिल गई। आहार निरंतराय संपन्न हुआ। आहार के पश्चात् महाराजजी से बार बार पूछने पर कहा गया कि "आज गीले कपडे पहनने वालों के यहाँ भिक्षा लेंगे ऐसा संकल्प होनेसे दूसरी बार वापिस लौटने पर आप के यहां विधि मिली" ऐसी धारणाएं इस निकृष्ट काल में परम तपोनिधि महाराजजी करते थे। पुण्योदय से निर्वाह भी होता गया। धन्य है ऐसे महान् तपस्वी की तपस्या को!

प. पू. आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज की समयसूचकता तथा अन्तःप्रेरणा

क्षुल्लक श्री विजयसागरजी, चातुर्मास, इडर

एक साँप मेंडक को खाने जा रहा था। उस समय मेंडक की प्राणरक्षा के लिए लोटे को पत्थर पर जोरसे पटक दिया जिससे वह साँप भाग गया। मेंडक की प्राणरक्षा हुई और लोटा टूट गया।

आचार्य महाराज श्री ने ब्र. जिनदासजी को उनके घर चले जाने का आदेश दिया। वे चकित हुए। आदेश का कारण भी अज्ञात था। ब्रह्मचारीजी प्रस्थान कर घर पहुँचे तो उन्हें मालूम हुआ कि कुछ बदमाशों ने उनके भानजी के पति को खेत में मार डाला था। उससे इस बात का पता चला कि महाराज श्री के अलौकिक अनुमान ज्ञान में भविष्यत्कालीन घटना का कुछ संकेत जरूरही आ गया था। ज्ञान की सहज निर्मलता का यह अतिशय प्रतीत होता है।

संघपति श्री गेंदनमलजी झवेरी, बम्बई के वार्तालाप से

अतीत में मैं पूर्ण रूप से डूबा जा रहा था। श्री प. पू. १०८ आचार्य शांतिसागर महाराजजी के पुण्य स्मृतिबिंदु से मनकी धरती पर सुख संवेदना होती है। मैं महाराज श्री के साथ लगभग ४० साल तक रहा। जिसे हम हमारा परम पुण्योदय समझते हैं।

पू. आचार्य श्री का चौमासा कुंभोज में था। सहसा मैं प्रश्न कर बैठा—"महाराजजी, हम आपका चतुस्संघ लेकर श्री सम्मेदशिखरजी जाना चाहते हैं। हम आशा करते हैं कि हमें आपकी सम्मती मिल जायगी।" महाराजजी ने हमें सम्मति दी। वे आदमी को पूरी परख करके ही उन पर कार्य सौंपते थे। हमारी खुसी का ठिकाना नहीं रहा।

यात्रा में स्थान स्थान पर महाराज श्री का भव्य स्वागत होता रहा। शांति का संदेश भारत के कोने कोने में पहुंचाते हुए महाराजजी आगे ही आगे श्री शिखरजी की ओर बढ रहे थे। पू. आ. महाराज को तनिक भी तकलीफ न पहुंचे इसलिए सभी भक्तगण सदैव तय्यार थे। साथ साथ निसर्ग भी उन्हें सहायता पहुंचाता था। महाराजजी के विहार में उन्हें वर्षा आदि की तथा श्वापदों की तकलीफ हुई नहीं। अनुपम अतिशय था महाराजजी का। असंख्य चमत्कारों में विशेष यह था कि सम विषम परिस्थिति में पू. आचार्य श्री सदा ही शांति का अनुभवन करते हुए नजर आते थे।

पू. महाराजजी के प्रवचनों से प्रभावित होकर कु. गुणमाला ने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया। हमारी सिर्फ दो कन्याएँ थी। पू. महाराजजी के सत्समागम के कारण हमारे मन में ब्रह्मचर्य पालन की

इच्छा हुई। मैंने आचाय श्री के सामने अपना भाव प्रगट किया। महाराजजी ने कहा कि 'अपनी पत्नी से अनुमति प्राप्त करो।' हम दोनों महाराजजी के पास पहुंचे। हम दोनों की ब्रह्मचर्य पालन की इच्छा देखकर उन्होंने हमें व्रत देकर कृतार्थ किया और अच्छी तरह व्रत पालन करने का शुभाशीर्वाद भी दिया।

पू. आचार्य महाराजजी के साथ बहुत सारे तीर्थयात्रों की हमने वंदना की। हम जैसे जैसे महाराजजी की सेवा करते गये संपदा उतनी ही वृद्धिंगत होती रही। प्रतापगढ में एक श्रीपार्श्वनाथ भगवान की सातिशय मूर्ति थी। महाराजजी की आज्ञानुसार हम उस मूर्ति को बम्बई ले आये और अच्छा मंदिर बनवाकर उस सातिशय मूर्ति को उसमें विधिवत् स्थापन करा दी।

पू. आचार्य महाराज श्री के आशीर्वाद और उपदेशों का ही यह सुफल है कि हम और हमारे कुटंबी जन विशिष्ट धर्मभावनाओं का अमृतोपम रसास्वाद लेने के लिए जीवन में पात्र बने रहे।

पूज्यपाद आचार्य श्री का अन्तिम दक्षिण विहार

श्री. आदिराज अण्णा गौडरु, शेडवाळ

विश्ववंद्य आचार्य श्री का निवास वडगांव (निंबाळकर) में था। स्व. पिताजी ने आपसे शेडवाळ (म्हैसूरस्टेट) में पधार ने के लिए प्रार्थना की और कहा "महाराजजी! आपके ही उपदेश से और सहज प्रेरणासे शेडवाळ में मनोहर चौवीसीयों का तथा मानस्तंभ का निर्माण हुआ है, आश्रम का प्रांगण पुनीत हो गया है, यदि आपके चरण लगते हैं तो अवश्य हि धर्मोत्साह में वृद्धि होगी।"

विहार करते करते आवेंगे ऐसा उत्तर और आशीर्वाद भी मिला। योगायोग से सन १९५३ के बाद आचार्य श्री का विहार उस प्रांत में हुआ। संघ में इस समय ३०–३५ साधुगण होंगे। सब वातावरण धर्मभावनाओं से सजग था। प्रतिदिन उपदेशामृत का पान हमें प्राप्त होता था। सार यह है कि, "जीव अज्ञान और मोहवश चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ दुःखों का हि अनुभवन करता है। देवगति में मनो-वांच्छित पदार्थों का संयोग कल्पवृक्षों द्वारा है, वृद्धावस्था नहीं है, फिर भी वह सुख स्वाधीन नहीं और अविनाशी भी नहीं है। नरकों में द्वेष की तीव्रता वैरभावों की अधिकता होती है, मारपीट का दुःख होता है, रत्तीभर सुख वहाँ क्षणमात्र नहीं होता है। तिर्यंच योनि में भी दुःखों की सीमा नहीं पराधीनता, प्रतिकूल संयोग अज्ञान की अधिकता के कारण वहां भी दुःख ही है। मनुष्यगति में कुछ ज्ञान और कुछ मात्रा में अनुकूल संयोग संभव है, परंतु अज्ञान और मोहवश यहाँ पर भी इंद्रियों के आधीन होता हुआ संपूर्ण आयु आशा और अभिलाषा की पूर्ति में हि व्यतीत करता है। यदि पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को और सम्यक् चारित्र को प्राप्त करता है तो सुनिश्चित हि अनंत अविनाशी सुख का कुछ मात्रा में रसास्वाद ले सकता है जो सिद्धों में सदा के लिए होता है। इसीलिए आत्मा का ध्यान प्रतिदिन करो। कमसे कम

पंद्रह मिनिट क्यों न हो अवश्य करो। कर्मों की निर्जरा इसीसे संभव है, मोक्षमार्ग और सुखमार्ग यही है।" इ. इ.

शब्दों की गूंज आज भी मालूम होती है। धन्य ऐसे महात्मा! जिन्होंने मुनिमार्ग को अक्षुण्ण-रूप में इस निकृष्टतर काल में भी निष्प्रमाद निरतिचार चारित्र द्वारा प्रगट किया। अनेकशः प्रणाम हो।

मूक व्यक्ति को वाणी मिली

कोल्हापुर के पास निमशिर ग्राम में एक पैंतीस वर्ष का युवक था। उसे अण्णप्पा दाढीवाले के नाम से लोग जानते थे। वह शास्त्रचर्चा में प्रवीण था। अकस्मात वह गूंगा बन गया। वर्ष तक गूंगेपन के कारण वह बहुत दुःखी रहा। लोगों के समक्ष जाने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। उसका आचार्य श्री शांतिसागरजी से विशेष परिचय था। उसे लोग जबरदस्ती आचार्य श्री के समीप ले गए।

आचार्य महाराज ने उससे आग्रहपूर्वक कहा—"बोलो!! बोलो! तुम बोलते क्यों नहीं हो?" फिर उन्होंने कहा "णमो अरिहंताणं पढो।" बस, उसका गूंगापन चला गया और वह पूर्ववत् बोलने लगा। दर्शक मंडली आश्चर्य मग्न हो गई।

चार दिन के बाद वह अपने घर लौट आया। वहाँ पहुँचते ही वह फिरसे गूंगा बन गया। मैं उसके पास पहुंचा। सारी कथा सुनकर मैंने कहा, "वहाँ एक वर्ष क्यों नहीं रहा? जब तुम्हें आराम पहुंचा था तो इतने जलदी भाग आने की भूल क्यों की?" वह पुनः आचार्य श्री के चरणों में पहुंचा। उन तपोमूर्ति साधुराज के प्रभाव से वह पुनः बोलने लगा। वहाँ वह १५ या २० दिन और रहा, इसके बाद वह पुनः गूंगा न हुआ वह पूर्ण रोगमुक्त हो गया।

जैनवाडी में सम्यक्त्व की धारा

जैनवाडी में आकर उन्होंने वर्षायोग का निश्चय किया। इस जैनवाडी को जैनियों की वस्ती ही समझना चाहिए। यहाँ प्रायः सभी जैनी थे, किंतु वे प्रायः भयंकर अज्ञान में डुबे हुए थे। सभी कुदेवों की पूजा करते थे। महाराज श्री की पुण्य देशना से सब श्रावकों ने मिथ्यात्व का त्याग किया और अपने घरसे कुदेवों को अलग किया।

उस समय, वहाँ के जो राजा थे, यह जानकर आश्चर्य में रहे कि आचार्य श्री महाराज तो बडे पुण्य चरित्र महापुरुष है। ये भला हम लोगों के द्वारा पूज्य माने गये देवों को गाडी में भरवाकर नदी में पहुंचाने का कार्य क्यों कराते हैं? राजा और राणी दोनों महाराज की तपश्चर्या से खूब प्रभावित थे। उनके प्रति बहुत आदर भाव भी रखते थे।

एकदिन राजा पूज्य श्री की सेवा में स्वयं उपस्थित हुआ और बोले "महाराज, आप यह क्या करवाते हैं जो गाडियों में देवों को भरवाकर नदी में पहुंचा देते हैं।"

महाराजने कहा :—"राजन्! आप एक प्रश्न का उत्तर दो। आप के यहाँ भाद्रपद में गणपति की स्थापना होती है या नहीं?"

राजा ने कहा :—" हां महाराज ! हम उनकी पूजा करते हैं भक्ति करते हैं ।'

महाराज ने पूछा :—" उस उत्सव के पश्चात् क्या करते हो ?"

राजा ने उत्तर दिया–" महाराज ! बाद में हम उनको पानी में सिरा देते हैं ।"

महाराज ने पूछा :–जिनकी आपने भक्ति से पूजा की, आराधना की, उनको पानी में क्यों डुबा देते हो ?"

राजा ने कहा—" महाराज ! पर्व पर्यंत ही गणपति की पूजा का काल था । उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही कर्तव्य है ।"

महाराज ने पूछा—" उनके सिराने के बाद आप फिर किनकी पूजा करते हैं ?"

राजाने कहा—" महाराज ! इसके पश्चात् हम राम, हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते हैं ? ।"

महाराज ने कहा—" जैसा पर्व पूर्ण होने के पश्चात् गणपति को सिरा देते हैं और रामचंद्रजी आदि की मूर्ति की पूजा करते हैं, इसी प्रकार इन देवोंकी पूजाका पर्व समाप्त हो गया । इससे उनको सिरा देना ही कर्तव्य है ।" जिस तरह आप राम, हनुमान आदि की पूजा करते हैं इसी प्रकार मंदिर में अब वे स्थायी मूर्ति तीर्थंकरों की, अरहंतों की रहती है उनकी पूजा करते है ।"

पूज्य श्री के युक्तिपूर्ण विवेचन सें राजा का संदेह दूर होगया । वे श्री महाराज को प्रणाम कर संतुष्ट हो अपने राजभवन को वापिस लौट गए ।

व्यवहार–निश्चय का सुन्दर समन्वय

अनेक विद्वान बंधुओं ने पूज्य श्री की सेवा में निवेदन किया—" कि लोग निश्चय नय के नाम पर व्यवहार–धर्म को छोडते जा रहे हैं, सो यथार्थ में ठीक मार्ग क्या है ?"

महाराज ने कहा था, " व्यवहार फूल के सदृश है । वृक्ष में प्रथम फूल आता है । बाद में उसी पुष्प के भीतर फल अंकुरित होता है । और जैसे जैसे फल बढता जाता है, वैसे वैसे फूल संकुचित होता जाता है, और जब फल पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, तब पुष्प स्वयं पृथक हो जाता है । इसी प्रकार प्रारम्भ में व्यवहार होता है, उसमें निश्चय–धर्म का फल बीतरूप से निहित रहता ही है । धीरे–धीरे जैसे निश्चय व्यक्त होता है, वैसे–वैसे व्यवहार स्वयं संकुचित होता जाता है, अन्त में निश्चय की पूर्णता होने पर व्यवहार स्वयं तिरोमान हो जाता है ।

आचार्य महाराज ने जो व्यवहार को पुष्प और निश्चय को फल के रूप में समझाया वह बडा सुन्दर तथा हृदयग्राही है । निश्चय की वृद्धि होने पर व्यवहार स्वयं कम होते–होते घट जाता है, उसे छोडा नहीं जाता है । निश्चय तो स्वयं वस्तुतत्त्वस्वरूप है ।

वृत्ति परिसंख्यान तप के अनुभव

पहिले आचार्य महाराज वृत्ति परिसंख्यान तप में बडी कठीन प्रतिज्ञा लेते थे, और उनके पुण्योदय से प्रतिज्ञा की पूर्ति भी होती थी। एक दिन महाराज ने धारणा कर ली थी, आहार के लिए जाते समय यदि तत्काल प्रसूत बछडे के साथ गाय मिलेगी तो आहार लेंगे। यह प्रतिज्ञा उन्होंने अपने मन के भीतर ही की थी। किसी को भी इसका पता नहीं थी। अन्तराय का उदय नहीं होने से ऐसा योग तत्काल मिल गया और महाराज श्री का आहार निरंतराय हो गया। लगभग १९३० के शीतकाल में आचार्य श्री ग्वालियर पहुंचे। जोरदार ठंड थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि गीले वस्त्र पहिन कर यदि कोई पडगाहेगा तो आहार लेंगे, अन्यथा नहीं। महाराज ने घरों के सामने से दो बार गमन किया। लोगों ने निराश होकर सोचा, आज योग नहीं है। लोगों के वस्त्र अन्यों के स्पर्श से अशुद्ध हो गये। एकदम महराज तीसरी बार लौट पडे। एक श्रावक ने तत्काल पानी डाल कर वस्त्र गीले किये और पडगाहा। विधि मिल जाने से उनका आहार हो पाया।

एक समय उन्होंने यह प्रतिज्ञा की, कि कोई जवाहरात थाली में रखकर पडगाहेगा तो आहार लेंगे, अन्यथा उपवास करेंगे। यह घटना कोल्हापूर की थी। उस दिन वहाँ के नगरसेठ के मन में थाली में बहुमूल्य जेवर–जवाहरात रखकर पडगाहने की इच्छा हुई। अतः यह योग मिल गया। दातार सेठ को उत्तम पात्र को, आहार का योग मिला। इस प्रसन्नतावश और आहार निरंतराय हो जाय इस विकल्पवश सेठजी को यह ध्यान नहीं रहा, कि मैं बहुमूल्य आभूषणों आदि को उठाकर भीतर रख दूं। वे बाहर के बाहर ही रह गए। ज्यों हि महाराज का आहार प्रारंभ हुआ, सेठजी को अपनी बहुमूल्य सामग्री का स्मरण हो गया। उस समय उनकी मानसिक स्थिति अद्भुत थी। यहाँ उत्तम पात्र की सेवा का श्रेष्ठ सौभाग्य था और वहाँ हजारों की संख्या का धन जाने की आशंका हृदय को व्यथित कर रही थी। आचार्य महाराज की दृष्टि में ये सब बातें पहले से ही थी। उस समय सेठजी की मनोव्यथा देखकर महाराज के मन में सहज ही दया का विकल्प आया। भविष्य में उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा न करने का निश्चय किया था। आहार के बाद ही सेठजी बाहर आये तो वहाँ आभूषणों की थाली नहीं थी। इस बीच में यह घटना हुई कि जो उपाध्याय वहाँ आया था उसकी दृष्टि भाग्य से आभूषणों पर गई थी, उसने अपने विवेक की प्रेरणा से उस सामग्री को पहले ही सुरक्षित स्थान पर रख दिया था, इससे कुछ भी क्षति नहीं हुई।

गंधोदक से साँपविष निवारण

जिनेन्द्र के मंत्र की अपूर्वता बताते हैं। एक बार बरार प्रांत के अमरावती जिले में हिवरखेड देहात है। वहाँ के जैन मंदिर के कर्मचारी को भयंकर सर्पराज ने काट दिया। वह मंदिर का माली सदा ही जिन भगवान की सेवा करता था। उसके मन में पारसनाथ भगवान् के प्रति गहरी श्रद्धा थी। उसकी प्रार्थना पर जैन बंधुओं ने भगवान् श्री पार्श्वनाथ का अभिषेक करना प्रारंभ किया। सभी जैन बंधु प्रभु की पूजा में तन्मय हो रहे थे। उस समय विष का वेग चढता जा रहा था। मंदिर के पास अन्य मतानुयायीयों

की भीड इकट्ठी हो गई और वे कहने लगे कि ये जैन लोग आज इस गरीब को मार डाल रहे हैं। व्यर्थ में भगवान् की पूजा का ढोंग रच रहे हैं। इतने में विष का गहरा असर होने से उसे एक चक्कर आया जिसे देख कर ऐसा लगा कि अब यह नहीं बचेगा। कुछ क्षण बाद दूसरा चक्कर आया। उस समय अभिषेक का गंधोदक उसके शरीर पर लगाया, उसके क्षण बाद तीसरा चक्कर आ रहा था, जिसे लोग मृत्यु का चक्कर ही समझ रहे थे। इतने में जिनेंद्र भगवान् के अभिषेक के गंधोदक का शरीर से स्पर्श होते ही तत्काल उसका विष उतर गया। सहज ही अन्य मतानुयायी बहुत प्रभावित हुए। आज तक भी लोग जिन भगवान् की श्रद्धा की महिमा का बडे आदर भाव से स्मरण करते हैं।

॥ ॐ ॥

मराठी विभाग

परमपूज्य आचार्य १०८ श्री शांतिसागर महाराजांची काही संस्मरणे

मुनि श्री १०८ आदिसागरजी महाराज, शेडवाळ (म्हैसूर)

पूज्याति पूज्यैर्यतिभिस्सुवन्द्यं, संसारगंभीरसमुद्रसेतुम् ।
ध्यानैकनिष्ठा गरिमागरिष्ठं, आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

आचार्य श्री खऱ्या अर्थाने प्रातःस्मरणीय, चारित्रचक्रवर्ती, योगीन्द्रचूडामणि, समाधिसम्राट् होते.

आचार्य श्री **बालब्रह्मचारी** होते. धैर्यसंपन्न होते. प्रभावशाली **आदर्श** सत्पुरुष होते. जगास भूषणभूत, सन्मार्गदर्शक, महातपोनिधी महात्मा सद्गुरु होते.

आचार्य श्रींनी उत्तर दक्षिण भारतात सर्वत्र संघसहित पदविहार केला. कोनाकोपऱ्यांत आपल्या उपदेशाने मिथ्यांधकाराचा नाश केला. दिगंबर जैनत्वाचा उद्योत केला. उपदेशाने उच्च कुलीनांना तर पापापासून अलिप्त केलेच पण जंगलातील भिल्ल, कोळी वगैरे लोकांना सुद्धा हिंसेपासून परावृत्त केले. स्वामींनी अनेक परिषह सहन करून दिगंबर जैनधर्मीय साधूंचा सर्वत्र विहार करण्याचा मार्ग निष्कंटक केला. आता हा राजमार्ग झाला आहे याचे श्रेय आचार्य श्रींनाच आहे.

(२) **आचार्य श्री हे परीषहजयी होते**— ऐलक अवस्थेत सन १९१८ साली **कोगनाळी** (ता. चिकोडी) येथे आणि मुनि अवस्थेत सन १९२३ साली **कोण्णूर** (ता. गोकाक) येथे त्यांच्या अंगावर सर्प चढून त्याने दोन-दोन तासपर्यंत वेटोळे घातले तरी त्यांनी आपले आसन चलायमान केले नाही. या प्रमाणे **शेडवाळ** येथे (ता. अथणी) सर्पाचा, व सौंदत्ती (ता. रायबाग) येथे मुंगी-मुंगळ्यांचा उपसर्ग सहन केला.

१. सहज वैराग्य

आचार्यश्रींच्या प्रथमच्या क्षुल्लक दीक्षेच्या दुसऱ्या दिवशी (सन १९१४ साली) त्यावेळच्या शिरस्त्याप्रमाणे गावातील प्रमुख मानकऱ्याकडे गुरुशिष्यांचा आहार झाला. त्यावेळच्या पद्धतीप्रमाणे गुरुदक्षिणा म्हणून मानकऱ्यांनी प्रत्येकापुढे सव्वा रुपया ठेवला. गुरूने आपले नवे शिष्य क्षुल्लक शांतिसागरांना ते पैसे घेण्यास सांगितले. तेव्हा श्री शांतिसागर म्हणाले, **जे नको होते म्हणून घर सोडले तेच दीक्षा घेऊनही घ्यायचे तर मग घर सोडण्याचे प्रयोजनच काय होते ? घरी पुष्कळ पैसा होता. मला तो सव्वा रुपया घ्यायचा नाही.**

दीक्षागुरूची ही पद्धती त्यांच्या ज्ञानवैराग्य-संपन्न मनाला रुचण्या-पचण्यासारखी नव्हती. म्हणून श्री शांतिसागर महाराजांनी दीक्षेच्या तिसऱ्याच दिवसी आपला विहार स्वतंत्र रीतीने चालू केला. सारांश शान्तिसागर महाराज **'ज्ञानवैरागी'** होते, विवेकसंपन्न होते. त्यांचे वैराग्य खरेखुरे होते. त्यांनी गतानुगतिकाचे अनुसरण केले नाही. कारण जो ज्ञानवैरागी आहे तो कसल्याही मोहाला बळी पडत नाही. कोणाची भीड मुलाहिजा ठेवीत नाही.

२. आचार्यश्रींची अबोल प्रज्ञा

व्यवहारात **'न बोलता शहाणा'** म्हणतात तशी आचार्य महाराजांची अबोल वृत्ती होती. याचा अर्थ महाराज बोलत नसत हा नव्हे. 'काय बोलावे या पेक्षा काय बोलू नये हे ज्याला कळते, तोच खरा वक्ता होय' ही महाराजांची अंतरंग वृत्ती होती. वरवर दिसायला जरी महाराज बोलके दिसत नसले तरीही त्यांना सर्व जनतेने स्वयंस्फूर्तीने सन १९२४ साली समडोळी मुक्कामी **आचार्यपद** आणि गजपंथ येथे **चारित्र-चक्रवर्ती** पद बहाल केले. तेथून आचार्य महाराज संघासह कुंभोज (बाहुबलीक्षेत्र) येथे आले. त्यावेळी संघामध्ये रोज शास्त्र वगैरे वाचण्याचे काम बहुभाग ऐल्लक चन्द्रसागर (नांदगाव, जि. नाशिक) ह्यांच्याकडे असे. आचार्यश्री त्यावेळी सहसा श्रोत्याची भूमिका ठेवीत असत. हे पाहून कुंभोजचे पाटील सर्व जनतेपुढे निर्भीडपणे म्हणत असत की 'आचार्यपद तेवढे शान्तिसागर महाराजांना आणि शहाणपण-ज्ञान सगळे चन्द्रसागरांना ! वस्तुतः आचार्यपद हे दगडासारखे बसून राहाणाऱ्या शान्तिसागरांना मुळीच द्यायला नको होते. चन्द्रसागरांनाच द्यायला हवे होते.' पाटलांचे हे आवडते मत त्यावेळी काहींना (वरवर पहाणाऱ्यांना) सयुक्तिक देखील वाटू लागले; परंतु त्याच वेळी कुंभोजच्या पाठशाळेचा एक प्रश्न निघाला. तेव्हा त्या संबंधीचा न्यायनिवाडा करण्याची सर्वांनी आचार्यश्रींना प्रार्थना केली. त्यांनी ती मान्य करून संबंधित व्यक्तीला बोलावून आणा अशी आज्ञा केली. तेव्हा नेहमीच्या सवयीला अनुसरून मध्येच चन्द्रसागर म्हणाले, 'महाराज ! ती व्यक्ती हेकेखोर आहे. जर आपली आज्ञा मानली नाही तर आपला अपमान होईल.' हे ऐकून आचार्य महाराज म्हणाले,

'अरे बाबा ! जेथे मान आहे तेथे अपमानाचा प्रश्न उत्पन्न होईल. जेथे मानच नाही तेथे अपमानाची भीती कसली ? आपल्या मानापमानाचा विकल्प गौण करून श्रेयोमार्गाचा

पाठपुरावा करणे आपले कर्तव्य आहे. यात जर कदाचित् अपमान झालाच तर तो परीषह समजून समताभावाने पचविला पाहिजे. त्यात आपले काही अकल्याण नाही. आणि जर कार्य साधले तर त्यात धर्मसेवा व कर्तव्यपूर्तीचा आनन्द यांचा लाभच आहे. केवळ फर्डे वक्तृत्व गाजवून श्रोत्यांना प्रभावित करण्यापेक्षा कर्तव्यासाठी मानापमान शान्तचित्ताने सहन करणे अधिक हितावह आहे.' हे उद्गार कुंभोजच्या पाटलांनी ऐकले व ते सर्द झाले. विचारात पडले आणि तेव्हापासून ते म्हणू लागले, 'माझी समजूत व प्रचार चुकीचा होता. ऐल्लक चन्द्रसागर हे प्रमुख वक्ते खरे, पण मानापमानाचा त्यांचा विकल्प तीव्रतेने जागृत आहे. आचार्यांजवळ मात्र त्याचा लवलेश देखील नाही. **म्हणून त्यांचे तपश्चरण आणि कषायाची मन्दता हीच त्यांच्या आचार्यपदाला योग्य असल्याने श्री शान्तिसागर महाराज हेच आचार्यपदाला योग्य आहेत.**' आता पाटीलांचे हे बदललेले मत पूर्वीप्रमाणे सर्व जनतेपुढे मांडू लागले व आपली चूक मान्य करू लागले. 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्.'

३. आचार्यांची तत्त्वदृष्टी

आचार्य महाराज संघासहित श्रीसम्मेदशिखरजीस जातेवेळी सन १९२८ साली वाटेत 'मिरज' येथे संघाचा मुक्काम झाला. मिरजचे राजे श्री. बाळासाहेब सरकार (संस्थानिक) हे आचार्यश्रींच्या दर्शनाला आले होते. तेथे एक बाई आपली एक तीन-चार वर्षांची मुलगी घेऊन दर्शनाला आली. आचार्यांच्या शेजारीच मिरज सरकारही बसले होते. त्या मुलीने स्वयंस्फूर्तीने संघस्थ ऐल्लक श्री चन्द्रसागर महाराजांजवळ सर्व संघास नमस्कार केला. तेव्हा हे पाहून चन्द्रसागर महाराजांनी सहज पण औत्सुक्याने विचारले, '**काय ग, तू कोणाची** आहेस ?' त्यावर ती मुलगी काहीच बोलली नाही. महाराजांनी पुनः विचारले, '**अग तू आईची आहेस काय** ?' त्यावर ती मुलगी म्हणाली, '**नाही.**' त्यांनी पुन्हा विचारले, '**मग काय बापाची आहेस** ?' त्यावर देखील त्या मुलीने स्पष्टपणे '**नाही**' असे खणखणीत उत्तर दिले. आता आचार्य महाराज आणि मिरज सरकार श्रीमंत राजे यांच्यासह सर्वांचे लक्ष या मुलीकडे केन्द्रित झाले होते. श्री चन्द्रसागर महाराजांनी पुन्हा तिला विचारले, '**बरं ! मग तू आहेस तरी कुणाची ?**' त्यावर त्या मुलीने निःसंदिग्धपणे ठासून सांगितले, '**मी माझीच आहे.**' तेव्हा आचार्यश्रींनी स्मित केले आणि चन्द्रसागरसह सर्वांना उद्देशून ते म्हणाले, '**घ्या ! ही मुलगी तर तुम्हा सगळ्यांना 'समयसार' शिकवून गेली की !**'

त्यानंतर श्रींनी तिला जवळ बोलावून श्रीफलादि फळे आशीर्वाद रूपाने तिच्या हातात देवविली. यावेळी आचार्यभक्त सोलापूरचे **श्रीमान् शेठ रावजी सखाराम दोशी** यांचेही चित्त हे उत्तर ऐकून हेलावले व त्यांनी आपल्या अंगावरची **भरजरी शाल** त्या मुलीच्या अंगावर टाकली. त्यानंतर आचार्यश्रींनी श्रीमंत राजे सरकार व समोरच्या मंडळींकडे वळून झाल्या घटनेच्या आधारे थोडाच पण गोड उपदेश दिला. ते म्हणाले, 'पहा ह्या मुलीच्या तोंडून सहज निघालेले उद्गार **हेच सर्व शास्त्राचे सार आहे.** ह्या जगात कोणी कोणाचा नाही. जो तो स्वतःच्या हिताहिताबद्दल स्वतःच जबाबदार आहे. हे जाणून आत्मकल्याणासाठी प्रत्येकाने प्रयत्नशील राहिले पाहिजे.'

आचार्यश्रींची व्यवहारकुशलता

आचार्य महाराज जसे प्रशान्त विवेकी होते तसेच ते व्यवहारचतुर व लौकिक आचाराचे चांगल जाणकार होते. एकदा श्रवणबेळगोळ येथील श्रीगोमटेश्वरांच्या दर्शनासाठी जात असता '**हुबळी**'ला संघाचा मुक्काम झाला. दिगम्बर जैन धर्माचे प्रभावक संत-साधु म्हणून शान्तिसागर महाराजांची कीर्ती-प्रभा चोहोंकडे फाकली होती. हुबळी येथे लिंगायताचे मोठे धर्मपीठ आहे. त्या मठाचे अधिपती '**आरूढ स्वामी**' प्रसिद्ध आहेत. ह्या मठाचे लाखो शिष्य आहेत. स्वामींचा ह्या संप्रदायात मोठा सन्मान आहे. आपल्या गावी जैनांचे एक महान् साधु आलेले आहेत, तेव्हा त्यांच्या भेटीला जाऊ या, असा विकल्प स्वामींनी आपल्या परिवाराजवळ व्यक्त केला. लगेच मेणा, पालखी वगैरे सजविण्यास सुरुवात झाली; पण स्वामींनी थोडा विचार करून पुनः सर्वांना आज्ञा केली की, 'एका नग्न दिगम्बर संत महापुरुषाच्या भेटीला जाताना या वैभवाचे प्रदर्शन औचित्यपूर्ण ठरणार नाही. तेव्हा आपण सगळे चालतच जाऊ' असे ठरवून आपल्या शेकडो शिष्यांसह आरूढ स्वामी आचार्यश्रींजवळ येऊन पोहोचले व शास्त्र-सभेत सामील झाले.

एवढा मोठा जनसमुदाय अनपेक्षितपणे शास्त्रास येऊन दाखल झाल्याने क्षणभर गोंधळ उडाला व शास्त्र-वाचन थांबले; पण पुनः क्षणभरातच ते पूर्ववत् चालू झाले. त्यावेळी **मुनि श्री नेमिसागर** (कुडचीकर) शास्त्र वाचीत होते. थोडा वेळ शास्त्र-वाचन चालले. त्या दिवशी सम्यक्त्व व मिथ्यात्वाचे स्वरूप हा शास्त्राचा विषय होता. शास्त्र संपताच मठाधीश आरूढस्वामी आचार्यश्रींना उद्देशून म्हणाले, "स्वामीजी आता शास्त्राच्या वेळी वरचेवर उच्चारलेले '**सम्यक्त्व आणि मिथ्यात्व**' म्हणजे काय ? हे काही समजले नाही. काय त्याचा अर्थ ?"

क्षणाचाही विलम्ब न लावता आचार्यश्री म्हणाले, '**सम्यक्त्व**' म्हणजे '**आत पाहणे**' आणि '**मिथ्यात्व**' म्हणजे '**बाहेर पाहणे**'. माणसाने नेहमी अंतरंगात पाहून आत्मोन्नती साधावी, बाहेर नजर ठेवून आत्मपराङ्मुख होऊ नये. हे उत्तर ऐकता आरूढस्वामी इतके प्रसन्न व तृप्त झाले की, तेच आचार्यश्रींना साष्टांग नमस्कार करून उभे राहिले आणि मुख्यत्वेकरून आपल्या शिष्यसमुदायाला उद्देशून (आचार्यश्रींकडे तर्जनी दाखवून) म्हणाले, '**त्यांना म्हणतात खरे गुरू आणि याला म्हणतात खरा उपदेश ! सगळ्या शास्त्रांचा सार या दोन शब्दांत आला आहे, व तो सांगणाऱ्या ह्या महात्म्यालाच सर्वांनी गुरू मानले पाहिजे.**' त्यानंतर त्यांच्यासह सर्व अनुयायी गणाने पुनः एकदा आचार्यश्रींना परमादराने प्रणाम केला आणि महाराजांच्या थोरपणाची प्रशंसा करीत ते स्वस्थानी परतले. कोणत्या वेळी कोणत्या लोकांना कोणत्या भाषेत सांगावे, समजवावे ह्याचे तारतम्य अलौकिक स्वरूपात महाराजांचे ठिकाणी निसर्गतःच वास्तव्य करून होते. म्हणून ही प्रभावना सहज साधली गेली.

सारांश—आचार्यश्रींना वेळ, काळ, प्रसंग ह्याचे औचित्य साधण्याची अलौकिक कला स्वभावतःच सिद्ध होती.

आचार्य श्री 'पारसमणी'

परिसाचा लोखंडाला स्पर्श झाला की त्या लोखंडाचे सोन्यात रूपान्तर होते. तद्वत् आचार्य श्री देखील पारसमणी होते. सन १९२३ साली आचार्य श्रींचा चातुर्मास **कोण्णूर** (ता. गोकाक) येथे होता. त्यावेळी **नांदगांव** (जि. नाशिक) चे ४।५ यात्रेकरू श्रवणबेळगोळ-गोमटेश्वर स्वामींच्या दर्शना करिता निघाले होते. जाता जाता त्यांना **सांगली** मुक्कामी समजले की, **कोण्णूर** येथे एक महान् तपस्वी दिगम्बर मुनि आहेत. यात्रेकरूंमध्ये दोघे श्रावक मोठे चौकस बुद्धीचे होते, तसेच व्यासंगी होते, कर्मठ होते. त्यांना ही बातमी ऐकून आश्चर्य वाटले.

पंचम काळात महान तपस्वी दिगम्बर मुनि असणे असंभव आहे अशी त्यांची प्रामाणिक समजूत होती. परीक्षा घेण्यासाठी श्रीमान् शेठ हिरालालजी आणि श्रीमान् शेठ खुशालचंदजी दोघेही आचार्य महाराजांसमोर येऊन बसल्यावर पुढील संवाद झाला. शेठ खुशालचंदांनी महाराजांना विचारले, 'आम्ही दोघे आपणाकडे कशासाठी आलो हे आपणास समजले काय ?' तेव्हा महाराज म्हणाले 'नाही.'

'आपणाला **अवधिज्ञान आहे काय**' ? शेठ '**नाही**' महाराज. 'आपण उन्हाळ्यात **डोंगरावर** पावसाळ्यात **वृक्षाखाली**, आणि हिवाळ्यात **नदीकाठी** बसून **तपश्चर्या** करीत असता काय ?' शेठ.

'**नाही**'—महाराज.

'आपण **पक्षोपवास, मासोपवास** वगैरे करता काय ?'—शेठ.

'**नाही**'—महाराज.

'मग आम्ही आपणास मुनी कसे म्हणावे ?'—शेठ.

'मुळीच म्हणू नये'—महाराज.

'**मग हे तुम्ही काय चालवले आहे ?**'—शेठ.

'**मुनिपदाचा अभ्यास आरंभला आहे.** आम्हाला कोणी मुनि म्हटले नाही तरी चालेल. त्याबद्दल आम्हाला काहीच सुखदु:ख नाही.'—महाराज.

हा सगळा संवाद सर्व **भक्तमंडळी** ऐकत होती. त्यांना महाराजांचा हा उपमर्द वाटला. त्या पैकी काही तर **अस्तन्या** सावरून पुढे आले 'आतापर्यंत जे काही बोललात त्यावरून तुम्हाला काही **शिष्टाचार** कळत नाही असे दिसते. आता बऱ्या बोलाने तोंड बंद करा आणि आल्या वाटेने चालते व्हा. नाहीपेक्षा **धक्के मारून** आम्ही तुम्हाला येथून घालवून देऊ. चला उठा पाहू येथून !'—एक बोलला.

महाराज शान्त करीत म्हणाले, '**जरा शान्त व्हा.** हमरीतुमरीवर येण्याचे प्रयोजन नाही. शंका विचारणारांना **दहाही दिशा** मोकळ्या असतात.' पांचदहा मिनटे गेल्यावर महाराज त्या दोघांकडे वळून म्हणाले की, 'आम्ही तुम्हास काही विचारले तर चालेल काय ?' होकार मिळताच महाराजांनी विचारले की—'**हे समोर झाड कसले आहे ?**' समोर बोट दाखवून—महाराज.

'**आम्ब्याचे**'—शेठ खुशालचंद.

'त्याला **आंबे लागलेले तर कोठे दिसत नाहीत !**'— महाराज. 'आज लागलेले नसले म्हणून काय झाले ? **ऋतुमानाप्रमाणे** फळे येतील. उन्हाळ्यात पुन्हा लागावयाचीच आहेत. झाड आंब्याचेच ह्यात शंका नाही.'—शेठ खुशालचंद.

'आज तरी वृक्षाला फळे नसली तरी त्यास आम्रवृक्ष जसे नाकबूल करता येत नाही त्याचप्रमाणे **आजचे मुनि जरी अवधिज्ञानी नसले** व पूर्वीच्या चतुर्थ काळातील मुनी प्रमाणे **पक्षोपवास, मासोपवास** हीन संहननामुळे करू शकत नसले तरी त्यांचे मुनिपद नाकबूल करता येत नाही. संहनना प्रमाणे ज्ञान वैराग्यात तरलमता जरी राहिली तरी ती पदे नाहीतच अशी **एकान्तिक** मते नकोत.'—महाराज.

महाराजांची प्रशान्त मूर्ती, निर्विकार वृत्ती, मृदुमधुर वाणी आणि अढळ धर्मश्रद्धा पाहून उभयतांची समजूत पटली. त्यांनी **महाराजांचे पाय धरले.** त्यांच्या अन्तःकरणाचे पाणी झाले. त्यांनी परस्पराकडे एकदा अर्थपूर्ण नजरेने पाहिले व दोघेही हात जोडून **जिनदीक्षेची याचना करू लागले.** 'आज तुम्ही यात्रेला निघालात ती पूर्ण करून या. त्यानंतर यासंबंधी निर्णय घेऊ या.' —महाराज म्हणाले.

यात्रा पूर्ण झाली. **समडोळी** (जि. सांगली) मुक्कामी महाराजांच्या चरणसानिध्यात दोघांनीही **जिनदीक्षा धारण केली.** शेठ हिरालालजी म्हणजे आचार्य श्री **वीरसागर महाराज** व शेठ खुशालचन्दजी म्हणजे **मुनि श्री चन्द्रसागरजी महाराज** हे होत.

आचार्य श्रींच्या संपर्कात जीवनाचे सोने असे होई.

आचार्यश्रींची अपूर्व समयसूचकता

आचार्य महाराज विहार करीत **काशी-बनारस** येथे आले. मुक्काम दि. जैन महाविद्यालय भदैनीघाट येथे होता. पूर्वीच महाराजांबद्दल **औत्सुक्य** पसरले होते. महाराज महान् ज्ञानी, महान् तपस्वी अशी खूप प्रसिद्धि होती आणि शालेय शिक्षण मात्र फारसे झालेले नाही. केवळ तीन चार इयत्ता हे ऐकून महाराजांच्या ज्ञानाची चाचणी घेण्याच्या विकल्पाने काही **ब्राह्मण पंडित** भेटावयास आले. त्यांनी **प्रश्न छेडला की**—आपण चामड्यातील तेल, तूप, हिंग, पाणी वगैरे पदार्थ ग्रहण करीत नाही हे खरे आहे काय ? '**होय खरे आहे**' महाराज. 'तर मग ओल्या सजीव रक्तमांसांतून झिरपून येणारे दूध, दुधापासूनचे तूप कसे काय चालते ? गाई म्हशी तर सप्तधातूच्या शरीराच्या असतात. त्यांच्या शरीरातून येणारे दूध शुद्ध कसे ?' '**वस्तुस्वभावोऽतर्कगोचरः**' हा वस्तुस्वभाव आहे. तेथे तर्क चालत नाही. गाई व म्हशीच्या एका चाऱ्यापासूनच जसे रस, रक्त, मांसादि सप्तधातु निर्माण होतात त्याचप्रमाणे दूध हा पदार्थ निर्माण होतो. ते दूध स्वभावतः शुद्ध आहे आणि मांसादि अशुद्ध आहेत. याशिवाय ते दूध प्राण्यांना काहीही दुखापत न करिता काढले जाते म्हणून ते सेव्य आहे अर्थात **भक्ष्य** आहे. हीच परिस्थिति **वनस्पतीत** आहे. ज्या वनस्पतीची पाने फुले ही अमृताप्रमाणे संजीवन देतात पण त्याचीच मुळे खाल्ली तर माणूस प्राणास मुकतो. धर्ममार्तंडांनी 'हे काही आम्हास पटत नाही' अशी नकारार्थी मान डोलावली. सभा त्यांचा कोडगेपणा

पाहून चिंतित झाली. वादाचा शेवट काय होणार ह्या विवंचनेत ते होते. पंडित लोक असेच शहरभर आपल्या विजयाचा व जैनाचार्यांच्या अज्ञानाचा डांगोरा पिटतील ही चिंता रास्तही होती.

पण काही क्षण स्तब्धतेत गेल्यावर आचार्य महाराज प्रशान्त मुद्रेने त्या ब्राम्हण पंडितांकडे पहात म्हणाले 'आम्ही आपणांस काही विचारले तर चालेल का?' 'अगदी अवश्य' ते सर्व जण एका आवाजात म्हणाले. '**ही गंगा नदी शुद्ध आहे की अशुद्ध**?'— महाराज 'गंगाच काय पण यमुना, कृष्णा, सरस्वती, नर्मदा ह्या सर्व **नद्यांचे पाणी** शुद्ध आणि पवित्र आहे'—ब्राम्हण पंडित. गंगेच्या उगमापासून बनारसला येईपर्यंत ह्या गंगेला अनेक नद्या, नाले, गटारे येऊन मिळाली असतील **हे खरे काय**?'— महाराज. '**अगदी खरे**'– पंडित. 'शहराचे सर्व सांडपाणी ह्याच प्रवाहात सोडलेले आहे. शिवाय काशी येथे **मणिकर्णिका घाटावर दहन करण्यात येणारी अर्धवट** जळालेली **प्रेते** व पूर्ण जाळलेल्या प्रेतांचे हाडादिकांचे अवशेष दररोज ह्यात समाविष्ट होतात **हे खरे आहे ना**?'—महाराज. '**खरे आहे**'—पंडित. गंगेत मगर, मासे, बेडूक, सर्प आदिक जलचर प्राणी मरतात त्यांची शरीरे तेथेच कुजतात. आणि हे जेव्हा जिवंत विहार करतात तेव्हा मलमूत्र तेथेच विसर्जन करतात, **हे खरे ना**?'–महाराज. '**हेही खरे**' पंडित.

'एवढे सगळे असूनही गंगा नदी ही परम पवित्र जशी असू शकते तसेच रक्त-मांसमय सप्तधातुमय शरीरातून मिळणारे गाई-म्हशीचे दूध हे पवित्र-शुद्ध-ग्राह्यच असू शकते.' आचार्यश्रीची उपदेश पद्धति बाळबोध-मूलग्राही पण प्रभावी होती ती अशी.

त्यांना सहा महिन्यानंतर पहा

[श्री. पू. आदिसागर महाराजांचा कारंजा येथे चातुर्मास असतांना त्यांच्याशी आचार्य श्री व ते स्वतः यासंबंधी बोलणे झाले. ह्यांतून टिपलेली ही एक आठवण; महाराजांचा स्वभावविशेष प्रगट करीत असल्यामुळे ती येथे देणे उचितच होईल.]

डॉ. हेमचंद्र वैद्य

शेडवाळ (ता. अथणी, जि. बेळगांव) येथील एक संयमशील श्री **बाळगौंडा पाटील** हे वैराग्याकडे वाटचाल करीत असता रक्तक्षयाच्या व्याधीने त्यांना पछाडले. वर्तमान पर्याय सत्कारणी वेचावा हा आंतरिक भाव होता.

भगवती दीक्षा धारण करण्याचा मनोदय व्यक्त झाला. मुहुर्तासाठी काही दिवस गेले. दीक्षा देण्याचेही निश्चित ठरले. हे दर्शनाला येणाऱ्या काही श्रावकांच्या लक्ष्यात आले. हे काही बरोबर होणार नाही या विचाराने आचार्यांना विनविले, 'महाराज! आम्ही पामरांनी आपणांस शिकवावे असे नाही. क्षमा असावी. आपण ज्यांना दीक्षा देण्यासाठी मुहूर्त पाहात आहात तो ब्रह्मचारी **रक्तक्षयाने** मृत्युची **वाट चालू** लागला

आहे. अशा माणसाला दीक्षा कशी पेलणार ?' ह्यावर, महाराज श्री स्मितपूर्वक आत्मविश्वासाने म्हणाले 'ह्याला आणखी सहा महिन्यानंतर पहा' ह्यावर सर्वांना गप्प बसणे प्राप्त झाले.

इ. स. १९५४ मार्च महिन्यात म्हणजे फाल्गुनच्या अष्टाह्निक पर्वात दीक्षाविधी संपन्न झाला. चैत्र वैशाख संपेपर्यंत त्यांचा आजार देखील कोणत्याही उपचाराशिवाय संपुष्टात आला. पुढच्या सहा महिन्यांत तर पाटील गृहस्थाश्रमात देखील नव्हते असे धष्टपुष्ट दिसू लागले.

पूर्वी दीक्षा देऊ नका असे महाराजांना सांगितले होते ते लोक आश्चर्यचकित झाले व महाराजांच्या अनुमानज्ञानाची प्रशंसा करू लागले. ह्या शेडवाळच्या ब्रह्मचाऱ्याला दीक्षा दिल्यानंतर त्यांचे नाव 'श्री आदिसागर' असे ठेवण्यात आले.

तज्ज्ञ डॉक्टर वैद्य सांगू शकले नसते ते श्री आचार्य महाराजांनी सहजस्फूर्त सांगितले व शंभर टक्के सत्य निघाले. आचार्यांची ज्ञानाची निर्मलता ही अशी सातिशय होती.

आचार्यश्रींचा पराकोटीचा त्याग व निरतिचार आचार
(चतुर्थकालीन मुनिचर्येचे एक चालते बोलते प्रत्यक्ष प्रतीक)

श्री १०८ वृषभसागर मुनिमहाराज

नसलापूर मुक्कामी स्वाध्याय चालू असताना मुनि लोकांना आहारांत काय काय वस्तु घेता येतात ह्याची सांगोपांग चर्चा निघाली. तेव्हा श्रोत्यांनी महाराजांना स्पष्टपणे विचारले की, "महाराज मुनींना आहारात इतक्या सगळ्या वस्तु घेण्यास प्रत्यवाय नाही असे स्पष्ट लिहिले असताना आपण मात्र गेले ७/८ वर्षे केवळ दुधभात आणि पाणीच घेत आहात ह्याचे कारण काय ?" "याचे कारण एवढेच की; देणारे फक्त तीनच वस्तु देतात." श्रोत्यांना हे ऐकून विजेचा तीव्र धक्का बसावा तसे झाले. व ते समजले की, महाराज या तीन वस्तूंखेरीज काही घेतच नाहीत. आणि ही समजूत तर निखालस खोटी व गैरसमजावर आधारलेली होती. पण त्याबद्दल आचार्य महाराजांनी कधी कोणाजवळ 'ब्र' शब्द उच्चारलेला नव्हता.

श्रावकांची केवढी भयंकर चूक आणि महाराजांचा केवढा अपूर्व त्याग. सर्वांना घोर पश्चात्ताप झाला. गेल्या संपूर्ण आठ वर्षांच्या मुदतीत असा प्रश्न विचारणारा एक जरी श्रावक निघाला असता तर या आठ वर्षांच्या श्रावकांच्या प्रमादामुळे लादलेल्या उपासमारीतून आचार्य महाराजांची मुक्तता झाली असती. पण महाराजांनी प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष त्याबद्दल चर्चा केली नाही. आज सहज विषय निघाला म्हणून गैरसमज निघाला. नाही पेक्षा आणखी किती तरी वर्षे हे असेच चालू राहिले असते. आचार्य महाराजांच्या त्यागाची महती कोण व कशी वर्णन करू शकेल ? असा हा संयम व त्यागाचा आदर्श महाराजच उभा करू शकले.

यानंतर श्रावक मंडळीत अतिशय खळबळ उडाली. कारण यास श्रावकांचा प्रमाद व अज्ञानच जबाबदार होते. आता जो तो स्वतःच्या चुकीबद्दल स्वतःचीच निर्भर्त्सना करीत होता. पण गेलेली आठ वर्षे परत येणार होती थोडीच ! फार तर भविष्यांत सावधगिरी बाळगता येईल एवढेच.

दुसरे दिवशी सर्वांनी आहारात मोठ्या उत्सुकतेने चटणी भाजी वगैरेची तरतूद केली व अतीव उत्साहात आहार देण्याच्या तयारीने उभे राहिले पण काय ? आचार्य महाराजांनी पुन्हा पूर्ववत दूध भात आणि पाणीच घेतले नी खाली बसले. पुन्हा चर्चा सुरू ? शास्त्राचे वेळी (पुन्हा प्रश्नोत्तरे)

महाराज आज आमचे काय चुकले ?

महाराज म्हणाले : तुम्ही पीठ केव्हा दळले ?

श्रावक :– आज पहाटे दोन तास रात्र असताना.

महाराज :– ठीक ? तिखट केव्हा कुटून ठेवले ?

श्रावक :– चैत्र वैशाखाच्या उन्हाळ्यात !

महाराज :– मग आम्ही ते कसे घेणार ?

श्रावक उमगले. त्यांनी आपली दूसरी चूक दुरुस्त केली. व तिसऱ्या दिवशी भाकरी भाजी चटणी असा आहार, गेल्या आठ वर्षांनंतर घेतला गेला.

तो आहार घेताना यत्किंचितही असंयम, घाई त्यांना झाली नव्हती, तसे असते तर आदल्या दिवशीच त्यांनी ती घेतली असती.

पण आचार्य महाराजांचा पराकोटीचा संयम, तप आणि भक्ष्याभक्ष्याचा विवेक तीव्रतेने जागृत होता. हे सिद्ध होते हे केवळ आचार्य श्री करू जाणे.

धन्य ते आचार्य ? धन्य त्यांचा संयम ? धन्य त्यांचा भक्ष्याभक्ष्य विवेक ? धन्य त्यांची अबोल घृत्ती ? व धन्य ते चतुर्थकालीन मुनिवृत्तीचे प्रत्यक्ष दर्शन घडविणारे आचार्य शांतिसागर !

आचार्यश्रींचा उद्दिष्ट आहारत्याग

पन्नास वर्षांपूर्वीचा काळ ! आचार्य महारांजांचा चातुर्मास नसलापूरला होता. महाराज आहारात मोजक्या वस्तु घेत असल्यामुळे आहार देणे फारच सोपे होते. त्यामुळे आहारदानाचे पुण्यउपार्जन करण्यासाठी चढाओढ लागली होती. पण आहाराला योग्य असे एकच स्थान निर्माण करण्यात आले होते व ते म्हणजे श्री. श्रीमंधर कत्ते ह्यांच्या घरातील एक खोली. ज्या कोणाला आहार द्यावयाचा असेल त्यांनी त्यांच्या खोलीत स्वयंपाक करावा आणि आहार द्यावा असा जणू संकेतच ठरल्यासारखा झाला होता.

परगावचे लोक आहारदानासाठी मोठ्या उत्साहाने येत असत. पण आहारदानासाठी त्यांचा नंबर लागणे ही त्या घरमालकाच्या इच्छेची बाब होऊन बसली होती. एखाद्याला त्याच दिवशी मिळे तर

एखाद्याला ८।१० दिवसपर्यंत ती मिळू शकत नसे. ८।१० दिवसपर्यंत प्रतीक्षा करणारे तसेच बाजूस राहून आदले दिवशीच आलेल्यांना खोली मिळे. महाराजाना या गोष्टीची कल्पना नव्हती.

एके दिवशी एक गृहस्थ त्रस्त होऊन व्याकुळतेने म्हणाले, महाराज, 'गेल्या आठ दिवसांपासून आम्ही खोलीसाठी वाट पहात आहोत. पण ती आम्हाला मिळत नाही. पण कालच बाहेर गावाहून आलेल्यांना ती मिळाली.'

हे ऐकून महाराजांना ह्या पद्धतीत उद्दिष्ट आहाराचा विकल्प जाणवला. दुसरे दिवशी त्या खोलीत आहार न घेण्याचा संकल्प करून महाराज आहाराला निघाले. पण अन्यत्र कोठेच चौका नसल्यामुळे गावात फेरी मारून महाराज उपवास धरून बसले. लोक सचिंत झाले. पण दुसरे दिवशी अन्यत्र अनेक चौक्यांपैकी एके ठिकाणी आहार घेतला गेला.

अशा रीतीने दक्षता घेऊन आचार्य महाराजांनी दोन गोष्टी साधल्या. (१) उद्दिष्ट आहार त्याग, (२) नकळत होणाऱ्या अन्यायावर उपाय !

गृहस्थजीवनातील घटना

प. पू. १०८ श्री महाबल मुनीमहाराज

जगावेगळा दयाळूपणा

बालपण, तारुण्य व गृहस्थी जीवनातही दया, परोपकार, कनवाळूपणा हा त्यांचा स्थायी भाव होता. तसाच संसारामध्ये गुंतून राहण्याचा भाव नसल्यामुळे विरक्ततेला पोषक भूमिका होती. त्यांना वडिलांनी शेतराखणीकरिता पाठविले होते. पक्ष्यांना शेताबाहेर सर्वच घालवितात. परंतु यांनी शेताबाहेर घालविणे तर दूरच, परंतु आपल्या शेतांतील झाडाच्या एका उंच फांदीत रुंद तोंडाचे मातीचे मोठे भांडे पाण्याने भरून शिंक्यासारखे लोंबकळत ठेवले होते. 'कशासाठी ?' असे विचारल्यावर ते म्हणाले, 'हुरडा खाल्ल्यावर त्यांना पाणी पिण्यासाठी बाहेर जाण्याचे कष्ट पडू नयेत म्हणून.' प्राणिमात्राविषयी त्याना दयाबुद्धी होती. रखवाली तर ते झाडाखाली पंच णमोकार मंत्राचा जप करीत करीत करत.

परमार्थीला प्रपंच नकोच असतो

हा व्यवहारातील गैर प्रकार पाहून त्यांचे वडील बंधूंनी त्यांना दुकानावर बसविले. तेथेही ते गिऱ्हाईकांना माल देऊन त्यांचेकडे असतील तेवढे पैसे घेत व माल उधार देत. उधारीच्या वसूलीसाठी तगादा तर सोडाच पण मागणीही करणे त्यांना जड जाई.

लोकविलक्षण मनोवृत्तीचे पूर्वरूप

एकदा ते शास्त्रस्वाध्यायासाठी मित्राकडे गेले होते. परतण्यास ११॥ वाजले. ते आपल्या वाड्यापाशी येतात, तो त्यांना एक चोर गुळढेप चोरताना आढळला. सहज नजरभेट झाली. मी समोर गेल्यास तो चोर भेली न नेता सोडून पळून जाईल, त्याने भेली तर न्यावी म्हणून लघुशंकेच्या निमित्ताने आडोशाला बसले, तर चोर, हा गृहस्थ आत गेला म्हणजे बाहेर जावे या इरादाने, वाड्याच्या मोठ्या दरवाज्या मागे लपला ! बराच वेळ होऊनही तो चोर जात नाही म्हणून हे हळूच वाड्यात गेले व जाताना त्या चोरास ढेप नेण्यास खुणवून सोप्यात गेले. परंतु ही हकीकत त्यांनी तेव्हा घरातील कोणासही सांगितली नाही.

हजरजबाबीमध्ये बिरबलावर मात

महाराजांचा संघ विहार करत कोल्हापुरी असताना त्याचे प्रवचन ऐकण्यास संस्थानाधिपती सरकार आले होते. प्रवचनानंतर मंत्र्याने नम्रतेने व आशेने विचारले की, 'आमच्या सरकारांना पुत्रसंतान नाही. ते, केव्हा होईल ?' तेव्हा अवधिज्ञान नसताना हे साधु काय सांगतात इकडेच सर्व पाहात होते. महाराज स्मितहास्यपूर्वक म्हणाले की, "सध्या आपल्या राजाच्या पोटी जन्म घेण्यासारखा पुण्यवान जीव कोणी नाही म्हणून राणीच्या पोटी येणार नाही" शास्त्रावरील अढळ विश्वासच जणू सहज बोलून गेला.

सहज नर्म विनोद

महाराजांची वृत्ति नेहमी प्रफुल्लित आनंदी असे. सहज विनोद त्यामुळे व्यवहारात दिसून येई. ते ध. ब्र. बाबुराव मार्ले यांना विनोदाने म्हणत, 'यापूर्वी आपण कोणास मारले म्हणून आपणास 'मार्ले' असे आडनाव पडले ?' तेव्हा आजुबाजूंच्या श्रावक मंडळीत हशा पिकत असे.

गुरुशिष्याची अपूर्व भेट

१९५२ मध्ये आचार्य महाराज फलटण (अनुग्रह तो अनुग्रह) येथे असताना एके दिवशी सायंकाळी श्रावकांना सांगितले की, 'उदईक' पायसागर मुनी आमचे दर्शनास येणार. त्यांच्या प्रवचनास लोक फार जमतात, जागा पुरणार नाही म्हणून श्री १००८ आदिनाथ मंदिराबाहेरील पटांगणात प्रवचनाची व्यवस्था करावी व संघस्थांची धर्मशाळेत सोय करावी.' परंतु त्याच रात्री महाराजांच्या अचानक आतून आवाज आला व ते एकदम दहिगावकडे निघून गेले. महाराज श्री नेमीसागर समवेत बाहेरच्या गुंफेकडे निघून गेले. महाराजांच्या संकेताप्रमाणे गावातील श्रावक लोक पू. पायसागर महाराजांचे आगतस्वागतासाठी कुंभ डोक्यावर घेतलेल्या सुहासिनींसह सामोरे गेले. त्यांना गावामध्ये आणले. २२ वर्षांपासून गुरूचे दर्शन झाले नसल्यामुळे ते प्रथम महाराजांच्या निवास गुंफेकडे गेले. दोघेही बाहेरच बसले होते. गुरुदर्शनाचे आतुरतेने देहभान विसरून 'हेच आचार्य देव' म्हणून श्री नेमीसागर महाराजांचे समोर दर्शनासाठी बसले. तेव्हा नेमीसागर महाराजांनी मात्र आचार्य श्री शेजारीच बसले आहेत असे हाताने संकेत करून सूचित केले. नंतर त्यांनी सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति व आचार्यभक्ति पूर्वक त्रिवार नमोऽस्तु केला. लगेच क्षणाचाहि विलंब न करता महाराजांनी योग्य भावाने प्रतिलेखन करून म्हटले, "आजपावेतो कोणी कितीही आपणाविरुद्ध

सांगितले तरी त्यांचा आमचेवर काहीच परिणाम नाही. आपणासंबंधी माझ्या मनात कोणताही किन्तु नाही. प्रत्यक्ष भेटीचा बावीस वर्षांने योग आला" तेव्हा श्री पायसागर महाराज म्हणाले, "होय गुरुदेव ! २२ वर्षे आपले दर्शन न झाल्याने आपणास एकदम ओळखू शकलो नाही म्हणून मी श्री नेमीसागर महाराजांचे समोर झालो." तेव्हा आचार्य श्री म्हणाले, "आता सामायिकाची वेळ झाली आहे. आपण मंदिराकडे जावे."

सरळ व स्वच्छ अंतःकरणाचा तो परस्पर वार्तालाप व ते २२ वर्षानंतर भेटीचे मीलनाचे दृश्य पाहून उपस्थित श्रावकसमूहाच्या डोळ्यातून आनंदाश्रु वाहू लागले. तर दीर्घ कालानंतर गुरुदर्शनाने पायसागर महाराजांचे हृदयही शांत झाले.

अशा मृदु, समयसूचक संवादानंतर दुसरे दिवशी सर्व त्यागीगण गुंफेच्या आग्नेय भागाला बहिर्दिशेला जाऊन परतताना एकान्तामध्ये श्री पायसागर मुनी आ. श्री शांतिसागराचे पादवंदन करून विनंतीपूर्वक म्हणाले, "गुरुवर्य ! फार दिवसांपासून आपणाकडून प्रायश्चित्त मिळाले नाही तरी आज प्रायश्चित्त द्यावे." आचार्य महाराज म्हणाले, "उठ रे बाबा ! तू काय अज्ञानी आहेस. कोणताही दोष तुझ्याकडून घडला तर तू स्वतः प्रायश्चित्त घेऊन शुद्धीकरण करीतच आलास. पुढेही असेच विशुद्ध जीवन धर्ममार्गाने घालवावे." तेव्हा आचार्य महाराजाबरोबर ब्र. बाबुराव मार्ले कमंडलु घेऊन तर पायसागर महाराजांचे मागे १०५ क्षु. महाबल (आताचे स्मृति लेखक श्री १०८ श्री महाबल महाराज) होते. पायसागर मुनी हसत म्हणालेत, "तूही येथे उभा आहेस का ?" क्षुल्लक महाबल उद्गारले, "होय महाराज ! आपल्या गुरु-शिष्य संवाद ऐकून व दृश्य पाहून कान व डोळे कृतार्थ झाले." अशा प्रकारे पायसागरांना जणू नवजीवन प्राप्त झाले असा. होता आचार्यश्रींचा शिष्यावर अनुग्रह !

आचार्यश्री : एक युगपुरुष

डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, एम्. ए., डी. लिट्.
जैनॉलॉजी विभागप्रमुख, म्हैसूर विद्यापीठ

निर्ग्रन्थ मुनींची परंपरा

दक्षिणेत विशेषतः कर्नाटक व दक्षिण महाराष्ट्र या भागात निर्ग्रन्थ मुनींची परंपरा अखंड चालू आहे अशी माझी समजूत आहे. विशेषेकरून मैसूरकडील निर्ग्रन्थ मुनी केव्हा केव्हा दक्षिण महाराष्ट्रात येत होते या गोष्टीची आठवण मला आहे. आंता तो शब्द रूढ नाही, परंतु निर्ग्रन्थ मुनींना '**निर्वाण स्वामी**' असे म्हणत असत. हा शब्द अजूनही अशिक्षित लोकांमध्ये रूढ आहे. साठ एक वर्षांच्या पूर्वी इकडे विहार करीत असलेल्या निर्वाण स्वामींत दोन वर्ग होते. जे सदैव काही भिक्षेच्या वेळी निर्वस्त्र राहून बाहेर येताना अंगावर एक वस्त्र ठेवीत असत. पाण्यासाठी एक कंमडलु, एक मयूर पिंछ व एक दान शास्त्र एवढाच निर्वाण स्वामींचा परिग्रह असे.

त्यावेळी निर्वस्त्र निर्वाण स्वामींमध्ये '**सिद्धप्पा स्वामी**' होते. त्यांचे गाव अथणी तालुक्यात होते. त्यांचे प्रत्यक्ष दर्शन मला घडले नाही; तथापि हातात जपमाला घेऊन उभा असा फोटो पाहिलेला मला आठवतो. तसेच त्यांची ख्याती मात्र फार मोठी होती. त्यांच्या पूर्वी या भागात होऊन गेलेले म्हणजे '**विद्यासागर मुनी.**' यांचे स्मरण आजही अकिवाटला दाखविले जाते. त्यावेळी मुनिपदाचे नाव न घेता त्यांच्या खुद्द नावाने किंवा गावाच्या नावाने ते प्रसिद्ध होते. अशापैकी **निल्लिकार अनंतकीर्ती, गुडेबंडी स्वामी** व **अमीनभावी स्वामी या** तिघांचे मला स्मरण आहे. अमीनभावी स्वामी ग्रंथ-लेखनाचे सदैव काम करीत असत, आणि फक्त भिक्षेच्या वेळी मात्र ते निर्वस्त्र असत.

मैसूरकडून आलेले परंतु आमच्या भागात फार प्रसिद्ध पावलेले एक ऐल्लकँ स्वामी म्हणजे '**बिदरे पायसागर**' हे होत. ते अत्यंत अभ्यासू वृत्तीचे व स्वाध्यायपरायण होते. त्यांनी आपले अखेरचे दिवस मंड्या येथे घालविले.

म्हैसूर भागातूनच आलेले आणखी एक प्रसिद्ध निर्वाणस्वामी म्हणजे '**देवप्पा स्वामी**' होत. त्यांचे मुनिपदाचे नांव '**वृषभसेन**' किंवा '**देवेन्द्रकीर्ति**' असे होते. ते निर्वाण स्वामी असले तरी भिक्षेच्या वेळी तेवढेच निर्वस्त्र होत होते. बाकीच्या वेळी एकच छाटी ठेवीत असत. चिक्कोडी वगैरे तालुक्यात ते अत्यंत पूजनीय होते आणि विशेषेकरून ते याच भागात राहात असत. याच सुमारास बोरगांव येथील गुंफेमध्ये रहात असलेले निर्वाणस्वामी म्हणजे '**आदिसागर**' होत. ते सदैव नग्न रहात असत. त्यांचे विहारक्षेत्र अगदीच संकुचित होते. लांब लांबचे श्रावक लोक बोरगांवला येऊन त्यांची भिक्षा करण्यात स्वत:ला धन्य समजत. ते आठवड्यातून एकदाच भिक्षा करीत असत. मग ती ऋतुमानाप्रमाणे आम्ररस असेल वा उसाचा रस असेल.

सातप्पा व रत्नप्पा स्वामी

या वातावरणात प्रादर्भूत झालेले निर्ग्रन्थ मुनी म्हणजेच '**आचार्य श्री शांतिसागर मुनी**' होत. त्यांचे मातृगृह यळगुड येथे होते आणि तेथेच त्यांचा जन्म झाला होता. त्यांचे पितृगृह भोज येथे आणि ही दोन्ही गावे जवळच आहेत. पुढे महाराज 'शांतिसागर' या नावाने प्रसिद्ध झाले तरी आमच्या भागात त्यांना 'सातगौंडा स्वामी' या नावानेच संबोधीत असत. त्यांचे समवयस्क असे भोजेतच जन्मलेले दुसरे एक निर्ग्रन्थ स्वामी होते. ते '**रत्नप्पा स्वामी**' या नावाने ओळखले जात. जेव्हा जेव्हा भोजच्या या दोन्ही निर्ग्रन्थ स्वामींचे नाव एकत्र घेण्याचा प्रसंग येत असे, तेव्हा तेव्हा हे दोघे 'सातप्पा व रत्नप्पा स्वामी' असे म्हटले जात.

श्री रत्नप्पा स्वामींबद्दल येथे चार शब्द नमूद करणे मला आवश्यक वाटते. ते सदैव नग्न राहात असत. त्यांची चर्याही फार कडक होती. स्वभावाने थोडे ते तापट होते, परंतु सदैव स्वाध्याय व ध्यान यात मग्न असत. त्यांचे अखेरचे दिवस कडक तपश्चर्येत गेले आणि बेडकीहाळ येथे सल्लेखना मरण त्यांना शांतीने प्राप्त झाले. या मृत्युमहोत्सवात आजूबाजूच्या जैनच नव्हे जर जैनेतर लोकांनी देखील भाग घेतला

होता. माझ्यावर त्यांचा लोभही होता व त्यांच्या सल्लेखना-मरणाच्या दिवशी तेथे असण्याचा योग मला प्राप्त झाला होता.

गुरूंनाही दीक्षा देणारा शिष्य

आरंभीच्या काळात श्री शांतिसागर महाराज यांना आमच्या भागाबाहेर फारशी प्रसिद्धी मिळाली नव्हती. अशा वेळी सुद्धा आपल्या निर्दोष चर्येने, उपदेशाने व शांत स्वभावाने त्यांनी जनमानसात वरचे स्थान मिळविले होते. आजूबाजूच्या लोकांची भक्ती त्यांच्यावर फारच असे. त्यांनी मुनिदीक्षा घेतली होती ती वर उल्लेखिलेल्या **श्री देवाप्पा स्वामी** यांच्याकडून. आचार्य महाराज मात्र निर्ग्रन्थ दीक्षा घेतल्यानंतर निर्वस्त्र राहून निर्लेप चर्या पाळू लागले; **इतकेच नव्हे तर पुढे आपल्याच गुरूंना निर्वस्त्र दीक्षा दिली ही फार महत्त्वाची गोष्ट आहे.** श्री देवाप्पा स्वामी यांचा लोभ बालपणी मला मिळाला होता. निर्वस्त्र दीक्षा घेतल्यानंतर ते आमच्या भागात फारसे आले नाहीत व प्राय: श्रवण बेळगोळलाच राहिले; १९३५ साली मी त्यांचे दर्शन घेऊन आमच्या भागात येण्यासाठी त्यांना आग्रह केला. तेव्हा नम्रतेने त्यांनी मला सांगितले, ' मी त्या भागात आता येऊ इच्छित नाही. **तिकडे तर आता माझे शिष्य म्हणा अथवा गुरू म्हणा निर्वाण स्वामी शांतिसागर हे आहेतच.** '

आचार्यश्रींच्या दर्शनाचे योग

आचार्यश्री शांतिसागर महाराज यांचा जन्म पाटील घराण्यात झाला आहे. भोजकर पाटलांचे संबंध मोठमोठ्या पाटील घराण्यांशी असल्यामुळे गळतगा, शेडबाळ, कोगनोळी इत्यादी ठिकाणी लोक आपुलकीच्या भावनेने त्यांचे स्वागत करीत असत. वेळोवेळी महाराजांच्या दर्शनासाठी मी जात असे. मला आठवते त्यांचा केशलोच गळतग्याला होता आणि त्यासाठी मी चालत गेलो होतो. त्यावेळची महाराजांची शांत मूर्ती आजही माझ्या स्मरणात आहे. दिवंगत श्री. भूपाल अण्णा जिरगे यांच्या बरोबर एकदा नसलापुरास व दुसऱ्यांदा शेडबाळास मी गेलो होतो. महाराजांचा उपदेश व्यवहारातील उदाहरणांनी परिपूर्ण असे व साधारण लोकांवर त्याचा फार इष्ट परिणाम होत असे. मी कोल्हापूरला नोकरीला आल्यानंतर माझ्या हातून प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश वगैरे ग्रंथांचे संपादन झाले व त्यांच्या प्रती महाराजांच्या हातीही पोहचल्या. वर्षातून एकदा तरी मी महाराजांच्या दर्शनास जात असे आणि महाराज माझ्या कामाबद्दल समाधानही व्यक्त करीत. सांगली मुक्कामी महाराजांनी मला सांगितले (ते सदोदित माझ्याबरोबर कानडीच बोलत. कारण भोज व माझे गाव सदलगा ही ५।६ मैलांच्या अंतरावर आहेत आणि तेथे जैन मंडळी कानडीतच बोलतात) ' तुझे इंग्रजी मला काही समजत नाही. ' मी अत्यंत नम्रपणाने सांगितले, आपले पुष्कळच लोक हिंदी-मराठी-कानडीतच लिहितात. म्हणून मी इंग्रजीमध्ये लिहू इच्छितो. मला आपले आशीर्वाद असू द्यावेत.

गैरसमज दूर झाला

महाराजांचा चातुर्मास समडोळी येथे होता. मी संपादित केलेला आचार्य **हरिषेणांचा बृहत्कथा कोष** त्यांच्या हाती पोहोचला होता. तो ग्रंथ सिंधी ग्रंथमालेत प्रसिद्ध झाला होता. त्याचवेळी तेथे उपस्थित

असलेल्या माझ्या एका विद्वान् मित्राने हा ग्रंथ श्वेताम्बर आहे असे सांगितले. मला पुढे सांगण्यात आले की, महाराजांना माझे या ग्रंथावरील कार्य तितकेसे रुचले नाही. मी माझ्या विद्वान् मित्रास पत्र पाठवून विचारले की, 'हा ग्रन्थ श्वेताम्बर आहे असे तुम्ही कोणत्या आधाराने सांगितले ?' उत्तर जे मिळाले ते लपवालपवीचे होते. कारण माझ्या विद्वान् मित्राने मला सांगितले, 'हरिषेण म्हणजे मी 'हरिभद्र' समजलो. म्हणून तो ग्रन्थ श्वेताम्बर असे महाराजांना सांगितले.' पुढे जेव्हा महाराजांच्या दर्शनासाठी मी गेलो तेव्हा या गोष्टीचा मी खुलासा केला. मग महाराजांना बरे वाटले. त्याचवेळी मी या गोष्टीचाही महाराजांना खुलासा केला की माझ्या संशोधन-क्षेत्रात जैनच नव्हे तर जैनेतर ग्रंथांचाही समावेश होतो.

संशोधनातील प्रामाणिकतेबद्दल समाधान

त्यानंतर एक अत्यंत महत्त्वाचा प्रसंग म्हणजे महाराजांचे वास्तव्य सोलापुरी होते. दिवंगत पू. ब्रह्मचारी जीवराज भाई, प्रो. डॉ. हिरालालजी व मी महाराजांच्या दर्शनाला गेलो होतो. ओघानेच 'संजद' पदाविषयी चर्चा निघाली. डॉ. हिरालालजींनी आपली बाजू स्पष्ट केली. महाराजांना ती गोष्ट पटली नसली तरी आमच्या प्रामाणिक मतभेदाबद्दल महाराजांनी कौतुकच केले. आम्ही उपलब्ध पाठात कधीही बदल करीत नाही. पाठभेद मिळाले ते तेथे नमूद करतो हे ऐकून महाराजांना समाधान वाटले.

सदैव वाङ्मयसेवेसाठी आशीर्वाद

पुढे एकदा माझे मित्र प्रिं. पत्रावळी (त्यांच्या सौभाग्यवतीही बरोबर होत्या) बरोबर मी महाराजांचे दर्शन शेडबाळ मुक्कामी घेतले. दर्शन घेतल्यानंतर प्रिं. पत्रावळींचा परिचय महाराजांना करून देताना सांगितले, 'प्रिं. पत्रावळी लवकरच रिटायर्ड म्हणजे सेवानिवृत्त होणार आहेत.' महाराजांनी पत्रावळींना उपदेश दिला व दीक्षा घेण्यास सांगितले. उपस्थित मंडळीपैकी माझ्या एका मित्राने 'संजद' शब्दाविषयी चर्चा उकरून काढण्याचा प्रयत्न केला; परंतु महाराजांचा कल मला माहीत असल्यामुळे मी तो विषय जाणूनबुजून टाळला. **दर्शन घेऊन निघताना सदैव वाङ्मय-सेवा करीत राहण्यास आशीर्वाद मिळाला** व त्यांचे ते दर्शन अखेरचे ठरले. ही गोष्ट १९५४-५५ सालातील आहे.

व्यक्तिमत्व व कार्य

१. मिथ्यात्वाचे उच्चाटन

आचार्यश्री शांतिसागर महाराजांचे व्यक्तिमत्व व त्यांच्याकडून घडलेले कार्य यांचे येथे सिंहावलोकन करणे प्राप्त आहे. या भागात पूर्वी कुलदेवतांच्या पूजेचा फारच प्रचार होता आणि ते एका अर्थाने मिथ्यात्वच होते. **याचे उच्चाटन करण्याचे प्रधान श्रेय आचार्यश्री शांतिसागर महाराजांनाच आहे.** पाटील घराण्याशी त्यांचा जवळचा संबंध असल्याने हे कार्य त्यांच्याकडून फार सुलभतेने होऊ शकले.

२. निर्ग्रन्थ दीक्षेचे पुनरुज्जीवन

महाराजांच्या आदर्श जीवनाने निर्वस्त्र निर्ग्रन्थ दीक्षेचे या भागात पुनरुज्जीवनच झाले. त्यांच्या विहारामुळे निर्ग्रन्थचर्या, भिक्षा देण्याची पद्धती, शुद्ध व अनुद्दिष्ट आहार या सर्व गोष्टींना शास्त्रोक्त बैठक मिळाली.

३. अनिर्बन्ध विहार व समाजसंघटन

महाराजांचे विहारक्षेत्र वाढल्याने शेठ रावजी सखाराम दोशी, सोलापूर, संघपती मुंबई, शेठ चन्दुलाल, बारामती इत्यादि सत्त्वशील व धार्मिक शिष्य त्यांना मिळाले; इतकेच नव्हे तर भारताच्या निरनिराळ्या प्रांतांत विहार करण्याची संधी त्यांना प्राप्त झाली ही एक ऐतिहासिक घटना आहे. महाराजांच्या विहारामुळे जैन निर्ग्रन्थ मुनी कोठेही विहार करू शकतात ही गोष्ट सिद्ध झाली. उत्तरेकडील जैनांना शुद्ध निर्ग्रन्थतेची कल्पना आली. **महाराजांच्या पुण्याईने दक्षिणोत्तर जैन समाजातील विविध घटक जवळजवळ आले आणि जैन समाज संघटित होण्यास महाराजांची तपोमूर्ती बव्हंशाने कारणीभूत झाली.**

निर्ग्रन्थ दीक्षेची प्रतिष्ठा वाढली

ठिकठिकाणी महाराजांनी धार्मिक कृत्यांना उत्तेजन दिले, श्रावक-श्राविकांना व्रते दिली, आणि समाजाचे जीवन शुद्ध व स्वच्छ करण्यास ते कारणीभूत झाले. **आचार्यश्री शांतिसागर यांना जी ख्याती व प्रसिद्धी मिळाली त्यामुळे निर्ग्रन्थ दीक्षेची प्रतिष्ठा वाढली, इतकेच नव्हे तर आचार्य महाराज हे एक युगपुरुष होऊन गेले आणि त्यांची परंपरा कोणत्या ना कोणत्या रूपात आजही चालू आहे.**

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराजांविषयी काही आठवणी

साधुजनांच्या स्मरणाने देखील पापाचा नाश होतो व पुण्याची प्राप्ति होते. ज्यांच्या ठिकाणी पूर्व पुण्याचा उदय झाला आहे त्यांना सत्पुरुषांचे दर्शन होते व ते भावी पुण्यप्राप्तीलाही कारण आहे. (साधुदर्शनापासून कोणते फायदे होतात याविषयी श्री वीरनंदी आचार्य असे म्हणतात--

श्रेयस्तनोति परिवर्धयतेविवेकमुन्मूलयत्यघमुदीरंयते विभूतिम् ॥
त्वद्दर्शनं सुचरिताखिलभद्रहेतुर्नात्मीयसो भवति गम्यमिदं शुभस्य ॥

सत्पुरुषांचे दर्शन कल्याणाची वाढ करते, मनात विवेक उत्पन्न करते, पापांचा नाश करून भक्ताला वैभवयुक्त करते. उत्तम चारित्रसम्पन्न हे मुनिराजा, आपले दर्शन सर्व प्रकारच्या हिताला कारण आहे. ज्याचे पुण्य फार थोडे आहे अशा व्यक्तीला आपले दर्शन होत नाही. ज्यांचे मन, वचन व शरीर स्वपर हितासाठीच असते अशांचे दर्शन पुण्यप्राप्तीला कारण होतेच व असे साधु-गुरु संसारतरण तारणाला कारण होतात. असो.

आठवण पहिली

४७–४८ वर्षांपूर्वीची ही आठवण आहे. कोल्हापूरच्या दिगंबर जैन समाजाने पर्यूषण पर्वासाठी मला बोलावले होते म्हणून मी गेलो होतो. धर्मवीर भूपालप्पा जिरगे यांनी जैन बोर्डिंगाचे आवारात एक सुंदर जिनमंदिर बांधविले आहे. त्या मंदिरात ते धर्मवीर मला सकाळी आठ वाजता घेऊन जात असत. जिनवंदना झाल्यानंतर तेथे एकीभाव स्तोत्रावर प्रवचन करा म्हणून मला ते सांगत असत. त्यांना ते स्तोत्र फार आवडे मलाही ते स्तोत्र फार आवडत असे. दररोज त्यातील दोन श्लोकांचे विवेचन अर्धा पाऊण तास होत असे. ते झाल्यावर तेथून एका जिनमंदिरात सागारधर्मामृतातील दान, पूजा, स्वाध्याय, वैयावृत्य आदिक विषयांवर घंटा सवाघंटापर्यंत प्रवचन होत असे त्यावेळी पं. कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे जैन–बोधकाचे त्यावेळचे संपादक हेही प्रवचन श्रवण करण्यासाठी येत असत.

त्यांनी सर्व श्रोत्यांना त्यावेळी अशी सूचना केली होती की प्रवचन चालू असता मध्ये कोणास काही शंका आली असता तिचे निरसन करण्यास त्यांनी प्रवचनकारास विनंती करू नये. कारण त्यामुळे विषयांतर होण्याचा संभव असतो. प्रवचन संपल्यावर आपली शंका विचारावी.

त्यांच्या सूचनेप्रमाणे प्रवचनाचे वेळी कोणाकडून शंका विचारली जात नसे. प्रवचन अकरा सव्वा-अकरा पर्यंत झाल्यावर श्रीमान् वयोवृद्ध रामचंद्र नाना पिराळे यांच्या घरी जेवण होत असे. पिराळे यांच्या माडीवर छोटेसे पण सुंदर जिनमंदिर आहे व पुढे ५०–६० माणसे बसण्याइतका प्रशस्त मंडप आहे. तेथे दोनपासून पाच वाजेपर्यंत तत्त्वार्थसूत्राचा एक अध्याय व दशलक्षण धर्मावर प्रवचन होत असे.

दोन प्रहरी पूर्वीचे श्रीलक्ष्मीसेन भट्टारकही तेथे येत असत. ते संस्कृत भाषेतून प्रश्न विचारीत असत, त्यामुळे त्यांचे उत्तर संस्कृत भाषेत मी देत असे. श्रीमान् भूपालप्पा जिरगे यांनी तुम्ही दोघे संस्कृत भाषण करता व आम्हाला ते समजत नाही व आमचा वेळ व्यर्थ जातो, आपण या वेळा सोडून इतर वेळी बोलत जा असे म्हटले व भट्टारक महोदयांनीही त्यांचे म्हणणे मान्य केले.

दशलक्षण पर्व सानंद समाप्त झाल्यावर श्रीमान् भूपालप्पा जिरगे यांनी आचार्य शान्तिसागर महाराजांचे दर्शनास आपण काही श्रावक मिळून जाऊ असे म्हटले व ते मी मोठ्या हर्षाने मान्य केले. आचार्य महाराजांचा चातुर्मास त्यावेळी ऐनापुरात होता असे मला आठवते.

कोल्हापुराहून भाद्रपद वद्य द्वितीयेच्या दिवशी आम्ही ऐनापुराच्या जिनमंदिरात सकाळी सुमारे आठ वाजता पोहोचलो. जिनदर्शन झाल्यावर शान्त व प्रसन्न मुद्रेच्या आचार्यांचे दर्शन घेतले, मनाला आनंद वाटला. त्यांना वंदन करून बसल्यावर मधुर शब्दांनी मला त्यांनी तुझेच नाव जिनदास आहे काय असे विचारले. मी होय असे म्हणालो.

तेव्हा महाराज म्हणाले, अरे तू माझ्यावर मोठे उपकार केले आहेस. हे त्यांचे शब्द ऐकल्यावर मी आश्चर्याने थक्क होऊन म्हणालो, महाराज, मी आपणास प्रथमच पाहात आहे व आपण सर्व जगावर उपकार करीत आहात. मी पामर आपल्यावर कसा उपकार करू शकेन ?

महाराजांनी आपल्या बोलण्याचे स्पष्टीकरण याप्रमाणे केले. जिनवंदना, स्वाध्याय, अष्टमी, चतुर्दशी वगैरे पर्वतिथी, सिद्धान्तवाचन वगैरे प्रसंगी कोणत्या भक्ति मुनींनी म्हणाव्यात याविषयीची माहिती फक्त आम्हाला आहे व त्या भक्ति संस्कृत व अर्धमागधी भाषेत आहेत. पण त्या दोन्ही भाषांचे ज्ञान आम्हाला मुळीच नसल्यामुळे त्या भक्त्यांच्या श्लोकांचा अर्थ आम्हाला समजत नव्हता; पण तू जेव्हा दशभक्तीचा अर्थ मराठी भाषेत लिहिलास व दानवीर श्री रावजी सकाराम दोशी यांनी ते शास्त्र छापविले तेव्हा ते आमच्या वाचण्यात येऊन प्रत्येक भक्तीचा खुलासा वाचून भक्ति का म्हणाव्यात व त्या मुनींच्या रत्नत्रयाला निर्मळ ठेवण्यात कसे सहाय करितात इत्यादि गोष्टी समजल्या. त्यामुळे तू आम्हावर उपकार केले असे मी म्हणालो असे महाराज म्हणाले.

त्याच वेळी श्री दानवीर रावसाहेबही महाराजाचे दर्शनास आले तेव्हा तर महाराज त्यांना पाहून म्हणाले, रावसाहेब यांच्याकडून अशीच कार्ये तुम्ही करून घेत जा असे म्हणून, तू जिनवाणीची सेवा करीत जा असा आशीर्वाद माझ्या मस्तकावर पिंछी ठेवून मला त्यांनी दिला.

महाराजांच्या प्रथम दर्शनी हा आत्महितकारक अत्यंत गोड प्रसंग घडला व मला मोठा आनंद वाटला.

दुसरी आठवण

नंतर महाराजांचा विहार काही वर्षांनी बाहुबली क्षेत्रावरून दर्शनाकरिता सम्मेदशिखरजीचे यात्रेकडे झाला. अर्थात महाराज उत्तर हिंदुस्थानाकडे विहारार्थ निघाले. संघपति श्री. घासीलालजींनी महाराजांना तिकडे नेण्याचे ठरविले होते. श्रीमान् दानवीर रावसाहेबही संघपतीप्रमाणे आपल्या धर्ममूर्ती धर्मपत्नीसह गेले होते. महाराजांच्या आगमनाने सम्मेदशिखरजी येथे मोठी धर्मप्रभावना झाली. महासभेचे अधिवेशनही तेथे झाले. या अधिवेशनाचे अध्यक्षपदी बॅरीस्टर चंपतरायजी होते. त्यांनी अध्यक्षपद स्वीकारण्याच्या पूर्वी महाराजाजवळ पंचाणुव्रते ग्रहण केली. नंतर अध्यक्षपद त्यांनी स्वीकारले होते. यानंतर ललितपूर वगैरे ठिकाणी महाराजांचे चातुर्मास झाले. यानंतर एक चातुर्मास महाराजांचा ब्यावर येथे झाला. त्यावेळी महाराजांच्या दर्शनास मला दानवीर रावसाहेबांनी नेले होते. महाराजांना मी वंदन केल्यानंतर महाराजांनी मला तू आता कोणत्या ग्रंथाचे लेखन करीत आहेस असा प्रश्न विचारला. मी सांगितले, महाराज मी आता मूलाराधना अर्थात भगवती आराधनेचा मराठी अनुवाद करीत आहे असे म्हणालो, तेव्हा महाराज मला म्हणाले, भगवती आराधनेचा स्वाध्याय मी केला आहे व मी माझे वडील जेव्हा आसन्न मरण झाले तेव्हा तो मी त्यांना सर्व वाचून दाखविला. त्याच्या स्वाध्यायाने आत्म्याला शान्तिलाभ होतो अशी माझी खात्री आहे. त्या ग्रन्थाचा तू अनुवाद करीत आहेस ही चांगली गोष्ट आहे. पण तो अनुवाद मराठी भाषेत न करिता हिन्दी भाषेत कर. मी म्हणालो, महाराज हिन्दी भाषेत अनुवाद करणे मला जमणार नाही. महाराज म्हणाले, हिन्दी भाषेत अनुवाद करण्याचा प्रयत्न कर व तो जुळेल व या ग्रंथाचा अभिप्राय स्पष्ट कर. याच्या संस्कृत टीका आहेत त्यांचा आधार घेऊन जर अनुवाद केलास तर त्या ग्रंथाचे महत्त्व विद्वान व स्वाध्याय करणाऱ्या लोकांना पटून त्याचा जैन समाजात प्रचार होईल.

महाराजांच्या वचनाला दानवीर रावसाहेबांनीही पुष्टी दिली व तो समग्र ग्रन्थ टीका व अनुवादासह आपण प्रकाशित करू असे सांगितले. मी महाराजांचा आदेश मान्य केला व या ग्रंथावरील टीका कोठे मिळतील याविषयी शोध करावयास सुरुवात केली.

भाण्डारकर इन्स्टिटयूटमध्ये या मूलाराधना ग्रंथावर अतिशय विस्तृत अशी अपराजित सूरींची विजयो-दया टीका आहे असे मला समजले तेव्हा शंभर रुपये डिपाझिट ठेवून त्या टीकेच्या दोन प्रती आणून तीन महिन्यांच्या आत ती समग्र टीका लिहून घेतली व पंडित आशाधरांनीही या ग्रंथावर आराधनादर्पण म्हणून संक्षिप्त टीका लिहिली आहे असा सागारधर्मामृताच्या प्रशस्तीत उल्लेख मला आढळून आला व ती टीका कारंजा येथील एका जैन मंदिरात आहे असे समजले. त्या मंदिराचे व्यवस्थापकाशी पत्रव्यवहार करून ती टीका मिळविली पण ती टीका अपूर्ण अर्थात मूलाराधनेच्या उत्तरार्धाचीच मिळाली. पूर्ण ग्रंथाची मिळाली नाही. पण जेवढी मिळाली तिचा विनिवेश अनुवाद बरोबर केला आहे. त्याचप्रमाणे अमितगति आचार्यांनी या मूलाराधनेच्या प्रत्येक गाथेचा अभिप्राय पूर्णपणे संस्कृत पद्यात आणिला आहे, व त्याला त्यांनी भगवती आराधना हे नाव दिले आहे. पण हिचे आरंभीचे १८ श्लोक मिळाले नाहीत. या टीकाद्वयाचा व अमितगत्याचार्यांच्या संस्कृत श्लोकांच्या आश्रयाने अनुवाद करण्यास जी माहिती पाहिजे होती ती चांगली मिळाली. त्यामुळे हिन्दी अनुवाद करण्याचे साहस केले.

पंडित आशाधरांची जी अपुरी टीका ज्यांनी पाठविली होती त्यांनी काही विलक्षण अटी घातल्या होत्या. त्या सर्व अटी दानवीर धर्मवीर रावसाहेब दोशी यांनी मान्य केल्या व त्याप्रमाणे त्यांनी सर्व उदारपणाने पूर्ण केल्या. वर्ष दीड वर्ष पर्यंत सारखा प्रयत्न करून मूलाराधनेचा अनुवाद पूर्ण केला व नंतर १९०० पृष्ठांचा शास्त्राकार ग्रंथ दानवीरांनी माझे गुरु पं. श्री वंशीधरजी शास्त्री यांच्या श्रीधर मुद्रणालयात मुद्रित करून सन १९३५ च्या अखेरीस प्रकाशित केला. याप्रमाणे ही दुसरी आठवण यथामती लिहिली. या भगवती आराधनेचा आर्यावृत्तामध्येही मी अनुवाद केला आहे व त्याच्या सहा हजार आर्या झाल्या आहेत.

तिसरी आठवण

कुर्डुवाडी येथे महाराजांचे आगमन संघासहित झाले होते. तेथे नवीन जिनमंदिर बांधले असल्यामुळे तेथे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होती त्यावेळी सोलापूर येथील सेठ सखाराम देवचंद शहा हे सहकुटुंब महाराजांच्या दर्शनास गेले होते. मीही त्यांचे बरोबर गेलो होतो. महाराजांना मी वंदन केल्यावर महाराजांनी आता कोणत्या ग्रंथाचे लेखन चालू आहे असा प्रश्न मला विचारला. मी त्यांना नम्रपणाने आता काहीच लेखन चालू नाही असे सांगितले. तेव्हा महाराजांनी व दुसरे आचार्यकृत (कुंदकुंदाचार्य) मूलाचाराचा हिन्दी अनुवाद कर असे म्हटले. त्यावर मी महाराजांना म्हणालो, महाराज मूलाचारावर वसुनंदी आचार्यांची विस्तृत टीका आहे, म्हणून मूल गाथांचा व त्या वरील टीकेचाही अनुवाद करण्याने ग्रंथकाराचा सर्व अभिप्राय विषद-पणाने स्वाध्याय करणाऱ्यांना अवगत होईल आणि मुनींच्या आचारांचा खुलासा होईल. तेव्हा महाराजांनी टीकेचेही भाषांतर कर असे म्हटले व मी महाराजांचा आदेश त्यांच्या चरणांना वंदन करून स्वीकारला.

त्याच वेळी श्री सखारामभाई शेठजींनी मूलाचार सानुवाद प्रकाशित करण्याचे महाराजांच्या चरणांना वंदन करून कबूल केले.

चौथी आठवण

आचार्य महाराजांचा निवास सोलापूर येथील शान्तिनगरात होता. सर्व जैन दाते श्रावकांचाही निवास होता. पण त्यावेळी शेतवाळ श्रावकांच्या येथे आचार्य महाराजांचा व अन्य मुनीवर्यांचा आहार होत नव्हता. मी महाराजांना आहार आमच्या जातीच्या दात्यांच्या येथे आता का होत नाही याचे कारण काय असा प्रश्न विचारला. त्यावेळी आचार्य महाराजांनी मला म्हटले तुझ्या जातीच्या लोकांनी कुंथलगिरी येथे तुझा अपमान केला व ते अयोग्य गोष्टीला विधवाविवाहाला, चांगले समजतात, यामुळे या जातीच्या दात्यांचे येथे आहार घेणे योग्य नाही असे आम्हाला वाटते. यावर मी म्हणालो की, आचार्य महाराज परगावच्या काही शेतवाळ लोकांनी माझा अपमान केला पण सोलापुरातील सर्व सूज्ञ शेतवाळ समाज आगम मान्य प्रवृत्तींनीच वागत आहे व निषिद्ध कार्यापासून तो परावृत्त आहे असे मी त्यांना सांगितले व येथील शेतवाळ पंच मंडळींनी आम्ही जिनदास यांचा अपमान केला नाही व करणार नाही असे आवर्जून सांगितले व त्यानंतर महाराज व त्यांच्या संघातील मुनी व आर्यिकादिकांचा आहार होऊ लागला.

पाचवी आठवण

'हिन्दू मंदिरात हरिजनांचा प्रवेश' हे विधेयक जेव्हा पुढे आले तेव्हा जैन मंदिरात देखील हरिजन प्रवेश मान्य केला गेला व जैन हे देखील हिन्दू आहेत आणि जैन मंदिरे हिन्दू मंदिरासारखी आहेत असे लोक समजू लागले. त्यावेळी आचार्य शान्तिसागर महाराजांनी हा कायदा जैन मंदिरांवर लादू नये म्हणून त्यांनी कठिण नियम धारण केला.

त्यांनी अन्नत्याग केला व त्यामुळे देशातील सर्व श्रावक समाज सक्रिय झाला. फलटणचे आदरणीय सेठ वीरचंद कोदरजी यांचे सुपुत्र श्री. माणिकचंदजी, श्री. तलकचंदजी शहा व मी असे दोघे जण मुंबई येथील ऐ. प. सरस्वती भवनातील अनेकान्त जैन ग्रंथातून हरिजनांना जैन मंदिरात प्रवेशाचा निषेध करणारी प्रमाणे हुडकून काढली. व ती संगतवार एकत्र केली आणि त्याचा खुलासेवार अर्थ लिहिला व त्या अनेक प्रमाणांची हजारो पुस्तके छापून घेतली.

महाराजांच्या अन्नत्यागामुळे सरकारला जैन हे हिंदूंपासून वेगळे आहेत व असे मानणे भाग पडले व जैन मंदिरात हरिजनांचा प्रवेश निषिद्ध केला गेला. या प्रकरणी एक शिष्टमंडळ ता. २५।१।१९५० साली भारताचे मुख्य प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू यांना भेटले व त्या शिष्टमंडळाने त्यांना सर्व परिस्थितीची जाणीव करून दिली. याची फलनिष्पत्ती अशी झाली की प्रधान मंत्र्यांचे सचिवांनी श्री ए. बी. पाई यांनी प्रधान मंत्र्याच्या आज्ञेने एक पत्र लिहून शिष्टमंडळास तुमचे म्हणणे आम्हास मान्य आहे असे कळविले व असे लिहिले की बौद्ध जसे हिन्दु नाहीत तसे जैनधर्मावलम्बी जन देखील हिन्दु नाहीत.

या मंदिरप्रवेश प्रकरणी अकलूज गावी दिगंबर जैन मंदिरात हरिजनांचा प्रवेश झाला. तो असा : काही हरिजनांना घेऊन सोलापुरचे कलेक्टर अकलूज गावातील दिगम्बर जैन मंदिराकडे पोहोचले. मंदिराचे दरवाजाला कुलुप लावलेले होते, ते कलेक्टर साहेबांनी तोडविले. याप्रमाणे आपला अधिकार दाखवून हरिजनांचा जैन मंदिरात प्रवेश करविला. त्यामुळे न्याय मिळावा म्हणून हे प्रकरण मुंबईच्या मुख्य न्यायाधीशांकडे जैन समाजाने नेले. त्या वेळचे मुख्य न्यायाधीश श्री अब्दुलकरिम छागला होते. त्यांच्याकडे व न्यायाधीश गजेन्द्रगडकर यांचेकडे जैन ग्रंथ हरिजनाच्या मन्दिर प्रवेशाला प्रतिकूल आहेत हे त्यांना समजावे म्हणून हस्तलिखित ग्रंथ तेथे नेले होते व ते कोर्टात उच्चस्थानी विराजमान केले होते आणि मुद्रित प्रमाणांची पुस्तके आधीच न्यायाधीशाकडे पोहोचविली होती. वादविवादानंतर ता. २४।७।५१ या दिवशी श्री. छागला आणि श्री. गजेन्द्रगडकर यांनी असा निर्णय दिला— Harijanas have no right to entry in Jain Temples as they are not Hindu Temples.

याचा अभिप्राय असा की, हरिजनांना जैन मंदिरात प्रवेशाचा अधिकार नाही कारण ती हिंदू मंदिरे नाहीत. (सीव्हिल अप्लीकेशन नं. ९१ आफ १९५१) यावरून निष्कर्ष हा निघतो, जेव्हा धर्मावर संकट येते तेव्हा धर्मगुरूंनी स्वस्थ बसू नये. जैन धर्मात श्रावक श्रमणांचे एक संयुक्त धार्मिक संगठन असावयास पाहिजे. या संघटनेसच चतुःसंघ असे नाव आहे. यात मुनिआर्यिका हा त्यागीवर्ग आहे आणि श्रावकश्राविका हा गृहीवर्ग आहे. हे दोन्ही मिळून चतुःसंघ होतो. जैनधर्माच्या अस्तित्वासाठी या दोघांची आवश्यकता आहे. त्यागीवर्ग गुरुस्थानी आहे. त्यांनी गृहस्थांना मार्गनिर्देश करीत राहिले पाहिजे.

ज्ञान आणि चारित्राच्या अभावी मार्ग दाखविणे शक्य होणार नाही. म्हणून गुरू ज्ञानी व चारित्रसंपन्न असला पाहिजे. आचार्य महाराज ज्ञानी व चारित्रवान् असल्यामुळे त्यांनी हे धर्मसंकट कायमचे दूर केले. यास्तव त्यांच्या चरणांना त्रिकाळ वंदन करितो.

काही हृद्य आठवणी

ब्र. माणिकचंद्र चवरे, न्यायतीर्थ, कारंजा.

परमपूज्य आचार्यश्रींचे जीवन जितके अध्यात्मरसाने परिपूर्ण तितकेच समुचित लोकव्यवहार, समयसूचकता व निर्मल नी आल्हाददायी विनोदरसाने ओथंबलेले होते. त्यांच्या पावन सान्निध्यात राहाण्याचे वा प्रसंगोपात्त येण्याचे सद्भाग्य ज्यांना लाभले त्या अनेकांना विविध प्रसंगातून हे अनुभवास आले असेल. त्यातले काही अनुभव येथे देत आहोत.

१. खरे दर्शन हवे तर मूर्ती नवग्रहाने रहित असावी

नांदगावी (जि. नाशिक) आचार्यश्रींचा मुक्काम असताना स्व. पं. देवकीनंदजी भावभक्तिपूर्वक मनःपूत दर्शन करून परत आले होते. चर्चा सुरू असता पंडितजी म्हणाले, '**महाराज का असली**

दर्शन करना हो तो जब महाराज नवग्रह देवताओं से दूर हो उसी समय अच्छा हो पाता है ।' पंडितजींचे वाक्य गूढच होते. खुलासा हवा म्हणताना पंडितजींनी श्रींच्या आवतीभोवती भक्त (?) म्हणून गोळा झालेल्या परंतु महाराजांचा त्याग व तपस्यावैभव जणू आपल्या मालकीची खाजगी इस्टेट आहे अशा कोत्या समजुतीने इतरांना वेळी अवेळी मज्जाव करणाऱ्या सात आठ ग्रहांची शीघ्रतेने नावे सांगितली व पंडितजी थांबले.

'पंडितजी साहब ! नववी देवता राहिली की !' यावर लगोलग ते म्हणाले—'नववी ग्रह-देवता **पूर्वग्रह**' आहे. कोणाही पुरुषाचे अथवा कोणत्याही तत्त्वाचे यथार्थ दर्शन किंवा आकलन व्हावे असे वाटत असले तर **त्या विषयाची कुत्सित किंवा अन्यथा धारणा अगोदर सोडली पाहिजे. कदान्न काठोकाठ भरलेल्या पात्रामध्ये पक्वान्न कसे बरे सामावणार ?** त्याचप्रमाणे संकुचित धारणा, कुविचार व दुर्भावना यांनी बरबटलेल्या मनामध्ये सत्तत्त्वाचे यथार्थ आकलन कसे होणार ? साध्या माणसाची कल्पना येण्यासाठी जर दिलसफाई असावी लागते तर महापुरुषाच्या मोठेपणाची कल्पना येण्यासाठी केव्हाही मनाची स्वच्छता असणे जरुरीचेच राहाणार.

२. महापुरुषाचे थोर अन्तःकरण

महापुरुषाच्या मोठेपणाचे मापक त्याचे मोठे मन असते. लोककल्याणाच्या जागृत भावनांनी ते सदैव ओतप्रोत असते. सम्मेदशिखराच्या महाविहारास प्रारंभ झाल्यावर संघ अक्कलकोट ते गुंजोटीपर्यंत विहार करीत असता दर मुक्कामावर तळ पडल्यानंतर आचार्यश्री सर्वप्रथम संघपति व स्व. श्री. जीनगौडा पाटील यांना सर्व संघाचे कुशल विचारीत व सोयी गैरसोयीसंबंधी आस्थेवाईकपणे बारकाईने चौकशी करूनच संध्याकाळचे सामायिकास बसत असत. आपल्या निमित्ताने कुणासही त्रास होऊ नये याकरिता आत्मकल्याणा-साठी सदैव जागृत असलेले श्रींचे थोर मन लोककल्याणासाठीही तितकेच सावध आहे हे प्रत्यक्षात पहावयास मिळाले. **'साधुसंतांचा श्वास स्वतःसाठी तर निःश्वास जगतासाठी असतो'** म्हणतात याची मनोमय साक्ष पटली.

३. धर्मासंबंधी आस्था हवी

कोन्नूर (गोकाक रोड) येथे श्रींचा चातुर्मास होता. भाद्रपद शुद्ध सप्तमीचा दिवस असावा. शिक्षक एक शाळेची २५ मुले घेऊन दर्शनासाठी आले होते. सोलापूरकर ब्र. जीवराजभाईंनी मुलांची परीक्षा घेतली. मुलांना साधा णमोकार मंत्रही न आल्यामुळे जमलेल्यांना अत्यंत वाईट वाटले. महाराजश्रींनी चौकशीस प्रेमाने सुरवात केली. शिक्षक एखाद्या गुन्हेगाराप्रमाणे उभे होते. हेडमास्तर कोण आहेत ? कुठे आहेत या प्रश्नाला 'बाहेरच उभे आहेत, ते मुसलमान आहेत' असे समोर आलेल्या शिक्षकाने उत्तर दिले. त्यांना आत बोलविण्यात आले. त्यांनीही मोठ्या अदबीने श्रींना साष्टांग दण्डवत घातले. आचार्यश्रींनी अत्यंत प्रेमाने दोन गोष्टी सांगितल्या. धर्माची तत्त्वे, धर्मतंत्र व नीतितत्त्वे ही सर्वांनाच अवगत पाहिजेत, आपणास ज्याप्रमाणे आपल्या धर्माविषयी आस्था आहे त्याप्रमाणेच आपण या सर्वांच्या धर्मज्ञानाविषयी

पूर्ण दक्षता घ्यावयास नको काय ? अवश्य घेतली पाहिजे असे सुचविले. त्यांनीही मोठ्या अदबीने नमस्कार केला व ' जरूर दक्षता घेईन ' अशी प्रतिज्ञा घेतली. एवढेच नाही तर त्याचवेळी आजीवन मद्य-मांस व शिकारीचा त्याग केला. महाराजश्रींनी अत्यंत शांततेने हे सर्व केले हे पाहून उपस्थित सर्वांनाच आश्चर्य वाटले.

४. महापुरुषांची परिणतप्रज्ञा

आचार्यश्रींचे शालेय शिक्षण जरी थोडे झाले होते तथापि निरंतराचा श्रुताभ्यास, श्रवण व मननाने बुद्धी व भावनांना एक प्रकारची तीक्ष्णता आलेली होती. ललितपूर येथे श्रींचा चातुर्मास होता. पंडितजी देवकीनंदनजी योगायोगाने तेथे पोहोचले. शास्त्रानंतर चर्चा सुरू झाली. पंडितजींनी प्रश्न केला, ' महाराज ! कित्येक दिवसांपासून एक प्रश्न मनात सारखा घोळतो आहे. विचारू का ? ' ' विचारा की ! ' म्हटल्यानंतर पंडितजींनी विचारले, ' महाराज ! मुनियों के मूलगुण २८ हैं वे तो ख्याल में रह सकते हैं; परंतु उत्तर गुण जिनकी संख्या शास्त्रों में ८४ लाख कही है उनका हिसाब प्रतिदिन कैसा बैठता होगा ? और उनका स्मरण भी कैसा होता होगा ? और जब कि स्मरण अशक्य है तो निरतिचार पालना कैसी संभव होगी ? '

' पंडितजी ! ' महाराज उत्तरले, ' आपका प्रश्न अत्यंत गंभीर और महत्त्व का है। त्यागियोंके लिए परपदार्थ और परद्रव्यों के प्रति जैसी निष्पक्ष और निरिच्छ वृत्ति कही उसी प्रकार से उनके लिए यह भी एक विधान है कि वे आत्मध्यान में सदैव लीन रहे। **' अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ।'** यही परमध्यान है। यही सामायिक है। इस शास्त्रवचन के अनुसार जब साधु की आत्मा आत्मा में ही एकाग्र होती है, उस समय इन ८४ लाख उत्तर गुणों का हिसाब आपही आप स्वयं लग जाता है। स्वतन्त्र रूपेस हिसाब रखने की या स्मरण करने की आवश्यकता नहीं रहती।'

मार्मिक प्रश्नाचे मार्मिक उत्तर ऐकून पंडितजींना परम संतोष झाला.

५. अपरिग्रहात शांती

वऱ्हाड-मध्यप्रदेशातून ' श्रीं 'चा विहार सुरू होता. पं. देवकीनंदजींची दारव्ह्यापासून नागपूरपर्यंत कितीतरी ठिकाणी सुंदर व्याख्याने झाली. व्याख्यानामध्ये अपरिग्रहव्रताचे यथार्थ स्वरूप पुढे ठेवताना पंडितजी एक सुंदर वाक्य बोलून गेले. व्यवहार भाषेमध्ये **' अहिंसा हे पाप म्हटले आहे व अध्यात्मभाषेमध्ये परिग्रह हे महापाप म्हटले आहे. '** व्याख्यानवाचस्पतींची प्ररूपणा व भाष्य श्रींना मोठे मनोहर वाटले. त्यानंतर स्वयं श्रींचा उपदेशही झाला. त्यामधून ' परिग्रह हा पापरूप आहे याची कल्पनाच माणसाच्या मनाला सहसा शिवत नाही ! याला कारण अज्ञान व मोह आहे ' हे श्रींनी अनुभवपूर्वक सांगितले. अपरिग्रहाने पारमार्थिक शांती कशी मिळते व व्यवहारामध्येही अपरिग्रह व्रताने कसा सुख-लाभ होतो याचे स्पष्टीकरण आल्हादजनकच वाटले. गुणभद्राचार्यांनी आपल्या आत्मानुशासन ग्रंथात **' अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः '** असे म्हणून तपस्वी जनांना संस्कृत कोशग्रंथात ' सुखी ' हे नाव

कसे बरे दिले असते ? असा रोकडा सवालच विचारला आहे. त्यामधला उद्देश गंभीर असला तरी तितकाच महत्त्वाचा आहे.

६. जागृत समयसूचकता व प्रबुद्ध विनोदशीलता

त्यागी मनुष्य काहीसा रुक्ष असतो अशी स्वतःची धारणा होती. परंतु आचार्यश्री याला अपवाद होते. आचार्यश्रींचा मुक्काम बारामतीस होता. संध्याकाळी ५॥ ची वेळ असेल. शास्त्र संपले होते. लोक आवतीभोवती जमून सुखचर्चा करीत होते. श्रींनी सहज विचारले, 'किती वाजले ?'

वेळेबाबत श्री अत्यंत दक्ष असत. घड्याळाचा व वेळेचा उपयोग कसा करावा हे त्यांच्या इतके इतरांना क्वचितच जमेल. लोकांनी आपापल्या मनगटांवरची घड्याळे पाहून कुणी ५–१० तर कुणी ५–१५ तर कुणी ५–२५ याप्रमाणे सांगितले. श्रींनी आपले घड्याळ पाहून '५–३५ झाले की !' असे म्हटले. त्याचवेळी कोणी तरी सभ्य गृहस्थ सहजी बोलला, 'महाराजांचे घड्याळ पुढे आहे.'

लगेच 'श्री' विनोदाने म्हणाले, 'आमचे घड्याळ बरोबर आहे. तुम्हा सगळ्यांचीच घड्याळे मागे आहेत.

श्रींच्या म्हणण्याचा रोख अर्थात् आचारमार्गावर गृहस्थांची असलेली स्वाभाविक उपेक्षाबुद्धी व मागासलेपणा दाखविण्याकडे होता. ते वाक्य ऐकून सर्व मंडळी एकमेकांकडे पाहात महाराजांच्या मार्मिक कोटीवर दिलखुलास हसली.

: ७ :

बार्शीला श्रींचा मुक्काम श्री. जंबूराव आरवाडे यांच्या बागेमध्ये होता. श्री. प्रद्युम्नसाहूजीबरोबर दर्शनाचा योग आला. आग्रहवश श्रींनी उपदेशाच्या दोन गोष्टी सांगितल्या. गाडीची वेळ झालेली. उठताना उपचाराचे दोन शब्द बोलून व्यवहार म्हणून सहजी म्हटले, 'महाराज (मुनि श्री समंतभद्रजी) संस्था गळ्यात बांधून मोकळे झाले !' वाक्य पूर्ण होते न होते तोच आचार्य श्री म्हणाले, 'तुम्हीही कुणाच्या तरी गळ्यात बांधून मोकळे व्हा !' बोलण्याची सोयच नव्हती. ह्या सहज निघालेल्या उद्‌गारात श्रींचा खोल आशय कोणता होता हे लक्षात येण्यास वेळ लागला नाही.

: ८ :

बाहुबली येथे प्रतिष्ठेसाठी आचार्यश्रींनी यावे म्हणून प्रार्थना करण्यासाठी गजपंथ येथे जाणे झाले. श्रींचे चरण लागावे अशी सर्वांचीच इच्छा असणे स्वाभाविक होते. प्रार्थना करताच श्री म्हणाले, 'बाबारे ! नागव्या माणसाला कशाला नेता ? नेणे का सुखाचे आहे ? ३५० मैलांचे तरी अंतर असेल ! बरे ! नेणार तरी कशाने ? विमानाने नेणार की मोटारीने नेणार की आगगाडीने ? की डोलीत नेणार ?'

'महाराजांनी संकेत करावा. आज्ञेप्रमाणे सर्व व्यवस्था होईल.' म्हटल्यावर श्रींनी सर्व साधक बाधक गोष्टी सांगून हा वृथा आग्रह व व्यामोह सोडण्यास सांगितले.

९. विवेकपूर्ण सावधानता

आचार्य महाराजांचे भोवतालचे वातावरण त्यागाने एकप्रकारे भरलेलेच असावयाचे. एक मनुष्य श्रींच्या काहीसा परिचयातला उभा राहिला व तो, 'महाराज ! मलाही परस्त्रीचा त्याग मन, वचन, कायेने व कृत-कारित-अनुमोदनेने द्या ' असे आग्रह करकरून मागू लागला. आचार्यांच्या लक्षात व्रतयाचने-मधील देखादेखीचा भाग लक्षात आला. श्रींनी परोपरीने त्यामधील कठिनता स्पष्ट केली. अखेरीस 'तुझी फारच इच्छा आहे तर बाबारे ! वचन आणि कायेने तुला त्याग देतो. मनाने होणे मोठमोठ्या त्यागींनाही साधत नाही ' असा खुलासा केला. ही बाब परिपक्व विचार-शीलतेशिवाय लक्षात कशी येणार ?

१०. परिणत प्रज्ञाविवेक

परमपूज्य गुरुदेव श्री १०८ समंतभद्रजींना पूर्वावस्थेमध्ये (सप्तम प्रतिमाधारी असताना) कित्येक वेळा त्यांनी मुनी व्हावे असा आग्रह सुरूच होता. अधूनमधून दर्शनाचा योग आला असता ही प्रेरणा व्हायचीच. व्यावरला 'श्रीं'चा चातुर्मास होता. ब्र. देवचंदजी तेथे पोहोचले. त्यावेळीही निदान त्यांनी क्षुल्लकपद (११ वी प्रतिमा) तरी घ्यावे असा आग्रह पडला. देवचंजींची आतून इच्छा होतीच. तथापि त्यांनी श्रींना सरळच विचारले, ' संस्थेची कामे करण्यास प्रत्यवाय नसला तर तयारी आहे. '

ब्र. जींची वृत्तिप्रवृत्ति ' श्री ' परिपूर्ण ओळखून होते. त्यांनी हा प्रश्न उपस्थित पंडितवर्गापुढे ठेवला. थोडीशी परंपरा लक्षात घेऊन शास्त्राधाराच्या भानगडीमध्ये न पडता पंडितजनांनी आपला एकतर्फी निर्णय पुढे ठेवला.–' महाराज ! यांना एक तर दीक्षा घेता येईल किंवा संस्था पाहता येईल. दोन्ही नाही. '

' दोन्ही करण्यामध्ये शास्त्रविरोध असू नये असे मन सांगते ' एवढेच देवचंदजी बोलत होते.

चार पाच दिवस प्रश्न धसास लावूनही अनुकूल निर्णय बाहेर येत नाही हे पाहून ब्र. जी अखेरीस परत निघाले. प्रवेशद्वाराजवळ वाहन उभे करून अखेरीचे श्रींचे दर्शन घ्यावे म्हणून दर्शनास गेल्याबरोबर श्री म्हणाले–' **ब्रह्मचारीजी ! आपणास क्षुल्लकपद स्वीकारता येईल व संस्थाही पाहता येईल. शास्त्रामध्ये संघातल्या काही मुनींकडे संघातील शिक्षणाची व इतरही व्यवस्थेची जबाबदारी असल्याची अनेक विधाने आहेत.** आपण तर केवळ क्षुल्लक पदच स्वीकारता आहात. तेव्हा आपणास पूर्ण परवानगी आहे ' असे म्हणून आपला **पूर्ण परिणत प्रज्ञाविवेक** उपयोगास आणून समाजावर महान् उपकार केले असेच म्हणावे लागेल. अर्थात् हा प्रीव्ही कौन्सिलच्या निर्णयाप्रमाणे अखेरचा निर्णय ठरला. ब्र. देवचंदजींनी त्याच ठिकाणी दुसरे दिवशी क्षुल्लकपदाचा सानंद स्वीकार केला व श्रींनी त्यांचे नाव स्वयं प्रेरणेने ' **समंतभद्र** ' ठेवले.

११. पतिता नो रत्नवृष्टिः

आचार्यश्रींचे मुख शेडबाळच्या मुक्कामानंतर म्हसवडकडे म्हणजे उत्तरेकडेच वळले होते. नान्द्रे येथे मुक्काम होता. यावेळी बाहुबली येथे होणाऱ्या रथयात्रेसंबंधी श्रींना कल्पना होतीच. बाहुबलीकरांनी

येण्यासंबंधी प्रार्थनाही केली होती, परंतु निर्णय घेतलेला नव्हता. उत्सवाचे आदले दिवशीच अंतःप्रेरणेने निर्णय घेऊन सकाळच्या सामायिकानंतर १६।१७ मैलांची मजल तरुणालाही लाजवील अशा उत्साहाने एका दौडीमध्ये मारून संध्याकाळीच श्री बाहुबलीच्या परिसरात आले. दुसरे दिवशी श्रींनी आपला संकल्प व येण्याचा प्रधान हेतु प्रगट केला. सर्वांनाच आश्चर्य वाटले. बाहुबलीचे बृहज्जिनबिम्ब येथे क्षेत्रावर विराजमान व्हावयास पाहिजे व त्यासाठी सर्वांनी कृतसंकल्प असावे ही प्रेरणा होती. यात उभयपक्षी अन्यायाचे काही नव्हतेच. श्रींनी संस्था सर्व भागामध्ये फिरून पाहिली. विभागांची माहिती घेतली. उत्पन्न-खर्चाची विचारणा केली. शिक्षण व इतर कामांची चौकशी केली व अत्यंत आस्थेवाईकपणे सर्व बाबी विचारून झाल्यावर मनःपूत संतोष व समाधान प्रगट करून अनंत आशीर्वाद दिले. संस्थेचे मंत्री श्री. वालचंद देवचंद व प्रमुख श्री. भीसीकर यांचेशी सर्व चर्चा झाल्यावर श्रीसमंतभद्र महाराजांना बोलवा म्हणाले. सर्वजण जमा झाल्यावर श्रीसमंतभद्रांना उद्देशून श्री म्हणाले, ' बाबारे ! तुझी प्रकृती ओळखतो. वृत्तिप्रवृत्ती ओळखतो. मुनी झालात, आनंद आहे. सर्वसामान्य मुनिजनांसाठी एके ठिकाणी राहू नये, त्यांनी विहार करावा असे विधान आहे. **तथापि हे तीर्थक्षेत्र आहे. धर्मप्रभावनेचे काम सुरू आहे. तुम्ही एके ठिकाणी राहिला तरी चालेल ! शिकविले तरी चालेल ! संस्था पाहिली तरी चालेल ! परंतु आत्म्याला विसरू नका. तुम्हास उदंड आयुष्य प्राप्त होवो व धर्माची खूप प्रभावना होवो असा तुम्हाला व संस्थेला आमचा आशीर्वाद आहे.** ' संस्थेची प्रमुख कार्यकर्ती मंडळी उपस्थित होतीच. सर्वांनाच ही ' **खात् पतिता नो रत्नवृष्टि** ' असेच वाटले.

१२. सार्वजनिक व खाजगी हितोपदेश

श्रींची उपदेश-पद्धती सहज स्वाभाविक अशीच होती. त्यामध्ये भाषेचे अवडंबर एक गुंजभरही नसे. लोककल्याणाची भावना मात्र पूर्णपणे भरलेली असे. ' श्रद्धा पूर्ण समीचीन बनावी, ज्ञान परिपक्व व्हावे, आचार शुद्ध परिशुद्ध व्हावा, ' यासाठी प्रथमानुयोगाच्या कथा प्रसंगोपात्त सांगून धर्मप्रेरणा करीत असत. श्री क्षेत्र मांगीतुंगी येथील प्रतिष्ठोत्सवप्रसंगी प्रवचन सुरू असता **सत्य, शांतीचे महत्त्व हे जगामधील कोणत्याही विध्वंसक शस्त्रास्त्रापेक्षा फार अधिक आहे** हे निरूपण सुरू होते. ' क्रोध किंवा कषाय अग्निप्रमाणे आहे. तो जाळपोळ करू शकतो; परंतु शांती ही हिमवृष्टीप्रमाणे आहे. ती सुद्धा एका रात्रीतून अरण्येच्या अरण्ये नष्ट करू शकते. एक पान सुद्धा जिवंत सापडणार नाही ' वगैरे प्रासंगिक वर्णन श्रींनी अत्यंत बहारीने केले.

१३. गुरुकृपा : अपूर्व प्रसंग

गजपंथाच्या मुक्कामात दुपारचे शास्त्रवाचन आज्ञेप्रमाणे सुरू होते. ज्ञानार्णव ग्रंथ होता. ब्रह्मचर्याचे प्रकरण होते. काही श्लोक वाचून झाल्यावर शास्त्र थांबविण्यास व सर्व लोकांना जाण्यास सांगितले. सर्व गेल्यावर खोलीची कडी लावून बसण्यास आदेशिले. हा प्रसंग अपूर्वच होता. ही गुरुकृपाच म्हणावी लागेल. व्रत–विशेषतः ब्रह्मचर्यव्रत–विशुद्धीसाठी अनुकूल निमित्त मिळविणे किंवा प्रतिकूल निमित्त विशेषतः

आयाबायांचा मेळावा टाळणे किती अगत्याचे असते हे त्यांना अनुभवपूर्वक सांगावयाचे होते, ते त्यांनी तास दीड तास खुल्या दिलाने सांगितले. उघड्यावर न सांगता येण्याजोगी सात्यकी मुनींची कथाही सांगितली. मुनींनी जर दक्षता घेण्याची जरुरी आहे तर गृहस्थास केव्हाही खरेच. तो दिवस व तो महत्त्वपूर्ण उपदेश विसरणे शक्य नाही.

आचार्य श्रींची परिणत प्रज्ञा

डॉ. हेमचंद्र जैन, कारंजा

१. उपवास

प्रश्न—आजकाल उपवास फार केले जातात हे कितपत योग्य आहे ?

आचार्यश्री—धर्मध्यानाची साधना हा उपवासाचा मूळ हेतू आहे. तो निर्दोष, निराकुलरीतीने साधला जात आहे ह्याची मनोमन खात्री असेपर्यंतच उपवास करावेत. विकल्प म्हणजे आर्तध्यान-रौद्रध्यान उत्पन्न होत आहेत असे वाटताच ते संपविले पाहिजेत.

२. दयापात्र कोण ?

प्रश्न-महाराज, अधिक दयापात्र कोण ?

आचार्यश्री-दीन आणि दु:खी जीव तर दयापात्र आहेतच, पण आम्हाला त्यांचेपेक्षाही धनी, वैभवसंपन्न व सुखी लोकांना पाहून हे लोक अधिक दयापात्र वाटतात.

प्रश्न-याचे कारण काय ?

आचार्यश्री-हे लोक पूर्वपुण्याने आज सुखी असल्यामुळे विषयभोगात उन्मत्तपणे मग्न आहेत. पुढचा त्यांना विचार नाही. जोपर्यंत जीव संयम आणि त्याग ह्यासंबंधी विचार करीत नाही तोपर्यंत त्याचे भविष्य उज्ज्वल ठरू शकत नाही.

काही लोक आमची अर्थात् त्यागी लोकांची सेवा, सुश्रूषा, भक्ती करण्यात खूप आनंद मानतात, वेळ देतात, मात्र संयम धारण करण्यास भितात. त्यांचीही आम्हास फार दया येते.

३. ज्योतिष

प्रश्न-योग्य काल, मंगल मुहूर्त, पुण्य वेला पहाणे आवश्यक आहे काय ?

आचार्यश्री-अगदी आवश्यक आहे. कोणालाही दीक्षा देताना स्थिर लग्न आणि शुभमुहूर्त पाहावा अशी शास्त्राज्ञा आहे. अयोग्य मुहूर्तावर दिलेली दीक्षा खंडित होते हे आम्ही अनुभवले आहे.

ही विद्या भगवंताच्या वाणीचाच एक भाग आहे. दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा ह्यासाठी तज्ज्ञांची संमती घेतली पाहिजे व त्यांचा सन्मान केला पाहिजे.

४. दुधाचे ग्राह्यत्व

प्रश्न–दूध पवित्र व ग्राह्य कसे ? (ते पशूच्या शरिरापासून बनते त्याअर्थी ?)

आचार्यश्री–गाईने खाल्लेले गवत शरीरात सप्तधातुरूप परिणमते. शरीरात दूध निर्माण करणारी संस्था–यंत्रणा ही स्वतंत्र आहे. त्याचा रक्त, मांस, वगैरेशी प्रत्यक्ष संपर्क येत नाही किंवा त्यात ते मिसळतही नाही.

प्रश्न–अधिक स्पष्ट व सोदाहरण सांगावे महाराज !

आचार्यश्री–माझ्या प्रश्नांची उत्तरे द्या. त्यातूनच तुमच्या प्रश्नाचे उत्तर बाहेर येईल.

आ. प्रश्न–(परधर्मियांस) गंगाजल पवित्र मानता की नाही तुम्ही ?

' मानतो. '

गंगेत मगर, मासळी, बेडूक, वगैरे प्राणी वास्तव्य करतात का ? '

' करतात की. '

त्यांचे मलमूत्र गंगेच्या पाण्यातच विसर्जन होते ना––तरी गंगाजल पवित्रच मानता ?

' मानतो. '

' तर मग त्यापेक्षा दुधाचे वास्तव्य, निर्मिती व पावित्र्य अधिक श्रेष्ठ आहे. शिवाय दुधाची उत्पत्ती ही वत्साच्या आवश्यकतेपेक्षा अधिक होत असल्याने त्याची उपासमार न करता मिळवता येऊ शकते. अतएव ते ग्राह्य समजावे.

५. भेदविज्ञान

प्रश्न–भेदबुद्धीने शारीरिक कष्ट का जाणवत नाहीत ?

आचार्यश्री–जसे चुलीत लाकूड जळते तेव्हा माणसाला वेदना होत नाहीत, तसेच शरीराला पीडा होत असता शरीरात एकत्व बुद्धी नसली तर आत्म्याला त्याबद्दलच्या वेदना जाणवू नयेत. जाणवल्या तर भेदबुद्धीत अपक्वता आहे असे समजावे ! थंडी, उष्णता दंशमशक वगैरे परीषह सहन करताना जर काही कष्ट जाणवलेच तर त्यामुळे भेदविज्ञानी दुःखी झालेला आढळणार नाही. केशलोचाचे वेळी ह्याचा प्रामुख्याने प्रत्यय येतो.

६. संसार–त्यागाचे महत्त्व

प्रश्न–शांती मिळवण्यासाठी संसार–त्याग अपरिहार्य का वाटला आपणाला ?

आचार्यश्री–परिग्रहाने मनात चंचलता, राग, द्वेष ह्यांचे थैमान चालूच राहाते. वाऱ्याचा वेगवान झोत चालू असताना दीपशाखा स्थिर रहाणे जसे असंभव व सागरही लाटारहित राहाणे असंभव त्याचप्रमाणे

रूप, धन, वैभव, कुटुंब इ. रागद्वेषांच्या उत्पत्ती-साधन सामुग्रीच्या सद्भावात मनःशांती असंभव असते. **मनाची प्रसन्नता ही आत्म्याच्या शांतीची पार्श्वभूमी होय.** दुसरे, विषयभोगासक्तीने मनोवृत्ती मलीन होते. तिसरे, मरणाचे वेळी सर्व बाह्यसामुग्री येथेच राहाते. केवळ आपले पापपुण्यच तेवढे आत्म्या-बरोबर येते. ह्यावरून ह्या बाह्य सामग्रीची आसक्ती अनावश्यक सिद्ध होते.

७. शिक्षणसंस्थेपासून अपेक्षा

प्रश्न–आपल्या समाजात अनेक धर्मशिक्षणसंस्था निर्माण होत आहेत व कार्य करीत आहेत ह्याबद्दल आपले अभिमत काय आहे ?

आचार्यश्री–दुसऱ्यांची मुले संवर्धित करून त्यांना लौकिक शिक्षण देण्यात व ऐहिक सुखसाधन-संपन्न बनविण्यात धर्म वा संस्कृती–संरक्षण असे काय साधले ! हे तर दाईचे काम झाले. हे कार्य तर सरकारही करीत आहे. तुमचे वैशिष्ट्य काय राहिले ?

प्रश्न–काय असावे असे आपणास वाटते ?

आचार्यश्री–संस्थेतून शिक्षण घेऊन निघालेल्या विद्यार्थ्यांमध्ये संयम-धारणेबद्दल आदर आणि आस्था निर्माण झाली असल्याचे आढळले—प्रत्ययास आले पाहिजे. त्या सर्वांनी त्वरित धारण केलेच पाहिजे असे नाही—पण रत्नत्रयधारी त्यागी, व्रती, संयमी व्यक्तीबद्दल अनुराग, प्रेमादर, भक्ति, श्रद्धा तरी त्यांचे ठायी निर्माण झाली पाहिजे असे आम्हास अभिप्रेत आहे–अपेक्षित आहे. रत्नत्रयधारकांची परिचर्या सेवा, वैयावृत्य ह्यात त्यांना आनंद–कृतार्थता–कर्तव्यदक्षता प्रतीत झाली पाहिजे. अन्यथा ह्या शिक्षणसंस्थांचे प्रयास व्यर्थ आहेत असे धर्म व संस्कृति–संरक्षणाच्या दृष्टीतून म्हणणे प्राप्त होईल.

८. विश्वाचे नंदनवन

प्रश्न–विश्वाचे नंदनवन केव्हा व कसे होईल ?

आचार्यश्री–फार मोठ्या योजना व (भौतिक) सुखसोयी वाढवून त्याचे नंदनवन होणार नाही. त्यासाठी मानवमात्राने हिंसा, परस्त्रीलंपटता, असत्य, चोरी आणि अधिक तृष्णा ह्यांचा त्याग केला पाहिजे. यानंतर येणारी सुख शांती हेच नंदनवन समजावे.

९. अस्पृश्योद्धाराचा मार्ग

प्रश्न–महाराज अस्पृश्योद्धाराचा खरा मार्ग कोणता ?

आचार्यश्री–तुम्ही लोक बंगला–महाल–भवनादिकात रहाता, पण त्यांना नीट झोपड्या देखील उपलब्ध करून देत नाही. जीवनाचा उद्धार पापांच्या त्यागाने होतो. त्यांना मद्य, मांस व मधूचा त्याग करायला प्रवृत्त करा, त्यांची गरिबी दूर करा, गुन्हेगार प्रवृत्तीपासून त्यांना दूर सारा. शिकार–जीवहिंसा सोडवा.

हे सर्व करण्याऐवजी त्यांचेबरोबर केवळ सहभोजन करण्याने त्यांचा कसा काय उद्धार होणार हे आम्हाला समजत नाही. आमच्या अंतःकरणात त्यांच्या संबंधी अपरंपार दयाभाव आहे.

१०. निश्चय व व्यवहार

प्रश्न–व्यवहारापेक्षा निश्चयाकडे अधिक प्रवृत्ती होत असल्याचे आजकाल आढळते ते कितपत योग्य आहे ?

आचार्यश्री–व्यवहार पुष्पाप्रमाणे आहे. वृक्षावर प्रथम पुष्प येते. त्या पुष्पातूनच फळ अंकुरित होते. जेव्हा फळ पूर्ण विकसित होते तेव्हा पुष्प नष्ट झालेले असते. हे जसे, तसेच प्रथम व्यवहारधर्म होतो. त्यातून निश्चयधर्म अंकुरित होत जातो. **निश्चयाची पूर्णता झाली म्हणजे व्यवहार आपोआप गळून पडतो.**

११. शासन-पुरस्कृत जीवहिंसा

प्रश्न–महाराज, आजकाल अन्न–उपज व पीक संरक्षणासाठी अनेक प्रकारच्या पशुपक्ष्यादिकांची हिंसा करण्यास शासन मदत करते–उत्तेजन देते ते कितपत बरोबर आहे ?

आचार्यश्री–आमच्या दृष्टीने ते सर्वथा चूक तर आहेच, पण आत्मघातकीपणाचेही आहे. वानर वगैरे प्राणी केवळ भीती दाखविण्याने पळून जातात. त्यासाठी त्यांना ठार मारण्याचे प्रयोजन काय ? निसर्गनिर्मित फळांफुलांवर जगणारे हे प्राणी अल्पभोजी असतात. मानवाप्रमाणे संग्रह करण्याची त्यांची प्रवृत्ती नाही. ज्याअर्थी त्यांना जीव आहे त्याअर्थी मानवाप्रमाणेच त्यांना अन्नाची जरूर लागणारच, त्याशिवाय त्यांनी जगावे कसे ?

आज शासन आणि लोक त्या निसर्ग–निर्मित पशुपक्ष्यांचा जो निर्दय संहार करीत आहेत त्यामुळेच अन्नधान्याची निपज कमी होऊ लागली आहे. पूर्वी हरिणादिक पशु शेतातील कोवळे अंकुर भक्षण करीत त्यांच्या तृप्ततेतून जी शुभ भावना आशीर्वाद रूपाने प्रतीत होत असे त्यामुळे अमाप धान्य निर्माण होत असे. आता तेही नाहीत व धान्य-उपजही नाही. निसर्ग जे काही धान्य, फळे वगैरे निर्माण करते त्यात पशुपक्ष्यांचाच वाटा अधिक असतो.

आजही हा पशुपक्ष्यांचा संहार थांबविला तर अन्नोत्पादन इतके वाढेल की लोकांना ते पुरून पुष्कळसे उरेल देखील; पण जीवांचा संहार असाच चालू राहिला तर मात्र भूकंप, नापिकी, टोळधाड, अति-वृष्टी, अनावृष्टी ही संकटे सारखी येतच राहतील व मानव कधीही सुखशांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करू शकणार नाही.

१२. सुखप्राप्तीचा उपाय

प्रश्न–सुखप्राप्तीचा खराखुरा उपाय काय ?

आचार्यश्री–श्रीकृष्णाचे वडील बंधू बलराम (वासुदेव) हे गतजन्मी अत्यंत कुरूप आणि बुद्धिहीन होते, शिवाय निर्धन देखील. त्यामुळे ते अत्यंत तिरस्कारपात्र बनले होते. त्यांनी सद्गुरुचरणांचा आश्रय

घेतला, उपाय विचारला. सद्गुरूंनी 'अहिंसामय तपस्या' करण्यास सांगितले. त्याप्रमाणे त्यांनी उग्र तपश्चर्या केली. फलस्वरूप त्यांना विद्या, कला, वैभव, सौन्दर्य या सर्वांनी सम्पन्न असा हा वसुदेवाचा जन्म प्राप्त झाला. संयम तथा व्रतपालनासाठी दैवापेक्षा पुरुषार्थावरच अधिक भर देणे प्रशस्त आहे. **सुखप्राप्तीचा उपाय इन्द्रियनिग्रह आणि संयमपालन हाच आहे.**

१३. पुरुषार्थ आणि दैव

प्रश्न–पुरुषार्थ सर्वस्वी आपल्या स्वाधीन आहे काय ?

आचार्यश्री–जेव्हा कर्मोदयाचा वेग अति तीव्र असेल तेव्हा तो ओसरेपर्यंत शान्त राहिले पाहिजे. मात्र तो ओसरताच पुरुषार्थ केला पाहिजे. आम्ही भोजग्रामच्या वेदगंगा-दूधगंगेच्या संगमात लहानपणी पोहत असू. पुराच्या वेगवान धाराप्रवाहात सापडलो म्हणजे स्वस्थपणे थोडे अंतर वहात जात असू; पण प्रवाहाचा वेग किंचित् कमी झालेला दिसताच जोरात हातपाय चालवून किनारा गाठीत असू. ह्याप्रमाणेच जेव्हा पापोदयाचा वेग जोरदार असेल तेव्हा न घाबरता स्वस्थ पण सावध राहावे व योग्य संधी येताच संयमपालनाचा पुरुषार्थ करून दैवावर मात करावी. **शास्त्रांच्या स्वाध्यायाने बुद्धी चौकस व पुरुषार्थवादी बनते.** म्हणून मासळी ज्याप्रमाणे अथांग समुद्रात स्वच्छंद विहार करून प्रसन्नतेने आपले जीवन सुखसम्पन्न करते. त्याप्रमाणे जीवाने शास्त्रसमुद्रात स्वछंद विहार करून आपला मार्ग सुकर केला पाहिजे. **अखंड स्वाध्याय माणसाला पुरुषार्थवादी करण्यास व ठेवण्यास मदत करतो.**

१४. कर्मभूमीचा अर्थ

प्रश्न—कर्मभूमीचा अर्थ काय ?

आचार्यश्री— सामान्यतः कर्मभूमीचा अर्थ—जेथे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प व विद्या ह्या षट्कर्मांच्या द्वारे उपजीविका होते ती कर्मभूमी असा केला जातो; पण याहीपेक्षा अधिक चांगला अर्थ असा की, **'जेथ कर्मक्षय संभवतो ती कर्मभूमी'** असा घेतला जाणे अधिक प्रशस्त वाटते.

१५. दिगंबर जैन धर्म

प्रश्न—दिगम्बर जैन धर्माला ओहोटी लागल्यासारखे वाटते असे का व्हावे ?

आचार्यश्री — दिगम्बर जैन धर्म कठीण आहे. आजकाल लोक ऐहिकतेकडे झुकत चालले आहेत. मोक्ष आणि तो मिळवण्याचे मार्ग परिश्रम, संयम, तप वगैरे प्रक्रियेमुळे खडतर भासतात. इतर धर्मात हा प्रकार नाही. अन्यत्र साधु लोक स्त्री वगैरे परिवारासह राहातात, परिग्रह बाळगतात, खानपानाची बंधने ठेवीत नाहीत.

दिगंबर मुनी शहाण्णव दोष टाळूनच भोजन करतील. प्राण गेला तरी घेतलेले नियम व व्रते सोडणार नाही. आरंभ व परिग्रहांनी ते रहित असतात.

स्वामी समंतभद्रांनीही ह्याची चर्चा पूर्वी केली आहे. ते म्हणतात 'जिनेन्द्र–शासन' दया, दम, त्याग, समाधि आदिकांच्या प्रतिपादनामुळे अद्वितीय ठरला आहे, तथापि जनसामान्याचे त्याकडे आकर्षण

बेताचेच होते. त्याची कारणे दोन आहेत. साधारण कारण तर कालविपरीतता हे आहे व दुसरे असाधारण कारण असे की बहुभाग श्रोते भयानक मिथ्यात्वाने आक्रान्त आहेत. त्यांचे ठायी जिज्ञासेचाही अभाव आहे. शिवाय जैन धर्माचे प्रवक्ते सामर्थ्यसंपन्न, सच्चारित्र, सम्यक्, श्रद्धावान असे बहुसंख्य असावयास हवेत, त्यांचा तुटवडा आहे. युक्त्यनुशासनमध्ये त्यांनी म्हटले आहे—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥

[पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर लिखित '**चारित्रचक्रवर्ती**'च्या आधारे.]

श्री. माणिकचंद तुळजाराम वाघोलीकर, बारामती.

१. मुनीपणाचा जन्मानुजन्माचा अभ्यास

पू. महाराजांशी सहज बोलणे सुरू असताना ते म्हणालेत, 'स्वाध्यायामध्ये जे गहन प्रश्न उत्पन्न होतात त्याबाबत मी रात्री सामायिक झालेवर विचार करतो. विचारांती प्रश्नाचे उत्तर व कार्यकारण भाव लक्षात येतो.' महाराज रात्रौ तीन किंवा चार तासापेक्षा जास्त झोप घेत नसत. याबाबत त्यांना विचारले असता ते म्हणाले, 'मी या पर्यायात प्रथमतःच मुनी झालो नाही. सर्व सामान्यांना कठीण वाटणाऱ्या बाबींसंबंधी विकल्पच येत नाहीत. सहज प्रवृत्ती असते म्हणून विश्वासपूर्वक वाटते. पूर्वभवांत एकदोन वेळ तरी मुनिपर्याय धारण केली असावी.

२. शरीराबाबत अनासक्ती व अपूर्व सहनशीलता

दहिगाव येथे सन १९५२ च्या चातुर्मासात उतरताना पाय घसरून पाव इंच खोल जखम झाली. खूप रक्त गेले. पण चर्येवर किंचितही दुःख नव्हते. बाह्य उपचार होत. परंतु जखमेवर त्यांनी कपडा बांधू दिला नाही. जखम योग्यकाळी बरी झाली. 'शरीराचे काम शरीर करील, रोगाचे काम रोग करील, आमचे काम आम्ही करावे' अशा सहज प्रवृत्तीमध्ये आचार्यश्री असत. भेदविज्ञानाचा आध्यात्मिक पाठ त्यांचा जीवनमंत्र होता. सल्लेखनेच्या ३६ दिवसात एकदाही 'हुश्श!' किंवा 'अरेरे!' असे खेद-प्रदर्शक शब्द मुखावाटे बाहेर पडले नाहीत. भेदविज्ञानाचा पाठ प्रत्यक्ष आचरणाने आचार्यश्रींनी दिला.

३. राव-रंकाबाबत समदृष्टी

शिखरजीच्या यात्रेहून परतताना कटनी येथे चातुर्मास होता. श्री. सर सेठ हुकुमचंदजी त्यांचे दर्शनास येत असल्याचे कळाले. संघातील मंडळी टापटीपीने बसण्याचा यत्न करू लागले. पण आचार्य महाराजांचे ठायी कोणतीच चुळबुळ दिसली नाही. सेठ नमस्कार करून समोर बसले. महाराजांचे दृष्टीत सर्वत्र समभाव होता. याचाच सेठजीचे मनावर फार परिणाम झाला असे त्यांनी स्वतः वारंवार बोलून दाखविले.

वालचंद देवचंद शहा, मुंबई.

जागृत विवेकशीलता

सन् १९५३ मध्ये कुंथलगिरी क्षेत्रावर चातुर्मास असताना बरीच विद्वान व पंडितमंडळी दर्शनास आली. त्यांनी श्री. कानजी स्वामींचे उपदेशाबाबत तक्रार श्रींच्या समोर मांडली. त्यांचे म्हणणे शांतपणे ऐकून महाराज म्हणाले, 'एक श्वेतांबर साधु आपल्या अनुयायासह दिगंबर धर्मात येत आहे तर त्याच्याशी प्रेमाने वागून आपली तत्वदृष्टी आचारमार्ग यांची प्रत्यक्ष आचरणाने त्यांना जाणीव द्या. निंदा किंवा तिरस्काराने ही मंडळी आपणाशी एकरूप होणार नाहीत. इतरांना आपलेसे करण्याचा मार्ग प्रेम व अहिंसा आहे हे विसरू नका.' किती सूक्ष्म विवेक !

आत्यंतिक निकोप निर्भयवृत्ति

मध्य प्रदेशातील विहारात दमोहजवळील एका क्षेत्रावर असतांना 'डोंगरावर क्रूर श्वापदे आहेत' असे ऐकूनही डोंगरावर रात्रौ एकाकी राहण्याचा निर्धार करून डोंगरावर अरण्यात एकाकी रात्रीला वसती सुरू केली. रोज सकाळी ७॥ ला नियमाने खाली उतरत. एके दिवशी महाराज ८॥ पर्यंत खाली न उतरल्यामुळे भक्त घाबरून डोंगरावर जाऊ लागले. वाटेत महाराज खाली उतरतांना भेटले. साहजिकच 'आज उशीर का झाला ?' म्हणून विचारणा केली. महाराजांनी उत्तर देण्याचे टाळले. फार आग्रह झाल्यावर त्यांनी झालेली घटना सांगितली. 'सामायिक आटोपल्यानंतर डोळे उघडून पाहतात तो समोर १०–१५ फुटावर वनराज वाघ आपणाकडे पाहत असलेला लावून तो उठून जाईपर्यंत त्याचेकडे दृष्टी लावून बसलो. दोघेही आपले ठिकाणी स्वस्थ ! पंधरा मिनिटांनी निघून गेल्यानंतर खाली उतरलो.' एकाने विचारलेच 'महाराज ! त्यावेळी आपले मनात कसे विचार येत होते ?' त्याला उत्तर मिळाले—"मूक उपदेश देत होतो, भव्य जीवा ! हिंसा करू नको. या हिंसक पर्यायातून सुटून आत्मकल्याणाच्या मार्गाला लाग." केवढी निर्भयवृत्ति व क्रूरप्राण्याच्या कल्याणाची भावना !

प्रसिद्धिविन्मुखता

सन १९५२ मध्ये दहिगाव येथे १०८ शांतिसागर जीर्णोद्धारक संस्थेची साधारण वार्षिक सभा सुरू होती. तेथे पू. महाराजांचे चरित्र प. श्री. सुमेरचंदजीकरवी लिहवून ते ग्रंथमालेतर्फे प्रसिद्ध करावे असे ठरले. तसे पंडितजींना पण सांगितले. परंतु दुसरे दिवशी ही हकिकत महाराजांना समजल्यानंतर त्यांनी स्पष्ट आदेश दिला की, "माझे चरित्र लिहू नका व प्रसिद्ध करू नका. ते उचित नाही. तसे करणार नाही अशी प्रतिज्ञा घ्या." या आदेशामुळे पंडितजींना तसे कळवावे लागले. तथापि त्यांनी स्वतः चरित्र लिहून प्रसिद्ध केले व महाराजांना दाखविले. परंतु महाराजांना तेही आवडले नाही. महाराज त्यांचेवर उदासीनच होते. त्यांना स्वतःची स्तुती मुळीही रुचत नसे.

दिगंबराला दिगंबरमूर्तींचा अपार भक्तिभाव

श्रीकुंथलगिरी क्षेत्रावर एक विशाल जिन मूर्ति स्थापन व्हावी असे भाव १९५२ चे चातुर्मासात व्यक्त झाले. परंतु त्यांना ते याच देही पाहण्याचा योग आला नाही. सल्लेखनेचे वेळी म्हैसूरजवळ एका खेडेगावी नदीचे काठी १८ फूट उंचीची बाहुबलीची मूर्ति आहे. आजूबाजूला जैन वसती नाही. पाण्याने वाहून मूर्ति खंडित न व्हावी म्हणून तिची योग्य व्यवस्था व्हावी अशी वर्तमानपत्रात चर्चा होती. ती वार्ता कानी पडताच त्यांनी रावजी देवचंद व हिरालाल काला यांना तातडीने पाठवून कसेही करून ती मूर्ति ट्रकमध्ये घालून आणा असा उपदेश दिला. अंतर्बाह्य दिगंबरत्व हा त्यांनी विकल्पाचा विषय ठेवला नाही. परंतु तेथील पंचांनी 'पावसाळ्यात मूर्ति नेऊ नका. पावसाळ्यानंतर आम्ही महाराजांच्या इच्छेनुसार कुंथलगिरीला पोचवू' सांगितल्यामुळे ते मूर्तीचा फोटो घेऊन सल्लेखनेच्या २६ व्या दिवशी परत आले. दोन प्रहरी फोटो व पंचांचे पत्र महाराजांना दाखविले. तेव्हा त्यांनी तो फोटो हाती घेतला, तीनदा मस्तकाला लावला. डोळ्यातून सहज आनंदाश्रु उभे झाले. जे भावनेने उद्‌गारले. भगवंताचे दर्शन झाले धन्यता वाटते ! प्रत्यक्ष परोक्ष एकरूप दिगंबरत्वाची मनोमन प्रतिष्ठा होती. मूर्ति येथे केव्हा तरी विराजमान होईल हे सहजोद्‌गार निघाले. भविष्यवाणी खरी ठरली.

संयमाबद्दल सदा सावधानता

सल्लेखना धारण केल्यानंतर पाचसहा दिवसांनी त्यांनी मला व स्व. माणिकचंद वीरचंद यांना एकान्ती बोलवून घेतले व म्हणाले 'मी सांगतो ते कराल ना !' 'आम्ही आपल्या आज्ञेच्या विरुद्ध कसे वागू' आम्ही उत्तरलो. "आता यम सल्लेखना घेतलेली आहे. काही दिवसांनी स्वर्गवास होईल. तेव्हा हे शरीर न जाळता जवळच्या नदीकिनारी ठेवून द्या" महाराज म्हणाले, मी म्हणालो—'सारा सगळा मुनीसंघ भोवती असतांना असे कसे घडू शकेल ? आम्हा श्रावकांना हे कसे उचित होईल ?' असे म्हणताच ते म्हणाले "ठीक आहे. परंतु जेथे दहन होईल. ती जागा तरी जीवजन्तुविरहित असेल याची मात्र काळजी घ्या" अशी होती प्राणिरक्षा संयमाबाबत सावधानता !

संयममूर्ती आचार्यांच्या चरणी त्रिवार अभिवादन !

स्त्रीला मुक्ती का नाही ?
(पूर्ण समाधान)

श्री. श्रीमतीबाई कळंत्रे अक्का, श्राविकाश्रम, मुंबई

प. पू. महाराजांचे नाव परमतपस्वी म्हणून गाजत होते. त्यांनी कुदेवतादिकांच्या पूजेचे मिथ्यात्व घालवून लोकांना धर्माकडे वळविले. ' देवीच्या कृपाप्रसादाने भाग्य उघडते हे निखालस खोटे असून पूर्वीचे पुण्य आता कामी येते. तिला बलि वगैरे देऊन नवसाचे प्रयोजन काय ? प्रत्येक आपल्या कर्मानुसार सुखदु:ख भोगतो. मानव किंवा देव निमित्तमात्र असतात. ' अशाप्रमाणे नवस, बली आदि मिथ्या रूढींपासून समाज पराङ्मुख केला. अशा उपदेशाने आकृष्ट होऊन १९१८ साली नसलापुर येथे चातुर्मासाचा योग असताना दर्शनास जाण्याचे ठरविले. रेल्वे किंवा मोटारच्या सोयी थोड्या होत्या. चिखलामुळे बैलगाडी निरुपयोगी म्हणून घोड्यावर बसून जावे लागले. दोन वाजता पोहोचल्यानंतर तत्रस्थांनी पू. महाराजांना माझा परिचय करून दिला. मला पद्मपुराण वाचावयास सांगितले. तेव्हा कानडीशिवाय दुसरी भाषा महाराजांना येत नव्हती. मी त्यांना कानडी भाषेत अर्थ सांगितला. महाराजांनी आनंदित होऊन, जवळ बोलावून असाच बायांमध्ये शास्त्रवाचनाने धर्माचा प्रचार करण्याचा उपदेश दिला. मी बालविधवा असल्याने स्वामींनी ब्रह्मचर्याची प्रेरणा करून व्रत दिले. नंतर ४–५ दिवस हिंदीमध्ये अर्थ सांगण्यासाठी ठेवूनही घेतले. जाताना उपदेश दिला की, **" धर्माचा दोरा बांधून जीवनाचा पतंग आकाशात विहरू द्या. धर्म सोडू नका. हा दोरा तुटला तर पतंग वाऱ्याबरोबर झोका घेत छिन्न होईल म्हणून धर्माचा दोरा हाती ठेवून मनाचा पतंग उडू द्या. "** आजही तो बहुमोल उपदेश कानी गुंजतो आहे.

महाराजांबरोबर चर्चेचा योग वारंवार लाभे. एकदा मी महाराजांना प्रश्न केला, ' दिगम्बर आम्नायामध्ये स्त्रीला मुक्ती का नाही ? ' महाराज म्हणाले, ' स्त्रीपर्यायच अशी आहे म्हणूनच. ' मी म्हणाले, ' पुरुषाप्रमाणे स्त्रीला पण पाच इंद्रिये व मन असूनही स्त्रीला मात्र मोक्ष का नाही ? ' माझेजवळच शांतमती अम्मा बसल्या होत्या. त्या म्हणाल्यात, ' मी दिगम्बर दीक्षा घेते. मला द्यावी. ' महाराज म्हणालेत, ' आपण घ्याल, पण मला देता येणार नाही. ' ' का देता येत नाही ? ' मी विचारले. ' स्त्रीपर्याय असल्याने तुम्हाला नग्न दीक्षा देता येत नाही. ' पुन: कारणमीमांसा स्पष्ट करताना सांगितले, " स्त्रियांवर पुरुषाकरवी जबरीने बलात्कार होऊ शकतो. पण पुरुषांवर स्त्रीकडून बलात्कार होऊ शकत नाही. म्हणून त्यांना दिगम्बर दीक्षेचा अधिकार नाही. " किती मार्मिक समाधान !

तदनंतर जरी मी छोटीमोठी व्रते करीतच होत्ये तरीही नियमाशिवाय काही खरे नाही म्हणून त्यांनी रात्रिभोजन त्याग, नित्य देवदर्शन आदि व्रते देऊन पावन केले. जीवनामध्ये जे काही होऊ शकले तो त्यांच्या आशीर्वादाचा पुण्यप्रभाव समजते.

आचार्यश्रींच्या जीवनातील वैशिष्टयपूर्ण घटना

माणिकचंद वीरचंद गांधी (फलटण)

श्री. प. पू. १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज यांनी ३-४ शतकांमध्ये बंद पडलेली श्रमण-परंपरा पुनरुज्जीवित केली. मध्यंतरी अज्ञानामुळे श्रमणाच्या आचारादिकांचे असे ज्ञानही नसल्यासारखेच झाले होते. परंतु आचार्य महाराजांनी शास्त्रांच्या मनन व चिंतनाने आपली विवेकदृष्टी समीचीन बनविली व त्यागीच्या क्रियेला समीचीन रूप कायम केले. त्यांतील काही प्रसंग त्यांची विवेकदृष्टी किती सूक्ष्म होती याचा प्रत्यय अजून आणून देतात.

१. प्रारंभापासूनच सावध

वस्तुतः आचार्यांनी प्रथम : श्रवण बेळगोळचे भट्टारक देवेन्द्रकीर्तीजवळून क्षुल्लक दीक्षा घेतली. दीक्षेच्या दुसऱ्या दिवशी त्यांनी नरनाळ ता. हुक्केरी येथे गुरुशिष्य दोघांचाही आहार झाला. आहारानंतर दाताराने संपूर्ण म्हणून दोघांच्याही समोर सव्वा सव्वा रुपया ठेवला. गुरूंनी तो स्वीकारण्याचा इषारा केला. परंतु महाराज गुरूंना म्हणाले-आम्ही धनधान्यादि परिग्रहाचा त्याग केल्यानंतर त्याचा स्वीकार का करावयाचा? घरी असूनही आम्ही त्याचा त्याग केला. तर मग पुनः त्यास हात कशासाठी लावावयाचा? गुरूंनी मात्र दोघांच्या समोर ठेविलेला सव्वा सव्वा रुपया उचलून घेतला. दुपारी सामायिकानंतर विहार करण्यास निघाले असताना गुरु शिष्य शांतीसागराला अमुक गावाला चला म्हणाले, तेव्हा शांतीसागर म्हणाले.

"तुमच्या सोबत राहाण्याने माझा संयम कसा निभणार? आपण तिकडे जावे. मी इकडे जातो...."

२. असाही धडा दिला जाऊ शकतो

प्रथम उद्दिष्ट आहाराच्या त्यागाची कल्पनाही अस्पष्ट होती. महाराजांनी त्यासंबंधी विवेकानेच काम घेतले, कागलला असताना उपाध्याय महाराजांना म्हणाला चला जेवायला, लौकर उठा. मला गावाला जावयाचे आहे. महाराज म्हणालेत—'तुला जाणे असेल तर जा. मला का उठवितोस' उपाध्याय म्हणाला 'मीच तुम्हाला जेवावयास देणार आहे. माझ्याशिवाय कोण देणार? म्हणून उठवितो.'

'आज मला उपवास आहे' महाराज म्हणाले.

नंतर उपाध्याय श्रावकाच्या घरी गेला. आणि महाराजांना उपवास आहे. म्हणून मला जेवावयास द्या म्हणाला. उपाध्याय जेवून गावाकडे गेला, नंतर दोनप्रहरी श्रावक मंडळी गावात जमली व महाराजांना उपवासाचे कारण विचारले.

'तुम्ही शुद्धीकरिता पाणीच दिले नाही तर मी आहाराला कसा निघणार?'

'आपण तर उपाध्यायाला मला उपवास आहे म्हणून सांगितलेत.'

'आम्हाला उपाध्यायच जेवावयास देतो म्हणाला; तुम्ही का देत नाही?'

'आम्हास माहीत नाही.'

'मग उपाध्यायास कसे माहीत ?'

नंतर महाराजांनी श्रावकांना गृहस्थाने मुनींना स्वहस्ते आहार कसा द्यावा, परहस्ते न देता आपल्या घरी आहार द्यावयाचा विधी समजावून दिला.

हाच विवेक महाराजांच्या संयमी जीवनाचा गाभा होता.

३. विवेकपूर्ण सजीव प्रकाश

समाजाचे धर्मविषयक प्रश्न उपस्थित झाले असताना त्यातही त्यांच्या विवेकदृष्टीचाच प्रत्यय येतो.

महाराजांचा चातुर्मास फलटण मुक्कामी सं. २०१० साली होता. मी पण महाराजांच्या दर्शनाला गेलो होतो. एक गणमान्य विद्वान....महाराजांकडे दर्शनासाठी देवळातून पूजन वगैरे आटोपून येत होते. हातामध्ये अष्टद्रव्य सामग्री होती. महाराज कुटीबाहेर पाटावर बसले होते. त्यांनी महाराजांना सविनय वंदन केले व त्यांच्या चरणाला गंध, फुले चढविण्याकरिता गंध घेऊन हात पुढे केला. परंतु महाराजांनी पाय आत ओढून घेतले. पू. महाराज म्हणाले—

'आप तो विद्वान हो. कही साधु को गंध और फूल का परिग्रह होता है क्या ?'

तेथेही उपस्थितांच्या प्रत्ययाला वागण्यातील सूक्ष्म विवेक आला व सर्वांनाच प्रकाश लाभला.

: ४ :

म्हसवड येथील प्रतिष्ठेच्या वेळी महाराजांकडे पंडित श्रावक वगैरे सर्वच बसले होते. श्री. कानजी-स्वामींच्या आध्यात्मिक उपदेशाचा प्रभाव वाढत होता. सर्वत्र निश्चय व्यवहार निमित्त उपादानाची चर्चा होत होती. त्याचे प्रतिबिंब महाराजांभोवतीच्या चर्चेतही उमटत असे. पंडित लोक म्हणाले—

"महाराज समाज में तो कानजी के आत्मधर्म ने गहजब मचाया है। उनकी समयसार की एकान्तिक प्ररूपणा से बडी गडबडी होगी। व्यवहार धर्म का और सच्चे धर्म का लोप होगा। इस समय आपका आदर्श ही समाज को बचा सकता है। इसलिए आप आदेश निकाले और उनकी प्ररूपणा धर्मबाह्य है ऐसा जाहिर करे...."

महाराजांची मन्दकषाय प्रवृत्ती त्यांना नवीन भानगडी उपस्थित करू देत नव्हती. तसेच त्यात हस्तक्षेपही करू देत नव्हती. महाराज ऐकून गप्प बसले. परंतु पंडितजींचा आणि अन्य काहींचा फारच लकडा दिसला. बऱ्याच वेळानंतर महाराज म्हणालेत, "अगर मेरे सामने प्रवचन के लिए समयसार रक्खा जाएगा तो मैं भी क्या और कोई भी क्या वही तो मुझे कहना पडेगा। पुण्यपाप को हेय हि बतलाना होगा। यही समयसार की विशेषता है।"

"अब रही बात व्यवहार की। व्यवहारधर्म की जीवन में उपयोगिता कैसी है यह बात कानजी

स्वामी को पटाना होगी, उनका निषेध करने से क्या होगा ?....कानजी का निषेध करने से क्या आ. कुन्दकुन्द का निषेध करना है ? "

सर्वजण महाराजांकडे अवाक् पाहातच राहिले. केवढी विवेकदृष्टीची गंभीरता ? आज याच प्रश्नावरून समाजामध्ये वर्तमानपत्रामध्ये जी असभ्य टीका आढळते, शास्त्राच्या अर्थाची जी कुतरओढ आढळते, ती पाहिली म्हणजे महाराजांचा अभाव जाणवतो व केव्हा ही परिस्थिती काबूत येणार या चिंतेने मन उद्विग्न होते. अशी होती महाराजांची विवेकदृष्टी.

प्रस्तुत लेखक व त्यांच्या कुलकुटुंबियावर महाराजांच्या अपार अनुग्रहाने अनुगृहीत आहेत. त्यांचा सहवास व आशीर्वादाने आम्ही खरोखरच धन्य झालो आहोत. त्यांच्या पावनस्मृतीला अनेक वेळा विनम्र अभिवादन.

: ५ :

आचार्य महाराज चिकोडीचे आसपास असतांना ठिकठिकाणचे श्रीमंत भक्त श्रावक लोक चातुर्मासाकरिता आमंत्रण देण्यास आले होते. त्यावेळी कोगनोळीचे भीमशा व त्यांचे साथीदारही आमंत्रण देण्यास आले होते व स्वतःशी विचार करू लागले की, एवढे रथी महारथी लोक आले असताना आपली डाळ कशी शिजणार ? महाराजांची सामायिकाची वेळ झाली व महाराज सामायिकास बसले तेव्हा भीमशा वगैरे मंडळी गुंफेच्या बाहेर थांबली. पहाटे ४ वाजता महाराज लघुशंकेस बाहेर आले असता शुद्धी करून गुंफेत सामायिकास बसले. महाराजांचे वरोबर भीमशा वगैरेही गुंफेत जाऊन बसले. महाराज सामायिकात असतानाच भीमशा व त्यांचे साथीदार यांनी महाराजांना पाटासह उचलून बाहेर आणले व महाराजांना पाटासह डोक्यावर घेऊन निघाले. महाराजांचे बाकीचे सामान इतर साथीदारांनी बरोबर घेऊन प्रवास सुरू केला. सूर्योदय झाल्यानंतर महाराज बोलले, "अरे मला आता खाली घ्या." नंतर महाराज चालत कोगनोळीस येऊन पोहोचले. नंतर इतर प्रतिष्ठित आमंत्रण देण्याकरिता आलेले महाराजांचा शोध करीत कोगनोळीस आले व महाराजांना म्हणाले, "महाराज, आपणास कोगनोळीस चातुर्मास करावयाचा होता तर आम्हास स्पष्ट सांगावयाचे. एवढे रात्रीच्या रात्री येण्याचे काय कारण होते ?" त्यावर भीमशा म्हणाले, "खबरदार ! या कामी महाराजांची मुळीच चूक नाही. आम्ही दोषी असून आम्ही महाराजांना उचलून आणले आहे." नंतर महाराजांनी हास्य मुद्रेने समजावून सांगितले व चातुर्मास कोगनोळीस करण्याचे निश्चित झाले.

६. जागृत सावधानता

महाराजांचे बरोबर मी प्रवासात असताना महाराज नेहमी म्हणायचे की, ॐ सिद्धाय नमः. जेव्हा मी महाराजांना म्हणालो की, "महाराज ? अरिहंत अगोदर असताना आपण सिद्धाय नमः का म्हणता ?" त्यावेळी महाराज म्हणाले की, 'अरे बाबा, आत्मस्वरूप स्वयंसिद्ध आहे. याची जाणीव राहावी आम्हाला सिद्ध अवस्थेकडे जावयाचे आहे, याचे विस्मरण होऊ नये यासाठी.'

७. आचार्यश्रींची एकाग्रता

प. पूज्य आचार्य महाराज सामायिकास बसले असताना जेथे बसले होते, तेथे काही तरी चिकट पदार्थ लागून त्या ठिकाणी बरेच मुंगळे लागले व त्यामुळे महाराजांना १ इंच खोल अशी जखम झाली. सामायिक झाल्यानंतर लोक पाहू लागले, त्यावेळी जखमेतून सारखे रक्त गळत होते. इतकी जखम होऊन रक्त गळू लागले. तरी त्यांच्या मनाची एकाग्रता ढळली नाही.

८. आचार्यश्रींची प्रायश्चित्त घेण्याची पद्धत

आचार्य महाराजांचा आहार चालला असताना दुसरीकडे आहार तयार करून आणून आहार दिला. हे महाराजांना समजल्यावर त्याचे प्रायश्चित्त म्हणून आठ दिवसपर्यंत फक्त दुधाचा आहार घेऊन ते भर उन्हाळ्याचे दिवसात आठ दिवसपर्यंत डोंगरावर जाऊन तपश्चर्या करीत बसले.

: ९ :

फलटण येथे असताना स. २००२ च्या मार्गशीर्ष मासी पूज्य आचार्य महाराजांचा बारामतीमार्गे वडवानीकडे प्रयाण करण्याची विचारधारा चालू होती. अशा वेळी आचार्य महाराज बाणगंगेच्या वाळवंटात बसले असता आमचे पूज्य पिताजी ती. वीरचंद कोदरजी गांधींनी विनंती केली की, महाराज आम्ही श्रीक्षेत्र दहिगांव येथे प्राचीन २००० वर्षांपूर्वीच्या श्री. १००८ पार्श्वनाथ जिन प्रतिमेची स्थापना केली आहे, त्या मूर्तीचे आपण दर्शन घ्यावे. आमच्या पूज्य पिताजींचे म्हणणे ऐकून घेऊन आचार्य महाराज श्रीक्षेत्र दहिगांवकडे कोणासही माहित नसताना एकदम निघाले व दहिगांव येथे दोन महिने मुक्काम करून नंतर त्यांनी वडवानीकडे प्रयाण केले.

१०. साधकाची साधना अशी असते

बाहुबली येथे चातुर्मासाकरिता आचार्य महाराज संघासह असताना त्यांचे जवळ पं. धन्नालालजी वगैरे विद्वान् होते व महाराजांची श्रीसम्मेद शिखरजीकडे विहार करण्याची चर्चा सुरू होती. तेव्हा पं. धन्नालालजी म्हणाले की, आपणास निझाम हद्दीतून जाताना फार त्रास होईल. तेव्हा अगोदर मंत्रसिद्धी करून नंतर विहार करावा. तेव्हा महाराज पं. धन्नालालजींना म्हणाले की, आपण विद्वान् असून आम्हाला असा मिथ्या उपदेश कसा करता ? यात्रेत त्रास झाला व मरण आले तर तेथेच आमची समाधी होईल. आम्ही जे महाव्रत स्वीकारले आहे ते भिण्याकरिता नाही. श्रीक्षेत्र कुंथलगिरी येथे आचार्यजींचे समाधिकाल अवधीत अगदी सुरुवातीपासून अंतकाळपर्यंत त्यांची सेवा वैय्यावृत्य करण्याचा पुण्यलाभ आम्हाला मिळाला. त्यामुळे आम्ही आमचा जन्म कृतार्थ समजतो.

आचार्य महाराजांकडून शंकानिरसन

प. पू. श्री. १०८ शान्तिसागर महाराज यांनी सन १९२७ मध्ये आपल्या संघासह प्रथमतःच फलटण येथे येवून निवास केला होता. मुनींचा विहार प्रथमच असल्यामुळे भावुक लोकांची सारखी गर्दी दर्शनास चालू होती. त्यात अनेक लोकांच्या अनेक शंका निघून महाराजांना त्यांचे सतत शांततेने निरसन करावे

लागत असे. महाराजांचा दृष्टिकोन अध्यात्मिक असल्यामुळे त्याच द्वारा लोकांचे निरसन करून लोकांची भूक शमवीत असत. एकदा फलटण येथील दिगंबर परंतु कबीर पंथी श्री. जिवराजभाई केवलचंद दोशी पू. महाराजांचे दर्शनास गेले. त्यांचाही अनेक बाजूंनी सर्व धर्मांचा अभ्यास झाला असल्यामुळे सहसा परीक्षा घेतल्याशिवाय कोणास नमस्कार करीत नसत. पू. महाराज संघासहित बसले होते व श्री. जिवराजभाई महाराजांचे जवळ नमस्कार न करता बसले. महाराजांचे मनात कोणताच विकल्प नव्हता, परंतु जवळच चंद्रसागर महाराज बसले होते, त्यांनी श्री. जिवराजभाईंना आपल्यास काही विनय व्यवहार कळतो का ? वगैरे म्हणून जागृति दिली. त्यामुळे जिवराजभाईंची प्रतिभा स्फुरण पावली. त्यांनीही तेथेच लगेच उत्तर दिले, अशी माकडे मी अनेक पाहिली आहेत. त्यावर पू. आचार्य महाराजांनी श्री. जिवराजभाईंना जवळ बोलावून शांततेने त्यांची विचारपूस केली, त्यावेळी ते म्हणाले की मी बडोदा येथे रिशालेत होतो. तेव्हा महाराज म्हणाले की, तुम्हास जंगलात वगैरे जाणेचे प्रसंग येत असतील. जंगलात तुम्हास एखादा काटा टोचला तर तुम्ही तो कसा काढता ? तेव्हा जिवराजभाईंनी उत्तर दिले, काट्याने काटा काढतो. तेव्हा महाराज म्हणाले की तू म्हणतोस ते अगदी खरे आहे. बाळा, खरा पारखी तूच आहेस. आत्मस्वरूपाची ओळख करून घ्यावयाची असेल तर माकडेच व्हावे लागते. त्याशिवाय खरे आत्मकल्याण होत नाही. अशा प्रकारे त्यांचे बोलणे होऊन महाराजांनी जिवराजभाईंना खऱ्या स्वरूपाची जाणीव काट्याने काटा काढावा या उक्तीने जाणीव करून दिली व ती जीवराजभाईंच्या अंतःकरणास बरोबर जाऊन भिडली. तेथेच त्यांनी महाराजांची क्षमा मागून साष्टांग नमस्कार करून आपली जीवनाची भूमिका बदलून टाकली; व अंतसमयी त्यांनी श्रद्धेने णमोकार मंत्राचे स्मरण करीत आपली मनुष्यजन्माची सार्थकता करून स्वर्गस्थ झाले; व अंत-समयी त्यांनी आपल्या पुंजीचा उपयोग श्री १००८ महावीर स्वामी दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र सं. दहीगाव येथे यात्रेच्या वेळी जे लोक येतात त्यांच्या अन्नदानात खर्च व्हावी म्हणून आपले भव्य भाव प्रगट केले व त्या वेळेपासून दहिगाव येथे अन्नदानाचे सत्र आजतागायत अव्याहतपणे चालू आहे.

चारित्रचक्रवर्ती पूज्य आचार्य शांतिसागर महाराजांचे पुण्यस्मरण

पद्मश्री ब्र. सुमताभून

आचार्य शांतिसागर महाराजांच्या पुनीत सहवासातील आठवणी मनात सारख्या घोळत राहतात.. त्यांतील काहींचा निर्देश करण्याचे योजिले आहे.

सहज सांगितले ते पटले

ते पावसाळ्याचे दिवस होते. माझे वय आठ वर्षांचे होते. माझे आईवडील व आत्या त्यांच्याबरोबर मीही आचार्य शांतिसागर महाराजांच्या दर्शनास सांगली जिल्ह्यातील समडोळी गावी गेले होते. आचार्य महाराजांचा निवास समडोळी गावाबाहेर ३।४ फर्लांग अंतरावर एका गुंफेत होता. रोज दुपारी मी आत्याबरोबर

त्यांच्या दर्शनास जात असे. गावातील मुलीही बऱ्याच ओळखीच्या झाल्या होत्या. त्यांच्याबरोबर दर्शनास जात असताना एका शेतातील भुईमुगाच्या शेंगा आम्ही मुली खात असू. एके दिवशी शेतकऱ्याने ते पाहिल्यावर त्याने आचार्य शांतिसागर महाराज यांचेकडे आमच्याविरुद्ध तक्रार केली. तेव्हा महाराजांनी आम्हाला बोलावून घेतले व शेंगा खायच्या होत्या तर विचारायला पाहिजे होते. तुम्ही चोरून शेंगा खाल्ल्या त्याचे फळ तुम्हाला भोगावे लागेल असे सांगितले. पुन्हा कधीही चोरून शेंगा खाऊ नका म्हणून त्यांनी उपदेश केला.

आचार्य महाराजांनी बऱ्याच गावी चातुर्मासानिमित्त मुक्काम केला. एकदा त्यांचा मुक्काम नांदणी येथे होता. दरवर्षी आम्ही त्यांच्या दर्शनास जात होतो. आम्ही गुजर जैन असल्यामुळे तेथील जैन समाज महाराजांच्या आहाराचा लाभ आम्हाला देताना दुरून पदार्थ टाकीत. ते आम्हाला शिवू देत नसत. आहार दुरून वाढीत असत. महाराजांना ही गोष्ट मान्य नव्हती. त्यांनी याविषयी जैन समाजास यथोचित उपदेश करून जागृत केले.

नवस करणे मिथ्या आहे

महाराजांच्या शांतिमय उपदेशाचा व पुनीत सहवासाचा लाभ आम्हाला वारंवार मिळत असे. मनावर त्याचा ठसा अजूनही कायम आहे. आम्ही ज्या ज्या ठिकाणी त्यांच्या दर्शनाला जात असू त्या त्या ठिकाणी मिथ्यात्व, अज्ञान, खोट्या रूढी, देवदेवतांना भोळ्या भाबड्या जनांनी केलेले नवस वगैरे गोष्टी त्याकाळी खूपच प्रचारात होत्या. महाराज त्यांना उपदेश करीत की खरा धर्म काय आहे, खरा देव कसा आहे, याचा विचार करीत चला. अडाणीपणा सोडून गुरूपदेश घ्या म्हणत.

प्रत्येक बाबीला मर्यादा असते

खेडोपाडी महाराज जात तेथे तेथे सर्व ज्ञातींचा समाज महाराजांची तपःपुनीत मुद्रा व शांतवृत्ती पाहून पूज्य भावाने त्यांचे दर्शन घेण्यासाठी येत असे. महाराज मानवतावादी होते. मनुष्य मग तो श्रेष्ठ वर्णाचा असो वा क्षुद्र वर्णाचा, महाराज सर्वांना पावन करीत. हरिजन, चांभार यांनाही महाराज प्रेमाने वागवून आपुलकीने त्यांची चौकशी करीत. मांसाहार करू नये, दारू पिऊ नये, चोरी वगैरे दुष्कृत्ये करू नयेत म्हणून महाराज त्यांच्याकडून प्रतिज्ञा घेववीत व मानवामधील मानव्य जागृत व्हावे असे सांगून त्यांना पुनीत करीत असत. याप्रमाणे त्यांचे नित्याचे प्रतिपादन असे.

एके प्रसंगी आचार्य शांतिसागर महाराजांचा सोलापुरास मुक्काम असताना ते श्राविकाश्रमात आले होते. त्यावेळी आम्ही एक संवाद बसविला होता. तो अर्थात सुधारक मताचा होता. महाराजांनी उपदेश देताना म्हटले की पवित्र, त्यागी, सत्त्वशील वातावरण निर्माण व्हावे म्हणून येथे धार्मिक शिक्षण प्राचीन आश्रमीय पद्धतीने देण्यात यावे. आश्रमातून साधु–साध्वी निर्माण व्हाव्यात, शीलाचे संवर्धन व्हावे व आदर्श श्रावक श्राविका येथून निर्माण व्हाव्यात अशी महाराजांनी इच्छा प्रकट केली.

पुन्हा एकदा महाराज चातुर्मासानिमित्त सोलापुरास आले होते. त्या वेळी त्यांनी गावाबाहेर जागा घेतली होती. त्यांचे पुण्यचरण ज्या भूमीला लागले ती जागा आचार्य शान्तिसागर महाराजांच्या स्मारका-करिता श्राविकाश्रमाने घेऊन तेथे स्वाध्याय भवन बांधले आहे. आश्रमांत जिनमंदिर व स्वाध्यायभवन तेव्हापासून अस्तित्वात आहे.

एकदा आम्ही गिरनार येथे पालीठाण्यास गेलो होतो. आचार्य शान्तिसागर महाराजांनी आमच्या आत्याबाई क्षु. राजुलमति यांना तेथे क्षुल्लिकेची दीक्षा दिली. त्याच वेळी श्राविकाश्रमाची जबाबदारी माझेवर टाकण्यात आली. तसेच आणखीही काही व्रते घेण्याबद्दल सांगितले. तेव्हा सातवी प्रतिमा आम्ही घेतली.

तेथून जवळच सोनगड येथे कानजी स्वामींच्या विनंतीवरून आचार्य शांतिसागर महाराज गेले. त्यांच्याबरोबर आम्हीही सोनगडला गेलो. २५००० श्वेतांबर लोकांचा जनसमुदाय तेथे होता. त्यांनी आचार्य शांतिसागर महाराजांचे भव्य स्वागत केले. श्वेतांबरांना दिगम्बर केल्याबद्दल व ते जैनधर्माचे खरे उपासक झाले आहेत असे धन्योद्गार महाराजांच्या मुखातून निघाले.

याप्रमाणे महाराजांच्या संस्पर्शाने या जीवनाचे सोने झाले आहे. त्यांचेकडून ब्रह्मचर्यादि व्रते घेऊन जीवन सफल झाले आहे. त्यांच्या स्मृती आजही प्रेरणादायक आहेत.

आश्चर्यकारी अचूक निमित्तज्ञान

(राहुरी वाहून गेली)

ध. शेठ चंदुलालजी व हिराचंदजी सराफ, बारामती

संघपतीसह विहार करता करता संघ राहुरी (अहमदनगर) येथे पोहोचला. त्या दिवशी सकाळ, दुपार मिळून अठरावीस मैल चालून झाले होते. दिवस उन्हाळ्याचे होते. सर्वजण अगदीच थकून गेले होते. कधी एकदा विश्रांतीसाठी मुक्काम होतो असे सर्वांना होऊन गेले होते. संघ राहुरीला पोहोचला, तेव्हा दिवस मावळावयास अर्धा पाऊण तास अवकाश होता. तेथे विहीर होती. देऊळ होते. मैदान होते. नदीचे शुष्क पात्र होते. एकंदर मुक्कामाला फार चांगली वाटावी अशी सुंदरशी मोकळी जागा होती.

सर्वजण हुश् हुश् करीत क्षणभर टेकले व महाराजांच्या आज्ञेची वाट पाहू लागले. अगदी अक्षरशः चातकासारखी. पण महाराज झपाट्याने आले, क्षणभर सभोवार नजर टाकली आणि येथे मुक्काम करावयाचा नाही असे निक्षून सांगून पुढे चालूही लागले. सर्वजण एक टक त्यांच्याकडे निराशेने पाहू लागले. पण त्यावर काही उपाय नव्हता. काही जण कुरकुरले, पुटपुटले. ‘महाराज कोणाचे काही ऐकत नाहीत, केवळ आपल्या मनाला येईल तसेच करतात.’ आग्रह धरल्यावर म्हणाले की, ‘तुम्हाला राहावयाचेच असेल तर राहावे वगैरे वगैरे.’ दोन मैलांवर सूर्य मावळला आणि महाराज थांबले. तेथेच मैदानात राहुट्या पडल्या आणि सर्वांनी पथाऱ्या पसरल्या. पुन्हा आपली चर्चा तीच. ‘महाराजांनी तेथेच राहुरीला मुक्काम करायला

पाहिजे होता. येथे येऊन असे काय विशेष साधले वगैरे.' रात्री नदीच्या उत्तरेला काठं तरी वादळ झाले, विजा कडाडल्या आणि भयंकर पाऊस झाला. परिणामवश नदीला अभूतपूर्व महापूर आला व तेथील देऊळ, घरे, झाडे यांचा मागमूसही शिल्लक राहिला नाही. ही गोष्ट उजाडताच दुसरे दिवशी सकाळी ह्या लोकांना कोणीतरी येऊन सांगितली. पण त्यावर विश्वास न बसून काही मंडळी स्वतः जातीने तेथे जाऊन ते सर्व दृश्य पाहून आली. 'चक्षुर्वै सत्यं.' ती हकिगत ऐकून संघातील सर्वांनी एक दीर्घ श्वास सोडता सोडता आप-आपल्या कपाळाला हात लावला. किती तरी वेळ सुन्न होऊन ते स्वतःला दोष देऊ लागले. निंदा निर्भत्सना पूर्वक तुच्छ लेखू लागले. जर महाराजांनी ह्या लोकांच्या आग्रहादाखल राहुरीलाच त्या रात्री मुक्काम केला असता तर ? आचार्य, त्यागीवर्ग, संघपती आदि सोबतची श्रावक मंडळी ह्याचे नामनिशाण शिल्लक राहिले नसते. ह्या कल्पनेनेच सर्वांच्या अंगावर भीतीने काटा उभा राहिला. पश्चात्तापाने ते दिङमूढ झाले. हां हां म्हणता ही घटना सर्वांना ठाऊक झाली आणि महाराजांच्या धोरणी-पणाबद्दल, निमित्तज्ञानाबद्दल अधिकच प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति निर्माण झाली.

आश्चर्य हे होते की जेव्हा महाराज राहुरीस त्या नदीच्या पात्राजवळ उभे राहिले तेव्हा त्या पात्रात पाणी नव्हते, की आकाशात ढग नव्हता. असे असूनही केवळ दोनचार तासाने भर उन्हाळ्यात असा वादळी पूर येऊ शकेल हे कोणत्याही दृश्य चिन्हाशिवाय महाराजांना समजले कसे ? ह्याचे उत्तर कधीही कोणाला देता आले नाही. पण श्रावकांचे औत्सुक्य त्यांना स्वस्थ बसू देईना. काही दिवसांनंतर त्यांचा मुक्काम सोलापूरला असल्यावेळी तेथे हा प्रश्न विचारण्यात आला. महाराज सर्व काही समजले. एखादी अलौकिक शक्ती आपणास चिकटविण्याच्या प्रयत्नात ही मंडळी आहेत हे हेरून ते म्हणाले, '**सहज वाटले एवढेच**'. महाराजांचा लौकिकपणापासून अलिप्त राहण्याचा हा प्रयत्न पाहून मंडळी अधिकच प्रभावित झाली.

पण एवढे मात्र खरे की, विशुद्धतेमुळे म्हणा किंवा तपश्चर्येमुळे म्हणा निर्णय घेण्याची त्यांची शक्ती अलौकिक होती. हा निमित्तज्ञानाचाच एक प्रकार आहे असे समजावयाला प्रत्यवाय नसावा.

प्रत्यक्ष दर्शनाने जे घडले ते हजारो प्रवचनांनी झाले नसते

श्री. सवाईसंगई मोतीलालसावजी गुलाबसावजी, नागपूर (महाराष्ट्र)

१. प्रथम दर्शन

मला आचार्यश्रींचे प्रथम दर्शन सन १९२५ मध्ये श्रवण बेळगोळ (म्हैसूर प्रदेश) येथे झाले. त्यावेळी श्री गोमटेश्वराच्या महामस्तकाभिषेकाचा प्रसंग होता. व्यवस्थापन सर सेठ श्री हुकुमचंदजी इंदौरवाले व श्री वर्धमानय्या त्यांचेकडे होते. पूज्य महाराज, ७ मुनि, ४ ऐल्लक व ४ क्षुल्लक अशा संघासहित आले होते. नित्याप्रमाणे अभिषेकाचा विधि मैसूरच्या महाराजाकडून संपन्न होत असे. महाराज अजैन आहेत, त्यांना नग्न पुरुषाचे दर्शन निषिद्ध आहे. सबब महाराजांनी विंध्यगिरीवर जाऊ नये अशी विनंती प्रमुख श्रावकांनी

आचार्यश्रींना केली. महाराजांनी काहीही उत्तर दिले नाही. सायंकाळी सर्व संघासहित आचार्यश्री गोमटेश्वरासमोर सामायिकासाठी जाऊन बसले. दुसरे दिवशी मैसूरचे राजे विंध्यगिरीवर पोहोचल्यावर त्यांनी महाराजांना प्रणाम केला व आशीर्वाद ग्रहण केला. अशा रीतीने श्रावकांच्या काल्पनिक संकटाचे महाराजांनी प्रत्यक्ष आचरणाने निराकरण केले.

२. नागपूर येथे शुभागमन व पवित्र दर्शन

पूज्य महाराजांचे सम्मेदशिखराच्या यात्रेनिमित्त १९२८ मध्ये नागपूरला संघसहित आगमन झाले. सर्व कोर्टकचेऱ्या तीन दिवस बंद होत्या. महाराजांनी गावाबाहेर मुक्काम ठेवला होता. त्या स्थानाचे शांतिनगर हे नाव अजून चालू आहे. नागपूरमधील ते पहिलेच नामांकित नगर होय. त्यावेळी संघात ५०० श्रावक व श्राविका होत्या. श्री. सेठ पूनमचंदजी घासीलालजी जव्हेरी हे संघपती होते. त्यांची तीनही मुले गेंदमलजी, दाडिमचंदजी व मोतीलालजी (सध्याचे श्री पू. १०८ सुबुद्धिसागर, धर्मसागर आचार्यांच्या संघात आहेत) संघात अविरत श्रम करीत. नागपूरच्या मुक्कामात संघपतींना तीन लाख रुपये नफा झाल्याची तार आली. त्यामुळे शिखरजीला पंचकल्याणिक प्रतिष्ठा महोत्सव करण्याचा निश्चय झाला. त्या काळी रु. २०,००० ची पट्टी (वर्गणी) करण्यात आली व संघपतींना चांदीच्या पत्र्यावर मानपत्र अर्पण करण्यात आले.

त्यावेळी १९२० साली झालेल्या कॉंग्रेस एवढा मंडप उभारला होता. एवढा मोठा संघ लोकांना प्रथमच दिसत होता. व त्यामुळे लोकात उत्साहाचे भरते उमाप होते.

दर्शनाने धन्यता

जैन मुनी हे चालते फिरते सिद्ध असतात या अर्थाचे वाक्य शास्त्रांतरी वाचले, त्याचे प्रतीक पूज्य आचार्यांच्या दर्शनाने पाहावयास मिळाले. भक्तिभावाने मस्तक नमविण्यामध्ये धन्यता वाटली.

पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर महाराजांचे विचक्षण द्रष्टेपण

श्री शाह गुलाबचंद खेमचंद जैन, सांगली

इ. स. १९२६ सालची गोष्ट. प. पू. आचार्य श्री शांतिसागर मुनि महाराजांचा मुक्काम नांदणी (कोल्हापूर) येथे होता. माळभागावरील गुंफेत त्यांचे वास्तव्य होते. सहज त्यांची नजर समोर गुरे राखत हिंडणाऱ्या मुलावर गेली. चौकशी अंती ती मुले जैन समाजाचीच असल्याचे आढळून आले.

महाराजांचे विचारचक्र फिरू लागले. धर्माचे नंदादीप सतत प्रज्वलित ठेवू पहाणाऱ्या त्यागींना ते दृश्य अत्यंत हृदय पिळवटून टाकणारे भासले. धर्म रक्षणारी भावी पिढी वाया गेली तर धर्माचे व समाजाचे काय? हा प्रश्न त्यांना भेडसावू लागला. आणि यातून मार्ग काढण्यासाठी एक अनाथ छात्राश्रम असावा असे त्यांच्या मनाने घेतले.

निर्णयानुसार श्रीक्षेत्र कुंथलगिरीकडे विहार करीत असता त्यांच्या सदुपदेशाने नातेपुते येथे श्री. रामचंद्र धनजी दावडा यांनी अशा अनाथ आश्रमाकरिता नऊ हजार रुपयांचे दान जाहीर करून संकल्पित कार्याला हातभार लावला व यातून अनेक धर्मप्रेमी जनांना प्रेरणा लाभली.

ता. १४–२–२७ रोजी बारामती येथील रथयात्रा महोत्सव प्रसंगी आचार्य महाराजांच्या उपस्थितीत सर्व प्रतिष्ठित जैन समाजाच्या विचारमंथनातून अशा स्वरूपाचा आश्रम नांदणीस काढावा असे दिसू लागले. पण मी सदर आश्रम शेडवाळ गावी असावा अशी सूचना मांडली. कारण शेडवाळला जैन समाज मोठा व तेथील दिगंबर जैन महासभाही गाजलेली. अर्थात महाराजांचे सह सर्व लोकांनी ही सूचना उचलून धरली आणि त्याप्रमाणे दिनांक ४–६–१९२७ रोजी शेडवाळ येथे आश्रमाच्या कार्यास प्रारंभ झाला. आचार्यश्रींच्या व सर्व जैन समाजाच्या इच्छेनुसार प्रथम महामंत्री म्हणून संस्थेच्या कामाची जबाबदारी मजवर टाकण्यात आली.

ही संस्था ता. ४–९–१९२८ रोजी रजिष्टर झाली ती सोलापूर येथे.

आता संस्थेचा फंड सत्तर हजार रुपये सांगली बँकेत फिक्स्ड डिपॉझिटमध्ये आहे व पंचाहत्तर हजार रुपयांची स्थावर मिळकत आहे.

सध्या संस्थेतील प्राथमिक शाळेत २२५ विद्यार्थी शिक्षण घेत असून अनाथ आश्रमात २५ विद्यार्थी धर्मशिक्षण घेत आहेत.

महाराजांच्या उपदेशाने प्रेरित झाला नाही असा माणूस मिळणे अशक्यच !

महाराज नेहमी संयमाचा आग्रह धरीत. व्रताचरणाबद्दल त्यांना अत्यंत जिव्हाळा वाटे. त्यांच्या उपदेशाप्रमाणे कवळाणा येथे सौ. कस्तुरबाई यांनी दुसरी प्रतिमा धारण केली.

पुढे बारामती येथे मी व श्री. चंदुलाल श्राफ, तलकचंद शहा, वकील, फलटण, श्री. तुळजाराम चतुरचंद, बारामती यांना उपदेशामृताने दुसरी प्रतिमा घेवविली.

याप्रमाणे महाराजांनी आपल्या वाणीने व निष्कलंक चारित्र्याने समाजापुढे आदर्श ठेऊन समाज संघटित केला.

अज्ञानाला बळी न पडणारे सविवेक आत्मबळ

रावजी हरिचंद शहा, मोडनिंब

प. पू. आचार्यश्रींचे शुभागमन आमचे शांतिबागेत मोडनिंब येथे झाल्याने आम्हा सर्व श्रावकजनांना परम आनंद झाला. काही दिवसांनंतर पूज्यश्रींच्या घशामध्ये दुखण्यास सुरवात झाली व ते दुखणे आटोक्यात न आल्यामुळे सर्व भक्तगणास चिंता वाटू लागली. सोलापूरहून श्री. ब्र. जीवराज गौतमचंद, श्री. शेठ सखाराम देवचंद, श्री. शेठ वालचंद देवचंद आदी बरेच जन सोलापूरहून मोडनिंबला आले. येताना सोलापूरच्या ख्यातनाम डॉक्टरांनाही सोबत आणलेच होते. डॉ. महाशयांनी तपासल्यानंतर 'माझे मते हा

कॅन्सर आहे व त्यावर शस्त्रक्रिया वगैरे इलाज करावा' असा सल्ला निदान करून दिला. ब्र. जीवराज गौतम-चंदांनी ही गोष्ट एकांतात महाराजांचे कानी घातली व त्यांनी हा असाध्य दुर्धर रोग असल्यामुळे सल्लेखना घ्यावी असे सुचविले. परंतु प. पू. महाराजांनी त्यांचे म्हणणे शांतपणे ऐकून घेतले व म्हणाले, "माझा जीव म्हणजे काही झाडावरचे पाखरू नव्हे. माझी खात्री आहे, माझा आजार कॅन्सर नव्हे. केव्हा सल्लेखना घ्यावी हे मी चांगले जाणतो."

आणि आश्चर्य की १५ दिवसांच्या वनस्पती-उपचाराने पूज्य महाराजांचे स्वास्थ्य उत्तम झाले. नंतर दोन महिन्यांचे वास्तव्य होऊन महाराजांचा विहार बारामतीकडे झाला. विहार करण्यापूर्वी त्यांना महिन्यापासून कंबरेत दुखणे असल्यामुळे दोघे धरून आहारास उभे राहावे लागे. एवढी अशक्तता होती. परंतु विहाराचे दिवशी एकाकी कोणाचेही आधाराशिवाय ते तब्बल दोन मैल चालत गेले !

केवढे आत्मिक बल ! केवढा आत्मविश्वास !!

अचूक निमित्तज्ञान

आनंदीलाल जिवराज दोशी, फलटण

आम्ही म्हसवडहून आ. महाराजांच्या संघाबरोबर दहिवडीमार्गे फलटणला येत होतो. दहिवडीच्या पुढे ४-५ मैलांवर पू. महाराजांचा आहार झाला होता. सामायिक आटोपल्यानंतर महाराजांचे प्रवचन होणार होते. परंतु सामायिक झाल्याबरोबर महाराजांनी आम्हास राहुट्या सोडून तावडतोब सर्व सामान आटोपून पुढे जाण्यास सांगितले, व महाराजांचा विहार पुढे चालू झाला. आम्ही गडबडीने सर्व सामान घेऊन २-३ फर्लांग गेलो नाही तोच मोठे वादळ झाले. आम्ही महाराजांच्या सांगण्याप्रमाणे वागलो नसतो तर वादळाच्या फेऱ्यात सापडलो असतो. यावरून महाराजांचे निमित्तज्ञान किती अचूक होते हे प्रत्यंतरास येते. स्वच्छ अंतःकरणाच्या दर्पणामध्ये वस्तुमानाचे प्रतिबिंब पडावे ह्या निसर्गाच्या नियमाचे प्रत्यंतर आहे.

निर्णय तो निर्णय

केवलचंद धनजीभाई शहा, म्हसवड

श्री. ध. शेठ तलकचंद कस्तुरचंद, बारामती यांनी कुंथलगिरी येथे महाराजांकडे जाऊन संघपती बनून बारामतीला प्रतिष्ठा महोत्सवासाठी व सम्मदेशिखरजी वगैरे तीर्थधामांची यात्रा करविण्याचा आपला संकल्प प्रगट केला. परंतु बारामतीची प्रतिष्ठा आटोपल्यानंतर बराच उहापोह होऊन समजूत घातल्यानंतरही कोणी संघपती होण्यास पुढे होऊ शकले नाही. महाराजांनी माघारी बाहुबलीस फिरण्याचा निर्णय घेतला. नंतर पुष्कळांनी तयारी दाखविली. पण महाराजांचा निर्णय वज्रलेप होता. वाटेत कुंडलक्षेत्री जातांना

फौजदारांनी नग्न साधूंच्या विहाराला हरकत घेतली. तरीही महाराजांच्या निर्णय ठाम होता. परंतु महाराजांच्या तपश्चर्येच्या प्रभावाने संस्थानाधिपती बाळासाहेब औंधकर याच्या दक्षतेमुळे विहार निराबाध झाला.

नह्यमंत्रं विनिश्चेयं निश्चिते च न मंत्रणम् ।

ही व्यवहारनीती उपादेयच आहे.

महाराजांचा प्रभावी चरणस्पर्श व नर्म विनोद

मोतीलाल शिवराज दोशी, फलटण

प. पू. आचार्य शांतिसागर महाराजांच्या आशीर्वाद छात्राखाली बराच काळ राहण्याचा योग आला. त्यांच्या स्मृतीने आजही मन उल्लसित होते. पूज्य महाराजांचा चातुर्मास किंवा वास्तव्याने चतुर्थ काळाचे शास्त्रात जे वर्णन आहे त्याचीच प्रचीती यावी. महाराजांचे फलटणला येणे ठरले तेव्हा नदी, नाले व विहिरी, सर्व काही आटलेले होते. सर्वत्र चिंतेचे वातावरण होते. परंतु दुसरे दिवशी अकस्मात् वर उगमाकडे कोठे पाऊस पडल्याने नदीला पूर आला व चिंता मिटली. कोणाचे पाय भाग्याचे म्हणतात ना ! तशांतलाच हा प्रकार म्हणावयाचा ! तसेच महाराज प्रसंगविशेषी नर्म व प्रसन्न विनोदही करीत. एकदा मी फलटणला विहार असतांना महाराजांना दवना चढविला. महाराज विनोदाने म्हणाले " दवना चढविला होय. आम्हास महादेवाचा भगत आज भेटला म्हणावयाचा." पुढे सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरीला सल्लेखना घेतली असताना आमचा तेथे चौका व जाणेयेणे होते. महाराज म्हणाले, 'सल्लेखनेचे वेळी दवना जवळ असावा' नंतर १–२ दिवसांनी दवना घेऊन कुंथलगिरीला आलो तो महाराजांनी चारही प्रकारच्या आहाराचा त्याग घेतला होता. श्री. भरमाप्पांनी सांगितल्यावर " तुम्ही आणलेला दवना तुम्हीच महाराजांचे जवळ ठेवा." " महाराज फलटणचे गौतमचंद भाईंनी दवना आणला आहे." महाराजांपुढे दवना ठेऊन दर्शन केले. महाराजांनी दवनाकडे नजर टाकली. तेव्हा महाराज हसून म्हणाले, " भगत आला होय !" व त्यांनी आशीर्वाद दिला. असा होता महाराजांचा प्रसन्न निरागस विनोदी स्वभाव !

व्रते देताना प्रकट झालेला विवेक

श्री. तलकचंद नेमचंद गांधी, नातेपुते

वि. सं. २००० मध्ये आ. पू. शांतिसागरांचा चातुर्मास सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी येथे असताना त्यांच्या पावन सान्निध्यात आठ महिने राहण्याचे भाग्य लाभले. त्यांच्या उपदेशाने प्रभावित होऊन १–२ प्रतिमा घेण्याचे भाव झाले. त्यात परिग्रह परिमाण किती असावे याचा उहापोह सुरू होता. मी म्हणालो, 'आ. पिताजी नेमचंद मियाचंद गांधी यांची ५०००० ची मर्यादा होती. तीच कायम असावी.' पण महाराज

म्हणाले, 'प्रमाण एक लाखाचे असू द्या. नर करणी करे तो नर का नारायण हो जाय।' आम्ही म्हणालो, 'महाराज! हातून दान व धर्म खूप घडावा असे वाटते. जास्त परिग्रह कशाला?' महाराज मंदस्मित करून म्हणाले 'बाबारे दानाचे भाव फार चांगले आहेत. ते केव्हाही फलद्रूप झाल्याशिवाय राहणार नाहीत. पण वेळ येताच गाफील राहून मोहात पडू नका.' पुढे महाराजांचे बोल खरे ठरले. महाराजांच्या अंतिम इच्छेप्रमाणे सदर क्षेत्रावर १८ फूट उंची भ. बाहुबलीची मूर्ति बसविण्याचा सुयोग पू. गुरुदेव १०८ समंतभद्र महाराजांचे उपदेशानी प्राप्त झाला व क्षेत्रकमेटीच्या सहकार्याने पूर्ण झाला.

श्री. स्व. ध. शेठ रामचंध धनजी दावडा यांचे सोबत शिखरजीची यात्रा पायी करण्याचा योग आला. महाराजांचा धर्मोपदेश लाभला. २-६-५२ च्या शुभदिवशी प. पू. महाराजांचे संघासह नातेपुते येथे आमचे बागेत पदार्पण झाले व त्याच दिवशी आचार्यश्री व पू. नेमीसागर महाराजांच्या आहारदानाचे पुण्य लाभले. महाराजांचा पावन समागम व उपदेशाने जीवनात धर्माचा प्रकाशकिरण मिळाला असे वाटते. त्यांच्या पावनस्मृतीला विनम्र अभिवादन.

समीचीन व्यवहारज्ञता

श्री. मोतीचंद हिराचंद गांधी, 'अज्ञात' उस्मानाबाद

सन १९२८ किंवा १९२९ चा काळ असावा. ब्रम्हचर्याश्रम व सिद्धक्षेत्र कार्यालय दोन्ही संस्था दानशूर परांडेकर घराण्याच्या कुशल कार्यकर्तृत्वामुळे सुयोग्य रीतीने चालू होत्या. तेव्हा निझामचे अंतर्गत भूम संस्थानचे हद्दीत हे क्षेत्र होते. परंतु पुढे दुर्दैवाने दोन्ही संस्थांच्या कारभारात शिथिलता आली. ब्रह्मचर्याश्रमाच्या दारांना कुलुपे ठोकली गेली. खुद्द क्षेत्राच्या व्यवहारातही चोखपणा व शिस्त राहू शकली नाही.

इतक्यात प. पू. आचार्य शांतिसागर महाराजांचा विहार क्षेत्रावर होणार ही बातमी सर्वत्र पसरली. दर्शनाच्या अभिलाषेने अपार भीड जमली. लोकांनी जागा मिळेल तेथे मोकळ्या मैदानात बस्तान ठोकले. पण कुलुपे मात्र बंदच. मोगलाई असल्यामुळे भीतीने कुलुपे तोडण्यास कोणीच धजले नाही. प्रस्तुत लेखकही आपल्या तंबूसह त्यावेळी तेथे हजर होता. अन्यायाच्या प्रतिकारार्थ पाऊल उचलावे लागले. कार्यकारिणीशी झगडावे लागले. हातोडीच्या झटक्याने सर्व इमारती मोकळ्या झाल्या. इतरांनीही तसेच केले. विरोध झाला नाही. पण वार्ता सर्वत्र पसरली. पिताजीने प्रामुख्याने ही वार्ता पू. आचार्यश्रींचे कानी घातली. महाराजांनी त्यात लक्ष घालून तडजोडीचा प्रयत्न केला. नवीन मॅनेजिंग बॉडी नेमण्याचे ठरले. जुन्या कार्यकर्त्यांनी त्यात सहभागी होऊन स्वतः यादी केली. सर्व ठराव लिहिला गेला. त्यावर जुन्या सभासदांनीही सह्या देण्याचे कबूल केले. त्यावेळी महाराजांनी समयज्ञता व व्यवहारकुशलता या द्वारे उत्कृष्ट भूमिका पार पाडून क्षेत्र वाचविले व समाजात एकता स्थापित केली. त्यांना कृतज्ञतापूर्वक नम्र अभिवादन.

कार्यकर्त्यांची निवड करण्याचे चातुर्य

वालचंद देवचंद

प. पू. आचार्यश्रींनी सदरहु जीर्णोद्धारक संस्थेची स्थापना केली. संस्थेचा कारभार चोख चालावा म्हणून प्रामाणिक व सेवाभावी कार्यकर्त्यांची निवड करण्याचे अपूर्व चातुर्य महाराजांना होते. २ वर्षांत ३ लाखांचा ध्रुवनिधि जमला. हा सर्व निधि श्री. तुळजाराम चतुरचंद शहा, रा. बारामती यांना कोषाध्यक्ष नेमून त्यांचे स्वाधीन केला. मी संस्थेचा मंत्री होतो तेव्हाचा हा प्रसंग.

श्री. तुळजाराम शेठ आर्थिक व्यवहारात अत्यंत चोख असत. खाजगी देवघेवीच्या व्यावहाराच्या प्रसंगामुळे काही मोठ्या महानुभावांनी वैयक्तिक हेव्याने त्यांच्या बाबत समाजामध्ये कुजबुज फैलावली. "यांच्याजवळ गोळा केलेला सामाजिक निधि असून ते वैयक्तिक धंद्यासाठी त्याचा वापर करतात" असा त्यांचेवर आरोप होता. वस्तुतः संस्थेची शिल्लक आपल्या वहिखात्यांत पाच पैशापेक्षा जास्त असू नये व सर्व रक्कम बँकेतच जमा असावी हा त्यांचा पक्का दंडक. एवढेच नव्हे तर दातारांना स्वीकृत दान पाठवून देण्याबाबत वारंवार स्मरणपत्रे देवून त्यांचा लकडा मागे असावयाचा. पण हा रोखठोक व्यवहारच विरोधकांना बोचला. ही कुजबुज प. पू. महाराजांचे व तसेच श्री. शेठ तुळजारामचे कानावर गेली. शेठजी महाराजांकडे सर्व वहीखाते, बँकबुक, रोख शिल्लक घेऊन गेले व उपस्थित समाजासमोर म्हणाले, "महाराज, हे वहीखाते ! सर्व जमा रक्कम ताबडतोब बँकेत जमा झाली की नाही हे बघा ! हे बँक बुक ! माझेकडे केव्हाही पाच पैशांपेक्षा जास्त शिल्लक नव्हती. आजही नाही. हा पाच पैशांचा उबार ! आणि हा माझा राजीनामा !"

महाराज हे पाहून सद्गदित झाले ! महाराजांनी सर्व आक्षेपकांना समज देऊन त्यांचे समाधान केले व तुळजाराम शेठला म्हणाले, "अरे बाबा, तुझ्या हातून असे काही होणार नाही याचा मला विश्वास आहे. माझा आदेश आहे तू हा राजीनामा परत घे व हा सर्व व्यवहार सांभाळ."

महाराजांची आज्ञा अवमानण्याचे धाडस त्यांना झाले नाही. कार्यकर्त्यांची पारख करण्याचे हे चातुर्य ! यानंतर आजतागायत हे काम त्यांचेकडे व त्यांचे सुपुत्र माणिकचंद भाईकडे आहे !

प्रथम दर्शन

श्री. शांतिकुमारजी ठवळी, देउळगाव राजा

श्री आचार्य महाराज ससंघ व संघपति यांना सर्वप्रथम पाहण्याचा योग बालवयात २७-१-१९२८ ला आला. प. पू. आचार्यश्री व संघ यांचे स्वागतार्थ नागपूरला श्री. सवाईसंगई मोतीलाल गुलाबसाव यांचे अध्यक्षतेखाली स्वागत समिती आयोजित केली होती. श्री. अंबादासजी गह्राणकरी यांचे आधिपत्याखालील स्वयंसेवक चमूमध्ये मी सामील होतो. संघाचा स्वागताचा अभूतपूर्व सोहळा आठवतो. त्यांचे आगमनाप्रीत्यर्थ स्मृती म्हणून त्या भागाला तेव्हापासून शांतिनगर संबोधण्यात येते.

विरोध तत्त्वनिष्ठ शास्त्रनिष्ठ; वैयक्तिक नव्हे

त्यावेळी वर्धा हे विधवाविवाहादि सुधारणावाद्यांचे केन्द्र होते. श्री ब्र. शीतलप्रसादजी यांचा मुक्काम चिरंजीलालजी बडजातेकडे होता. त्यांनी व जैन महामंडळ सदस्यांनी सैतवाळ समाजाला चेतावणी दिली. " जर शांतिसागर महाराज आपल्या हातून आहार घेत नाहीत तर आपण त्यांचा पूजा सत्कार कसा करावा." म्हणून त्यावेळी अशांतीचे वातावरण उत्पन्न झाले होते. सैतवाळ समाजधुरीणांनी " आपण आमच्या हातचा आहार घेत नाही हे उचित आहे का ?" असा सवाल टाकला.

महाराजांनी सर्व प्रसंग समयोचित चातुर्याने व अपूर्व शांततेने निभावून नेला. महाराज म्हणाले, " कोणत्याच जैन समाज-घटकाविषयी आमचे मनात कसलाही किन्तु वा विकल्प नाही. आपण किंवा कोणीही शास्त्राधार दाखवावा की, साधू विधवाविवाह करणाऱ्याकडून आहार घेऊ शकतात, तर माझी काहीच आडकाठी नाही. आम्ही साधुदीक्षा घेतानांच शास्त्राज्ञेप्रमाणे वागण्याची प्रतिज्ञा घेतली आहे. सैतवाळच काय अन्य कोणत्याही जैन समाजात किंवा घटकांत विधवा विवाह वगैरे असेल तर तेथेही आम्हास आहार वर्ज्यच आहे." सर्व सैतवाळ समाजाचे परिवर्तन होऊन त्यावेळी काहींनी प्रतिज्ञा घेतली व सैतवाळ समाज घटकाकडे आचार्यश्रींचा आहार झाला.

यावेळी सर्व घटना फार चातुर्याने हाताळून महाराजांनी सर्व विरोधी वातावरणावर विजय प्राप्त केला. ज्या घरात विधवाविवाहादी नाहीत किंवा ज्यांनी प्रतिज्ञा घेतली तेथे महाराजांचा आहार होत असे.

सामाजिक एकतेची तळमळ

यानंतर संवत १९८४-८५ मध्ये शिखरजी येथे प्रतिष्ठा झाली त्यावेळची ही घटना आहे. त्या प्रतिष्ठामहोत्सवप्रसंगी भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभेचे अधिवेशन श्री. सवाईसंगई मोतीलालजी गुलाब-सावजी, नागपूर यांचे अध्यक्षतेखाली भरले होते. त्यावेळी पंडित पार्टी विरुद्ध बाबु पार्टी हा वाद उत्तर भारतात फार माजला होता. हा वाद एकदा निकालात काढला जावा ही सर्वांची मनीषा होती. परिषेदेचे अध्यक्ष तनसुखलालजी राजेन्द्रकुमारजी तसेच दक्षिणेतून श्री. कुदळे, मगदुम वगैरे आणि महासभेमध्ये श्री. रावजी सखाराम दोशी, दावडा, भागचंदजी सोनी वगैरे महानुभाव सर्वच महाराजांचे समोर जमले. प. पू. आचार्य-श्रींनी मोजक्या शब्दांत आपले मनोगत सर्वांसमक्ष प्रगट केले.

" आपण सर्व जिनधर्म, जैन तत्त्वज्ञान व भ. महावीरांचे अनुयायित्व मानणारे आहोत. तेव्हा हे वाद-विरोध या एका भूमिकेपुढे गौणच आहेत. हे सर्व मनोमालिन्य आपण आगमाच्या भक्कम आधाराने दूर करणे हे समाजहिताच्या दृष्टीने जरूर आहे." या भावनेने या एकतेच्या उपक्रमाला महाराजांनी मनो-भावाने आशीर्वाद दिला.

कोण हा समाजजागृतीबाबत वात्सल्यभाव ! या आणि अशाच कठीण प्रसंगी प. पू. आचार्यश्रींनी जे विवेकपूर्ण मार्गदर्शन केले त्यामुळे समाजामध्ये धर्मभाव व वात्सल्यभाव टिकून राहिला. अशा त्या अबोल अध्यात्म संत आचार्यश्रींना सविनय श्रद्धांजली.

---

१७ वर्षांपूर्वी व आता प. पू. समंतभद्र गुरुदेवांशी झालेल्या चर्चेतून

आचार्यश्री संबंधी

पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे, कारंजा

प्रश्न—प. पू. आचार्यश्री शांतिसागर महाराजांच्या जन्मशताब्दीचे हे वर्ष चालू आहे. ही शताब्दी आम्ही तरुणांनी कशी साजरी करावी ? यासंबंधी आपले काय अभिमत आहे ?

उत्तर—या बाबतीत महाराजांना न विचारणेच चांगले ! साधुजनांची 'जन्मजयंती' वा 'जन्मशताब्दी' या गोष्टी महाराजांच्या तत्त्वात कधीच बसत नाहीत. लोक करतात त्यास इलाज नाही. पण महाराजांना त्यात कधीच रस वाटत नाही. सामान्य लौकिक जनासारखे साधूंचे जीवन नसते. त्याची पातळी वेगळी. म्हणून अन्य लोक असे जन्मोत्सव साजरे करतात अतएव आपणही करणे हे केवळ त्यांचे अंधानुकरण होय.

प्रश्न—पण या निमित्ताने त्यांच्या श्रेष्ठ जीवनाची स्मृती उजळली जाते, नवीनांना उत्साह व प्रेरणा मिळते हा अशा जन्मोत्सवांचा मोठा फायदा नाही काय ?

उत्तर—आहे ! पण तो त्या दिवसापुरता, काही कालापुरता ! पुढे काय ? पुनः विस्मृती ! परत आठवण वर्षानंतरच ! आणि तीही पूर्वीप्रमाणे तात्पुरतीच ! अशा गतानुगतिकेतून स्थायी लाभ कोणता ?

प्रश्न—मग स्थायी लाभासाठी काय केले पाहिजे.

उत्तर—श्रेष्ठ पुरुषांनी आपल्या जीवनात जे कार्य केले ते आपणही आपल्या जीवनात विशेष गाजावाजा न करता सदैव करीत राहिले पाहिजे. आचार्य महाराजांचे जीवन या दृष्टीने अभ्यासून त्यांच्या आदर्शाचा पाठ रोज अल्पांशाने का होईना गिरवला तरच त्या स्मृतीचा काही खरा उपयोग होईल.

प्रश्न—आचार्यश्रींच्या जीवनातून या शताब्दीनिमित्त नवीन पिढीला आपण कोणता खास संदेश द्याल ?

प्रश्न—वस्तुतः त्यांचे समग्र त्यागमय जीवन हाच सर्वात मोठा संदेश आहे. तो सदैव आपणास प्रेरणा देणारा ठरला पाहिजे. **'वीतरागता व विज्ञानता' हीच कोणाच्याही जीवनात मंगलता, पवित्रता व श्रेष्ठता आणणारी असते.**

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान ।
नमों ताहि जाते भये, अरिहंतादि महान् ।।

ज्यायोगे साक्षात् अरिहंत पद प्राप्त होते ती ही वीतरागता व विज्ञानताच होय. आचार्य महाराजांनी याचीच आयुष्यभर आराधना केली व जातानाही आपणा सर्वांसाठी यासंबंधीचाच महान संदेश देऊन गेले. त्याहून दुसरा कोणता संदेश महाराज आपणास सांगणार ? आचार्यश्रींप्रमाणे तोच आपण आपल्या हृदयात कोरून ठेवावा. त्याचेच वारंवार स्मरण व चिंतन करावे म्हणजे आपलेही जीवन मंगलमय बनल्याशिवाय राहणार नाही.

प्रश्न—महाराज ! आपला आचार्यश्रींबरोबर अगदी सुरुवातीस संबंध कसा व केव्हा आला ?

उत्तर—या प्रश्नांना वास्तविक काय महत्त्व आहे ?

प्रश्न—सहज कुतूहल म्हणून आम्ही जाणू इच्छितो.

उत्तर—कोण्णूर येथील गुंफेत आचार्य महाराज राहात असतांना ब्र. जीवराज गौतमचंद, तात्या आदि बरोबर पहिले दर्शन झाले. त्यानंतर बहुतेक प्रतिवर्ष कोठे ना कोठे दर्शन घडतच असे. त्यांचेसंबंधी मनात अलोट भक्ती होती. ते कोठेही असले तरी, वर्षातून एकदा दर्शनास जाणे होई. मग ते दिल्ली, अजमेर, ललितपूर कोठेही असोत. मुनिदीक्षेपर्यंत हा क्रम अखंड सुरू होता.

प्रश्न —यावेळी प्रामुख्याने काय बोलणे होई ?

उत्तर—ते काही आठवणे शक्य नाही. कार्यवश अधिक राहणे होत नसे व आचार्य महाराजही ते जाणून असत. केवळ कुशल वार्तालाप व काही उपदेश व्हायचा. त्यांचा महाराजावर फार मोठा अनुग्रह होता. तो शब्दांनी कसा व कुठवर सांगता येणार ? वैय्यक्तिक जीवन व संस्थेच्या दृष्टीनेही त्यांचे अगणित उपकार झालेले आहेत. ते विसरता येणे शक्य नाही. पण आता हे सोडून दुसरे महत्त्वाचे काही विचारा. या गौण गोष्टीत कालापव्यय नको.

प्रश्न—परमपूज्य आचार्य महाराजांचा सल्लेखनासमाप्तीनंतर कोठे जन्म झाला असेल ? त्यांना 'निर्वाण' प्राप्त झाला असे लोक म्हणतात ते कितपत बरोबर आहे ?

उत्तर—'निर्वाण' हा शब्द जैनधर्मानुसार 'मोक्ष' किंवा 'मुक्ती' याचा पर्यायवाची समजला जातो. त्या दृष्टीने प. पू. आचार्यश्रींचा 'निर्वाण' झाला हे म्हणणे बरोबर होत नाही. कारण या काळात भरतक्षेत्रातून मोक्ष अगर मुक्ती नाही. अणुव्रत किंवा महाव्रतसंपन्न व्यक्ती या काळात नियमाने स्वर्गात देवपर्याय प्राप्त करते. '**अणुवय-महव्वयाइं न लहइ देवाउंग मोत्तुं।**' देवायुशिवाय त्यांना दुसरी गति–आयु प्राप्त होत नाही असे शास्त्रवचनच आहे. यावरून प. पू. आचार्यश्रींचा जन्म कोठे झाला असेल हा प्रश्न शिल्लक रहात नाही. सामान्य लोक अज्ञानाने शब्दाचा नीट अर्थ लक्षात न घेता बोलतात त्यास इलाज नाही. तत्त्वदृष्ट्या ते चूक आहे.

प्रश्न—आचार्य महाराजांना जी लोकोत्तर महनीयता व लोकपूज्यता प्राप्त झाली त्याचे प्रधान कारण काय असावे ?

उत्तर—'**महापुरुषांचे मोठेपण आणि लोकोत्तरता त्यांच्या आत्मोत्थानामध्ये असते व आत्मोत्थान हे धर्मश्रद्धान आणि धर्मपालन यामध्ये असते.**' आचार्य महाराजांची धर्मश्रद्धा अत्यंत अकाट्य होती. धर्ममार्ग व धर्माचारावर असा प्रगाढ विश्वास ठेवणारी माणसे हुडकून सापडावयाची नाहीत. या अगाध श्रद्धेमुळे त्यांचे आत्मबल उत्तरोत्तर वाढत गेले आणि या आत्मबलावरच संपूर्ण जीवनपर्यंत आचार्य महाराजांनी श्रेष्ठ संयमाची आणि चारित्राची आराधना केली. दुर्लभ मानवजन्माची सार्थकता त्यामध्येच आहे. '**संयम बिन घडिय म इक्कहि जाउ**' 'संयमाशिवाय माझी एकही घडी (घटिका) न जावो' हे

तत्त्व महाराजांनी बरोबर ओळखले होते. संसाराचे विषय मोहक असले तरी त्याकडे न झुकता वीतरागता दृष्टीपुढे ठेवून पायरी पायरीने त्यांनी संयमाची अखंड साधना केली. स्वतः निरंतर भावशुद्धिपूर्वक निरतिचार चारित्राची पालना करीत करीत इतर भव्यजीवांनाही त्यांनी लोककल्याणाच्या भावनेने सम्यक्त्वाचा व व्रतधारणाचा उपदेश दिला. अधिकारी पुरुषाने दिलेला उपदेश व सांगितलेल्या गोष्टी लोकांवर प्रभावी परिणाम करू शकतात. स्वतः संयमाची पूर्ण पालना करीत असल्यामुळे आदर्शस्वरूप मार्ग लोकांच्या दृष्टीपुढे असे. त्यांची प्रेरणाही प्रभावी असे. **स्वतःबरोबर इतरांनाही त्या मार्गाकडे प्रवृत्त करणे हे त्यांचे जीवितकार्य (Mission) होते.**

शालेय शिक्षण अवघे तिसरीपर्यंत झाले असतानाही **धर्मावरील दृढ श्रद्धा, व्रतांचे धारण, संयमाचे पालन, कषायांचा निग्रह, विषयांचा त्याग, इन्द्रियविजय या सर्व मंगल गोष्टींचा अलौकिक संगम आचार्य महाराजांच्या ठिकाणी आपल्याला पहावयास सापडतो. याबरोबरच लोककल्याणाची जिवंत भावनाही अहर्निश त्यांचे ठिकाणी स्पष्टपणे आढळून येत होती.** या गुणसमुच्चयाच्या अभिवृद्धीने आपले असामान्य आत्मोत्थान त्यांनी स्वतः करून घेतले, व त्यामुळेच ते सर्वांना अभिवंद्य झाले. समाधिकाळी अशा लोकोत्तर महात्म्याच्या दर्शनाने आपणही पावन व्हावे या भावनांनी अफाट जनसमुदाय कुंथलगिरीवर जमला याचे तरी कारण हेच.

प्रश्न—आचार्य महाराजांना अशा वृद्धपणी शरीर जरा-जीर्ण झाले असता समाधान व शांतिपूर्वक प्रत्यक्ष मृत्यूस आव्हान देण्या-इतपत प्रचंड सामर्थ्य कुठून आले असावे ?

उत्तर—देह आणि आत्मा हे अलग अलग आहेत. हा जागृत विवेक व संयमाचे वारंवार संस्कार आचार्यश्रींनी वर्षोगणती आपणा स्वतःवर करून घेतले होते हेच तर खरे वैराग्य आहे. **'रसरी आवत जावते सिलपर होत निशान'** यःकश्चित् दोराच्या घर्षणाने दगडाला देखील खाचा पडतात. **'निम्मी-करोति वार्बिन्दुः किं नाश्मानं मुहुः पतन्'** पाण्याचा थेंब वारंवार जरी पडत राहिला तर दगडासही खळगा पडत नाही काय ? आ० महाराजांना संस्कारांचे महत्त्व पूर्णपणे माहीत होते. **ध्यानाला बसल्या-नंतर देहभावना कशी विसरावी व जागृत अवस्थेमध्येही शरिरावरील ममत्व कसे विसरावे** हे त्यांना चांगले अवगत होते. **यासाठी अभ्यास व फार मोठे आत्मबल लागते.** आपणावर अनादि-कालाचे मिथ्या संस्कार झालेले आहेत. आपण ध्यानी-मनी शरीर व आत्मा हे एकच समजत आलो आहोत. तोंडाने हे भिन्न आहेत असे बोलत असलो तरी मिथ्यात्वाचे संस्कार जबरदस्त असतात. हे संस्कार दूर होण्याकरिता उलट दिशेने अधिक सामर्थ्य एकवटून खरे ज्ञानाचे व संयमाचे संस्कार करणे जरूर असते. **साध्या कागदाला एकदा पडलेली घडी बदलावयाची असली तर आपण जोर लावतो. येथे तर अनादिकालचे आत्मसंस्कार बदलावयाचे आहेत. आचार्यांनी हे जीवनपर्यंत केले म्हणूनच साक्षात् मृत्यूला शांति व समाधानपूर्वक आनंदाने कवटाळण्याचे प्रचंड सामर्थ्य त्यांना प्राप्त झाले होते.**

प्रश्न—आचार्यांचे उत्कृष्ट स्मारक कोणते असू शकेल ? विविध ठिकाणी त्यांची वेगवेगळी स्मारके होत आहेत. याबाबतीत आपले मत काय आहे ?

उत्तर—स्वतः शांतिसागर बनणे हेच त्यांचे उत्कृष्ट स्मारक असणार. महाराजांनी जीवनभर जे केले, बहुमोल मानव जीवन ज्याकरिता खर्ची घातले व ज्या मार्गाने त्यांनी आपले जीवन सफल केले असे समजतो, ते चारित्र्य, तो संयम आचार्य महाराजांप्रमाणे स्वतः पाळणे व इतरांनाही प्रसंगोपात्त धर्मप्रेरणा करीत राहणे या गोष्टींनीच त्यांचे जीवितकार्य सुरू ठेवल्यासारखे होणार आहे. आचार्यश्री समंतभद्रांनी **'न धर्मो धार्मिकैर्विना'** हा धर्म जिवंत राहण्याचा अमोघ उपाय सांगितला आहे. तो अगदी यथार्थ आहे. **धर्ममंदिराची भव्य इमारत धार्मिक पुरुषांच्या जीवितावरच निर्भर आहे. विवेकपूर्ण त्यागचारित्रसंपन्न जीवन हाच धर्माचा खरा आधार आहे. आचार्यकल्प पं.** आशाधरांनी सुद्धा सागरधर्मामृतामध्ये सांगितलेले तुम्हास माहितच आहे—

'जिनधर्मं जगद्बंधुमनुबद्धुमपत्यवत् ।
यतीञ् जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥'

कुलपरंपरा टिकविण्यासाठी सद्गृहस्थ ज्याप्रमाणे पुत्र निर्माण करतो व त्याच्या ठिकाणी गुणांची वाढ व्हावी यासाठी प्रयत्न करतो, त्याचप्रमाणे धर्माची परंपरा अविच्छिन्न रूपाने चालत राहावी यासाठी त्यागी-व्रती-संयमी-मुनि निर्माण करण्याचा व असलेल्यांच्या ठिकाणी गुणांचा उत्कर्ष व्हावा असा कसोशीने प्रयत्न व्हावयास पाहिजे. **हे सर्व 'जिनधर्म हा जगद्बंधु आहे' अशी दृढ श्रद्धा असली तरच होऊ शकते.**

या समाजधारणेच्या सूत्रामधील प्रत्येक शब्दन् शब्द अत्यंत महत्वाचा व मोलाचा आहे. पं. आशाधरांनी समाजधारणा व्हावी यासाठी हा मौलिक दृष्टिकोण आपणापुढे ठेवला आहे. लोकांवर जो प्रभाव पडतो तो तक्त, तिजोरी व तलवार यांचा पडतो अशी सर्वसाधारण लोकांची समजूत आहे. ती अगदीच काही खोटी नाही; तथापि तक्त, तिजोरी व तलवार यापेक्षाही त्यागाचा परिणाम जनसामान्यावर फार मोठा पडतो. **एवढेच नाही तर तक्त, तिजोरी व तलवारीवर देखील पडला तर त्यागाचाच परिणाम पडू शकतो हे इतिहास सूक्ष्म रीतीने पाहिले तर आपल्या सहजी लक्षात येईल. एका खऱ्या त्यागी माणसाचा जो प्रभाव पडतो तितका शेकडो विद्वानांचा पडू शकत नाही.** जी गोष्ट विद्वान माणसांची तीच गोष्ट ग्रंथ-निर्माणाची. व्याख्यानांची, प्रवचनोपदेशांची व कथा-कीर्तनांची ! याचा अर्थ असा नाही की ही धर्म-प्रभावनेची साधने नव्हेत ? परंतु जड आणि चैतन्यामध्ये जसा फरक आहे, शब्द आणि कृती यामध्ये जसे अंतर आहे, त्याचप्रमाणे इतर साधने व त्याग यामध्येही फार मोठे अंतर आहे.

प्राचीनकाळी — इतिहासपूर्वकालामध्ये पुराणावरून ज्याप्रमाणे त्यागाचा प्रभाव असलेली व्याख्याने पहावयास मिळतात, त्याचप्रमाणे ऐतिहासिक काळामध्ये सुद्धा कितीतरी उदाहरणे आपल्याला पाहावयास मिळतील.

बौद्ध धर्माचा प्रसार का झाला ? काही लोक जरूर असे म्हणतील, राजाश्रय होता म्हणून झाला; परंतु हे खरे कारण नाही. बुद्धाचे हजारो शिष्य व शिष्यिणी देशाच्या निरनिराळ्या भागामध्ये फिरले, अनेक प्रकारचे कष्ट व नाना यातना त्यांनी सहन केल्या, लोकोपकाराची हजारो कामे केली. आपण '**भगवान् बुद्धासाठी**' हे पुस्तक वाचले ना ? त्यांनी सहन केलेल्या कष्टांची व केलेल्या त्यागाची कमालच म्हटली पाहिजे. बुद्ध धर्माचा जो व्यापक प्रसार झाला त्याला खरे कारण त्यागीजनांचा त्याग आहे हे आपणाला दृष्टिआड करता येण्यासारखे नाही.

आद्य शंकराचार्यांनी तरी वैदिकधर्माच्या प्रसारासाठी काय केले ? तत्त्वज्ञानाच्या प्रसारासाठी ठिकठिकाणी मठांची स्थापना व त्यागी निर्माण केले आणि त्याकरवी हिंदु धर्माची—वैदिक धर्माची प्रतिष्ठा वाढविली.

शिवकालामध्ये समर्थ श्री रामदास स्वामींनी तरी काय केले ? **महाराष्ट्र धर्म** जागृत करण्यासाठी शेकडों ठिकाणी मठांची स्थापना व '**बाराबाराशे ब्रह्मचारी त्यागी लोकांना निर्माण केले.**' हे किती मोठे कार्य केले ? तो काळही किती प्रतिकूल होता ! '**सामर्थ्य आहे चळवळीचे जो जो करील तयाचे**' हे लक्षात घेऊन त्यांनी जे जे केले त्याला इतिहास साक्षी आहेच.

त्यानंतर इंग्लिश लोकांनी जे केले ते आपल्या डोळ्यापुढे आहेच. मिशनरी लोकांचा सेवेचा एक दृष्टिकोण आहे. ते एक स्पिरिट (Spirit) आहे. Chastity, Poverty and Brotherhood '**पावित्र्य, अकिंचनता आणि बंधुता**' या व्रताचा त्यांनी अंगिकार केलेला असतो. ख्रिस्ताच्या शिकवणुकीचा प्रसार करण्यासाठी ते जगाच्या पाठीवर कुठे गेले नाहीत ? येथे आले, आफ्रिकेच्या जंगलावनात गेले, सिलोन, सयाम, चीन, जपान, तिबेट, मलाया सर्व ठिकाणी गेले. त्याठिकाणी जनतेच्या कल्याणाची कामे त्यांनी केली. दवाखाने उघडले, शाळा उघडल्या, महारोग्यांसाठी इस्पितळे उघडली. जे काम करण्यास सहसा कोणी पुढे येत नाही ती सर्व परोपकाराची कामे त्यांनी केली हे खरे ना ? त्यांचे ते मिशनरी स्पिरिट जसे लक्षात घेण्यासारखे आहे तसेच त्यांची त्यागबुद्धीही आपणांस दृष्टिआड करता येण्यासारखी नाही.

ही सर्व उदाहरणे आपणापुढे ठेवण्यामध्ये कुणालाही श्रेष्ठ-कनिष्ठ लेखण्याचा उद्देश नाही. **धर्मप्रभावनेचा मुद्दा जसा महत्त्वाचा आहे तसेच त्याचा मूलगामी विचार आपणांसारख्यांनी तरी करणे जरुरीचे नाही काय ?** हे सर्व कोणी करायचे ? सामान्य जनता प्रवाह-पतित होणारी असते. थोर पुरुषांच्या नावाने गाव-नगर वसविणे, घर-मंदिर बांधणे, ग्रंथ-पुस्तक छापविणे, स्तंभ-मूर्ति-प्रतिमा-पुतळे उभे करणे ही सारी स्मारकांची लौकिक पद्धत प्रचलित आहेच. यामध्ये लोकोत्तरता ती कसली ?

प्रश्न—महाराज ! आपण म्हणता ते खरे. पण ते कितीतरी कठीण आहे. आम्ही जे पाहतो, समजतो व करतो ते सोपे आहे, शक्य आहे.

उत्तर—होय, कठीण तर खरेच ! प्रश्न मुळातला स्मारकाचा होता. अलौकिक पुरुषाचे, त्यातल्या त्यात आचार्य महाराजांसारख्या थोर ऋषिरत्नाचे, महर्षीचे योग्य स्मारक कोणते असावे हे आपण विचारले होते.

'त्यांचे जीवितकार्य म्हणजे साधु-संस्थेचे पुनरुज्जीवन व त्याद्वारे केलेली धर्मप्रभावना' हे होते हे आपणाला विसरून चालणार नाही.

त्यांनी त्यागाच्या द्वारेच निश्चेष्ट जैनसमाजामध्ये चैतन्य ओतले ना? भारतामध्ये त्यांनी गावोगावी विहार करून जागृती केली ना? साधुसंस्था खऱ्या अर्थाने पुनरुज्जीवित केली ना? शास्त्रशुद्ध आचार कसा असावयास पाहिजे हे आपल्या आचरणाने लोकांच्या पुढे ठेवले ना? हे खरे कार्य पुढे चालू राहावयास पाहिजे असे खरोखरी किती जणांना वाटते? 'तेही एक कार्य आहे, कठिण असले तरी शक्य आहे.' ही कल्पना तरी आपल्या मनाला शिवते काय? त्या दिशेने विचार करणारी मंडळी तरी किती सांपडतील? आपला समाज वैश्यवृत्तिप्रधान आहे. पैशाने जे जे होईल ते ते करून आपण मोकळे होतो. **पण पुतळे उभे करून किंवा मंदिरे बांधून जर विश्वकल्याण खरोखरीच झालेच असते तर आपल्या धर्माचा प्रसार कितीतरी अधिक प्रमाणावर व्हावयास पाहिजे होता.** परंतु तसे होत असलेले दिसून येत नाही. तेव्हा खऱ्या अर्थाने खरा धर्म खऱ्या स्वरूपात पसरावा असे वाटत असले तर त्यागी संस्था पुनरुज्जीवित करणे, ती व्यवस्थित करणे व **खरोखरी आत्माभिमुख बनलेल्यांनी आत्मकल्याणाबरोबर लोककल्याणासाठीही निःस्वार्थ भावनांनी बाहेर पडणे—विहार करणे जरूर आहे.** या योगे ज्ञान व त्यागाचा उत्तरोत्तर प्रसार होईल, धार्मिक भावनांची बीजे जनतेच्या अंतरंगामध्ये खोलवर रुजतील. ज्ञान व त्यागाची जी आज फारकत झालेली दिसते ते अंतर कमी झाले व ते परस्परांना पूरक झाले म्हणजे खऱ्या संयमी व त्यागी समाज कार्यकर्त्यांची निर्मिती होईल. त्यायोगेच खरी धर्मप्रभावना होईल.

प्रश्न—महाराज! आपण म्हणता हे खरे व पटतेही. पण हे फार कठीण आहे.

उत्तर—बाब सोपी का कठीण हा प्रश्न अलाहिदा! अशक्य नाही हेही तितकेच खरे ना? अत्यंत प्रतिकूल काळामध्ये ज्यावेळी ज्ञान व सेवेची साधने अत्यंत दुर्लभ होती अशा काळातदेखील साधुसंघाने जे केले ते आपण आज करू शकत नाही असे म्हणणे पर्यायाने आपला नामर्दपणाच व्यक्त करणे होय. हे म्हणजे कितपत बरोबर आहे याचाही काही विचार व्हावयास नको का? आचार्यश्रींचे स्मारक करावयाचे म्हणावयाचे व वरपांगी विचार करून मोकळे व्हावयाचे, असे करून काय होणार?

दिगंबर जैन साहित्य

परिचय और परिशीलन

प्रमुख दि. जैन ग्रंथोंपर अधिकारी विद्वानों के
लेखों का संकलन

शास्त्र का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्य को तथा उसके भावों को एवं कारण–कार्यादि को किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है, तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनयन की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ इसी प्रकार है" ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है" ऐसा जानना चाहिये; और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान (कथन–विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक मात्र निश्चयनय का ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तर—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है, वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य–म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और फिर इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में, **पं. टोडरमलजी**

चार अनुयोग

[आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी की असाधारण विद्वत्ता और अमोघ पाण्डित्य पूर्णतया सर्वमान्य है। 'मोक्षमार्गप्रकाश' पंडितजीकी अलौकिक मौलिक कृति रही। मोक्षमार्गप्रकाश के आठवे अध्याय में चार अनुयोगों का महत्त्वपूर्ण विवेचन पूर्णरूपेण आया है। जैन साहित्य के और जैनसिद्धांत के मर्मका मूलग्राही ज्ञान होने के लिए चारों अनुयोगों का विभाजन, अनुयोगका प्रयोजन, विषयविवेचन पद्धति आदि विषयक यथार्थ कल्पना आना अति आवश्यक है। इस दृष्टि से मोक्षमार्गप्रकाश के आठवे अध्याय का मुख्य मुख्य अंश पंडितजी केहि शब्दों में (प्रचलित हिन्दी में परिवर्तित रूप में) भावार्थ में विसंगति न हो इसकी सावधानीपूर्वक दक्षता लेकर प्रारंभ में उद्धृत किया जाता है जो जिनवाणीके रसास्वादमें दीपस्तंभके समान मार्गदर्शक होगा।]

अब मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्गका उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिए इस शास्त्रमें भी उन्हींके उपदेशानुसार उपदेश देते हैं। वहाँ उपदेशका स्वरूप जाननेके अर्थ कुछ व्याख्यान करते हैं; क्योंकि उपदेशको यथावत् न पहिचाने तो अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करे। इसलिए उपदेशका स्वरूप कहते हैं—

जिनमतमें उपदेश चार अनुयोगके द्वारा दिया है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, यह चार अनुयोग हैं। वहाँ तीर्थंकर–चक्रवर्ती आदि महान पुरुषोंके चरित्रका जिसमें निरूपण किया हो वह [1]प्रथमानुयोग है। तथा गुणस्थानमार्गणादि रूप जीवका व कर्मोंका व त्रिलोकादिकका जिसमें निरूपण हो वह [2]करणानुयोग है। तथा गृहस्थ-मुनिके धर्म आचरण करनेका जिसमें निरूपण हो वह [3]चरणानुयोग है। तथा षट्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिकका व स्व–परभेद–विज्ञानादिकका जिसमें निरूपण हो वह [4]द्रव्यानुयोग है। अब इनका प्रयोजन कहते हैं :—

प्रथमानुयोगका प्रयोजन

प्रथमानुयोगमें तो संसारकी विचित्रता, पुण्य-पापका फल, महन्त पुरुषोंकी प्रवृत्ति इत्यादि निरूपणसे जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपणको नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओंको जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोगमें लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होनेसे उसे वे भलीभाँति समझ जाते हैं। तथा लोकमें तो राजादिककी

---

१. रत्नकरण्ड २–२; २. रत्नकरण्ड २–३; ३. रत्नकरण्ड २–४; ४. रत्नकरण्ड २–५।

कथाओंमें पापका पोषण होता है। यहाँ महन्त पुरुष-राजादिककी कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पापको छुड़ाकर धर्ममें लगानेका प्रगट करते हैं; इसलिये वे जीव कथाओंके लालचसे तो उन्हें पढ़ते-सुनते है और फिर पापको बुरा, धर्मको भला जानकर धर्ममें रुचिवंत होते हैं। इसप्रकार तुच्छ बुद्धियोंको समझानेके लिये यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसारकी *टीकामें किया है। तथा जिन जीवोंके तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोगको पढ़े-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता हो। जैसे—जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था। तथा पुराणोंमें जीवोंके भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जाननेके उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोगको जानता था, व उनके फलको जानता था। पुराणोंमें उन उपयोगोंकी प्रवृत्ती और उनका फल जीवके हुआ सो निरूपण किया है; वही उस जाननेका उदाहरण हुआ। इसी प्रकार अन्य जानना। यहाँ उदाहरणका अर्थ यह है कि—जिस प्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीवके अवस्था हुई, इसलिये यह उस जाननेकी साक्षी हुई। तथा जैसे कोई सुभट है, वह सुभटोंकी प्रशंसा और कायरोंकी निन्दा जिसमें हो ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषोंकी कथा सुननेसे सुभटपनेमें अति उत्साहवान होता है; उसी प्रकार धर्मात्मा है वह धर्मात्माओंकी प्रशंसा और पापियोंकी निन्दा जिसमें हो ऐसे किन्हीं पुराणपुरुषोंकी कथा सुननेसे धर्ममें अति उत्साहवान होता है।—इसप्रकार यह प्रथमानुयोगका प्रयोजन जानना।

करणानुयोगका प्रयोजन

तथा करणानुयोगमें जीवोंके व कर्मोंके विशेष तथा त्रिलोकादिककी रचना निरूपित करके जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव धर्ममें उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवोंके गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मोंके कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोकमें नरक-स्वर्गादिके ठिकाने पहिचान कर पापसे विमुख होकर धर्ममें लगते हैं। तथा ऐसे विचारमें उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्याससे तत्त्वज्ञानकी भी प्राप्ति शीघ्र होती है। तथा ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमतमें ही है अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमतका श्रद्धानी होता है। तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोगका अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है। जो जीवादिक तत्त्वोंको आप जानता है उन्हींके विशेष करणानुयोगमें किये हैं; वहाँ कितने ही विशेषण तो यथावत् निश्चयरूप हैं, कितने ही उपचार सहित व्यवहाररूप हैं; कितने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिकके स्वरूप प्रमाणादिरूप हैं, कितने ही निमित्त आश्रयादि अपेक्षा सहित हैं। इत्यादि अनेक प्रकारके विशेषण निरूपित किये हैं, उन्हें ज्यों का त्यों मानता हुआ उस करणानुयोगका अभ्यास करता है। इस अभ्याससे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे कोई यह तो जानता था कि

---

*प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः।

(जी० प्र० टी० गा० ३६२-६२)

यह रत्न है। परन्तु उस रत्नके बहुतसे विशेषण जानने पर निर्मल रत्नका पारखी होता है; उसी प्रकार तत्त्वोंको जानता था कि यह जीवादिक हैं, परन्तु उन तत्त्वोंके बहुत विशेष जाने तो निर्मल तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होनेपर आप ही विशेष धर्मात्मा होता है, तथा अन्य ठिकाने उपयोगको लगाये तो रागादिककी वृद्धि होती है और छद्मस्थका उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता; इसलिये ज्ञानी इस करणानुयोगके अभ्यासमें उपयोगको लगाता है; उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थोंका जानपना इसके होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षहीका भेद है, भासित होनेमें विरुद्धता नहीं है। इसप्रकार यह करणानुयोगका प्रयोजन जानना। "करण" अर्थात् गणित कार्यके कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें "अनुयोग"—अधिकार हो वह करणानुयोग है इसमें गणित वर्णनकी मुख्यता है—ऐसा जानना।

चरणानुयोगका प्रयोजन

अब, चरणानुयोगका प्रयोजन कहते हैं—चरणानुयोगमें नानाप्रकार धर्मके साधन निरूपित करके जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो जीव हितअहित को नहीं जानते, हिंसादिक पाप कार्योंमें तत्पर हो रहते हैं; उन्हें जिसप्रकार पापकार्योंको छोड़कर धर्मकार्योंमें लगे, उसप्रकार उपदेश दिया है; उसे जानकर जो धर्म आचरण करनेको सन्मुख हुए, वे जीव गृहस्थधर्म व मुनिधर्मका विधान सुनकर आपसे जैसा सधे वैसे धर्म-साधनमें लगते हैं। ऐसे साधनसे कषाय मन्द होती है और उसके फलमें इतना तो होता है कि—कुगतिमें दुःख नहीं पाते किन्तु सुगतिमें सुख प्राप्त करते है, तथा ऐसे साधनसे जिनमतका निमित्त बना रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना हो तो होजाती है। तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोगका अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभावके अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होनेपर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्तनैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्मके विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्मको साधते हैं। वहाँ जितने अंशमें वीतरागता होती है उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंशमें राग रहता है उसे हेय जानते हैं। सम्पूर्ण वीतरागताको परमधर्म मानते हैं।—ऐसा चरणानुयोगका प्रयोजन है।

द्रव्यानुयोगका प्रयोजन

अब, द्रव्यानुयोगका प्रयोजन कहते हैं—द्रव्यानुयोगमें द्रव्योंका व तत्त्वोंका निरूपण करके जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो जीव जीवादिक द्रव्योंको व तत्त्वोंको नहीं पहिचानते, आपको-परको भिन्न नहीं जानत, उन्हें हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा व प्रमाण-नयादि द्वारा उनका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है जिससे उनको प्रतीति हो जाये। उसके अभ्याससे अनादि अज्ञानता दूर होती है। अन्यमत कल्पित तत्त्वादिक झूठ भासित हों तब जिनमतकी प्रतीति हो और उनके भावको पहचाननेका अभ्यास रखें तो शीघ्र ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाये। तथा जिनके तत्त्वज्ञान हुआ हो वे जीव द्रव्यानुयोगका अभ्यास करें तो उन्हें अपने श्रद्धानके अनुसार वह सर्व कथन प्रतिभासित होता है। जैसे किसीने कोई विद्या सीख ली, परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है, न करे तो भूल जाता है। इस प्रकार इसको तत्त्वज्ञान हुआ, परन्तु यदि

उसके प्रतिपादक द्रव्यानुयोगका अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान रहता है, न करे तो भूल जाता है। अथवा संक्षेपरूपसे तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति-हेतु-दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट होजाये तो उसमें शिथिलता नहीं हो सकती। तथा इस अभ्याससे रागादि घटनेसे शीघ्र मोक्ष सधता है। इस प्रकार द्रव्यानुयोगका प्रयोजन जानना।

अब इन अनुयोगोंमें किस प्रकार व्याख्यान है, सो कहते हैं :—

प्रथमानुयोगमें व्याख्यानका विधान

प्रथमानुयोगमें जो मूल कथाएँ हैं, वे तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित कहते हैं। तथा उनमें प्रसंगोपात् व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्त्ताके विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

उदाहरण—जैसे तीर्थंकर देवोंके कल्याणकोंमें इन्द्र आये, यह कथा तो सत्य है। तथा इन्द्रने स्तुति की, उसका व्याख्यान किया; सो इन्द्रने तो अन्य प्रकारसे ही स्तुति की थी और यहाँ ग्रन्थकर्ताने अन्य ही प्रकारसे स्तुति करना लिखा है; परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ। तथा प्रसंगरूप कथा भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे—धर्मपरीक्षामें मूर्खोंकी कथा लिखी; सो वही कथा मनोवेगने कही थी ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खपनेका पोषण करनेवाली कोई कथा कही थी ऐसे अभिप्रायका पोषण करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

यहाँ कोई कहे—अयथार्थ कहना तो जैन शास्त्रमें सम्भव नहीं है?

उत्तर :—अन्यथा तो उसका नाम है जो प्रयोजन अन्यका अन्य प्रगट करे। जैसे—किसीसे कहा कि तू ऐसा कहना; उसने वे ही अक्षर तो नहीं कहे, परन्तु उसी प्रयोजन सहित कहे तो उसे मिथ्यावादी नहीं कहते, ऐसा जानना।

तथा प्रथमानुयोगमें जिसकी मुख्यता हो उसीका पोषण करते हैं। जैसे—किसीने उपवास किया, उसका तो फल अल्प था, परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणतिकी विशेषता हुई इसलिए विशेष उच्चपदकी प्राप्ति हुई; वहाँ उसको उपवासहीका फल निरूपित करते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना।

यहाँ कोई कहे—ऐसा झूठा फल दिखलाना तो योग्य नहीं है; ऐसे कथनको प्रमाण कैसे करें?

समाधान :—जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाये बिना धर्ममें न लगें व पापसे न डरें, उनका भला करनेके अर्थ ऐसा वर्णन करते हैं। झूठ तो तब हो, जब धर्मके फलको पापका फल बतलायें, पापके फलको धर्मका फल बतलायें, परन्तु ऐसा तो है नहीं। उपदेशमें कहीं व्यवहारवर्णन है, कहीं निश्चय वर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहारवर्णन किया है, इस प्रकार इसे प्रमाण करते हैं। इसको तारतम्य नहीं मान लेना; तारतम्यका तो करणानुयोगमें निरूपण किया है, सो जानना।

तथा प्रथमानुयोगमें उपचाररूप किसी धर्मका अंग होनेपर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे—जिन जीवोंके शंका–कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं, परन्तु किसी एक कार्यमें शंका-कांक्षा न करनेसे ही तो सम्मक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होनेपर होता है; परन्तु निश्चय सम्यक्त्वका तो व्यवहारसम्यक्त्वमें उपचार किया और व्यवहारसम्यक्त्वके किसी एक अंगमें सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्वका उपचार किया;—इस प्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

तथा प्रथमानुयोगमें कोई धर्मबुद्धिसे अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे विष्णुकुमारने मुनियोंका उपसर्ग दूर किया तो धर्मानुरागसे किया, परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्ममें सम्भव है, और गृहस्थ धर्मसे मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया वह अयोग्य है, परन्तु वात्सल्य अंगकी प्रधानतासे विष्णुकुमारजीकी प्रशंसा की है। इस छलसे औरोंको ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है। तथा कितने ही पुरुषोंने पुत्रादिककी प्राप्तिके अर्थ अथवा रोग-कष्टादि दूर करनेके अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कारमन्त्र स्मरण किया, परंतु ऐसा करनेसे तो निःकांक्षितगुणका अभाव होता है, निदानबन्ध नामक आर्त्तध्यान होता है; पापहीका प्रयोजन अंन्तरंगमें है इसलिये पापहीका बन्ध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबंधका कारण कुदेवादिका तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं; इस छलसे औरोंको लौकिक कार्योंके अर्थ धर्म साधन करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। इसी प्रकार प्रथमानुयोगमें अन्य कथन भी हों, उन्हें यथा सम्भव जानकर भ्रमरूप नहीं होना।

अब, करणानुयोगमें किसप्रकार व्याख्यान है सो कहते हैं—

करणानुयोगमें व्याख्यानका विधान

जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा करणानुयोगमें व्याख्यान है। तथा केवलज्ञान द्वारा तो बहुत जाना परन्तु जीवको कार्यकारी जीव–कर्मादिकका व त्रिलोकादिकका ही निरूपण इसमें होता है। तथा उनका भी स्वरूप सर्व निरूपित नहीं हो सकता, इसलिये जिस प्रकार वचनगोचर होकर छद्मस्थके ज्ञानमें उनका कुछ भाव भासित हो, उस प्रकार संकुचित करके निरूपण करते हैं। यहाँ उदाहरणः—जीवके भावोंकी अपेक्षा गुणस्थान कहे है, वे भाव अनन्तस्वरूपसहित वचनगोचर नहीं हैं। वहाँ बहुत भावोंकी एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं। तथा जीवको जाननेके अनेक प्रकार हैं, वहाँ मुख्य चौदह मार्गणाका निरूपण किया है। तथा कर्म परमाणु अनंतप्रकार शक्तियुक्त हैं; उनमें बहुतों की एक जाति करके आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ कही हैं। तथा त्रिलोकमें अनेक रचनाएँ हैं, वहाँ कुछ मुख्य रचनाओंका निरूपण कहते हैं। तथा प्रमाणके अनन्त भेद हैं वहाँ संख्यातादि तीन भेद व इनके इक्कीस भेद निरूपित किये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोगमें यद्यपि वस्तुके क्षेत्र, काल भावादिक अखंडित हैं, तथापि छद्मस्थको हीनाधिक ज्ञान होनेके अर्थ प्रदेश, समय, अविभागप्रतिच्छेदादिककी कल्पना करके उनका प्रमाण निरूपित करते हैं। तथा एक वस्तुमें भिन्न भिन्न गुणोंका व पर्यायोंका निरूपण करते हैं; तथा जीव – पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सम्बन्धादिक द्वारा अनेक द्रव्यसे उत्पन्न गति, जाति आदि भेदोंको एक जीवके निरूपित करते हैं; इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनयकी प्रधानता सहित जानना; क्योंकि व्यवहारके बिना विशेष नहीं जान सकता। तथा कहीं निश्चयवर्णन भी पाया जाता है। जैसे—जीवादिक द्रव्योंका प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं। वह यथासम्भव जान लेना।

तथा करणानुयोगमें जो कथन हैं वे कितने ही तो छद्मस्थके प्रत्यक्ष–अनुमानादिगोचर होते हैं; तथा जो न हों उन्हें आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना। जिस प्रकार जीव–पुद्गलके स्थूल बहुत कालस्थायी मनुष्यादि पर्यायें व घटादि पर्यायें निरूपित की, उनके तो प्रत्यक्ष अनुमानादि हो सकते हैं; परन्तु प्रतिसमय सूक्ष्म-परिणमनकी अपेक्षा ज्ञानादिकके व स्निग्ध–रूक्षादिकके अंश निरूपित किये हैं वे आज्ञासे ही प्रमाण होते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोगमें छद्मस्थोंकी प्रवृत्तिके अनुसार वर्णन नहीं किया है, केवलज्ञानगम्य पदार्थोंका निरूपण है। जिस प्रकार कितने ही जीव तो द्रव्यादिकका विचार करते हैं वा व्रतादिक पालते हैं, परन्तु उनके अंतरंग सम्यक्त्वचारित्र शक्ति नहीं है इसलिये उनको मिथ्यादृष्टि–अव्रती कहते हैं। तथा कितने ही जीव द्रव्यादिकके व व्रतादिकके विचार रहित हैं, अन्य कार्योंमें प्रवर्तते हैं व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं, परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्तिका सद्भाव है इसलिये उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं।

तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि सूक्ष्मशक्तिसे सद्भावसे उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे–मुनिके अब्रह्म कार्य कुछ नहीं है, तथापि नववें गुणस्थानपर्यन्त मैथुन संज्ञा कही है।

तथा करणानुयोग सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रादिक धर्मका निरूपण कर्म प्रकृतियोंके उपशमादिककी अपेक्षासहित सूक्ष्मशक्ति जैसे पायी जाती है वैसे गुणस्थानादिमें निरूपण करता है व सम्यग्दर्शनादिके विषयभूत जीवादिकोंका भी निरूपण सूक्ष्म भेदादि सहित करता है। यहाँ कोई करणानुयोगके अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता; करणानुयोगमें तो यथार्थ पदार्थ बतलानेका मुख्य प्रयोजन है, आचरण करानेकी मुख्यता नहीं है। इसलिये यह तो चरणानुयोगादिकके अनुसार प्रवर्तन करे, उससे जो कार्य होना है वह स्वयमेव ही होता है। जैसे—आप कर्मोंके उपशमादि करना चाहे तो कैसे होंगे? आप तो तत्त्वादिकका निश्चय करनेका उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। एक अन्तर्मुहूर्तमें ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है और चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। सो ऐसे सम्यक्त्वादिके सूक्ष्मभाव बुद्धिगोचर नहीं होते, इसलिये करणानुयोगके अनुसार जैसे का तैसा जान तो ले, परन्तु प्रवृत्ति बुद्धिगोचर जैसे भला हो वैसी करे।

अब, चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान बतलाते हैं—

चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान

चरणानुयोगमें जिसप्रकार जीवोंके अपनी बुद्धिगोचर धर्मका आचरण हो वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है; उसके साधनादिक उपचारसे धर्म हैं, इसलिये व्यवहारनयकी प्रधानतासे नानाप्रकार उपचार धर्मके भेदादिकोंका इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्ममें तो कुछ ग्रहण-त्यागका विकल्प नहीं है और इसके निचली अवस्थामें विकल्प छूटता नहीं है; इसलिये इस जीवको धर्मविरोधी कार्योंको छुड़ानेका और धर्म साधनादि कार्योंको ग्रहण करानेका उपदेश इसमें है। वह उपदेश दो प्रकारसे दिया जाता है—एक तो व्यवहारहीका उपदेश देते हैं, एक निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देते हैं। वहाँ जिनजीवोंके निश्चयका ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखायी देता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कुछ धर्मसन्मुख होनेपर उन्हें व्यवहारहीका उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवोंको निश्चय-व्यवहारका ज्ञान है व उपदेश देनेपर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है—ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव उनको निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देते हैं; वहाँ व्यवहार उपदेशमें तो बाह्य क्रियाओंकी ही प्रधानता है; उनके उपदेशसे जीव पापक्रिया छोड़कर पुण्यक्रियाओंमें प्रवर्तता है, वहाँ क्रियाके अनुसार परिणाम भी तीव्रकषाय छोड़कर कुछ मन्दकषायी हो जाती हैं, सो मुख्य-रूपसे तो इस प्रकार है, परन्तु किसीके न हों तो मत होओ, श्री गुरु तो परिणाम सुधारनेके अर्थ बाह्य-क्रियाओंका उपदेश देते हैं। तथा निश्चय सहित व्यवहारके उपदेशमें परिणामोंकी ही प्रधानता है; उसके उपदेशसे तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणामके अनुसार बाह्यक्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरने पर बाह्यक्रिया सुधरती ही है; इसलिये श्री गुरु परिणाम सुधारनेका मुख्य उपदेश देते हैं। इस प्रकार दो प्रकारके उपदेशमें जहाँ व्यवहारका ही उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शनके अर्थ अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दया-धर्मको ही मानना, औरको नहीं मानना। तथा जीवादिक तत्त्वोंका व्यवहार स्वरूप कहा है उसका श्रद्धान करना, शंकादि पच्चीस दोष न लगाना; निःशंकितादि अंग व संवेगादिक गुणोंका पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा सम्यग्ज्ञानके अर्थ जिनमतके शास्त्रोंका अभ्यास करना, अर्थ-व्यंजनादि अंगोंका साधन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा सम्यक्चारित्रके अर्थ एकदेश वा सर्वदेश हिंसादि पापोंका त्याग करना, व्रतादि अंगोंका पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा किसी जीवकी विशेष धर्मका साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदिकका ही उपदेश देते हैं; जैसे—भीलको कौएका माँस छुड़वाया, ग्वालेको नमस्कारमन्त्र जपनेका उपदेश दिया, गृहस्थको चैत्यालय, पूजा-प्रभावनादि कार्योंका उपदेश देते हैं,—इत्यादि जैसा जीव हो उसे वैसा उपदेश देते हैं। तथा जहाँ निश्चयसहित व्यवहारका उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शनके अर्थ यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है सो भूतार्थ है, व्यवहार स्वरूप है सो उपचार है—ऐसे श्रद्धानसहित व स्व-परके भेदज्ञान द्वारा परद्रव्यमें रागादि छोड़नेके प्रयोजनसहित उन तत्त्वोंका श्रद्धान करनेका उपदेश देते हैं। ऐसे श्रद्धानसे अरहन्तादिके सिवा अन्य देवादिक झूठ भासित हों तब स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं। तथा सम्यग्ज्ञानके अर्थ संशयादिरहित उन्हीं तत्त्वोंको उसी प्रकार जाननेका उपदेश देते हैं उस जाननेको

कारण जिनशास्त्रोंका अभ्यास है, इसलिये उसे प्रयोजनके अर्थ जिनशास्त्रोंका भी अभ्यास स्वयमेव होता है; उसका निरूपण करते हैं। तथा सम्यक्चारित्रके अर्थ रागादि दूर करनेका उपदेश देते हैं; वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्ररागादिकका अभाव होनेपर उनके निमित्तसे जो एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया होती थी वह छूटती है, तथा मंदरागसे श्रावक-मुनिके व्रतोंकी प्रवृत्ति होती है और मंदरागका भी अभाव होनेपर शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होती है, उसका निरूपण करते हैं। तथा यथार्थ श्रद्धान सहित सम्यग्दृष्टियोंके जैसे कोई यथार्थ आखड़ी होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादिक होते हैं उनका उपदेश देते हैं। जिनमतमें जैसा सच्चा परम्परामार्ग है वैसा उपदेश देते हैं। इस तरह दो प्रकारसे चरणानुयोगमें उपदेश जानना।

तथा चरणानुयोगमें तीव्रकषायोंका कार्य छुड़ाकर मंदकषायरूप कार्य करनेका उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें उतना ही भला होगा—ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे—जिन जीवोंके आरम्भादि करनेकी व मन्दिरादि बनवानेकी, व विषय सेवनकी व क्रोधादि करनेकी इच्छा सर्वथा दूर होती न जाने, उन्हें पूजा-प्रभावनादिक करनेका व चैत्यालयादि बनवानेका व जिनदेवादिकके आगे शोभादिक, नृत्य-गानादिक करनेका व धर्मात्मा पुरुषोंकी सहाय आदि करनेका उपदेश देते हैं; क्योंकि इनमें परम्परा कषायका पोषण नहीं होता।

तथा चरणानुयोगमें कषायों जीवोंको कषाय उत्पन्न करके भी पापको छुड़ाते हैं और धर्ममें लगाते हैं। जैसे—पापका फल नरकादिकके दुःख दिखाकर उनको भय कषाय उत्पन्न करके पापकार्य छुड़वाते हैं, तथा पुण्यके फल स्वर्गादिकके सुख दिखाकर उन्हें लोभ कषाय उत्पन्न करके धर्मकार्योंमें लगाते हैं।

तथा चरणानुयोगमें छद्मस्थकी बुद्धिगोचर स्थूलपनेकी अपेक्षासे लोकप्रवृत्तिकी मुख्यता सहित उपदेश देते हैं; परन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपनेकी अपेक्षा नहीं देते; क्योंकि उसका आचरण नहीं हो सकता। यहाँ आचरण करानेका प्रयोजन है। जैसे—अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है और उसके स्त्री-सेवनादि क्रियाओंमें त्रसहिंसा होती है। यह भी जानता है कि—जिनवाणीमें यहाँ त्रस कहे हैं, परन्तु इसके त्रस मारनेका अभिप्राय नहीं है और लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे नहीं करता है; इसलिये उस अपेक्षा उसके त्रसहिंसाका त्याग है। तथा व्रती जीव त्याग व आचरण करता है सो चरणानुयोगकी पद्धति अनुसार व लोकप्रवृत्तिके अनुसार त्याग करता है। जैसे—किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया, वहाँ चरणानुयोगमें व लोकमें जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है, केवलज्ञानादि द्वारा जो त्रस देखे जाते हैं उनकी हिंसाका त्याग बनता ही नहीं।

तथा चरणानुयोगमें व्यवहार-लोक प्रवृत्तिकी अपेक्षा ही नामादिक कहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्वीको पात्र कहा तथा मिथ्यात्वीको अपात्र कहा; सो यहाँ जिसके जिनदेवादिकका श्रद्धान पाया जाये वह तो सम्यक्त्वी, जिसके उनका श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यात्वी जानना। क्योंकि दान देना चरणानुयोगमें कहा है, इसलिये चरणानुयोगके ही सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोगकी अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करनेसे वही जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें था और वही अन्तर्मुहूर्तमें पहिले गुणस्थानमें आये,

तो वहाँ दातार पात्र–अपात्रका कैसे निर्णय कर सके ? तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व–मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघमें द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं; सो प्रथम तो उनका ठीक (निर्णय) होना कठिण है, क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है, तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वीको किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरोंको संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की ?—इस प्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो तब संघमें विरोध उत्पन्न हो; इसलिये यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व–मिथ्यात्वकी अपेक्षा कथन जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे—सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगीको अपनेसे हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे ?

समाधान:—व्यवहारधर्मका साधन द्रव्यलिंगीके बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है, इसलिये जैसे—कोई धनवान हो, परन्तु जो कुलमें बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है; उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्ममें प्रधान हो उसे व्यवहारधर्मकी अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसी प्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते हैं; यद्यपि कोई ध्यान–अध्ययनादि विशेष करता है वह उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि यहाँ चरणानुयोगमें बाह्यतपकी ही प्रधानता है; इसलिये उसीको तपस्वी कहते हैं। इस प्रकार अन्य नामादिक जानना ऐसे ही अन्य अनेक प्रकार सहित चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान जानना।

अब, द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान कहते हैं:—

द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान

जीवोंके जीवादि द्रव्योंका यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो, उस प्रकार विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिकका यहाँ निरूपण करते हैं; क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान करानेका प्रयोजन है। वहाँ यद्यपि जीवादि वस्तु अभेद हैं तथापि उनमें भेदकल्पना द्वारा व्यवहारसे द्रव्य–गुण–पर्यायादिकके भेदोंका निरूपण करते हैं। तथा प्रतीति करानेके अर्थ अनेक युक्तियों द्वारा उपदेश देते हैं अथवा प्रमाण–नय द्वारा उपदेश देते हैं वह भी युक्ति है, तथा वस्तुके अनुमान–प्रत्यभिज्ञानादिक करनेको हेतु–दृष्टान्तादिक देते हैं; इस प्रकार यहाँ वस्तुकी प्रतीति करानेको उपदेश देते हैं। तथा यहाँ मोक्षमार्गका श्रद्धान करानेके अर्थ जीवादि तत्त्वोंका विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं; वहाँ स्व–पर भेदविज्ञानादिक जिस प्रकार हों उस प्रकार जीव–अजीवका निर्णय करते हैं। तथा वीतरागभाव जिस प्रकार हो उस प्रकार आस्रवादिकका स्वरूप बदलाते हैं और वहाँ मुख्यरूपसे ज्ञान–वैराग्यके कारण जो आत्मानुभवनादिक उनकी महिमा गाते हैं। तथा द्रव्यानुयोगमें निश्चय अध्यात्म उपदेशकी प्रधानता हो, वहाँ व्यवहारधर्मका भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभवका उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्डमें मग्न हैं, उनको वहाँसे उदास करके आत्मानुभवनादिमें लगानेको व्रत–शील–संयमादिकका हीनपना प्रगट करते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान

लेना कि इनको छोड़कर पापमें लगना; क्योंकि उस उपदेशका प्रयोजन अशुभमें लगानेका नहीं है। शुद्धोपयोगमें लगानेको शुभोपयोगका निषेध करते हैं।

यहाँ कोई कहे कि—अध्यात्मशास्त्रमें पुण्य–पाप समान कहे हैं, इसलिये शुद्धोपयोग हो तो भला ही है, न हो तो पुण्यमें लगो या पापमें लगो ?

उत्तर:—जैसे शूद्र जातिकी अपेक्षा जाट, चांडाल समान कहे हैं, परन्तु चांडाल से जाट कुछ उत्तम है; वह अस्पृश्य है यह स्पृश्य है; उसी प्रकार बन्ध कारणकी अपेक्षा पुण्य–पाप समान हैं परन्तु पापसे पुण्य कुछ भला है; वह तीव्रकषायरूप है यह मन्दकषायरूप है; इसलिये पुण्य छोड़कर पापमें लगना युक्त नहीं है—ऐसा जानना।

तथा जो जीव जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्योंमें ही मग्न हैं उनको आत्मश्रद्धानादि करानेको "देहमें देव है, मन्दिरमें नहीं"—इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि—भक्ति छोड़कर भोजनादिकसे अपनेको सुखी करना; क्योंकि उस उपदेशका प्रयोजन ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य व्यवहारका निषेध वहाँ किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना; ऐसा जानना कि—जो केवल व्यवहार साधनमें ही मग्न हैं उनको निश्चयरुचि करानेके अर्थ व्यवहारको हीन बतलाया है। तथा उन्हीं शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके विषय–भोगादिकको बंधका कारण नहीं कहा, निर्जराका कारण कहा, परन्तु यहाँ भोगोंका उपादेयपना नहीं जान लेना। वहाँ सम्यग्दृष्टिकी महिमा बतलानेको जो तीव्रबंधके कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे उन भोगादिकके होनेपर भी श्रद्धानशक्तिके बलसे मन्द बन्ध होने लगा उसे गिना नहीं और उसी बलसे निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिये उपचारसे भोगोंको भी बन्धका कारण नहीं कहा, निर्जराका कारण कहा। विचार करनेपर भोग निर्जराके कारण हों तो उन्हें छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपदका ग्रहण किसलिये करे ? यहाँ इस कथनका इतना ही प्रयोजन है कि—देखो, सम्यक्त्वकी महिमा ! जिसके बलसे भोग भी अपने गुणको नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कथन हों तो उनका यथार्थपना जान लेना।

तथा द्रव्यानुयोगमें भी चरणानुयोगवत् ग्रहण–त्याग करानेका प्रयोजन है; इसलिये छद्मस्थके बुद्धिगोचर परिणमोंकी अपेक्षा ही वहाँ कथन करते हैं। इतना विशेष है कि—चरणानुयोगमें तो बाह्यक्रियाकी मुख्यतासे वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोगमें आत्मपरिणामोंकी मुख्यतासे निरूपण करते हैं, परन्तु करणानुयोगवत् सूक्ष्मवर्णन नहीं करते। उसके उदाहरण देते हैं:—

उपयोगके शुभ, अशुभ, शुद्ध–ऐसे तीन भेद कहे हैं, वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग–द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग—ऐसा कहा है; सो इस छद्मस्थके बुद्धिगोचर परिणामोंकी अपेक्षा यह कथन है; करणानुयोगमें कषायशक्तिकी अपेक्षा गुणस्थानादिमें संक्लेशविशुद्ध परिणामोंकी अपेक्षा निरूपण किया है वह विवक्षा यहाँ नहीं है। करणानुयोगमें तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होनेपर होता है, वह मोहके नाशसे स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला शुद्धोपयोगका साधन कैसे करे ? तथा द्रव्यानुयोगमें शुद्धोपयोग करनेका ही मुख्य उपदेश है; इसलिये वहाँ छद्मस्थ जिस कालमें बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामोंको छोड़कर

आत्मानुभवनादि कार्योंमें प्रवर्तें उसकाल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मरागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है। इसी प्रकार स्व-पर श्रद्धानादिक होनेपर सम्यक्त्वादिक कहे, वह बुद्धिगोचर अपेक्षासे निरूपण है; सूक्ष्म भावोंकी अपेक्षा गुणस्थानादिमें सम्यक्त्वादिका निरूपण करणानुयोगमें पाया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। इसलिये द्रव्यानुयोगके कथनकी विधि करणानुयोगसे मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यातचारित्र होनेपर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशामें द्रव्यानुयोग अपेक्षासे तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षासे सदाकाल कषाय अंशके सद्भावसे शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य कथन जान लेना।

तथा द्रव्यानुयोगमें परमतमें कहे हुए तत्त्वादिकको असत्य बतलानेके अर्थ उनका निषेध करते हैं; वहाँ द्वेषबुद्धि नहीं जानना। उनको असत्य बतलाकर सत्य श्रद्धान करानेका प्रयोजन जानना।

अब, इन अनुयोगोंमें कैसी पद्धतिकी मुख्यता पायी जाती है सो कहते हैं:—

अनुयोगोंमें पद्धति विशेष

प्रथमानुयोगमें तो अलंकार शास्त्रकी वा काव्यादि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि अलंकारादिसे मन रंजायमान होता है; सीधी बात कहनेसे ऐसा उपयोग नहीं लगता जैसा अलंकारादि युक्तिसहित कथनसे उपयोग लगता है। तथा परोक्ष बातको कुछ अधिकतापूर्वक निरूपण किया जाये तो उसका स्वरूप भलीभाँति भासित होता है। तथा करणानुयोगमें गणित आदि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके प्रमाणादिकका निरूपण करते हैं; सो गणित ग्रन्थोंकी आम्नायसे उसका सुगम जानपना होता है। तथा चरणानुयोगमें सुभाषित नीतिशास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ आचरण कराना है, इसलिये लोकप्रवृत्तिके अनुसार नीतिमार्ग बतलाने पर वह आचरण करता है। तथा द्रव्यानुयोगमें न्यायशास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करनेका प्रयोजन है और न्यायशास्त्रोंमें निर्णय करनेका मार्ग दिखाया है। इस प्रकार इन अनुयोगोंमें मुख्य पद्धति है। और भी अनेक पद्धतिसहित व्याख्यान इनमें पाये जाते हैं।

तथा जैनमतमें बहुत शास्त्र तो इन चारों अनुयोगोंमें गर्भित हैं। तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमतमें पाये जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है सो सुनो—

व्याकरण, न्यायादिकका अभ्यास होनेपर अनुयोगरूप शास्त्रोंका अभ्यास हो सकता है; इसलिये व्याकरणादि शास्त्र कहे हैं।

यहाँ इतना है कि—ये भी जैनशास्त्र हैं ऐसा जानकर इनके अभ्यासमें बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धिसे इनका सहज जानना हो और इनको जाननेसे अपने रागादिक विकार बढ़ते न जानें, तो इनका भी जानना होओ; अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं हैं; इसलिये इनके अभ्यासका विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।

पञ्चास्तिकाय समयसार

जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म. प्र.)

इस पंचम कालमें श्री. कुन्द कुन्द आचार्य का नाम सभी दिगम्बर जैनाचार्यों ने बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। इन्हें भगवान् कुन्द कुन्द ऐसा आदर वाचक शब्द लगाकर अपनी आन्तरिक प्रगाढ़ श्रद्धा ग्रंथकारों ने प्रकट की है।

यह विदित वृत्त है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य विदेह क्षेत्र स्थित श्री १००८ भगवान् सीमंधर प्रथम तीर्थंकर के समवशरण में गये थे और उनका प्रत्यक्ष उपदेश श्रवण किया था। इस वृत्त के आधार पर भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य की प्रामाणिकता में अभिवृद्धि ही होती है।

भगवान् महावीर के मुक्तिगमन के पश्चात् गौतमगधर और गौतम की मुक्तिके बाद सुधर्माचार्य तथा तदनंतर श्री जंबूस्वामी संघके अधिनायक हुए। ये तीनों केवली हुए, इनके पश्चात् जो श्रुत के पारगामी संघ की परंपरा में अधिनायक हुए उनमें केवली न होकर श्रुत केवली हुए वे श्रुत केवलीयों के बाद जो संघ भारके धारक हुये वे कतिचित अंगके धारक हुए।

इस परम्परासे प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति श्रीधरसेनाचार्य से जो षट्खण्डागम रूपमें (श्री आचार्य भूतबली पुष्पदंतद्वारा रचित) सामने आई।

द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति श्री गुणधर आचार्य से है। इन्हें पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाद के दशमवस्तु के तृतीय प्राभृतकी साथ थी। उस विषय का ज्ञान श्रुत परम्परासे श्री कुन्दकुन्द देवको प्राप्त हुआ।

आचार्य श्री कुन्दकुन्दने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रंथ रचे जिनमें यह पञ्चास्तिकाय है।

इस ग्रंथमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तुस्वरूप कथन की मुख्यता है। सारांश यह कि ग्रंथमें जो जिन द्रव्योंका वर्णन है वह शुद्ध–द्रव्यार्थिक–नयसे है। पर्याय की विद्यमानता होते हुए दृष्टि में और कथन में वह गौण है।

यह विश्व अनाद्यनन्त है। इसकी मूलभूत वस्तु न उत्पन्न है और न उसका कभी विनाश होता है। उसे ही द्रव्य कहते हैं। ऐसा होनेपर भी प्रत्येक द्रव्य (मूलभूत वस्तु) सदा रहते हुए भी सदा एक अवस्था में नहीं रहती। उसकी अवस्था सदा बदलती रहती है। अवस्थाओं को देखें, मूलभूत वस्तु को न देखें यदि हम अपने ज्ञानोपयोग की यह अवस्था कुछ समय को बनालें, तो उस समय हमारी दृष्टि 'पर्याय–दृष्टि' कहलायेगी, प्रकारान्तर से उसे 'पर्यायार्थिक नय' की दृष्टि कहा जायगा।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में मूलभूत पदार्थ पर दृष्टि (उपयोग) हो और उस परिवर्तन शील अवस्था ओंको उस समय स्वीकार करते हुए भी दृष्टि में गौण कर दे तो वह 'द्रव्य दृष्टि' या 'द्रव्यार्थिक नय' की दृष्टि कहलायेगी।

इसी प्रकार जब हम अपने उपयोगमें द्रव्य और पर्याय दोनों से समग्र पूर्ण वस्तुको लें तो वह 'प्रमाणदृष्टि' कहलायेगी। प्रमाणदृष्टि (एकाग्र दृष्टि) से पदार्थ नित्यानित्य है।

पदार्थ में अवस्था भेद स्वयं स्वभाव से होता है तथा परिवर्तन में बाह्य पदार्थ की निमित्तता भी पाई जाति है।

कर्तावादी सम्प्रदाय पदार्थ का तथा उसके परिणमन का कर्ता धर्ता तथा विनाशक ईश्वरको मानते है पर जैन तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का यह संदेश है कि ईश्वर किसी वस्तु का कर्ता हर्ता नहीं है। वह शुद्ध निरंजन निर्विकार मात्र ज्ञातादृष्टा है। पदार्थ परिणमन स्वयं करते हैं और ऐसा उनका स्वभाव है जो अनाद्यनन्त है।

यदि पदार्थ व्यवस्था अनाद्यनन्त नहीं मानी जाय उसका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर को माना जाय तो ईश्वर को भी अनाद्यनन्त न माना जाकर उसका कर्त्ता धर्त्ता किसी अन्य को माना जाएगा। और उसका भी अन्य को इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। ईश्वर को अनाद्यनन्त मानें तो पदार्थ को ही अनाद्यनन्त क्यों न माना जाय यह तर्क सुसंगत है।

लोक स्वरूप

यह दिखाई देनेवाला लोक छः द्रव्यके समुदाय स्वरूप है। उन द्रव्यों के नाम हैं—

(१) जीवद्रव्य (२) पुद्गल द्रव्य (३) धर्म द्रव्य (४) अधर्म द्रव्य (५) काल द्रव्य (६) आकाशद्रव्य।

(१) जीवद्रव्य

जीव द्रव्य अमूर्त (इन्द्रियगोचर) द्रव्य है वह चैतन्यवान है, जानना देखना उसका स्वभाव है। राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि उसके विकारभाव हैं। जो कर्म संयोगी दशा में कर्म के निमित्त को पाकर जीवमें पाए जाते हैं पर वे जीवमें स्वभाव भाव नहीं है।

"**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**" द्रव्यके इस लक्षण के अनुसार जीवद्रव्य अनन्तगुणोंकी स्थिति है, तथा पर्याय परिवर्तन (अवस्थाओंका बदलना) अन्य द्रव्यों की तरह जीवद्रव्यमें भी होता है।

कर्मसंयुक्त दशा में वे गुण दोष या विकार रूपमें पाए जाते हैं; और असंयोगी दशा (सिद्धावस्था), में गुण गुणरूप में या स्वभावपर्यायरूप में पाए जाते हैं।

इस जीवके साथ पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध अनादि से है। इसलिए उसकी संसारी दशा, विकारी दशा या दुःखमय दशा चली आरही है। इस अवस्था में सामान्यतया एकपना होनेपर भी अनेक भेद है।

नर–नारकादि पर्यायें प्रसिद्ध ही है। जीवद्रव्य में कर्म के उदय आदि की अपेक्षाबिना लिए सहज ही चैतन्यानुविधायी परिणाम पाया जाता है जिसे पारणामिक भाव कहते हैं। यह चैतन्य शक्ति जीवमें अनादि निधन है। इसके विशेष परिणमन कर्म के उदयादि की अपेक्षा होते हैं अतः उन्हें औदयिक भाव कहते हैं, उपशम दशामें औपशमिक, तथा क्षयोपशम दशामें क्षायोपशमिक भाव, तथा कर्मक्षय होनेपर प्रकट होनेवाले चैतन्य की केवलज्ञानादि रूप पर्याय को क्षायिक पर्याय कहते हैं। गाथा ५६–५७ में इसका स्पष्ट विवेचन ग्रन्थकार ने स्वयं किया है।

सारांश यह है कि, जीवद्रव्य अनादि से कर्म संयुक्त अवस्था के कारण संसारी है और कर्मसंयोग को दूर करने पर वही मुक्त या परमात्मा बन जाता है।

जो संसारी प्राणी अपनी मुक्त (स्वतन्त्र–निर्बंध) दशा को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम जिनेन्द्र की देशना के अनुसार आत्मा का असंयोगी रूप स्वभाव क्या है उसे विचार कर उसकी श्रद्धा करनी आवश्यक है। जो अपने सहज स्वभावको पहिचानकर–जानकर उसके अनुकूल आचरण करेगा वह अवश्य असंयोगी दशा (मुक्त दशा) को प्राप्त करेगा।

जीवके प्रदेशभेद है और वे असंख्यात है। अतः जीवको '**जीवास्तिकाय**' के नामसे ग्रन्थ में लिखा गया है। जबतक संसारी जीव निगोदावस्था, या एकेन्द्रियावस्था में रहता है तब तक अव्यक्त रूप में कर्मोदय के कारण सुखदुःखरूप को भोगता रहता है। इसे ग्रन्थकारने '**कर्मचेतना**' कहा है किन्तु त्रसराशिस्थित जीवों के कर्म चेतना के साथ साथ '**कर्म चेतना**' भी होती है। ये कर्म के फलस्वरूप रागादि रूप परिणाम के आधारपर कर्म के कार्य का संचेतन करते हुए फल भोगते है अतः इनके '**कर्म फल**' चेतना कही गई।

ज्ञान संचेतना सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है ऐसा ग्रन्थान्तरोंमें विवेचन है तथापि सम्पूर्ण **ज्ञानचेतना** भनवान् सिद्धपरमेष्टी के है ऐसा पंचास्तिकाय गाथा ३९ में निरूपण किया।

ज्ञानचेतना का अर्थ वहाँ किया गया है जो मात्र ज्ञान का संचेतन करते है। ग्रन्थकारके शब्द है—

पाणित्तमदिक्कंता, णाणं विदन्तिते जीवा।

अर्थात् प्राणिप ने याने दश प्राणों को जो अतिक्रान्त कर हुए है अर्थात् पाँच इन्द्रिय, मन–वचन–काय–आयु–श्वासोच्छ्वास को जो पार कर चुके है ऐसे सिद्ध प्रमात्मा ही ज्ञानचेतनावाले हैं।

जहाँ यह विवेचन है कि सम्यग्दृष्टि मात्र के ज्ञानचेतना होती है वहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि स्वसंवेदन द्वारा आत्मा का बोध करता है।

पुद्गलस्तिकाय

दूसरा द्रव्य—पुद्गल द्रव्य है। यह मूर्तिक द्रव्य है, इन्द्रियगोचर है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियगोचर नहीं होते तथापि वे परिणमन द्वारा जब स्थूलता प्राप्त करते हैं तब इन्द्रियों के विषयभूत हो जाते हैं।

अणु—स्कंध के भेदसे इसके २ भेद है। यद्यपि अणु एक **प्रदेश** मात्र है तथापि शक्त्यपेक्षया बहु प्रदेशी है। स्कंध बहुप्रदेशी है। जो दो से अनन्त प्रदेश तक के पाए जाते हैं। पुद्गल भी अनेक-प्रदेशित्व के कारण '**अस्तिकाय**' संज्ञा को प्राप्त है।

इन्द्रियगोचरता के कारण रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुण पुद्गल में प्रसिद्ध है। उक्त प्रसिद्ध २ भेदों के सिवाय पंचास्तिकाय कर्ताने इसके ४ भेद किए है—

१ स्कंध, २ स्कंधदेश, ३ स्कंधप्रदेश, ४ परमाणु।

इन भेदों में ३ भेद तो स्कंधसे ही सम्बन्धित है चौथा भेद परमाणु है।

अनंतानंत परमाणुओं की एक **स्कंध** पर्याय है। उसके आधेको **देश,** आधेसे आधेको **प्रदेश,** कहते है किन्तु मात्र एक प्रदेशी अविभागी पुद्गल द्रव्य **परमाणु** शब्द से व्यवहृत है। परमाणु और स्कंध प्रदेश से बीचके समस्त भेद स्कंध प्रदेश में ही गिने जाते हैं।

तीसरे प्रकारसे पुद्गलके ६ प्रकार बतलाए गए है—

१ वादर वादर, २ बादर, ३ वादर सूक्ष्म, ४ सूक्ष्म बादर, ५ सूक्ष्म, ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म। इनकी व्याख्या इस प्रकार है।

१ **बादर बादर**—पुद्गल के वे स्कंध जो टूटने पर स्वयं जुड़ने में असमर्थ है वे बादर बादर है, जैसे काष्ट-पत्थर-या इसी प्रकार के कठीन पदार्थ।

२ **बादर**—वे पदार्थ है जो अलग २ करने के वाद स्वयं मिलकर एक बन सकते है जैसे दूध-तेल-घी आदि।

३ **बादर सूक्ष्म**—वे पदार्थ है जो उपलब्ध करने में स्थूल दिखाई देते है पर जिनका छेदन भेदन करना शक्य नहीं है जैसे छाया, धूप, चांदनी, अंधेरा आदि।

४ **सूक्ष्म बादर**—वे है जो देखने में सूक्ष्म होनेपर भी जिनकी स्पष्ट उपलब्धि की जा सकती है जैसे मिश्री आदिके रस, पुष्पों की गन्ध आदि। वायु, शब्द आदि भी सूक्ष्म बादर है।

५ **सूक्ष्म**—वे पुद्गल है जो सूक्ष्म भी है, और इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है जैसे कर्म परमाणु।

६ **सूक्ष्म सूक्ष्म**—कर्म परमाणु से भी सूक्ष्म स्कन्ध जो दो चार आदि परमाणुओं से बने है ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म सूक्ष्म कहलाते है। द्वि अणुक स्कन्ध भेद से नीचे एकप्रदेशी की परमाणु संज्ञा है एकप्रदेशी होनेपर भी परमाणु में रूप, रस, गन्ध-वर्णादि पाए जाते है। वे रूप-रस-गन्ध स्पर्श गुण है। इन गुणों की अनेकता पाए जानेपर भी परमाणु में प्रदेशभेद नहीं है।

जैसे जैनेतर दर्शन गन्ध-रस-रूप-स्पर्श आदि गुणों के धारण करने वाले 'धातु-चतुष्क' मानते हैं वैसी मान्यता जैनाचार्योंकी नहीं है। उनकी जुदी जुदी सत्ता नहीं है वे सब एकसत्तात्मक है। जो गन्ध है। याने गन्ध का प्रदेश है वही रूपका है अन्य नहीं।

स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण क्रमशः स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु चार इन्द्रियों के विषयभूत चार गुण है जो पुद्गल द्रव्य के है। कर्णेन्द्रियका विषय शब्द है। शब्द गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्य की स्वयं एक पर्याय है। जैनेतर दर्शनों में किन्ही २ ने उसे आकाश द्रव्य का गुण माना है परन्तु वह मान्यता आज विज्ञान द्वारा गलत प्रसिद्ध हुई है।

शब्द का आघात होता है। वह आघात सहता है, भेजा जाता है, पकड़ा जाता है अतः गुण न होकर वह स्वयं पुद्गल द्रव्य की एक अवस्था विशेष है।

गॅस–अंधःकार–प्रकाश–ज्योति–चांदनी–धूप ये सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप है। इन सब में अपने २ स्वतंत्र स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण गुण है तथा अन्य अनेक गुण है।

शुद्ध पुद्गल 'परमाणु रूप' है। स्कन्ध पर्याय पुद्गल की अशुद्ध पर्याय है। शुद्ध परमाणु स्कन्ध बनने की दुकाई है बिना दुकाई के जैसे संख्या नहीं बन सकती इसी प्रकार बिना परमाणु को स्वीकार किए सारे दृश्यमान जगत् का अभाव होने का प्रसंग आएगा। परमाणु के अनेक उपयोग है। जिससे उसकी सत्ता सूक्ष्म होनेपर भी उससे स्वीकार करना अनिवार्य है।

(१) परमाणु स्कंधोत्पत्ति का हेतु है। स्कंध के भेद का अंतिमरूप है।

(२) परमाणु द्वारा अवगाहित आकाश प्रदेश 'प्रदेश' का मापदण्ड है जिससे जीवादि छहो द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण जाना जाता है।

(३) एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश पर स्थित हो और मंद गति से आकाश के द्वितीय प्रदेश पर जाय तो वह 'समय' का मापदण्ड बन जाता है।

(४) एक प्रदेश रूप परमाणु में स्पर्शादि गुण के जघन्य भाव आदि का भी अवबोध किया जाता है अतः वह भाव संख्याका भी बोधक है।

फलतः सर्व द्रव्य–सर्व क्षेत्र–सर्व काल और सर्व भावों के अंशों का मापक होने से परमाणु अपनी उत्कृष्ट उपयोगिता को सिद्ध करता है।

परमाणु में वर्ण रसादि गुण क्रमशः परिणमन रूप होते रहते है जिससे परमाणु एक प्रदेशी होकर के भी गुण पर्याय सहित होने से द्रव्य संज्ञा को प्राप्त है।

पुद्गल द्रव्य ही इन्द्रियों द्वारा उपभोग योग्य होता है अतः प्रायः उनके माध्यम से ही जीव के रागादि विकार-परिणाम होते हैं। इस पुद्गल की अवस्था विशेष रूप कार्माण वर्गणाएं ही जीव के साथ संबंध को प्राप्त होती हैं और जीव का विकार रूप परिणमन होता है वही जीव का संसार है। और उससे वियुक्त होने पर जीव का स्वभावरूप परिणमन ही मोक्ष है। अनेक प्रदेशात्मक होने से स्कंध तथा स्कंधरूप परिणमन की योग्यता से परमाणु भी अस्तिकाय संज्ञा को प्राप्त है। इस तरह पुद्गलास्तिकाय का विवेचन है।

धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य

ये दोनों द्रव्य वर्णरहित होने से दिखाई नहीं देते, रस रहित होने से रसना इन्द्रिय भी नहीं जाने सकते, गंध और स्पर्श रहित होने से नासिका और स्पर्शन इन इन्द्रियों द्वारा भी इनका बोध नहीं हो सकता, पुद्‌गल की द्रव्यात्मक पर्याय न होने से ये कर्णेन्द्रिय के भी विषय नहीं हैं। इस प्रकार हमारे ज्ञान के लिए साधनभूत पांचों इन्द्रियों इसे जानने में समर्थ नहीं हैं।

बहुत से लोग उन वस्तुओं के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते जो उनके ऐन्द्रिय ज्ञान में नहीं आते। पर ऐसी मान्यता गलत है जो हमारे ज्ञान में न आने पर अन्य किसी के ज्ञान में आवे वह भी मान्य करना अनिवार्य हो जाता है।

ये दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में भरे हैं। ये संख्यायें १–१ है : प्रदेशों की संख्या इन की असंख्य है आकार लोकाकाश के बराबर है। समस्त जीव पुद्‌गल इनके अन्तर्गत है। इनसे बाहिर कोई जीव पुद्‌गल नहीं है। इसका कारण है कि ये लोक व्याप्ति द्रव्य है। यद्यपि इनमें भी द्रव्य का 'गुणपर्यय-वद्द्रव्यम्' यह लक्षण है अतः अनन्तानन्त अगुरुलघु गुणों की हानि वृद्धिरूप पर्याय परिणमन अन्य द्रव्यों की तरह इन दोनों में भी पाया जाता है तथापि इनका दृष्टि में आनेवाला कार्य निम्न प्रकार है।

जीव पुद्‌गल क्रियावान् द्रव्य है। ये क्रिया (देश से देशान्तरगमन) करते हैं इस गमन क्रिया का माध्यम मछली के गमन में जल की तरह धर्मद्रव्य है।

तथा गमन करके पुनः रुकने की क्रिया का माध्यम अधर्म द्रव्य है। इस तरह इन दोनों द्रव्यों की उपयोगिता चलने और रुकने में सहायता देना है।

यहां सहायता का अर्थ प्रेरणा नहीं है। किन्तु ये दोनों उदासीन कारण हैं। चलना और रुकना पदार्थ अपनी योग्यता पर स्वतंत्रता से करते हैं, परन्तु उनकी उक्त क्रियाएं इन द्रव्यों की माध्यम बनाए बिना नहीं होती। जैसे वृद्ध पुरुषों को लकडी चलाती नहीं है पर उसके बिना वह चल नहीं पाता। लाठी का अवलंब करके भी चलना उसे स्वयं पडता है जो उसकी योग्यता पर निर्भर है।

धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य के इतने ही कार्य देखने में आते है ऐसी बात नहीं है किन्तु समस्त पुद्गल द्रव्योंके विविध आकार तथा जीवके संस्थान बनने में धर्म अधर्म द्रव्य की उपयोगिता देखी जाती है। यदि आप किसी बिन्दु (०) से आगे बढेंगे तो धर्म द्रव्य की सहायतासे और वह बिन्दु बनानेवाली कलम की क्रिया जो धर्म द्रव्य के आधार पर होगी रेखा बन जायगी।

इस क्रिया में आप प्रारंभ में बिन्दु और अंत में बिन्दु मध्य में रेखा देखते है। प्रथम बिन्दु से कलम ने क्रिया की और रेखा बनना प्रारंभ हुआ और अधर्म द्रव्य को अवलंबन लेकर कलम में रुकने की क्रिया की कि वहाँ २ बिन्दुपर रेखा रुक गई। इस तरह धर्म द्रव्य के आधार पर कलम की गति और अधर्म द्रव्य के आधार पर उस गतिका रुकना हुआ फलतः आद्यन्तवान रेखा बन गई।

यह रेखा आगे त्रिकोण चतुष्कोण आदि विविध आकार रूप रेखाओं के माध्यम से बन जा सकती है। फलतः सभी आकारों का माध्यम गतिस्थिति है और गतिस्थिति का माध्यम धर्म और अधर्म द्रव्य है।

निष्कर्ष यह सामने आगया कि किसी प्रकार का आकार कृत्रिम हो, या अकृत्रिम हो। पुद्गल परमाणुओं स्कन्धों, या आत्मप्रदेशों से क्रिया रूप होने तथा यथा स्थान क्रिया रुकने रूप परिणमनसे बनते है अतः सिद्ध है कि संसारके समस्त प्रकार के आकार प्रकार या नर–नारकादि पर्याय रूप जीव प्रदेशों का परिणमन बिना धर्म अधर्म द्रव्य के नहीं बना।

जिनका इतना विशाल कार्य जगत के सामने हो और कोई अज्ञानी इसके बाद भी उन द्रव्यों की सत्ता को न माने तो यह उसका अज्ञान भाव ही कहा जायगा।

लोक अलोक का विनाश सिद्ध जीवों की लोकाग्र में स्थिति इन द्रव्यों के आधार पर है। ये दोनों द्रव्य स्वयं क्रियावान् नहीं है फिर भी गमन करने व रुकने में इनकी सहायता है। फलतः ये उदासीन कारण है।

आकाश द्रव्य

यद्यपि यह भी रूप–रस–गन्ध–स्पर्श रहित है, अमूर्त है, एक है पर अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। यह भी अनंतानंत अगुरुलघु गुणों की हानि–वृद्धि से परिणमनशील द्रव्य है।

समस्त द्रव्यों का अवगाहन इसी द्रव्य में है जहाँतक जितने आकाश में जीवादि पाँच द्रव्य पाए जाते हैं वह लोकाकाश और जहाँ मात्र आकाश है वह अलोकाकाश कहलाता है।

ये पाँच द्रव्य अपना जैसे अस्तित्व रखते है उसी प्रकार ये बहु प्रदेशी है इसीलिए उन्हें '**अस्ति-काय**' शब्द द्वारा बोधित करते हैं। जहाँ अस्ति शब्द अस्तित्व का बोधक है वहाँ सभी शब्द काय (शरीर) की तरह 'बहु–प्रदेशित्व' का प्ररूपक है।

जीव द्रव्य एक चेतन द्रव्य है। शेष चार अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य मात्र मूर्तिक है शेष चार अमूर्तिक हैं। पुद्गल रूपी है। जीव अरूपी भी है अपने स्वभाव से पर सकर्म दशा में कथंचित् रूपी भी कहा जाता है।

काल द्रव्य

इन पांच अस्तिकायों के सिवा एक काल द्रव्य है। यह भी अमूर्तिक, अरूपी, अचेतन है तथापि यह एक प्रदेशी द्रव्य है। ऐसे एक एक प्रदेश में स्थित कालाणू लोकाकाशप्रदेश प्रमाण असंख्य है। कालद्रव्योंका परिणमनमे सभी द्रव्यों के परिणमन में व्यवहार निमित्त है। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन चाहे गत्यागत्यात्मक हो या अन्य प्रकार हो समय की सहायता के बिना हो नहीं सकता यही काल द्रव्य के अस्तित्व का प्रमाण है। कालद्रव्य अस्तित्व रूप होकर भी काय रूप (बहु प्रदेशी) नहीं है किंतु एक प्रदेशी असंख्य द्रव्य है इसीसे इसकी गणना अस्तिकाय में नहीं की गई।

इस तरह षड् द्रव्य और पंचास्तिकाय की प्ररूपणा भगवान् कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में की है। उद्देश यह है की संसार की यथार्थ स्थिति को समझ कर सचेतन जीव द्रव्य इनसे राग द्वेष छोड़कर निज-स्वरूप की मर्यादा में रहे तो संसार के समस्त दुःखों से छुट सकता है।

इसे दुःखसे छुड़ाने और राग द्वेषसे छुड़ाने को आचार्य ने जीव और पुद्गल से—परसार निमित्तसे उत्पन्न अवस्था विशेष से सप्ततत्व या नव पदार्थोंका रूप वर्णन किया है, इन सप्त तत्वों व नव—पदार्थों की स्वीकारता या श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। इनके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान तथा आत्म रमण को चारित्र कहा है।

और यही सम्यग्दर्शन सात चारित्र मोक्ष के मार्ग के है अर्थात संसार के समस्त दुःखों से छुटने के उपाय है।

ग्रंथकार ने उक्त उद्देश को सामने रखकर ही समस्त ग्रंथ १७२ गाथाओं में रचा है। जो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

श्री समयसार

पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे, बी. ए., एल्एल्. बी.

जैन साहित्य और जैन संस्कृति के ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द की मुद्रा टंकोत्कीर्ण अंकित है। 'समयसार' यह कुन्दकुन्द साहित्य में शिरोरत्न की तरह कांतिसंपन्न ग्रंथरत्न है। वह अध्यात्म साहित्य का आदिस्रोत है और सम्पूर्ण जैन साहित्य के लिए मानदण्ड भी है।

'आत्मा का शुद्धस्वरूप' यह पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार और समयसार सार—त्रयीका तो लक्ष्यबिन्दु है ही किन्तु समयसार का वह केन्द्र बिन्दु है। वही समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। ग्रंथ की गाथाएँ ४३५ हैं जिनपर आचार्य अमृतचंद्र की विख्यात **आत्मख्याति** तथा आचार्य जयसेन की **तात्पर्यवृत्ति** नाम की टीकाएँ है।

'समय' का व्युत्पत्यर्थ जो एकसाथ (युगपत्) अपने गुणपर्यायोंको प्राप्त होता है और जानता है ऐसा 'आत्मा' होता है। आत्मतत्त्व अपने त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव की अपेक्षा से एकरूप अतएव सर्वाङ्गसुन्दर होनेपर भी आत्मा अपने ही प्रज्ञा के अपराध के कारण इस ध्रुव चैतन्यस्वभाव को भूला हुआ है और परसापेक्ष नैमित्तिक भावों में—अहंकार, ममकार में तथा रागद्वेष मोहादि विभावों में तन्मयता को प्राप्त है। यह बन्ध कथा आत्मा की एकरूपता के लिए सुसंवादी नहीं है, पूर्णरूपेण विसंवादी है। फिर भी यह बन्धकथा सम्पूर्ण जीवों को परिचयप्राप्त है और अनुभवगम्य है। केवल अल्पज्ञ और अज्ञानी ही इस से प्रभावित रहे हैं ऐसा नहीं किन्तु अपने को ऋषीमहर्षी माननेवाले भी बुरी तरह से प्रभावित रहे है। धर्म तत्त्व के नामपर इसी वृत्तिका परिपोषण भी हुआ है।

स्वयं आत्मज्ञानी न होने के कारण और आत्मज्ञ–तत्त्वज्ञ सन्तों की उपासना न करने के कारण आत्मा की एकता का यह अनन्यसाधारण वैभव इस जीव के लिए जैसे अश्रुतपूर्व रहा वैसे ही अपरिचित एवं अननुभूत ही रहा। अन्तरंगमें विद्यमान किसी न किसी सूक्ष्म मोह भाव से अन्ध होने के कारण यह जीवात्मा इस सुन्दरता का दर्शन नहीं कर पाया। आत्मा के स्वतंत्रता धर्म की प्रतीति वह कर नहीं पाया। केवल स्थूल पापरूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होने मात्र से कृतकृत्यता की भावनाओं में बुरी तरह फँस जाने से धर्मभावों के सहचारी शुभभावस्वरूप बाह्य प्रवृत्तियों के चक्र से स्वयं को विमुक्त नहीं कर पाये। इसी-लिए वह आत्मा की वैभवशाली एकता की अनुभूति से कोसों दूर ही रहा।

विश्व में विद्यमान पदार्थों में व्याप्त होकर भी अपनी पृथक् सत्ता से भिन्न आत्मा के एकत्व की अनुभूति कराना यही इस ग्रन्थप्ररूपणा का एकमात्र उद्देश है। शब्द शक्ति की अपनी मर्यादा है। वर्ण्य

विषय का हार्द समझना असंभव है। इसीलिए स्वयं आचार्य ने ग्रन्थ में वर्णित प्रमेय के स्वीकार करने के पूर्व स्वानुभव प्रमाण के द्वारा परीक्षा करने के लिए विश्वासपूर्वक कहा है कि—

स्वानुभवप्रत्यक्षेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्।

इस एकरूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप ग्रन्थकारने गाथा ६ में कहा है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंती सुद्धं जो णाओ सो उ सो चेव ॥६॥

यह इस ग्रन्थ की प्राणभूत गाथा है। यह जीवात्मा अनादि बन्ध पर्याय की अपेक्षा से संसार की नाना अवस्थाओं में विविध पुण्य पापमय शुभाशुभ भावों से परिणत होता है फिर भी वह ध्रुव–ज्ञायक भाव स्वभाव की अपेक्षा से उन पुण्यपापरूप भावों से परिणत न होकर एकरूप ही है। इस प्रकार यह ध्रुव–ज्ञायक स्वभाव सम्पूर्ण परद्रव्य, परभाव और परसापेक्ष विकारी भावों से भिन्नस्वरूपेण अनुभव में आता हुआ जिस समय यह जीव अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के लिए आश्रय बनता है उस समय वह उपास्यमान आत्मा 'शुद्ध' कहा जाता है।

किचड से कर्दम से संयुक्त होनेपर भी जल अपने स्वभाव से निर्मल ही है इसी तरह अपनी पर्याय में अशुद्धता होते हुए भी जीव का अपना त्रिकालीज्ञायक ध्रुवस्वभाव विद्यमान होता ही है। जहाँ स्थूलदृष्टि अज्ञानी को उसकी मलीनता का और संयोग मात्र का प्रतिभास होता है, वहाँपर स्वभाव का लक्ष्य करने वाले विवेकी ज्ञानी को असंयोगी शुद्ध स्वभाव का अनुभव होता है, साक्षात अनुभूती होती है, यही कारण है कि अज्ञानी की जीवनी पर्यायों में सीमित होती है, उसका श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप जीवन–प्रवाह क्षणिक विकारों की सीमा में ही प्रवाहित होता रहता है। विकारों से वह सदाही तन्मयता को प्राप्त होता है। और ज्ञानी की दृष्टि व्यापक होती है पर्यायों में सीमित नहीं होती। विकारों को बराबर जानता हुआ, अपने त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का अवलंबन करता हुआ उसी को अपनी श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का आधार बनाता हुआ तन्मयता को प्राप्त होता है। यही शुद्ध आत्मा की उपासना है। यह आत्मा उस समय ज्ञेयाकार के निमित्त से ज्ञायक कहा जाता है फिर भी वह ज्ञेयों के कारण न ज्ञायक है और न ज्ञेयों के कारण मलिन ही है। उस समय ज्ञायक रूप में अनुभव में आया हुआ वह भाव तो वह ही है। ऐसा जो कहा गया है वहां वह अपने निजी सम्पूर्ण गुणों के प्रतिनिधित्व रूप में स्वीकृत है।

मोक्षसाधनभूत ज्ञायकस्वभाव

सम्पूर्ण विकार और विकारों के लिए हेतुभूत कर्मों से रहित अत्यंत स्वाभाविक शुद्ध एकरूप अपनी निजी अवस्था की प्राप्ती यही जीव मात्र का अंतिम ध्येय है, वही सुख निधान है, वही परमात्म पद है, उसे ही मोक्ष कहते है। उसके प्राप्ति का उपाय (अवलंबनभूत–पदार्थ–वस्तु) कौनसा है? इस मूलभूत समस्या को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रंथ के माध्यम से ठीक ठीक सुलझाया है। यद्यपि अन्य सिद्धजीव यह दृष्टांत के रूप में–प्रतिबिम्ब के रूप में है फिर भी उनकी सत्ता स्वतंत्र होने से भिन्न वस्तुस्वरूप सिद्ध

भगवान् सिद्धि के साधन कैसे हो सकेंगे ? स्वयं अपना आत्मा ही साधनरूप हो सकता है। यह आत्मवस्तु गुणपर्यायरूप है और वर्तमान में कर्म संयोग में अशुद्धता है, पर्याय में शुद्धता अविद्यमान है, इसलिए मोक्षके साधन के रूपसे वहां शुद्धपर्याय का आश्रय असंभव है। पर्याय मे जो अशुद्धता विद्यमान है उसका अवलम्ब भी अशुद्धता का ही जनक होगा। शुद्ध साध्य का जनक नहीं हो सकता। साधन ऐसा हो जो स्वयं आत्मस्वरूप हो—अपने में विद्यमान हो और स्वयं शुद्ध हो। ज्ञानी अंतर्मुख दृष्टीसे आत्मस्वभाव की ओर जब दृष्टि स्थिर करता है उस समय उसे वर्तमान संयोगी अशुद्ध पर्याय में भी सहज, स्वभावसिद्ध, शुद्ध ध्रुव ज्ञायक स्वभाव दृष्टिगोचर होता है। उसीका साधनस्वरूप से स्वीकार करना, अवलंब करना उसी का श्रद्धाज्ञान और चारित्ररूप जीवन के लिए आश्रय लेना यही एकमात्र मुक्ति का यथार्थ मार्ग है। इस सूक्ष्म विषय का क्रमबद्ध रूपसे सांगोपांग वर्णन आचार्य कुंदकुंद ने इस ग्रंथ में किया है। जो विषयका समर्थ आविष्कारक सिद्ध हुआ है।

शुद्धभावग्राही निश्चयदृष्टी (निश्चयनय)

इस लोकोत्तर ग्रंथ में लौकिक व्यवहारदृष्टि साध्यसिद्धि के लिए गौण एवं अप्रयोजनभूत होने से उसका अधिकार नहीं और एकमात्र ध्रुवज्ञायक स्वभाव को ग्रहण करने में समर्थ तथा प्रयोजनभूत होने से निश्चयनय ही मुख्य है। यत्रतत्र इसी शुद्धनय दृष्टि का, परमभावग्राही निश्चयनय का अधिकार है, क्योंकि

'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मा इट्ठी हवई जीवो।'
भूतार्थका आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

इस शुद्धनय का स्वरूप आचार्य कुंदकुंद ने स्वयं १४ वे गाथा में कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं नियदं।
अविसेस मसंजुतं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य (एकरूप), नियत, अविशेष, असंयुक्त रूपसे देखता है उसे शुद्धनय जानो। अनादि बन्धपर्याय की अपेक्षा से अनादि काल से कर्मों से बद्धस्पृष्ट, नरनारकादि नानाक्षणिक पर्यायों में अनेकरूप गुणों की तरतमता के कारण अनियत, अपने अनंत गुणों के कारण विशेषरूप, और कर्मनिमित्तक रागादि विकार भावों से संयुक्त दृष्टिगोचर होता है। इन पांचही प्रकारों में आत्मा की एकता और शुद्धता का अपलाप होता है। दो अत्यंत भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध का परिज्ञान करानेवाला व्यवहार – या व्यवहारनय वस्तु तत्त्व को स्पर्श करने में अत्यंत असमर्थ होने से मोक्षमार्ग में श्रेयोमार्ग में उसे अप्रयोजनभूत ही कहा और वह ठीक ही है। आगम ग्रंथों में संयोगमात्र का या निमित्तमात्र का यथास्थान परिज्ञान कराने मात्रके उद्देश से उसका यत्रतत्र निर्देश किया गया है। उसकी प्रधानता से ग्रंथोंकी निर्मिती हुई है किन्तु उपर्युक्त विविधता यह व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय या भेदप्रधान द्रव्यार्थिक नय का (द्रव्यार्थिकरूप व्यवहार नय) विषय रहा है, गुणभेद और पर्यायभेदपूर्वक वस्तु तत्त्वका विश्लेषण करके उसका ज्ञान मात्र कराने के लिये इन नयों की प्रवृति होती है इसलिए शुद्धनय की दृष्टि में वे सब व्यवहार ही है और ये शुद्ध आत्मा की

अनुभूति में साधक न होने से हेय है। वस्तुतत्त्वका जानना (आत्मतत्त्व) अलग बात है और उसका अनुभव करना यह और बात है। आत्मतत्त्व के ज्ञान और निर्णय के लिए प्राथमिक भूमिका में अवलंबनभूत प्रस्तुत भेददृष्टि या व्यवहारदृष्टि एकत्वस्वरूप सुंदर आत्मा की समाधि में – आत्मानुभूति में बाधकही होती है। जानने के लिए मात्र वह प्रयोजनभूत है। आत्मानुभूति में तो अभेद प्रधान शुद्धनय साधकतम होता है। और आत्मानुभूति शुद्धनयरूप परिणाम है। यह ग्रंथ अनुभव प्रधान होने से उसी निश्चयदृष्टि का सर्वत्र धाराप्रवाही रूप से अवलंब होना यह स्वाभाविक है और प्रतिज्ञानुसार विषयाविष्कार के लिए अनुरूप ही है। ग्रंथ अनुभवप्रधान होने से शुद्धनयका ही अधिकार है और उसे आचार्यश्री ने अच्छी तरह से आखरी तक निभाया है।

समयसार की प्रथम बारह गाथाएं पिठिका बंध स्वरूप हैं। उनमें ग्रंथ का प्रयोजन, प्रतिपाद्य विषय (शुद्ध आत्मा का स्वरूप) प्रतिपादन दृष्टिकोण इनका दिग्दर्शन है, प्रसंगसे आवश्यक व्यवहार नय और निश्चयनय का स्वरूप उनके विषय, उनका परस्पर सामञ्जस्य, उनकी हेयोपादेयता, अपनी–अपनी मर्यादा आदि मूल विषयों का कथन है। सिद्धांत ग्रंथों में गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि कर्मसंयुक्त जीवकी दशाओं का वर्णन आया है तथा मुनि व श्रावकों के आचारों का चरणानुयोग संबंधी ग्रंथों में सुव्यवस्थित वर्णन आया है। इसका प्रयोजन पदार्थों का उनके भेदरूप गुणपर्यायों का तथा उनके परिकरों का ज्ञान करवाना तथा अंतरंग विशुद्धता के साथ होनेवाली यथास्थान बाह्य प्रवृत्तियां किस प्रकार होती है इसका परिज्ञान करवाना मात्र है। इस निरूपण में व्यवहार कथन की मुख्यता है। और उसका प्रस्तुत समयसार ग्रंथ में निरूपित शुद्ध आत्म तत्त्व के निरुपणा के साथ कोई विसंवाद नहीं है। किंतु उसकी मुख्यता नहीं। समयसार में प्राणभूत यथार्थ मोक्षमार्ग की ही विशद प्रतिपादना है यह दृष्टि में आना आवश्यक है। यदा कदा शिष्य को परस्पर विरोध की संभावना का विकल्प आता है वहां व्यवहार पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा है, और वह निश्चय मोक्षमार्ग में उपादेय नहीं यह स्पष्ट किया है। तथा उसकी अपनी मर्यादा भी बतलाई है। परंतु आत्मा के एकत्व की अनुभूति की परमसमाधि की दशा यह इन सारे विकल्पों के अतीत है यह सुस्पष्ट हो गया है।

इस एकत्व–विभक्त आत्मा को लक्ष्य बनाएँ बिना मोक्ष की कथा तो दूर परंतु मोक्षमार्ग की प्रथम श्रेणिरूप सम्यग्दर्शन भी अशक्य है। इसीलिए गाथा १३ में शुद्ध[१] नय के द्वारा जाने गये जीव–अजीव आस्रव–बंध–पुण्य–पाप–संवर–निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व ही सम्यग्दर्शन है ऐसा कहा है। उसी में शुद्ध नय द्वारा प्रतिवर्णित शुद्ध आत्म तत्त्व की प्रतिपत्ति-प्रतीति ज्ञानी को होती है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार स्पष्ट स्पष्ट रूप से प्रतिज्ञा को रूप में आचार्यों का कथन प्रस्तुत है।

---

१. भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुण्णपावाय।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य समत्तं ॥ १३ ॥

शुद्ध नय से जीवादि नव तत्त्वोंका विश्लेषण करने से शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है और वही सम्यग्दर्शन है यह कथन का सार है।

ग्रंथका विषयविन्यास–और विस्तार

आत्मा और कर्मोंकी अनादि बंध पर्याय के लक्ष्य से नव पदार्थों की भेदरूप प्रतीति होती है। तत्त्वोंका विश्लेषण और जानने की सीमातक प्रयोजन भूत होते हुए भी अभेद स्वभाव का लक्ष्य होनेपर इन भेदरूप नवतत्त्वों की प्रतीति नहीं होती, उनमें एक शुद्ध आत्म तत्त्व की प्रतीति धारा प्रवाही रूप से होती है। यही नवतत्त्वों की 'जानने' की प्रक्रिया मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। इस शुद्धनय को नवतत्त्वों का वर्णन और आविष्कार इस ग्रंथका हार्द और विस्तार है। इसी आशय को लेकर मूल ग्रंथ में समय प्राभृत में १ जीवाजीवाधिकार, २ कर्ता कर्म अधिकार, ३ पुण्य पापाधिकार, ४ आस्रवाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ बंधाधिकार, ८ मोक्षाधिकार और ९ सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार इस प्रकार नव अधिकार प्रकरणोंका विभाजन हुआ है।

संसार और मोक्ष के कारणों का विचार करने के लिए प्रस्तुत आचार्य ने जीव अजीव स्वरूप-निरूपणा के अनंतर परस्पर दोनों के बन्ध के कारणों का, कार्यकारणों का कर्ताकर्म सम्बन्ध का ज्ञान अत्यावश्यक होने से जीवाजीवाधिकार के अनंतर कर्ताकर्माधिकार की रचना अलौकिक रूप में की। और अंत में नवतत्त्वों में अंतर्व्याप्त एकतारूप सर्व विशुद्ध ज्ञान का आशय विशुद्धि के हेतु विशेष वर्णन किया गया जो क्रमप्राप्त ही है।

अध्यात्म ज्ञान के तलस्पर्शी वेत्ता और भाषाप्रभु विद्वान आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने मर्मस्पर्शी सर्वाङ्गसुन्दर स्वनामधन्या 'आत्मख्याति' टीका में इसी ग्रन्थ को बारह अध्यायों में रखा। उन्हें इस विषय को नाट्य के रूप में प्रस्तुत करना अभिप्रेत है। विश्व के रंगमंचपर नवतत्त्वों का स्वाङ्ग नृत्य बतलाना था इसलिए प्रथम भाग को पूर्व रंग के रूप में प्रस्तुत किया। और अंतिम परिशिष्ट के रूप में शुद्धनय का निरूपण जो ग्रन्थ में आया है उसमें अनेकान्त का दिग्दर्शन कराया और उपाय–उपेय भाव का भी दिग्दर्शन कराया इस प्रकार बारह अध्याय होते है। परम शांतरस के पार्श्वभूमीपर नवतत्त्वों के नाट्य में अलौकिक स्वरूप में नवरसों का जो अपूर्व आविष्कार दिखाई देता है वह कहींपर अन्यत्र देखने में न आने से अपूर्व और अलौकिक है।

इस टीका में तत्त्वज्ञान और काव्य की हद मानों एक होगई इस तरह समसमा संयोग और पूर्ण सुमेल है। आचार्य कुन्दकुन्द को अभिप्रेत शुद्ध आत्मतत्त्व का सूक्ष्म स्वरूपदर्शन आचार्य–अमृतचन्द्र ने अपनी अर्थवाही और सालंकार तथा अर्थगरिमा से झरती हुई प्रौढ भाषा प्रयोगों से साक्षात् कराने में कोई कसर नहीं रक्खी। भाषाने अर्थ का अनुधावन पूर्ण प्रामाणिकता से किया है। यदि यह कहा जाय कि, यहाँपर अमूर्त शुद्धात्मरूप परब्रह्म साकार हो गया और शब्दब्रह्म सचेत होगया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के भावमय रत्न के लिए अमृतचन्द्र की भाषा मानों यथार्थ में सुन्दर सुवर्ण का अनुपम जडाव बना है। अद्भुत भावनात्मक एकता के सजीव सौंदर्य के लिए क्या कहा जाय वहाँ तो आत्म-पूजक भाषादेवी स्वयं पूज्य और श्रेष्ठ बन गई है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका रचना की अपेक्षा सरल है, सुबोध है और मर्म को यथास्थान स्पष्ट करने में वह भी समर्थ हुई है।

इन अधिकारों का विषय परिचय

जीवाधिकार

आत्मा का अनादि-अनंत, नित्योद्योतरूप सहज ज्ञायकभाव यह उसका स्वभाव है। स्वभाव का साक्षात् लाभ सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयद्वारा या अभेद रूप से विचारा जाय तो आत्मा के समाधि द्वारा ही संभाव्य है। द्रव्य और पर्याय रूप से सर्व प्रकार शुद्ध आत्मा साध्य है। और द्रव्यरूप से शुद्ध आत्मा ही (त्रिकाली ज्ञायकभाव) अवलंब, आश्रय कारण है, उसके आश्रय से रत्नत्रय का विकास यह साध्यसिद्धि का एकमेव मार्ग होता है। सारांश, चाहे व्यवहार से कहो या निश्चय से कहो अपना आत्माही उपास्य सिद्ध होता है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वभाव से ज्ञानवान है उसका कभी नाश नहीं होता। अज्ञानी जीव ने राग की चक्कर में पड़कर आज तक ज्ञान की उपासना नहीं की। देह और आत्मा में एकता की कल्पना करते हुए रागद्वेषों की और अन्यान्य विकल्पों की ही पूजा की। पदार्थों को जानते समय ज्ञेयों के विषय में तो आदरभाव प्रगट किया किन्तु देखनहार और जाननहार आत्मा को भूल ही गया—उसका यथार्थ रूपेण समादर नहीं किया। ज्ञानस्वभावी आत्मा आत्मा के स्वभाव को नहीं जान पाया, देह और विकारों की पूजा करता रहा। देह के सन्निकट होकर उसे 'पर' के रूप में जानना इसमें वास्तव में आत्मा के आत्मत्व की पूरी सुरक्षा है। इसी आशयको, अरिहंत भगवान की स्तुति देहगुण स्तवन से नहीं किन्तु भगवान के गुणस्तवन करने से ही संभव है यह स्पष्ट किया है।

अजीवाधिकार

अज्ञानी की मान्यता जीव की तरह अजीव के विषय भी विपरीत होती है। वह कर्म, नोकर्म, कर्मफल, कर्मोदय निमित्तक सुख-दुःख रागादि विकार तथा संयोग और संयोगसापेक्ष विकारों को आत्मा के स्वरूप के रूप में स्वीकार करना है। नित्य पर्याय दृष्टि बने रहने के कारण नैमित्तिक अवस्थाओं से परे शुद्ध आत्मतत्त्व संभव है ऐसा विकल्प ही उसे आता नहीं। परंतु इनमें से देह-कर्मादिकों की पुद्गलमयता सुस्पष्ट ही है। रहा रागादि भावरूप अध्यवसानादि विकल्प वे क्षणिक होने के कारण उनकी व्याप्ति आत्मा के साथ घटित नहीं होती अपितु पुद्गलमय कर्मोदय के साथही होती है और निर्मल आत्मानुभूति में वे उपलब्ध नहीं होते इसलिए ये वर्णादि और रागादि भाव जीव से भिन्न और पौद्गलिक है। वे चेतना

विकाररूप से यद्यपि अन्य आगमग्रंथों में जीव के कहे गये है फिर भी वह संपूर्ण कथन व्यवहार कथन है। प्रयोजन वश उसका यथास्थान कथन क्रम प्राप्त होता है। क्यों कि विकारों में रचे हुए जीवों को विकारों के साथही साथ धाराप्रवाही रूप से विद्यमान पारिणामिक भावरूप ज्ञायक भाव का परिचय व्यवहारक अवलंब से उनके द्वारा ही होता है, तत्त्व दृष्टी से आत्मा तो ज्ञायक मात्र ही है। समयसार में 'ज्ञान' यह अनन्त गुणों का प्रतिनिधी रूप से कहा जाता है। व्यवहार ग्रंथ में गुणस्थान, मार्गणा स्थान आदिकों को जीवों के कहा है; उन्हें ही अध्यात्म शास्त्रों में पुद्गलमय कहा है और उसके लिए कारण शुद्धात्मानुभूति से वे भिन्न है ऐसा कहा है। २. जिस प्रकार ज्ञानादि गुणों के साथ जीव का नित्य तादात्म्य संबंध है उस प्रकार विकार भावों के साथ नहीं है। ३. नाम कर्मादिकों के क्षणिक उदयादि के साथ उनका अविनाभाव होता है न कि अनादि–अनंत जीवस्वभाव के साथ। इन्हीं हेतुओं से उन्हें वे जीव के क्षणिक परिणाम होते हुए भी 'पर' एवं हेय रूप से स्वीकार किया गया। शुद्ध नय की दृष्टि में एक शुद्ध चैतन्य भाव मात्र जीव रूप से स्वीकृत होने से वे सर्वभाव अनुभूती से परे है। इस तरह जीव अजीव तत्त्व की प्रतीति होने से शुद्ध आत्मलाभ होता है।

कर्ताकर्म–अधिकार

अज्ञानी और ज्ञानी के कर्ताकर्म बुद्धि में भी विशेष अन्तर होता ही है। अज्ञानी स्वयं को कर्म का, कर्मसापेक्ष परिणामों का क्रोधादिकों का, सुख-दुःखादि भावों का और शरिरादि नोकर्म का भी कर्ता मानता है यह मान्यता ही संसार परिभ्रमण का मूल है। ज्ञान से ही अज्ञानमूलक कर्तृकर्म बुद्धि का विनाश संभव है। जिसे आत्मा और रागद्वेषमोहादि भाव इन में भेदविज्ञान हुआ है वे ही वास्तव में ज्ञानी हैं। समयसार गाथा ७५ में कहा ही है—

कम्मस्स हि परिणामं णोकम्मसय तहेय परिणामं।
ण करेई एथ नादा जो जाणादि सो हवदि णाणी ॥७५॥

रागादि परिणाम और शरिरादि नोकर्म परिणामो को जीव करता नहीं, इस प्रकार जो जानना है वह ज्ञानी है। वास्तव में आत्मा ज्ञानस्वभावी होता हुआ अपने चैतन्य परिणामों का ज्ञान परिणामों का ही कर्ता है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य–गुण पर्यायात्मक है। और द्रव्य अपने गुणपर्यायों में व्याप्त होकर ही रहता है। द्रव्यहि प्रतिसमय स्वयं अपने अपने पर्यायरूप से परिणत होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नय से प्रत्येक द्रव्य अपने अपने पर्याय का कर्ता है, पर्यायार्थिक नयसे पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य उपादान कारण होता है जबकि वर्तमान पर्यायविशिष्ट योग्यता को प्राप्त द्रव्य 'कर्ता' कहा जाता है और वही परिणाम उसका 'कर्म' होता है। जीव स्वयं चैतन्यमय वस्तु है उसके संपूर्ण परिणाम चैतन्यमय होते है। निश्चय से जीव अपने चैतन्य परिणामों का कर्ता होता है और वे परिणाम जीव के कर्म होते है।

निश्चय से उपयोग में क्रोधादि नहीं पाये जाते यदि स्वभाव का लक्ष्य छूट जाता है और बंध पर्याय का भान होता है तो क्रोधादि विकार उत्पन्न होते है। इसलिए अज्ञान अवस्था में कदाचित् वह अपने चेतनाभासात्मक क्रोधादिकों का कर्ता कहा जाता है। जिस समय जीव क्रोध परिणाम रूप में परिणामता है उस समय बाह्य में स्थित कार्मणवर्गणा स्वयं कर्मरूप बन जाती है। पुद्गल ही उनका कर्ता है। आत्मा उन कर्मनोकर्मरूप भावों का कर्ता नहीं है। जब की जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्यरूप से कभी परिणत नहीं होता है तो वह जीव द्रव्य उन द्रव्यों का कर्ता कैसा होगा ? यदि अपने को कर्मनोकर्मरूप पुद्गल द्रव्यों का कर्ता माने तो उन दो द्रव्यों को एक मानने की आपत्ति आयेगी जो इष्ट नहीं है इसलिए आत्मा अज्ञान अवस्था में यद्यपि क्रोधादि भावों का कर्ता है फिर भी कर्मनोकर्मों का कर्ता होही नहीं सकता। एकही द्रव्य कर्ता बनकर दो द्रव्यों के परिणामों को (कर्मों को) करे तो एक द्रव्य दो द्रव्योंकी क्रिया करता है ऐसा मानना पड़ेगा यह कथन वस्तुस्वभाव के विरुद्ध है और वस्तु स्वातंत्र्य की घोषणा करनेवाले जिनमत से भी विरुद्ध है।

किसी दो द्रव्योंमें से एकद्रव्य अन्य द्रव्य के परिणामों का स्वतंत्र रूप से तो कर्ता है ही नहीं परंतु निमित्त रूपसे भी वह कर्ता नहीं बन पाता, क्यों कि द्रव्य त्रिकाली एवं नित्य होतां है इसलिए उसे नित्यकर्तृता प्राप्त होगी जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जैसे आत्मा पौद्गलिक कर्मनोकर्मरूप परिणामों का निमित्तरूपसे भी कर्ता सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आत्मा नित्य है इसलिए कर्मनोकर्मों का बंध नित्य होता ही रहेगा। संसार समाप्ति कभी संभवही नहीं होगी। इसलिए तत्त्व यह होगा कि, अज्ञान अवस्था में संभवनीय क्रोधादि जीव परिणाम और पुद्गलों के कर्मनोकर्मरूप परिणाम इन दोनों में समकाल है, दोनों में बाह्यत: व्याप्ति भी है अत: परस्पर अनुकूलता के कारण निमित्तनैमित्तिक संबंध का व्यवहार होता है। परंतु दो द्रव्यों में वह व्यवहार कदापि संभव नहीं। संक्षेप में यह सिद्ध होता है कि निश्चय से ज्ञानी ज्ञानभावों का और अज्ञानी अपने भावों का ही कर्ता है और उस समय पौद्गलिक कर्मनोकर्म स्वयं संचय को प्राप्त होने पर अज्ञानी उन कर्मों का केवल उपचार से कर्ता कहा जाता है।

वस्तु की अपनी अपनी मर्यादा है; प्रत्येक वस्तु स्वभाव से परिणमनशील है अपने परिणामों से तन्मय है इसलिए वह अपने परिणामों का कर्ता है; आत्मा भी अपनी परिणमनशीलता के कारण अपने परिणामों का कर्ता है इसही प्रकार पुद्गल द्रव्य भी सहजरूप से अपने परिणामों का कर्ता है। दो द्रव्योंकी अनुकूल परिणति होनेपर आत्मा पर के लक्ष्य से स्वयं संसारी होता है। परस्पर कर्तृत्व मानने से वस्तु की स्वतंत्रता का अपलाप होता है।

अज्ञान अवस्था में जीव रागादि विभावों को आत्मस्वभावरूप से स्वीकार करता है इसलिए रागादिकों का कर्ता होता है। उसी समय पुद्गल द्रव्य भी स्वयं कर्मनोकर्म रूपसे परिणमता है। उन पुद्गल-परिणामों का कर्ता पुद्गल ही है, न की जीव। दोनों में समकाल होने से और परस्पर अनुकूल परिणमन होने से निमित्तनैमित्तिकता का व्यवहार होता है। परंतु जिस समय निश्चयनय का अवलंब कर यह जीव रागादि विभावों को परसापेक्ष एवं 'पर' रूप से ही स्वीकृत करता है, स्वभाव-सन्मुख होता है उस समय

वह अपने चैतन्यमय ज्ञानभाव मात्र का कर्ता होता है। उनही से तन्मय का अनुभवन होता है। जिसको वह 'पर' जाने उन भावों के साथ तन्मय कैसे होगा और यदि तन्मय नहीं होता है तो उनका कर्ता भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? इस प्रकार आस्रवभाव और आत्मभावों में जब भेदज्ञान होता है उसी क्षण आत्मा की रागादि संसारभावों के साथ कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होती है और तन्निमित्तक होनेवाला कर्मबंध भी नहीं होता है। भाव यह है कि निश्चय से आत्मा रागादिको का कर्ता नहीं है पर्यायार्थिक नयसे अज्ञानी अज्ञानभावों का और ज्ञानी अपने ज्ञानभावों का कर्ता है। आत्मा स्वभावतः ज्ञानी होने के कारण शुद्ध नय से वह अपने चैतन्य परिणामों का कर्ता है।

आगमग्रंथों में यत्रतत्र आत्मा को पौद्गलिक क्रोधादिकर्मों का और उदयापन्न पुद्गलकर्मों को जीवके क्रोधादिभावों का कर्ता कहा है वह केवल उपचार कथन है। परस्पर निमित्तनैमित्तिकता का लोगों को बोध कराने मात्र के लिए वह अनादिरूढ व्यवहार दरसाया है। जैसे कुंभकार को घट का कर्ता कहना। वास्तव में मिट्टी ही कुंभरूप से परिणत होती है इसलिए मिट्टी कुंभ की कर्ता कहना यह निश्चय है, उसही प्रकार से जीव अपने आत्म परिणामों का कर्ता स्वयं सिद्ध होता है।

आत्मा में कर्मबद्ध-स्पष्ट है यह व्यवहार पक्ष है और कर्म आत्मा में बद्ध-स्पष्ट नहीं है यह निश्चयनय पक्ष है, दोनों नय विकल्प रूप ही है। निश्चयनय का विकल्प अर्थात् सविकल्प निश्चयनय यह स्वाभाविक निर्विकल्प अनुभूति की अपेक्षा से व्यवहार स्वरूपही है। इस लिए दोनों नय पक्षों को (व्यवहार पक्ष और निश्चयनय के विकल्प का पक्ष) आचार्यों ने विनाविकल्प हेय ही कहा है। सर्वज्ञ भगवान की तरह जानने योग्य ज्ञेय मात्र है। अनुभूति में आश्रयणीय नहीं। विकल्पात्मक नय पक्ष का स्वीकार यह निर्विकल्प अनुभूतिस्वरूप इष्ट की सिद्धि करने वाला नहीं है। वह भी रागरूप होने से अनुभूति में बाधक है। निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा के साथ उपयोग से तन्मय होकर निर्विकल्प होना यही 'आत्मख्याति' है। वही निश्चय नय के विषय का स्वीकार है। निश्चयनय का ग्रहण कहा जाता है। वही शुद्ध नय का ग्रहण है। प्रयोजनभूत भी वही है। दोनों नय पक्षों का ज्ञाता मात्र बनकर निश्चयनया विषयरूप से साक्षात् परिणमन करना यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यग्दर्शन है।

संक्षेप यह है की रागद्वेषसंबंधी कर्ताकर्मबुद्धि यह कोरा अज्ञान है, कर्मबंध का निमित्त है, संसार का निमित्त है और कर्ता-कर्म-बुद्धि का त्याग ज्ञानभाव है, कर्मक्षय का निमित्त है अतएव उपादेय है।

पुण्यपापाधिकार

आगम ग्रंथों में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म रूप से जो निरूपण है वहां सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप विशुद्धि के साथ सहचर रूप से विद्यमान मन्द-कषाय रूप जो शुभोपयोग होता है उसे व्यवहार से धर्म कहा है, कषाय के अभावों के साथ होने मात्र के कारण धर्म का उन में उपचार चरणानुयोग ग्रंथों में किया गया है। (वीतरागता-यथासंभव कषाय का अभाव और शुभोपयोग एकत्र पाये जाने में विरोध नहीं) इसलिए पुण्य धर्म का एक अंग कहा जाता है उस में व्यवहार दृष्टि की बलवत्ता है।

हेतु, स्वभाव, अनुभव, और आश्रय ये चार की अपेक्षा से पापपुण्य में भेद है ऐसा व्यवहारवादी का पूर्व पक्ष है। पुण्यपाप में तीव्र कषाय और मन्द कषाय रूप शुभाशुभ भावों में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कर्महेतुक होने से पुद्गलस्वभावी होने से, दोनों का विपाक पुद्गलमय होने से और दोनों मात्र बन्धमार्गाश्रित होने से उक्त चारों प्रकार से अभेद ही है। वे दोनों भाव मोक्ष के लिए निश्चय से कारणरूप एवं धर्मरूप नहीं है। पुण्यपाप से परे वीतरागभाव ही धर्म है और वह मोक्ष के लिए कारण रूप है।

मन्द कषाय रूप शुभपरिणामों को शुद्धनय द्वारा निषेध करके हेय बतलाया जाता है। इसलिए आत्मा अशरण नहीं बन जाता, स्वयं शुद्ध आत्मा ही शुद्ध नयावलम्बी के लिए पूर्ण शरण है। आत्मा के आश्रय बिना व्रत–तप को बालव्रत और बालतप कहा है इसमें भी कोई आचार्यों का उद्देश है। सविकल्प अवस्था में राग की भूमिका में उनका होना और अवशता से रहना यह बात दूसरी और उन्हें उपादेय मानकर श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का आधार–आश्रय बनाना यह बात दूसरी है। गाथाओं में स्वयं आचार्य कुन्द-कुन्द लोहशृंखला और सुवर्णशृंखला का दृष्टांत देकर इसे सुस्पष्ट करते है यह कथन उपेक्षणीय नहीं है। सम्यग्दृष्टि, राग वह चाहे शुभ या अशुभ हो उन्हें बन्धके कारण रूप में हि स्वीकार करता है। धर्म-दृष्टि से हरगिज नहीं।

कर्म नय का एकांत से अवलम्ब करके मात्र शुभोपयोग में मग्न जीव मोक्षमार्ग से दूर है वैसे हि ज्ञाननय का एकांत अवलम्ब कर आत्मम्मुख–आत्माविभोर न बनकर ज्ञान विकल्पों में हि मग्न प्रमादशील पुरुषार्थहीन जीव भी कषायमूर्ति है, मोक्षमार्ग से दूर ही है। परमार्थतः विचारा जाय तो एक ज्ञायक-स्वरूप शुद्ध आत्मा का अवलम्बपूर्वक श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र को उपादेय मानकर संयोगवश सविकल्प राग की भूमिका में हेयबुद्धि से प्रवृत्त ज्ञानी ही अनुभूति में पुण्यपापातीत स्वरूप मग्न दशा अनुभव करते हुए मुक्ति प्राप्त करते है।

आस्रवाधिकार

१३ वी अधिकार गाथा में सात तत्त्वों का यथार्थ लक्षण निश्चित किया गया है। आस्राव्य और आस्रावक अथवा जीवविकार और विकार–हेतु (कर्म) दोनों को 'आस्रव' संज्ञा दी गयी है, जीव अनादि-बद्ध होने से मिथ्यात्व–अविरति–कषाय–योगरूप द्रव्य प्रत्यय उसे अनादि से विद्यमान है। उन्हीं के सद्भावों में अभिनव कर्मों का आस्रव होता है। यहाँ पर भी पूर्वबद्ध कर्मों के उदय क्षण में होनेवाले रागद्वेष मोहरूप विभाव–भाव–आस्रवभाव उन कारणों की कारणता में निमित्त है। भाव यह है रागादि आस्रवभाव यदि होते है तो पूर्वबद्ध द्रव्य प्रत्यय अवश्यहि नूतन आस्रव के लिए कारण बन जाते है, अन्यथा नहीं। इसलिए रागद्वेषमोहरूप विकारी भावही वास्तव में आस्रव तत्त्व है। यदि जीव स्वयं विकार न करे तो वे जड़स्वरूप प्रत्यय क्या करेंगे? पृथ्वीस्कंध की तरह पूर्वबद्ध कर्मस्कंधों के साथ केवल संबंध मात्र को प्राप्त होंगे। ज्ञानी जीव रागद्वेषमोह भावों को औपाधिक एवं 'पर' रूप से जानता है। उन में तन्मयता को प्राप्त नहीं होता इसीलिए आस्रव तत्त्व की हेयरूप से प्रतीति करता है। यह प्रतीति उपयोग शुद्ध आत्मा

के सन्मुख होने पर ही होती है। भावार्थ यह है कि, शुद्ध नय से आस्रव तत्त्व की हेयरूप से प्रतीति ही वास्तव में आत्मानुभूती है। और वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग है।

संवराधिकार

उपयोगस्वरूप आत्मा और क्रोधादि ये स्वभावतः भिन्न है क्यों कि शुद्ध आत्मानुभूति में क्रोधादिकों का अनुभवन नहीं होता और क्रोधादिकों की अनुभूति में शुद्ध आत्मा की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार एक भेदज्ञानही से जीव तत्क्षण आस्रवों से निवृत होता है उसे स्वरूप प्राप्ति होती है और नूतन कर्मों को रोकता है इसी समय यथा संभव गुप्ति–समिति आदि सविकल्प भूमिका में होते हैं। प्राणभूत भेदविज्ञान के ये परीकर है सहचर है। जिसने रागादिकों से आत्मा को पृथक अनुभव किया उसने कर्म नोकर्मों से भी आत्मा को भिन्न ही किया। क्यों कि कर्म–नोकर्मों को आस्रव का कारण रागादिक वहाँ पर नहीं होते हैं। संवर का कारण आत्मानुभूति विद्यमान होने से अपूर्व संवर स्वयमेव होता है इसलिए भेद विज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति यह ही एक मात्र 'संवर तत्त्व' है। तात्पर्य शुद्ध नय से संवर तत्त्व का जानना ही आत्मानुभूति ही है।

निर्जराधिकार

भेदविज्ञानी शुद्ध आत्मतत्त्व का स्वीकार करता है तो पूर्वबद्ध कर्म नियमानुसार यथाक्रम उदय को तो प्राप्त होते ही है। किन्तु उदयरूप फल में रागद्वेषमोह के अभाव से वे कर्म उदीर्ण होकर वैसा नया कर्म बिगर बांधे खिर जाते है। इसीको द्रव्य निर्जरा कहते है। उदय से सुखदुःख भी अवश्य ही होते है, यही भाव अज्ञानी को राग के कारण बन्ध का हेतु होने से वास्तव में निर्जरा न होने के समान है। किन्तु सम्यग्दृष्टि को उन सुखदुःखों में राग न होने से बन्ध न होकर मात्र निर्जरित होता है। यहां राग का अभाव या आत्मानुभूति ही भावनिर्जरा है।

सम्यग्दृष्टि को भोग पूर्व कर्मोदय के कारण अवशता से प्राप्त होता है। इसलिए वह उस में रिझता नहीं। राग के अभाव में ज्ञानी को वह उपभोग बन्ध के लिए नहीं प्रत्युत निर्जरा का हेतु बनता है। बन्ध तो उन में रागद्वेष होने पर ही होगा। इस लिए ज्ञानी के बाह्य में विषय भोग दिखाई देने पर भी वह अभिप्राय में उनके प्रति निर्मम है तथा उसे उनके भोगों के सुखदुःखरूप फलों की आकांक्षा भी नहीं होती। जो फलकी अभिलाषा ही नहीं करता वह कर्म को करता है यह तो प्रतीतिविरोधी बात है। सम्यग्दृष्टि दुनियाकी दुकानदारी का मुनिम होकर व्यवहार करता है, मालिक बनकर नहीं। उसे उनमें हर्षविषाद नहीं। वह ऐसा कर्मोदय का भोग है जिसे टाला नहीं जा सकता किन्तु ज्ञानवैराग्य से उसमें कर्मबंध का जो विष है उसकी शक्ति नष्ट की जा सकती है।

ज्ञानी स्वेच्छा से रुचिपूर्वक विषयभोगों में परिग्रहों में रिझता नहीं यदि वह उनमें रमता है तो वह ज्ञान से च्युत होकर, रागी बनकर कर्मबंध ही करेगा। वास्तव में ज्ञानी को रागद्वेषमोह में ममत्व का अभाव

ही है। इसी कारण ज्ञानी की प्रत्येक क्रिया (भोगक्रिया भी) भेदविज्ञान के बल से आसक्ति बिना होती है, उसे रागादि निमित्तक अनंत संसारसंबंधी आस्रवबंध भी नहीं होता। पूर्वबद्ध कर्म आस्रव हुए बिना खिर जाते है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन के आठों अंग वास्तव में निर्जरा का हेतु है। इसलिए ज्ञानी सर्व प्रकार नि:शंक–निर्भय होता है। भय तो पर में ममत्व होनेपर संभवनीय है। वह संसार भोगों के प्रति नि:स्पृह होता है। सम्यग्दृष्टि की कौनसी भी क्रिया सम्यक्त्व से ओत प्रोत होने के कारण वास्तव में निर्जरा हेतु है। शुद्धनय से भेदविज्ञान और वैराग्य यही निर्जरातत्व है और उसकी प्रतीति में आत्मा की ही प्रतीति है।

बंधाधिकार

पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में या उदय फलों में सुखदु:खों में ममत्वपूर्वक रत होना यह परसंग है यही बंध है। कर्मों का उदय होनेपर मोहराग–द्वेषरूप अध्यवसान भाव होते है अज्ञान अवस्था में जीव अपने को पर के सुखदु:खों का, जीवन–मरण का कर्ता मानता है। पर के कर्तृत्व के कारण अहंकार भावों से वह उन्मत्त ही है। पांच पापों में यदि कर्तृत्वबुद्धि बनी रहती तो बंध है ही परन्तु पांच व्रतरूप विकल्पों में भी यदि अध्यवसानरूप में कर्तृत्वबुद्धि है तो वहां पर भी रागांश की विद्यमानता के कारण कर्म–बंध है। भगवान ने रागमात्र को जो हेय बतलाया है उससे पर संबंधी कर्तृत्वबुद्धि संपूर्ण अध्यवसायों को छुड़ाया है। अध्यवसान से रंगा हुआ उपयोग निमित्तभूत कर्मोदयरूप उपाधि से तन्मयता को प्राप्त होनेपर ही हो होता है। स्वाधीनता पूर्वक कर्मोदय के आधीन होनेपर ही रागादि उत्पन्न होते है। इसलिए यदि बंधन न हो ऐसी अपेक्षा है तो स्वभाव–सन्मुख होकर अध्यवसानों का अभाव करना ही होगा। पर पदार्थ बंध के कारण नहीं होते, अध्यवसान बंध के कारण है। परपदार्थ तो केवल अध्यवसानों के निमित्तभूत या आश्रयभूत हो सकते है। इन परपदार्थों का जहाँ बुद्धिपूर्वक स्वीकार है वहाँ विकार भाव या अध्यवसानों की सत्ता अवश्यंभावी है। पर में राग करना ही 'परसंग' कहलाता है। मात्र बाहरी संयोग परसंग नहीं है यह परसंग ही बंध का कारण प्रसिद्ध है न कि बाह्य वस्तु। बाह्य वस्तुको बंध का कारण मानना यह अपना पाप दूसरे के माथे रखना होगा। वास्तव में रागादि अध्यवसान ये बंधतत्त्व सिद्ध होते है। रागादि अध्यवसानों को हेय रूपसे स्वीकृत करना ही शुद्ध आत्मा की प्रतीति है।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंध को साक्षात् पृथक करना यह मोक्ष है। केवल बंधके स्वरूप का ज्ञान या बंध संबंधी विचार परंपरा भी मोक्षका हेतु नहीं। शुभस्वरूप धर्मध्यान में इनका अंतर्भाव होता है। कर्मोंका प्रतिक्षण उदय होकर उनकी यथाक्रम निर्जरा होती है यह भी कोई मोक्ष का हेतु नहीं, कारण अज्ञानी कर्मोदय में रागद्वेष करता है। अपने प्रज्ञा के द्वारा उन्हें पृथक नहीं करता। इसलिए उनकी बंध परंपरा में खण्ड नहीं

होता। जिस प्रकार पर्याय दृष्टि किचड़ में जल और मल को पृथक अनुभवन नहीं कर पाता। यदि स्वभाव-दृष्टि का अवलंबन करता है तो तत्काल शुद्ध जलका अनुभवन होता है उसही प्रकार अशुद्ध संसारपर्याय में स्वभावदृष्टि का अवलंब कर कर्मोदयरूप विकार और आत्माका त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव इन दोनोंको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न जानकर प्रज्ञा के द्वारा विकारों का त्याग और स्वभाव का स्वीकार होना चाहिए। ज्ञानी विकारों पर एवं हेय जानता है उनसे तन्मय नहीं होता, आत्मा से उन्हें भिन्न स्वीकारता है।

यही विकारों का त्याग है। इन प्रकार शुद्ध आत्मा के आश्रय से ज्ञान–दर्शन चारित्र की प्रवृत्ति होना ही स्वभाव का स्वीकार है। इसमें भी अपनी प्रज्ञा ही एकमात्र साधन होता है। शुद्ध चैतन्य आत्मा में ही कारक संबंध को स्वीकार करके (पर में कारक संबंध न मानकर) उस कारक विकल्प से भी स्वयं अतीत होना, शुद्ध आत्मा में उपयोगकी समाधि तन्मयता यही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य, सूक्ष्म नयके द्वारा सर्व प्रथम रागादि विकल्प पश्चात् कारकों के विकल्पकों को भी दूर करके एक शुद्ध आत्माकी अविचल अनुभूति करना यही मोक्षतत्त्व है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

इस प्रकार नवतत्त्वों में एक ज्ञायक भावस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व अनुस्यूत है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व के विकल्प से अतीत है। आत्मा स्वभाव से रागद्वेषों का कर्ता या भोक्ता नहीं है। अज्ञान अवस्था में रागादि विकारभाव होते है इसलिए अज्ञानी-जीव ही रागादिकोंका भोक्ता है ज्ञानी अवस्था में वह अकर्ता और अभोक्ता है। यह अमृतोपम अध्यात्म मंत्र है। इसे भूलना और विकारों का कर्ता जड़ कर्म को मानना उनमें अपनाहि अपराध नहीं मानना यह अध्यात्म का विपर्यास है। कर्मोदय का निमित्त होनेपर उनमें लीन होने से अपने ही अपराध के कारण विकार होते है।

'यदिह भवति रागद्वेष-दोष प्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो, भवति विदितमस्तं यात्वबाधोऽस्मिबोधः॥

आशय यह है कि "आत्मा में जो रागद्वेषादि दोषों की उत्पत्ति होती है उसमें पर द्रव्योंका कोई अपराध नहीं है। यहाँ तो अज्ञान ही स्वयं अपराधी के रूप में सामने आता है। यह ठीक तरह से जानने में आवे और अज्ञानका पूरा अभाव हो जावे। मैं तो ज्ञानमात्र हूं।"

परद्रव्यों का संयोग होने मात्र से जो रागद्वेषों के उत्पत्ति का उत्तरदायित्व पदार्थोंपर थोपते है स्वयं इस जीव ने परका संग किया इस अपनी भूलको स्वीकार नहीं करते वे अज्ञानी मोह महानदी से पार नहीं पा सकते। यह स्पष्ट है कि कोई बाह्य वस्तु या पांच इन्द्रियों के विषय स्वयं रागद्वेष के जनक नहीं होते है। वे 'मुझे चखो?' 'मुझे देखो?' इत्यादि रूप से किसी जीव को प्रेरित भी नहीं करते और आत्मा भी अपने स्थान को छोडकर विषयों को ग्रहण करने दौडकर नहीं जाता। आत्मा तो ज्ञायकदर्शक मात्र है वह भी अपने स्वभाव से न कि ज्ञेयभूत-दृश्यभूत पर पदार्थों के कारण। जिस प्रकार चांदनी स्वयं स्वभाव से ही वस्तु मात्र को प्रकाशित करती है उसी प्रकार ज्ञान सहज स्वभाव से ही ज्ञायकरूप है और पदार्थ अपने

स्वभाव से ज्ञेयस्वरूप है । ज्ञान में उनके आकार झलकते है, ज्ञान उन ज्ञेयाकारों को जानता है ज्ञान को परद्रव्यों का ज्ञायक या दर्शक कहना यह केवल व्यवहार ही है । आपाततः यह ज्ञेय की चिंता एवं रागादि विकल्प स्वयं अपराधरूप सिद्ध होते है । रागादि विकल्पों से रहित अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित होना चारित्र है । इस सुदृढ आशय के आश्रय से ही ज्ञानी के भूतकाल संबंधी कर्मोदय में या क्रिया प्रवृत्तियों में राग नहीं होता निर्विकल्प स्वभाव स्थिरता होती है यह उसका वास्तव-यथार्थ प्रतिक्रमण है । इसी प्रकार वर्तमान काल संबंधी मनवचनकाय के क्रिया विकल्पादिकों के परित्यागरूप आलोचना और भविष्यकालीन क्रियाकाण्ड-रूप विकल्पों के परित्याग प्रत्याख्यान का अंतरंग या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही होता है इसीलिए ज्ञानी जीव को त्रिकाल संबंधी क्रियाकाण्ड में राग नहीं होता इस प्रकार ज्ञानी कृतकारित अनुमोदना से सर्व कर्तृत्वबुद्धि त्याग करता है । अतीत-वर्तमान और भावी कर्म फल में राग को छोडता हुआ स्वयं को भिन्न जानता है इस प्रकार उसे कर्मफल का भोक्तृत्व भी नहीं होता । कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना से रहित होकर ज्ञान भाव में तन्मय होने से ज्ञान चेतनारूप से अविचल स्थित होता है। ज्ञानस्वभाव से ही स्पर्श-रस-गंध वर्णादिक पर पदार्थों से भिन्न है वे पर पदार्थ ज्ञेयमात्र है । वे भिन्न होने के कारण वास्तव में वे न हेय है न उपादेय है । आत्मा और ज्ञान अभिन्न है इसलिए जैसे आत्मा ही ज्ञान है उसी प्रकार आत्मा ही संयम है, तप है, दीक्षा है यह सुतरां सिद्ध होने से ज्ञानी के शरीरादि परद्रव्याश्रित बाह्य लिंगों में ममकार बुद्धि नहीं होती । निश्चय नय से मोक्ष मार्ग का न मुनिलिंग लिंग है या गृही का परिवेष लिंग है । एकमात्र सर्वतो विशुद्ध आत्मा में स्थिर हुआ ज्ञान यही मुक्ति का लिंग है, वही श्रामण्य है, वही साम्य है, वही मोक्ष मार्ग में परमोपादेय प्रयोजनीभूत है । अतः एक शुद्ध ज्ञानतत्त्व में लीनता एकमात्र मोक्ष का साक्षात कारण होने से प्रयोजनभूत है ।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाधिकार

आत्मवस्तु ज्ञानमात्र कहने पर भी टीकाकार आचार्य अमृतचंद्राचार्य ने आत्मा में अनेकान्त कैसे सिद्ध होता है यह युक्तिपूर्वक प्रगट किया है और साध्य साधन भाव भी सुघटित किया है। जहां आत्मवस्तु स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव से सद्रूप है उसही समय परद्रव्यादि चतुष्टयों से असद्रूप है । इसी प्रकार एकानेकत्व, नित्यानित्यत्व, तद्अतद्रूपत्व विवक्षीवश आत्मवस्तु में स्वयं सिद्ध है । अनेकान्त को माने बिना एकान्ती वस्तुतत्त्व का कैसे लोप करनेवाला होता है यह चौदह प्रकारों से संक्षेपतः प्रगट किया है। आत्मा की शुद्ध पर्याय साध्य और शुद्ध ज्ञायकभाव का अवलंबन साधन इसे संक्षेप में पुनः प्रगट किया है ।

इस प्रकार समयसार में जो भी निरूपण है उसमें शुद्ध आत्मतत्त्व के ग्राहक शुद्धनय की प्रधानता है । इसी दृष्टि से प्रतिपाद्य विषय का विस्तार अपने स्वरूप का निराला सातिशय ही हुआ है । वस्तु स्वातंत्र्य यह जैन तत्त्वज्ञान का प्राण है । आत्मवस्तु तत्त्वज्ञान का केन्द्रस्थान है। इसीलिए ग्रंथ भर में आत्मस्वतंत्रता का और साधनस्वरूप स्वावलंबन का यत्रतत्र सर्वांगसुंदर समचतुरस्रसंस्थानरूप मनोहारी मूर्तिमान आविष्कार ही हुआ है ।

कालप्रवाह में अज्ञानभावों की बलवत्ता और निमित्तकर्तृत्व के संस्कारों की अधिकता से इस सूक्ष्म आर्हत तत्त्वज्ञान में भी अन्यथापन अधिकतर पनप गया है, प्रभावित हुआ है। फलतः धर्मतत्त्वज्ञान के स्वरूप-सुंदर स्वरूप को सांप्रदायिकता का अशोभनीय रूप प्राप्त हुआ। श्वेतांबर संप्रदाय क्या और दिगंबरों में भी परतंत्रता के भूलभरे विषात् विकल्पों का क्या इसके उदाहरण हो सकते है? परमार्थ स्वरूप यथार्थ मोक्षमार्ग की सुरक्षा करने का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य यह आचार्य शिरोमणि युगपुरुष कुंदकुंद भगवान की जैनत्व के लिए सातिशय सचेतन देन है। परम सूक्ष्म आत्मतत्त्व विषयक तत्त्वज्ञानकी सागर जैसी गहराई, आकाश जैसी व्यापकता सूर्यप्रकाश जैसी सुस्पष्टता ये ग्रंथ की अपनी विशेषता है। आत्मा के विभक्त एकत्व का यहां साधकों को साक्षात्कार होता है इसीलिए यह चिंतामणि रत्न है। यहां विसंवाद का अंश नहीं न्याय सिद्धांतों से या सिद्धांत ग्रंथांतर्गत न्यायों से इस ग्रंथ में प्रणीत तत्त्वनिरूपण में बाधा नहीं आ पायी। आत्मवस्तु का शुद्ध स्वरूप जैनी वस्तुव्यवस्था के मूलाधार पर ही आधारित है।

संपूर्ण शास्त्र जिसकी ओर अंगुली निर्देश कर पाते है, चारों अनुयोग पद्धति का जो लक्ष्य बना रहा, शास्त्र विवेचन का जो अंतिम उद्देश रहा उसी शुद्ध आत्मतत्त्व का यहां पर मर्मस्पर्शी हृदयंगम सर्वतोभद्र कल्याणप्रद लोकोत्तम साक्षात् आविष्कार हुआ है। द्रव्यदृष्टि का, शुद्ध नयन का अवलंबन लिया गया वह स्वतंत्र है अतः अध्यात्म ग्रंथों का यह ग्रंथ आदि मंगलस्वरूप शुद्ध मूलस्रोत है। अनंतरवर्ती ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में इसकी चिन्मुद्रांकित अमिट मुद्रा बराबर अंकित करने में अपने को धन्य माना है और इस ग्रंथ की प्राणभूत शुद्ध नयात्मक द्रव्यदृष्टि मोक्ष के लिए और यथार्थ समाहित वृत्ति प्राप्त करने के लिए कामधेनू है। ऐसे परमोपकारी आचार्य कुंदकुंद देव को त्रिकाल नमोऽस्तु हो।

तत्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएं

पं. फूलचंद्रजी सिद्धान्त शास्त्री, बनारस

इस अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के मोक्षलाभ करने के बाद अनुबद्ध केवली तीन और श्रुतकेवली पांच हुए हैं। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके कालतक अंग-अनंग श्रुत अपने मूल रूप में आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्ति के क्षीण होते जाने से तथा मूल श्रुत के प्रायः पुस्तकारूढ किए जाने की परिपाटी न होने से क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ मूल श्रुत का अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुत परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि से बनाये रखने के लिए जो अनेक प्रयत्न हुए हैं उनमें से अन्यतम प्रयत्न तत्वार्थसूत्र की रचना है। यह एक ऐसी प्रथम उच्च कोटि की रचना है जब जैन परम्परा में जैन साहित्य की मूल भाषा प्राकृत का स्थान धीरे धीरे संस्कृत भाषा लेने लगी थी, इसके संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध होने का यही कारण है।

१. नाम

इसमें सम्यग्दर्शन के विषयरूप से जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन मुख्य रूप से किया गया है, इसलिए इसकी मूल संज्ञा 'तत्त्वार्थ' है। पूर्व काल में इसपर जितने भी वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं उन सबमें प्रायः इसी नाम को स्वीकार किया गया है[1]। इसकी रचना सूत्र शैली में हुई है, इसलिए अनेक आचार्यों ने 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नाम से भी इसका उल्लेख किया है[2]।

श्वेताम्बर परम्परा में इसके मूल सूत्रों में कुछ परिवर्तन करके इसपर वाचक उमास्वाति ने लगभग सातवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में या ८ वीं शताब्दि के पूर्वार्ध में[3] तत्त्वार्थाधिगम नाम के एक लघु ग्रन्थ की रचना की[4], जो उत्तर काल में तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्वेताम्बर परम्परा में इसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र इस नाम से प्रसिद्धि मिलने का यही कारण है। किन्तु वह परम्परा भी इसके 'तत्त्वार्थ'

---

१. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक आदि के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिका आदि।

२. जीवस्थान कालानुयोग द्वार, पृ. ३१६

३. प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ७२ से।

४. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, उत्थानिका, श्लोक २।

और 'तत्त्वार्थसूत्र' इन पुराने नामों का सर्वशः विस्मृत न कर सकी[१]। उत्तर काल में तो प्रायः अनेक श्वेताम्बर टीका-टिपणीकाएं द्वारा एकमात्र 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नाम को ही एक स्वर से स्वीकार कर लिया गया है[२]।

श्रद्धालु जनता में इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी प्रचलित है। इस नाम का उल्लेख इसके प्राचीन टीकाकारों ने तो नहीं किया है। किन्तु इसका प्रारम्भ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा से होकर इसका अन्त मोक्ष की प्ररूपणा के साथ होता है। जान पडता है कि एकमात्र इसी कारण से यह नाम प्रसिद्धि में आया है।

२. ग्रन्थ का परिमाण

वर्तमान में तत्त्वार्थसूत्र के दो पाठ (दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मान्य) उपलब्ध होने से इसके परिमाण के विषय में उहापोह होता रहता है। किन्तु जैसा कि आगे चलकर बतलानेवाले हैं, सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ही मूल तत्त्वार्थसूत्र है। तदनुसार इसके दसों अध्यायों के सूत्रों की संख्या ३५७ है। यथा—अ. १ में सूत्र ३३, अ. २ में सूत्र ५३, अ. ३ में सूत्र ३९, अ. ४ में सूत्र ४२, अ. ५ में सूत्र ४२, अ. ६ में सूत्र २७, अ. ७ में सूत्र ३९, अ. ८ में सूत्र २८, अ. ९ में सूत्र ४७ और अ. १० में सूत्र ९, कुल ३५७ सूत्र।

श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की रचना होने पर मूलसूत्र पाठ में संशोधन कर दसों अध्यायों में जो सूत्र संख्या निश्चित हुई उसका विवरण इस प्रकार है—अ. १ में सूत्र ३५, अ. २ में सूत्र ५२, अ. ३ में सूत्र १८, अ. ४ में सूत्र ५३, अ. ५ में सूत्र ४४, अ. ६ में सूत्र २६, अ. ७ में सूत्र ३४, अ. ८ में सूत्र २६, अ. ९ में सूत्र ४९, अ. १० में सूत्र ७, कुल ३४४ सूत्र[3]।

३. मंगलाचरण

तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन अनेक सूत्र पोथियों में तथा सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में इसके प्रारम्भ में यह प्रसिद्ध मंगल श्लोक उपलब्ध होता है——

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम वृत्ति सर्वार्थसिद्धि है, उसमें तथा उत्तर कालीन अन्य भाष्य और टीका ग्रन्थों में उक्त मंगल श्लोक की व्याख्या उपलब्ध न होने से कतिपय विद्वानों का मत है कि उक्त मंगल श्लोक मूल ग्रन्थ का अंग नहीं है। सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में हमने भी इसी मत का अनुसरण किया है। किन्तु दो कारणों से हमें स्वयं वह मत सदोष प्रतीत है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है——

---

१. सिद्धसेनगणि टीका, अध्याय १ और ६ की अन्तिम पुष्पिका।

२. प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी द्वारा अनुदित तत्त्वार्थ सूत्र।

३. विशेष के लिए देखो, सर्वार्थसिद्धि प्र., पृ. १७ से।

१ आचार्य विद्यानंद उक्त मंगल श्लोक को सूत्रकार का स्वीकार करते हुए आप्तपरीक्षा के आरम्भ में लिखते हैं—

'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते ।'

आप्तपरीक्षा का उपसंहार करते हुए वे पुनः उसी तथ्य को दुहराते हैं—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्‌भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥

प्रकृष्ट सम्यग्दर्शनादिरूपी श्लोकों की उत्पत्ति के स्थान भूत श्रीमत्तत्वार्थशास्त्ररूपी अद्‌भुत समुद्र की रचना के आरम्भ काल में महान मोक्ष पथ को प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्र को शास्त्रकारों ने समस्त कर्ममल का भेदन करने के अभिप्राय से रचा है और जिसकी स्वामी (समन्तभद्र आचार्य) ने मीमांसा की है उस स्तोत्र के सत्य वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए विद्यानन्द ने अपनी शक्ति के अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है ॥ १२३ ॥

इसी तथ्य को उन्होंने पुनः इन शब्दों में स्वीकार किया है—

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवादविनिवृत्तये ॥ १२४ ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्र के प्रारम्भ में मुनीन्द्र के स्तोत्र को विषय करनेवाली यह आप्तपरीक्षा विवाद को दूर करने के लिए रची गई है ॥ १२४ ॥

आप्त परीक्षा के ये उल्लेख असंदिग्ध हैं। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के समय तक उक्त मंगल श्लोक सूत्रकार की कृति के रूप में ही स्वीकार किया जाता था।

२. एक ओर आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक नामक विस्तृत भाष्य लिखकर भी उसके प्रारम्भ में इस मंगल श्लोक की व्याख्या नहीं की और दूसरी ओर वे आप्तपरीक्षा में उसे सूत्रकार का स्वीकार करते हैं। इससे इस तर्क का स्वयं निरसन हो जाता है कि तत्त्वार्थ सूत्र के वृत्ति, भाष्य और टीकाकारों ने उक्त मंगल श्लोक की व्याख्या नहीं की, इसलिए वह सूत्रकार का नही है।

स्थिति यह है कि स्वामी समन्तभद्र द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या के रूप में आप्त मीमांसा लिखे जाने पर उत्तरकालीन पूज्यपाद आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र पर वृत्ति लिखते हुए उसके प्रारम्भ में उक्त मंगल श्लोक की पुनः व्याख्या लिखने का उपक्रम नहीं किया। भट्ट अकलंक देव ने आप्तमीमांसा पर अष्टशती लिखी ही है, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र पर अपना तत्त्वार्थ भाष्य लिखते समय उन्होंने भी उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या नहीं लिखी। यद्यपि आचार्य विद्यानन्द ने उक्त मंगल श्लोक की

व्याख्या के रूप में स्वतन्त्र रूप से आप्त परीक्षा लिखी है। परन्तु उसका कारण अन्य है। बात यह है कि आप्तमीमांसा पर भट्ट अकलंकदेव द्वारा निर्मित अष्टशती के समान स्वयं द्वारा निर्मित अष्टसहस्री को अति कष्टसाध्य जानकर ही उन्होंने उक्त मंगल श्लोक की स्वतन्त्र व्याख्या की रूप में आप्तपरीक्षा की रचना की। स्पष्ट है कि उक्त मंगल श्लोक को सूत्रकार की ही अनुपम कृति के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

४. सूत्रकार और रचनाकालनिर्देश

आचारशास्त्र का नियम है कि अर्हत धर्म का अनुयायी साधु अन्तः और बाहर परम दिगम्बर और सब प्रकार की लौकिकताओं से अतीत होता है। यही कारण है प्राचीन काल में सभी शास्त्रकार शास्त्र के प्रारम्भ में या अन्त में अपने नाम, कुल, जाति और वास्तव्य स्थान आदि का उल्लेख नहीं करते थे। वे परमार्थ से स्वयं को उस शास्त्र का रचयिता नहीं मानते थे। उनका मुख्य प्रयोजन परम्परा से प्राप्त वीतरागता की प्रतिपादक द्वादशांग वाणी को संक्षिप्त, विस्तृत या भाषान्तर कर संकलन कर देना मात्र होता था। उसमें भी उस काल में उस विषय का जो अधिकारी विद्वान होता था उसे ही संघ आदि के ओर से यह कार्य सोंपा जाता था। अन्यथा प्ररूपणा न हो जाय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि किसी शास्त्र के साथ अपना नाम आदि देने से उसकी सर्व ग्राह्यता और प्रामाणिकता नहीं बढती। अधिकतर शास्त्रों में स्थल-स्थल पर 'जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है[1]', 'यह जिन देव का उपदेश है'[2], 'सर्वज्ञ देव ने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते है'[3], इत्यादि वचनों के उल्लेखों के साथ ही प्रतिपाद्य विषयों के लिपिबद्ध करने की परिपाटी थी। प्राचीन काल में यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्यों का उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था। तत्त्वार्थसूत्र की रचना उसी परिपाटी का एक अंग है, इसलिए उसमें उसका संकलयिता कौन है इसका उल्लेख न होना स्वाभाविक है। अतः अन्य प्रमाणों के प्रकाश में ही हमें इस तथ्य का निर्णय करना होगा कि आगमिक दृष्टि से सर्वांगसुन्दर इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का संकलयिता कौन है?

इस दृष्टि से सर्व प्रथम हमारा ध्यान आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्द की ओर जाता है। आचार्य वीरसेन जीवस्थान कालानुयोग द्वारा पृ. ३१६ में लिखते हैं--

'तह गिद्धपिंच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि' वर्तना-परिणामक्रियापरत्वापरत्वेच कालस्य' इदि दव्वकालो परूविदो'।

इस उल्लेख में तत्त्वार्थ सूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा प्रकाशित कहा गया है।

आचार्य विद्यानन्द ने भी अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इन शब्दों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र को आचार्य गृद्धपिच्छ की रचना के रूप में स्वीकार किया है—'गणाधिप-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतिकेवल्यभिन्न दशपूर्वधर सूत्रेण स्वयंसम्मतेन व्यभिचार इति चेत्? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतराग प्रणेतकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रंथित-मिति वचनात् एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

---

१. समयसार, गाथा ७०। २. समयसार, गाथा १५०। ३. बोधपाहुड, गाथा ६१।

ये दोनों समर्थ आचार्य विक्रम ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। इससे विदित होता है कि इनके कालतक आचार्य कुन्द कुन्द के पट्टधर एकमात्र आचार्य गृद्धपिच्छ ही तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता स्वीकार किए जाते थे। उत्तर काल में भी इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें कहीं कोई मतभेद नहीं दिखलाई देता, जिसकी पुष्टि वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित से भी होती है। वहां वे शास्त्रकार के रूप में आचार्य गृद्धपिच्छ के प्रति बहुमान प्रकट करते हुए लिखते हैं--

'अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मितम्।
पक्षी कुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः॥'

वादिराजसूरि शास्त्रकारों का नामस्मरण कर रहे हैं। उसी प्रसंग में यह श्लोक आया है। इससे विदित होता है कि वे भी तत्त्वार्थसूत्र के रचियता के रूप में आचार्य गृद्धपिच्छ को स्वीकार करते रहे।

यद्यपि श्रवणबेल्गोला के चन्द्रगिरी पर्वत पर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें आचार्य गृद्धपिच्छ और उमास्वाति को अभिन्न व्यक्ति मानकर[1] शिलालेख १०५ में उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता स्वीकार किया गया है। किन्तु इनमें से शिलालेख ४३ अवश्य ही विक्रम की १२ वी शताब्दि के अन्तिम चरण का है। शेष सब शिलालेख १३ वीं शताब्दि और उसके बाद के हैं। जिस शिलालेख में उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा गया है वह तो १५ वीं शताब्दि का है। किन्तु मालूम पडता है कि ८ वीं ९ वीं शताब्दि या उसके बाद श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के रचियता के रूप में उमास्वाति की प्रसिद्धि होने पर कालान्तर में दिगम्बर परम्परा में उक्त प्रकार के भ्रम की सृष्टि हुई है। अतः उक्त शिलालेखों से भी यही सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र अन्य किसी की रचना न होकर मूल में एकमात्र गृद्धपिच्छाचार्य की ही अमर कृति है। शिलालेख १०५ में जिन उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा गया है वे अन्य कोई न होकर आचार्य कुन्द कुन्द के पट्टधर आचार्य गृद्धपिच्छ ही हैं। श्वेताम्बर परम्परा के वाचक उमास्वाति इनसे सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। आचार्य गृद्धपिच्छ और वाचक उमास्वाति के वास्तव्य काल में भी बड़ा अन्तर है। आचार्य गृद्धपिच्छ का वास्तव्य काल जब कि पहली शताब्दि का उत्तरार्ध और दूसरी शताब्दि का पूर्वार्ध निश्चित हुआ है[2]। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा में जो तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमान्य सूत्रपाठ पाया जाता है वह मूल सूत्रपाठ न होकर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रों को ही मूल सूत्रपाठ समझना चाहिए[3]। जो कि आचार्य कुन्द कुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दि के मध्य में हुए अन्वय में हुए उन्हींके अन्यतम शिष्य आचार्य गृद्धपिच्छ की अनुपम रचना है।

---

१. शिलालेख ४०, ४२, ४३, ४७ व ५०।

२. धर्मघोष सूरीकृत दुःषमकाल श्रमण संघस्तव, धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावलि और जिन-विजय सूरीकृत लोक प्रकाश ग्रन्थ।

३. इस विषय के विशेष उहापोह के लिए सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना पर दृष्टिपात कीजिए।

५. विषय परिचय

मूल तत्त्वार्थसूत्र में १० अध्याय और ३५७ सूत्र हैं यह पहले बतला आये हैं। उसका प्रथम सूत्र है-'**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' इसका समुच्चय अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप से परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का ही दूसरा नाम आत्मधर्म है। इसका आशय यह है कि रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष का अधिकारी होता है, अन्य नहीं। वहां इन तीनों में सम्यग्दर्शन मुख्य है, इसीलिए भगवान् कुन्दकुन्द ने दर्शन प्राभृत में इसे धर्म का मूल कहा है। अतः सर्वप्रथम इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए वहां बतलाया है-'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। पुण्य और पाप आस्रव और बन्ध के विशेष होने से यहां उनकी पृथक् से परिगणना नहीं की गई है। इनका यथावस्थित स्वरूप जानकर आत्मानुभूति स्वरूप आत्म रुचिका होना सम्यग्दर्शन है यह उक्त सूत्र का तात्पर्य है।

परमागम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के जिन बाह्य साधनों का निर्देश किया गया है उनमें देशनालब्धि मुख्य है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशनारूप से परिणत आचार्यादि का लाभ होना और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचार करनेरूप शक्ति का समागम होना देशनालब्धि है[१]।

प्रथमादि तीन नरकों में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के जिन तीन बाह्य कारणों का निर्देश किया गया है उनमें एक धर्मश्रवण भी है। इस पर किसी शिष्य का प्रश्न है कि प्रथमादि तीन नरकों में ऋषियों का गमन न होने से धर्मश्रवणरूप बाह्य साधन कैसे बन सकता है? इस का समाधान करते हुए बतलाया है की वहाँ पूर्व भव के सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि देवों के निमित्त से धर्मोपदेश का लाभ हो जाता है[२]। इस उल्लेख में 'सम्यग्दृष्टि' पद ध्यान देने योग्य है। इस से विदित होता है कि मोक्षमार्ग के प्रथम सोपानस्वरूप सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञानी का उपदेश ही प्रयोजनीय होता है। इतना अवश्य है कि जिन्हें पूर्व भव में या कालान्तर में धर्मोपदेश की उपलब्धि हुई है उन के जीवन में उस का संस्कार बना रहने से वर्तमान में साक्षात धर्मोपदेश का लाभ न मिलने पर भी आत्म जागृति होने से सम्यग्दर्शन को प्राप्ति हो जाती है। इन्हीं दोनों तथ्यों को ध्यान में रख कर तत्त्वार्थ सूत्र में—'**तन्निसर्गादधिगमाद्वा**' इस तीसरे सूत्र की रचना हुई है।

वे तत्त्वार्थ कौन कौन है जिनके श्रद्धान से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है इस बात का ज्ञान कराने के लिये '**जीवाजीवास्रव**'—इत्यादि सूत्र की रचना हुई है। मोक्षमार्ग में निराकुलता लक्षण सुख की प्राप्ति जीव का मुख्य प्रयोजन है, इस लिये सात तत्त्वार्थों में प्रथम स्थान चैतन्य लक्षण जीव का है। अजीव (स्व से भिन्न अन्य) के प्रति अपनत्व होने से जीव की संसार परिपाटी चली आ रही है, इसलिये

---

१. जीवस्थान चूलिका पृ. २०४।४, जीवस्थान चूलिका, नौवीं चूलिका सूत्र ७ व ८।

२. जीवनस्थान चूलिका, पृ. ४२२।

सात तत्त्वार्थों में दूसरा स्थान अजीव का है। ये दो मूलतत्त्वार्थ हैं। इनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शेष पाँच तत्त्वार्थ हैं[1]। जिन में संसार और उनके कारणों तथा मोक्ष और उनके कारणों का निर्देश किया गया है।

एक–एक शब्द में अनेक अर्थों को द्योतित करने की शक्ति होती है। उसमें विशेषण की सामर्थ्य से प्रतिनियत अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति को न्यस्त करना प्रयोजन है। पहले सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थों का उल्लेख कर आये हैं। उनमें से प्रकृत में किस पद का कौन अर्थ इष्ट है इस तथ्य का विवेक करने के लिये 'नाम–स्थापना' इत्यादि पाँचवें सूत्र की रचना हुई है। किन्तु इस निर्णय में सम्यग्ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर निक्षेप योजना के प्ररूपक सूत्र के बाद 'प्रमाण–नयैरधिगमः' रचा गया है।

प्रमाण–नयस्वरूप सम्यग्ज्ञान द्वारा सुनिर्णीत निक्षिप्त किस पदार्थ की व्याख्या कितने अधिकारों में करने से वह सर्वांगपूर्ण कही जायगी इस तथ्य को स्पष्ट करने लिये 'निर्देश–स्वामित्व' इत्यादि और 'सत्संख्या' इत्यादि दो सूत्रों की रचना हुई है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में ये आठ सूत्र मुख्य है। अन्य सब सूत्रों द्वारा शेष सब कथन इन सूत्रों में प्रतिपादित अर्थ का विस्तार मात्र है। उसमें प्रथम अध्याय में अन्य जितने सूत्र है उनद्वारा सम्यग्ज्ञान तत्त्व की विस्तार से मीमांसा की गई है। उसमे जो ज्ञान विधि निषध उभयस्वरूप वस्तु को युगवत् विषय करता है उसे प्रमाण कहते है और जो ज्ञान गौण मनुष्यस्वभाव से अवयव को विषय करता है उसे नय कहते हैं। नयज्ञान में इतनी विशेषता है कि वह एक अंश द्वारा वस्तु को विषय करता है, अन्य का निषेध नहीं करता। इसीलिये उसे सम्यग्ज्ञान की कोटि में परिगृहीत किया गया है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में प्रमुखता से जीवपदार्थ का विवेचन किया गया है। प्रसंग से इन तीनों अध्यायों में पांच भाव, जीव का लक्षण, मन का विषय, पाँच इन्द्रियां, उनके उत्तरभेद और विषय, पाँच शरीर, तीन वेद, नौयोनि, नरकलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक, चारों गतियों के जीवों की आयु आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय के अन्तमें एक सूत्र है जिसमें जिन जीवो की अनपवर्त्य आयु होती है उनका निर्देश किया गया है।

विषभक्षण, शस्त्रप्रहार, श्वासोच्छ्वास, निरोध आदि बाह्य निमित्तों के सन्निधान में भुज्यमान आयु में ऱ्हास होने को अपवर्त कहते हैं। किन्तु इस प्रकार जिनकी आयु का ऱ्हास नहीं होता उन्हें अनपवर्त्य आयुवाला कहा गया है। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में ऐसे दस उपसर्ग केवली और दस अन्तःकृत केवली होते हैं जिन्हें बाह्य में भयंकर उपसर्गादि के संयोग बनते है, परन्तु उनके आयु का ऱ्हास नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि अन्तरंग जिस आयु में अपने काल में ऱ्हास होने की पात्रता होती है, बाह्य में उस काल में काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहार से ऱ्हास के अनुकूल अन्य विषभक्षण आदि बाह्य सामग्री का सन्निधान होने पर उस आयु का ऱ्हास होता है। अन्तरंग मे आयु में ऱ्हास होने की पात्रता न हो और उसके ऱ्हास के अनुकूल बाह्य सामग्री मिलने पर उसका ऱ्हास हो जाय ऐसा नहीं है।

१. पंचास्तिकाय, गाथा १०८, समय व्याख्या टीका।

चौथे अध्याय में देवों के अवान्तर भेदों के निरूप के साथ उनके निर्देश किया गया है। उससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि भोगोपभोगकी बहुतता और परिग्रहकी बहुतता, साता आदि पुण्यातिशय का फल न होकर सात परिणाम की बहुतता उसका फल है, इसलिये कर्मशास्त्र में बाह्य सामग्री को सुख–दुःख आदि परिणामों के निमित्तरूप में स्वीकार किया गया है। देवों की लेश्या और आयु आदि का विवेचन भी इसी अध्याय में किया गया है।

पांचवे अध्याय में छह द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों का सांगोपांग विवेचन करते हुए उनक परस्पर उपकार का और गुणपर्याय के साथ द्रव्य के सामान्य लक्षण का भी निर्देश किया गया है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ बाह्य साधन से है। प्रत्येक द्रव्य जब अपने परिणाम स्वभाव के कारण विवक्षित एक पर्याय से अपने तत्कालीन उपादान के अनुसार अन्य पर्याय रूप से परिणमता है तब उस में अन्य द्रव्य की निमित्तता कहाँ किस रूप में स्वीकार की गई है यह इस अध्याय के उपकार प्रकरण द्वारा सूचित किया गया है। यहाँ द्रव्यके सामान्य लक्षण में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंको द्रव्य के अंशरूप में स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह कि जैसे ध्रौव्यांश अन्वयरूप से स्वयं सत् है उसी प्रकार अपने-अपने काल में प्रत्येक उत्पाद और व्यय के विषय में भी जानना चाहिए। इन तीनों में लक्षण भेद होने पर भी वस्तुपने से भेद नहीं है। इसलिये अन्य के कार्य की पर में व्यवहार से निमित्तता स्वीकार करके भी उसमें अन्य के कार्य की यथार्थ कर्तृता आदि नहीं स्वीकार की गई है और न की जा सकती है।

छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व के विवेचन के प्रसंग से पुण्य और पाप तत्त्व का भी विवेचन किया गया है। संसारी जीवों के पराश्रित भाव दो प्रकार के हैं शुभ और अशुभ। देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति तथा व्रतों का पालन करना आदि शुभ भाव हैं और पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति तथा हिंसादि रूप कार्य अशुभ भाव हैं। इन परिणामों के निमित्त से योग प्रवृत्ति भी दो भागों में विभक्त हो जाती है, शुभ योग और अशुभ योग। योग को स्वयं आस्रव कहने का यही कारण है। इससे यह स्पष्ट हो जाती है कि जिस समय जीव के शुभ या अशुभ जैसे भाव होते हैं, योग द्वारा तदनुरूप कर्मो का ही आस्रव होता है। छठे अध्याय में आस्रव के भेद–प्रभेदों का निरूपण करने के बाद जीव के किन भावों से मुख्य रूप से किस कर्म का आस्रव होता है इस का निर्देश किया गया है। आयुकर्म के आस्रव के हेतु के निर्देश के प्रसंग से सम्यक्त्वने संयमासंयम और सराग संयम को आस्रव का हेतु बतलाया गया है। सो इस पर से यह अर्थ फलित नहीं करना चाहिए कि इससे देवायु का आस्रव होता है। किन्तु इस कथन का इतना ही प्रयोजन समझना चाहिए कि यदि उक्त विशेषताओं से युक्त यथा सम्भव मनुष्य और तिर्यञ्च आयुबन्ध करते हैं तो सौधर्मादि सम्बन्धी आयु का ही बन्ध करते हैं। सम्यग्दर्शन आदि कुछ आयुबन्ध के हेतु नहीं हैं। उनके साथ जो प्रशस्त राग है वही बन्ध का हेतु है। सातवें अध्याय में शुभ भावों का विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया गया है उनमें व्रतों की परिगणना करते हुए हिंसादि पांच पाप भावों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। आशय यह है कि प्रमाद बहुत या इच्छापूर्वक असद्विचार से जो भी क्रिया की जाती है उसका तो यथा योग्य हिंसादि पाँच पापों में

अन्तर्भाव होता ही है। साथ ही बाह्य क्रिया के न करने पर भी जो अन्तरंग में मलिन परिणाम होता है उसे भी अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार हिंसादि पाँच पाप रूप स्वीकार किया गया है। इस कथन से ऐसा आशय भी फलित होता है कि अन्तरंग में मलिन परिणाम न हो, किन्तु बाह्य में कदाचित् विपरीत क्रिया हो जाय तो मात्र वह क्रिया हिंसादि रूप से परिगणित नहीं की जाती।

आठवें अध्याय में प्रकृति बन्ध आदि चारों प्रकार के कर्मबन्ध और उनके हेतुओं का निर्देश किया गया है। बन्ध के हेतु पाँच हैं, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें कषाय और योग ये दो मुख्य हैं, क्यों कि योग को निमित्त कर प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय को निमित्तकर स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। फिर भी यहाँ पर मिथ्यादर्शन, अविरति और प्रमाद को जो बन्ध का हेतु कहा है उसका कारण यह है कि मिथ्यादर्शन के सद्भाव में जो बन्ध होता है वह सर्वाधिक स्थिति को लिये हुए होता है। अविरति के सद्भाव में जो बन्ध होता है वह मिथ्यादर्शन के काल में होने वाले बन्ध से यद्यपि अल्प स्थितिवाला होता है, पर वह व्रती जीव के प्रमाद के सद्भाव में होने वाले बन्ध से अधिक स्थिति को लिये हुए होता है। कारण यह है पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों से आगे-आगे के गुणस्थानों में संक्लेश परिणामों की हानि होती जाती है और विशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध की स्थिति इस से भिन्न प्रकार की है, क्यों कि उत्तरोत्तर अशुभ भावों में हानि होने के साथ जीवों के परिणामों में विशुद्धि बढती जाती है, तदनुसार शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। प्रयोजन की बात इतनी है कि यहाँ सर्वत्र स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का मुख्य कारण कषाय है।

जीव रूप-रस-गन्ध और स्पर्श से रहित है, किन्तु पुद्गल रूप-रस-गन्ध और स्पर्शवाला है। इस लिए पुद्गल पुद्गल में जो स्पर्श निमित्तक संक्लेष बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल में नहीं बन सकता, क्योंकि जीव में स्पर्श गुण का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि जीव और द्रव्य कर्म का अन्यान्य प्रदेशानुप्रदेशरूप बन्ध बतलाया गया है। जीव का कर्मों के साथ संक्लेष बन्ध नहीं होता क्योंकि संक्लेष बन्ध पुद्गलों पुद्गलों में होता है इत्यादि अनेक विशेषताओं की इस अधिकार द्वारा सूचना मिलती है।

नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का तथा उनके कारणों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। शुभाशुभ भाव का नाम आस्रव है, अतः उन भावों का निरोध होना संवर है। यों तो गुणस्थान परिपाटी के अनुसार विचार करने पर विदित होता है कि मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध को प्राप्त होनेवाले कर्मों का सासादन गुणस्थान में द्रव्य संवर है, किन्तु संवर में भाव संवर की मुख्यता होने से उसका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से हो समझना चाहिए, क्योंकि एक तो सम्यग्दृष्टि के अनुभूति के काल में शुभाशुभ भावों का वेदन न होकर रत्नत्रय परिणत सायक स्वभाव आत्मा का अनुभव होता है, दूसरे शुभाशुभ भावों में हेय बुद्धि हो जाती है, और तीसरे उसके दर्शन मोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय परिणाम का सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि इसके वेदकसम्यक्त्व के काल में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय बना रहता है, पर उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शनस्वरूप स्वभाव पर्याय का अभाव नहीं होता। फिर

भी यहाँ पर नौवें अध्याय में संवर को जो गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र स्वरूप कहा है सो वह संवर विशेष को ध्यान में रखकर ही कहा है। यहाँ संवर के प्रकारों में गुप्ति मुख्य है। इससे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि समिति आदि में जितना निवृत्यंश है व संवर स्वरूप है, आत्मातिरिक्त अन्य के व्यापारस्वरूप प्रवृत्यंश नहीं। यद्यपि तप का धर्म में ही अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु वह जैसे संवर का हेतु है वैसे ही निर्जरा का भी हेतु है यह दिखलाने के लिये उसका पृथक से निर्देश किया है।

आचार्य गृद्धपिच्छने कहाँ कितने परीषह होते है इस विषय का निर्देश करते हुए उनका कारण परीषह और कार्य परीषह ये दो विभाग स्वीकार कर विचार किया है। इस अध्याय में परीषह सम्बंधी प्ररूपणा ८ वे सूत्र से प्रारम्भ होकर वह १७ वे सूत्र पर समाप्त होती है। ८ सूत्र में परीषह का लक्षण कहा गया है। ९ वें सूत्र में परीषहों का नाम निर्देश करते हुए ६ वी परीषह के लिये स्पष्टतः नाग्न्य शब्दका ही उल्लेख किया गया है। इससे सूत्रकार एक मात्र दिगम्बर सम्प्रदाय के पट्टधर आचार्य थे इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। इसके बाद १०, ११ और १२, संख्याक सूत्रों में कारणों की अपेक्षा किसके कितने परीषह सम्भव हैं इस बातका निर्देश किया गया है। १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रों में उनके कारणों का निर्देश किया गया है। इस प्रकार १०, ११ और १२ संख्याक सूत्रों में कारण की अपेक्षा कारण परीषह होकर तथा १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रों में उनके कारणों का निर्देश कर आगे मात्र १७ वें सूत्र में कार्य परीषहों का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि एकजीव के कमसे कम एक और अधिक से अधिक १९ परीषह होते हैं। उदाहरण स्वरूप हम बादरसाम्पराय जीव को लेते हैं। एक काल में कारणों की अपेक्षा इसके सब परीषह बतला कर भी कार्य की अपेक्षा कम से कम एक और अधिक से अधिक १९ परीषह बतलाये हैं। स्पष्ट है कि 'एकादश जिने' इस सूत्र में जिन के जो ग्यारह परीषह बतलाये हैं वे तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में असाता वेदनीयके पाये जानेवाले उदय को देख कर ही बतलाया गया है। वहाँ क्षुधादि ११ परीषह होते है यह उक्त कथन का तात्पर्य नहीं है। 'एकादश जिने' यह कारण की अपेक्षा परीषहों का निर्देश करनेवाला सूत्र है, कार्य की अपेक्षा परीषहों का निर्देश करनेवाला सूत्र नहीं।

इस अध्याय में प्रसंग से संयतों के भेदोंका निर्देश करते हुए बतलाया है कि ये पुलाकादि नैगमादि नयों की अपेक्षा संयत कहे गये हैं। इसका आशय यह है कि पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच भेदोंमें से निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों भाव निर्ग्रन्थ होने से एकमात्र एवं भूतनय की अपेक्षा से ही निर्ग्रन्थ हैं। शेष तीन निर्ग्रन्थ काल भेदसे नैगमादि अनेक नयसाध्य हैं। नैर्ग्रन्थ सामान्य की अपेक्षा विवक्षा भेदसे पाँचों ही निर्ग्रन्थ हैं यह इस कथन का अभिप्राय है।

एक बात यहाँ निर्जरा के विषय में भी स्पष्ट करनी है। उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा के इन दस स्थानों में से श्रावक और विरत के प्रकृत में पूर्व की अपेक्षा जिस असंख्यात गुणी द्रव्य कर्म निर्जरा का निर्देश किया गया है वह इन दोनों के विशुद्धि की अपेक्षा एकान्तानुवृद्धि के काल की जाननी

चाहिए क्योंकि इसके सिवाय अन्य काल में संक्लेश और विशुद्धि के अनुसार उक्त निर्जरा में तारतम्य देखा जाता है। विशुद्धि के काल में विशुद्धि के तारतम्य के अनुसार कभी असंख्यात गुणी, कभी संख्यात गुणी, कभी असंख्यातवा भाग अधिक और कभी संख्यातवा भाग अधिक निर्जरा होती है यहाँ पूर्व समय की अपेक्षा अगले समय में कितनी निर्जरा होती है इस दृष्टि से निर्जरा का यत्क्रम बतलाया गया है।

इस अध्याय में ध्यान का विस्तार से विचार करते हुए ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यान का फल और ध्यान के काल इन पाँचों विषयों पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। ध्यान के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। यहा अप्रशस्त ध्यान का विचार न कर प्रशस्त ध्यान का विचार करना है। प्रशस्त ध्यान के भी दो भेद हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। श्रेणि आरोहण के पूर्व जो ध्यान होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं श्रेणि और आरोहण के बाद जो ध्यान होता है उसको शुक्लध्यान संज्ञा है। इसका यह तात्पर्य है कि धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर सातवे गुणस्थान तक होता है। साधारणतः तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के आलम्बन के प्रकार चार बतलाये हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इन सभी पर दृष्टिपात कर सामान्य रूप से यदि आलम्बन को विभक्त किया जाय तो वह दो भागों में विभाजित हो जाता है—एक स्वात्मा और दूसरे स्वात्मा से भिन्न अन्य पदार्थ। ध्यान का लक्षण करते हुए यह तो बतलाया ही गया है कि अन्य ध्यान में अशेष विषयों से चित्तको परावृत्त कर किसी एक विषय पर चित्त अर्थात् उपयोग को स्थिर किया जाता है। अतः आत्म ज्ञानस्वरूप है, इसलिये यदि उपयोग को आत्मस्वरूप में युक्त किया जाता है तो उपयोग स्वरूप का वेदन करनेवाला होने से निश्चय ध्यान कहलाता है और यदि उपयोग को विकल्पदशा पर पदार्थ में युक्त किया जाता है तो वह स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थरूप विशेषणसहित होने के कारण व्यवहार ध्यान कहलता है। इसमें से निश्चय ध्यान कर्म निर्जरा स्वरूप है, अतः कर्म निर्जरा का हेतु भी है और व्यवहार ध्यान इससे विपरीत स्वभाववाला होने से न तो स्वयं निर्जरा स्वरूप है और न साक्षात् कर्म निर्जरा का हेतु ही है। अन्यत्र धर्म ध्यान के जो सविकल्प और निर्विकल्प ये दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अभिप्राय से किये गये जानने चाहिये।

सामान्य नियम यह है कि जब आत्मा मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है तब उसके अपने उपयोग में मुख्य रूप से एकमात्र आत्मा का ही अवलम्बन रहता है, अन्य अशेष अवलम्बन गौण होते जाते हैं, क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही आत्मा का अकेला होता है, अतः मोक्षमार्ग वह कहलाया जिस मार्ग से आत्मा अकेला बनता है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति या व्रतादिरूप परिणाम को आगम में व्यवहार धर्मरूप से इसीलिए स्वीकार किया गया है कि वह जीव का परलक्षी संयोगी परिणाम है, स्वरूपानुभूतिरूप आत्माश्रयी अकेला परिणाम नहीं।

शंका—स्व-पर का प्रकाशन करना यह ज्ञान का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक उपयोग परिणाम में परलक्षीपना बना रहेगा, उसका वारण कैसे किया जा सकता है?

समाधान—ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक होने से प्रत्येक उपयोग परलक्षी या पराश्रित ही होता है ऐसी बात नहीं है?

एकत्वपन से या इष्टानिष्टपन से बुद्धिपूर्वक परलक्षी या पराश्रित ज्ञान परिणाम है और स्वरूप क. वेदन काल में अपने उपयोग परिणामरूप से पर भी जानने में आना ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकपना है।

शंका:—ज्ञान के उपयोग परिणाम की ऐसी स्थिति कहाँ बनती है ?

समाधान:—केवल ज्ञान में।

शंका:—छद्मस्थ के स्वरूप का वेदन करते समय जो उपयोग परिणाम होता है उसमें ऐसी स्थिति बनती है कि नहीं ?

समाधान:—छद्मस्थ के स्वसन्मुख होकर स्वरूप का वेदन करते समय प्रमाण ज्ञान की प्रवृत्ति न होकर नयज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इसलिये उस काल में उपयोग में पर गौण होने से लक्षित नहीं होता। पण्डितप्रवर आशाधरजी (अनगारधर्मामृत, अध्याय, श्लोक १०८-१०९ स्वोपज्ञ टीका में) लिखते हैं—

तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धनयरूपः शुद्धोपयोगो वर्तते।

अर्थ—तदनन्तर अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदरूप विवक्षित एक देशरूप से शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग प्रवर्तता है।

इसी तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए वे इसी स्थल पर आगे लिखते हैं—

अत्र च शुद्धनये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति। शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्म-स्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भाव संवर इत्युच्यते। एष च संसारकारण-भूतमिथ्यात्व-रागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न स्यात्, नापि फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवच्छुद्धः स्यात्। किन्तु ताभ्यामशुद्ध-शुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूप-मेकदेशनिवारणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

और यहाँ पर शुद्धनय में शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव निज आत्मा ध्येय है इसलिए शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। इसी का नाम भाव-संवर है। यह संसार के कारणभूत मिथ्यात्व और रागादि अशुद्ध पर्यायों के समान अशुद्ध नहीं है और फलभूत केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्याय के समान शुद्ध भी नहीं है। किन्तु उन दोनों अशुद्ध और शुद्ध पर्यायों से विलक्षण शुद्ध आत्मानुभूतिरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षकारण एक देश व्यक्तिरूप और एकदेश निवारण तीसरी अवस्थारूप कहा जाता है।

यहाँ अप्रमत्त संयम नामक सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति का ज्ञापन किया गया है और सातवें गुणस्थान में धर्म ध्यान होता है, क्योंकि आरोहण के पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों शुक्लध्यान होता है ऐसा आगमवचन है ? अतः इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्प के भेदों से दो प्रकार का होता है। जहाँ शुद्धात्मा ध्येय, शुद्धात्मा आलम्बन और तत्स्वरूप

उपयोग एकरस होकर प्रवृत्त होते हैं उसे निर्विकल्प ध्यान कहते हैं और जहाँ ध्येय और आलम्बन के आश्रय से विचाररूप उपयोग की प्रवृत्ति होती है उसे सविकल्प ध्यान कहते हैं। स्वानुभूति और निर्विकल्प धर्मध्यान इनमें शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। इतना अवश्य है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है उसके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय होनेवाले निर्विकल्प ध्यान को स्वानुभूति कहते है। आगे सातवें आदि गुणस्थानों से उसी का नाम शुद्धोपयोग है। यद्यपि प्रत्येक संसारी जीव के कषाय का सद्भाव दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है, परन्तु निर्विकल्प धर्मध्यान और पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान में उसे अबुद्धिपूर्वक स्वीकार किया गया है।

शंका—शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद सवीचार है। उस में अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति नियम से होती है। ऐसी अवस्था में उक्त शुक्लध्यान में तथा उससे पूर्ववर्ती निर्विकल्प धर्म ध्यान में शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन कैसे बन सकता है और वह न बनने से निरन्तर शुद्धनय की प्रवृत्ति कैसे बन सकती है?

समाधान—यद्यपि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद में अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति होती है, परन्तु निरन्तर स्वभाव सन्मुख रहने के कारण अन्य ज्ञेय पदार्थ से इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसके इस अपेक्षा से शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद में भी शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन बनकर शुद्धात्मा के साधक शुद्धात्मानुभव स्वरूप शुद्धनय की प्रवृत्ति बन जाती है।

श्री समयसार आस्रव अधिकार में छद्मस्थ ज्ञानीके जघन्य ज्ञान होने से उसका पुनः पुनः परिणाम होता है और इसलिये उसे जहाँ ज्ञानावरणादि रूप कर्मबन्ध का भी हेतु कहा गया है, वहाँ इस के मुख्य कारण का निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र देवने बतलाया है कि जो ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष मोहरूप आस्रव भाव का अभाव होने से निरास्रव ही है। किन्तु वह भी जबतक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट रूप से देखने जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्यरूप से ही ज्ञानको देखता जानता और आचरण करता है तब तक उसके भी, जघन्य भाव की अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अन्यभावोत्पत्ति के द्वारा अनुमीयमान, अबुद्धि पूर्वक कलङ्कविपाकका सद्भाव होने से पुद्गल कर्मबन्ध होता है। (समयसार गाथा १७२ आत्मख्याति टीका)

यह तो स्पष्ट है कि ज्ञानी सदाकाल आस्रव भाव की भावना के अभिप्राय से रहित होता है, इस लिये उसके सविकल्प अवस्था में भी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार की गई है, निर्विकल्प अवस्था में तो वह अबुद्धिपूर्वक होती ही है। फिर भी रागभाव चाहे बुद्धिपूर्वक हो और चाहे अबुद्धिपूर्वक, उसके सद्भाव में बन्ध होता ही है। इसका यहाँ विशेष विचार नहीं करना है। यहाँ तो केवल इतना ही निर्देश करना है कि ज्ञानी के ज्ञेय में अभिप्रायपूर्वक कभी भी इष्टानिष्टबुद्धि न होने से वह ध्यान काल में निर्विकल्प स्वानुभूति से च्युत नहीं होता। इसलिए उस के शुद्धनयस्वरूप शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति बनी रहती है।

दसवें अध्याय में मोक्षतत्त्व के निरूपण के प्रसंग से प्रथम सूत्र में केवल ज्ञान की उत्पत्ति का निरूपण कर दूसरे सूत्र द्वारा सकारण मोक्ष तत्त्व का निरूपण किया गया है। यहां प्रथम सूत्र में घातिकर्मों के नाशके क्रम को भी ध्यान में रखा गया है और दूसरे सूत्र में संवर और निर्जरा-द्वारा समस्त कर्मोंका वियुक्त होना मोक्ष है ऐसा न कहकर संवर के स्थान में जो 'बन्धहेत्वभाव' पद का प्रयोग किया है सो उस द्वारा आचार्य गृद्धपिच्छ ने यह तथ्य उद्घाटित किया है कि 'संवर' को ही यहाँ पर व्यतिरेक मुख से 'बन्धहेत्वभाव' कहा गया है, क्योंकि जितने अंश में बन्ध के हेतुओंका अभाव होता है उतने ही अंश में संवर की प्राप्ति होती है। उसे ही दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि जितने अंश में संवर अर्थात् स्वरूपस्थिति होती है उतने ही अंश में बन्ध के हेतुओं का अभाव होता है।

पहले दूसरे अध्याय में जीव के पाँच भावोंका निर्देश कर आये हैं। क्या वे पाँचों प्रकार के भाव मुक्त जीवों के भी पाये जाते हैं या उनमें कुछ विशेषता है ऐसी आशंका को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने उसका निरसन करने के अभिप्राय से ३ रे और ४ थे सूत्रों की रचना की है। तीसरे सूत्र में तो यह बतलाया गया है कि मुक्त जीवों के कर्मों के उपशम, क्षयोपशम और उदय के निमित्त से जितने भाव होते हैं उनका अभाव तो होही जाता है। साथ ही भव्यत्व भावका भी अभाव हो जाता है। जैसे किसी उडद में कारण-रूपसे पाकशक्ति होती है और किसी विशेष उडद में ऐसी पाक शक्ति नहीं होती उसी प्रकार अधिकतर जीवों में रत्नत्रय को प्रकट करने की सहज योग्यता होती है और कुछ जीवों में ऐसी योग्यता नहीं होती। जिन में रत्नत्रय को प्रकट करने की सहज कारण योग्यता होती है उन्हें भव्य कहते हैं और जिन में ऐसी कारण योग्यता नहीं होती उन्हें अभव्य कहते हैं। स्पष्ट है कि जिन जीवों ने मुक्ति लाभ कर लिया है उनके रत्नत्रयरूप कार्य परिणाम के प्रकट हो जाने से भव्यत्व भावरूप सहज कारण योग्यता के कार्यरूप परिणाम जानेसे वहाँ इसका अभाव स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ जो मिट्टी घट परिणामका कारण है उसकों घट परिणामरूप कार्य हो जाने पर उसमें जैसे वर्तमान में वह कारणता नहीं रहती उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये।

चौथे सूत्र में मुक्त जीव के जो भाव शेष रहते हैं उन्हें स्वीकार किया है यद्यपि उक्त सूत्र में ऐसे कुछ ही भावों का नामनिर्देश किया गया है जो मुक्त जीवों में पाये जाते हैं। पर वहाँ उनका उपलक्षण रूपसे ही नामनिर्देश किया गया जानना चाहिए। अतः इससे उन भावों का भी ग्रहण हो जाता है जिनका उल्लेख उक्त सूत्र में नहीं किया गया है, पर मुक्त जीवों में पाये अवश्य जाते हैं। यहाँ यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि ये भाव कर्मक्षय को निमित्तकर होते हैं, इसलिए इन्हें क्षायिक भाव भी कहते हैं। परन्तु सूत्र में इनका क्षायिक भावरूप से उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि ये सब भावस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए इस अपेक्षा से ये वास्तव में स्वभाव भाव ही हैं। उन्हें क्षायिक भाव कहना यह उपचार है। सूत्रकारने अपने इस निर्देश द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि मुमुक्षु जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिये बाह्य सामग्री का विकल्प छोडकर अपने उपयोगद्वारा स्वभावसन्मुख होना ही कार्यकारी है।

मुक्तिलाभ होनेपर यह जीव क्षेत्र में मुक्तिलाभ करता है वहीं अवस्थित रहता है या क्षेत्रान्तर में गमन कर जाता है ? यदि क्षेत्रान्तर में गमन करके जाता है तो वह क्षेत्र कौनसा है जहाँ जाकर यह अवस्थित रहता है ? साथ ही वहीं इसका गमन क्यों होता है ? मुक्त होने के बाद भी यदि गमन होता है तो नियत क्षेत्र तक ही गमन होने का कारण क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जिनका समाधान ५ से लेकर ८ वें तक के सूत्रों में किया गया है।

प्रयोजनीय बात यहाँ यह कहनी है कि सातवें सूत्र में 'तथागतिपरिणामात्' पद द्वारा तो मुक्त जीव की स्वभाव ऊर्ध्व गति का निर्देश किया गया है और ८ वें सूत्र द्वारा उसके बाह्य साधन का उल्लेख किया गया है।

यहाँ पर कुछ विद्वान् यह शंका किया करते हैं कि मुक्त जीव का उपादान तो लोकान्तर के ऊपर जाने का भी है, पर आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकान्त से उपर उसका गमन नहीं होता। किन्तु उनका इस विषय में यह वक्तव्य तथ्य की अनभिज्ञता को ही सूचित करता है। उक्त शंका का समाधान यह है—

(१) बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में कार्य होता है यह नियम है। इसके अनुसार जिस समय जो कार्य होता है उसके अनुरूप ही पर्याय योग्यता-उपादन कारणता होती है। न न्यून और न अधिक। तथा बाह्य निमित्त भी उसके अनुकूल ही होते हैं। उनका उस समय होना अवश्यंभावी है। वह न हो तो उपादान के रहते हुए भी कार्य नहीं होता ऐसा नहीं है, क्यों कि जिस प्रकार विवक्षित कार्य की अपने उपादान के साथ उस समय आभ्यन्तर व्याप्ति नियम से होती है उसी प्रकार उस समय उसकी बाह्य साधनों के साथ बाह्य व्याप्ति का होना भी अवश्यंभावी है। तभी इनकी विवक्षित कार्य के साथ काल प्रत्यासत्ति बन सकती है। इससे सिद्ध है कि मुक्त जीव का लोकान्त के ऊपर गमनाभाव वास्तव में तो वैसा उपादान न होने से नहीं होता। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से नहीं होता यह मात्र व्यवहार वचन है जो मुक्त जीव अपने उपादान के अनुसार कहाँ तक जाता है इस तथ्य को सूचित करता है। सर्वत्र व्यवहार और निश्चय का ऐसा ही योग होता है।

(२) मुक्त जीव उर्ध्वगति स्वभाव है इस कथन का यह आशय नहीं कि वह निरन्तर ऊपर ही ऊपर गमन करता रहे। किन्तु इस कथन का यह आशय है कि वह तिर्यक् रूप से अन्य दिशाओं की ओर गमन न कर लोकान्त तक ऊर्ध्व ही गमन करता है। तत्त्वार्थवार्तिक में 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस सूत्र की उत्थानिका में बतलाया है कि—'मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावः नोर्ध्वगमनमेवेति'। 'मुक्त जीव का ऊपर की ओर ही गमन होता है, अन्य दिशाओं को लक्ष्य कर गमन नहीं होता यह स्वभाव है, उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर गमन होता रहे यह स्वभाव नहीं है'। सो इस वचन से भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है।

(३) मुक्त जीव की एक ऊर्ध्वगति होती है जो स्वाभाविकी होने से स्वप्रत्यय होती है। साथ ही लोकान्त में उसकी अवस्थिति भी स्वाभाविकी होने से स्वप्रत्यय होती है इसलिए उसपर यह व्यवहार कथमपि

लागू नहीं पडता कि लोकान्त से और आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होनेसे उसे वहां बलात् रुकना पडता है। किन्तु अपने उपादान के अनुसार मुक्तजीव लोकान्त तक ऊपर की ओर ऋजुगति से स्वयं गमन करता है और लोकान्त में स्वयं अवस्थित हो जाता है। व्यवहारनय से लोकालोक के विभाग का कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को बतलाया गया है उसीको ध्यान में रखकर सूत्रकार ने यह वचन कहा है कि आगे धर्मास्तिकाय न होने से मुक्तजीव लोकान्त से और उपर नहीं जाता। परमार्थ से देखा जाय तो षट् द्रव्यमयी यह लोक स्वभाव से रचित है, अतएव अनादि-निधन है, इसलिए जिस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत के परभाग में मनुष्य का स्वभाव से गमन नहीं होता उसी प्रकार एक मुक्त जीव ही क्या किसी भी द्रव्य का लोक की मर्यादा के बाहर स्वभाव से गमन नहीं होता।

(४) जैसे कोई परमाणु एक प्रदेशतक गमन कर स्वयं रुक जाता है। कोई परमाणु दो या दो से अधिक प्रदेशों तक गमन कर स्वयं रुक जाता है। आगे धर्मास्तिकाय होने पर भी एक या एक से अधिक प्रदेशोंतक गमन करनेवाले परमाणु को वह बलात् गमन नहीं कराता। वैसे ही मुक्त जीव अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव का उत्कृष्ट विपाक लोकान्त तक जाने का होने के कारण वहाँ तक जाकर वह स्वयं रुक जाता है ऐसा यहाँ परमार्थ से समझना चाहिए। 'धर्मास्तिकायाभावात्' यह व्यवहार वचन है जो इस तथ्य को सूचित करता है कि इससे और ऊपर गमन करने की जीव में उपादान शक्ति ही नहीं है।

यहां सूत्रकार ने ७ वें और ८ वें सूत्र में जितने हेतु और उदाहरण दिए हैं उन द्वारा मुक्त जीव का एकमात्र ऊर्ध्वगति स्वभाव ही सिद्ध किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। ९ वें सूत्र में ऐसे १२ अनुयोगों का निर्देश किया गया है जिनके माध्यम से मुक्त होनेवाले जीवों के विषय में अनेक उपयोगी सूचनाओं का परिज्ञान हो जाता है। उनमें एक चारित्र विषयक अनुयोग है। प्रश्न है कि किस चारित्र से सिद्धि होती है? उसका समाधान करते हुए एक उत्तर यह दिया गया है कि नाम रहित चारित्र से सिद्धि होती है। इस पर कितने ही मनीषी ऐसा विचार रखते हैं कि सिद्धों में कोई चारित्र नहीं होता। किन्तु इसी तत्त्वार्थसूत्र में जीव के जो नौ क्षायिक भाव परिगणित किए गये हैं उनमें एक क्षायिक चारित्र भी है। और ऐसा नियम है कि जितने भी क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे सब परनिरपेक्ष भाव होने से प्रतिपक्षी द्रव्यभाव कर्मों का क्षय होने पर एकमात्र स्वभाव के आलम्बन से ही उत्पन्न होते हैं, अतः वे सिद्ध पर्याय के समान अविनाशी होते हैं। अतः सिद्धों में केवल ज्ञान आदि के समान स्वरूप स्थिति अर्थात् स्वसमय प्रवृत्तिरूप अनिधन सहज चारित्र जानना चाहिए। उसकी कोई संज्ञा नहीं है, इसलिए उनमें उसका अभाव स्थापित करना उचित नहीं है। लोक में एक यह बात भी प्रचारित की जाती है कि इस काल में इस क्षेत्र से कोई मुक्त नहीं होता सो यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति प्राप्ति के लिए न तो कोई काल ही बाधक है और न मनुष्य लोक सम्बन्धी कोई क्षेत्र ही बाधक है। इतना अवश्य है कि चौथे काल और उत्सर्पिणी के तीसरे काल सम्बन्धी इस भरत क्षेत्र में ऐसे मनुष्य भी जन्म लेते हैं जो चरम शरीरी होते हैं यह सहज नियम है। इस क्षेत्र सम्बन्धी प्रायः अपसर्पिणी के चौथे काल में और उत्सार्पिणी के तीसरे काल में ही ऐसे मनुष्य जन्म लेते हैं जो चरम शरीरी होते हैं यह प्राकृतिक नियम है। अतः इस क्षेत्र और इस काल को दोषी बतलाकर मोक्षमार्ग के अनुरूप उद्यम न करना योग्य नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में किन विषयों का निर्देश किया गया है इसका संक्षेप में विचार किया।

वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ

१. सर्वार्थसिद्धि

दिगम्बर परम्परा में सूत्र शैली में लिपिबद्ध हुई तत्त्वार्थसूत्र और परीक्षामुख ये दो ऐसी मौलिक रचनाएं हैं जिनपर अनेक वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं। वर्तमान काल में उपलब्ध 'सर्वार्थसिद्धि' यह तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा गया सबसे पहला वृत्ति ग्रन्थ है। यह स्वनामधन्य आचार्य पूज्यपाद की अमर कृति है। यह पाणिनि व्याकरण पर लिखे गये पातञ्जल भाष्य की शैली में लिखा गया है। यदि किसी को शान्त रस गर्भित साहित्य के पढने का आनंद लेना हो तो उसे इस ग्रन्थ का अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के सामने इस वृत्ति ग्रन्थ की रचना करते समय षट्खण्डागम प्रभृति बहुविध प्राचीन साहित्य उपस्थित था। उन्होंने इस समग्र साहित्य का यथास्थान बहुविध उपयोग किया है[१]। साथ ही उनके इस वृत्ति ग्रन्थ के अवलोकन से यह भी मालूम पडता है कि इसकी रचना के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर (टीकाटीप्पणीरूप) और भी अनेक रचनाएं लिपिबद्ध हो चुकीं थीं[२]। वैसे वर्तमान में उपलब्ध यह सर्वप्रथम रचना है। श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमभाष्य इसके बाद की रचना है। सर्वार्थसिद्धि के अवलोकन से इस बात का तो पता लगता है कि इसके पूर्व श्वेताम्बर आगम साहित्य रचा जा चुका था[3], परन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखा जा चुका था इसका यत्किंचित् भी पता नहीं लगता। इतना अवश्य है कि भट्टाकलंकदेव के तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसे उल्लेख अवश्य ही उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके पूर्व की रचना है। इस लिए सुनिश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इन दोनों आचार्यों के मध्य काल में किसी समय लिपिबद्ध हुआ है।[४]

सर्वार्थसिद्धि वृत्ति की यह विशेषता है कि उसमें प्रत्येक सूत्र के सब पदों की व्याख्या नपे-तुले शब्दों में सांगोपांग की गई है। यदि किसी सूत्र के विविध पदों में लिंगभेद और वचनभेद है तो उसका भी स्पष्टीकरण किया गया है[५]। यदि किसी सूत्र में आगमका वैमत्य होने का सन्देह प्रतीत हुआ तो उसकी सन्धि बिठलाई गई है[६] और यदि किसी सूत्र में एकसे अधिकवार 'च' शब्दकी[७] तथा कहीं 'तु' आदि शब्दका[८] प्रयोग किया गया है तो उनकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह है कि यह रचना इतनी सुन्दर और सर्वांगपूर्ण बन पडी है कि समग्र जैन वाङ्मय में उस शैलीमें लिखे गये दूसरे वृत्ति, भाष्य या टीका ग्रन्थका उपलब्ध होना दुर्लभ है। यह वि. सं. की पाँचवी शताब्दि के उत्तरार्ध से लेकर छठी

---

१. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ४६ आदि।
२. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ. ४२।
३. देखो, अ. ७ सु. १३।
४. देखो तत्त्वार्थ भाष्य अ. ३ सू. १ आदि।
५. अ. देखो, १, सू. १ आदि।
६. देखो, अ. ४, सू. २२।
७. अ. २, सू. १।
८. देखो, अ. ४, सू. ३१।

शताब्दि के पूर्वार्ध में इस बीच किसी समय लिपिबद्ध हुई है। अनेक निर्विवाद प्रमाणों से आचार्य पूज्यपाद का यही वास्तव्यकाल सुनिश्चित होता है। इतना अवश्य है यह उनके द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण के बाद की रचना होनी चाहिए[१]।

२. तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थसूत्र के विस्तृत विवेचन के रूप में लिखा गया तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य यह दूसरी अमर कृति है। सर्वार्थसिद्धि के प्रायः सभी मौलिक वचनों को भाष्यरूप में स्वीकार कर इसकी रचना की गई है। इस आधार से इसे तत्त्वार्थसूत्र के साथ सर्वार्थसिद्धि का भी विस्तृत विवेचन स्वीकार करने में अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती। समग्र जैन परम्परा में भट्ट अकलंक देव की जैसी ख्याति है उसी के अनुरूप इसका निर्माण हुआ है इसमें सन्देह नहीं। इसमें कई ऐसे नवीन विषयोंपर प्रकाश डाला गया है जिनका विशेष विवेचन सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण स्वरूप प्रथम अध्याय के ८ वें सूत्र को लीजिए। इसमें अनेकान्त विषय को जिस सुन्दर अर्थगर्भ और सरल शैली में स्पष्ट किया गया है वह अनुपम है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में ५ भावों के प्रसंग से सान्निपातिक भावों का विवेचन तथा चौथे अध्याय के अन्त में पुनः अनेकान्त का गम्भीर इस रचना की अपनी विशेषता है। अनेक प्रमाणों से भट्ट अकलंक देव का वास्तव्य काल वि. सं. ८ वीं शताब्दि का पूर्वार्ध स्वीकार किया गया है, इसलिये यह रचना उसी समय की माननी चाहिए।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थ–श्लोकवार्तिकभाष्य यह तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत व्याख्या के रूप में लिखी गई तीसरी अमर कृति है। इसके रचियता आचार्य विद्यानन्द है। इनकी अपनी एक शैली है जो उन्हें आचार्य समन्तभद्र और भट्ट अकलंक देव की विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। यही कारण है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य की समग्र रचना दार्शनिक शैली में हुई है। इस रचना का आधे से अधिक भाग प्रथम अध्याय को दिया गया है और शेष भाग में नौ अध्याय समाप्त किये गये हैं। उसमें भी प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की रचना की अपनी खास विशेषता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है यह सामान्य वचन है। इसके विस्तृत और यथावत् स्वरूप का परिज्ञान इसमें बहुतही विशद रूपसे कराया गया है। वर्तमान समय में निश्चय–व्यवहार की यथावत मर्यादा के विषय में बडी खींचातानी होती रहती है। उसे दूर करने के लिए इससे बडी सहायता मिलती है। विवक्षित कार्य के प्रति अन्य को निमित्त किस रूपमें स्वीकार करना चाहिए इसका स्पष्ट खुलासा करने में भी यह रचना बेजोड है। ऐसे अनेक सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रश्न हैं जिनका सम्यक् समाधान भी इससे किया जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधारपर आचार्य विद्यानन्द का वास्तव्य काल वि. सं ८ वीं शताब्दि का उत्तरार्ध और ९ वीं शताब्दि का पूर्वार्ध निश्चित होने से यह रचना उसी समय की समझनी चाहिए।

---

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना, पृ. ८८।

४. अन्य टीकासाहित्य

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का विस्तृत और सांगोपांग विवेचन करनेवाली ये तीन रचनाएं मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तत्त्वार्थवृत्ति आदि और भी अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाएं हैं। हिन्दी, मराठी और गुजराती आदि अन्य अनेक भाषाओं में भी तत्त्वार्थसूत्र पर छोटेबडे अनेक विवेचन लिखे जा चुके हैं। यदि तत्त्वार्थसूत्र पर विविध भाषाओं में लिखे गये सब विवेचनों की सूची तैयार की जाय तो उसकी संख्या सौ से अधिक हो जायगी। इसलिए उन सब पर यहाँ न तो पृथक रूप से प्रकाश ही डाला गया है और न वैसी सूची ही दी गई है।

श्वेताम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का क्या स्थान है यहाँ तक इसका विचार किया। आगे संक्षेप में श्वेताम्बर परम्परा ने तत्त्वार्थसूत्र को किस रूप में स्वीकार किया है इसका उहापोह कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टधर शिष्य थे। उन्होंने किसी भव्य जीव के अनुरोध पर तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। वर्तमान में उपलब्ध सर्वार्थसिद्धि यह उसकी प्रथम वृत्ति है। सर्वार्थसिद्धि के रचियता आचार्य पूज्यपाद का लगभग वही समय है जब श्वेताम्बर परम्परा में देवार्धिगणि की अध्यक्षता में श्वेताम्बर आगमों का संकलन हुआ था। किन्तु उससे साहित्यिक क्षुधा की निवृत्ति होती हुई न देखकर श्वेताम्बर परम्परा का ध्यान दिगम्बर परम्परा के साहित्य की ओर गया। उसी के फल स्वरूप ७ वीं ८ वीं शताब्दि के मध्य किसी समय उमास्वाति वाचक ने तत्त्वार्थसूत्र में परिवर्तन कर भाष्यसहित तत्त्वार्थाधिगम की रचना की। उनका यह संग्रह ग्रन्थ है इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं स्वरचित एक कारिका में किया है। वे लिखते हैं—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥

इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वाति की यह स्वतन्त्र रचना नहीं है। किन्तु अन्य द्वारा रचित रचनाओं के आधार से इसका संकलन किया गया है। इनके स्वनिर्मित भाष्य में कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं जिनसे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगम और उसके भाष्य को लिपिवद्ध करते समय इनके सामने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति उनके सामने रही है।[१] उत्तर कालीन स्तुति-स्तोत्रों में स्तुतिकारों द्वारा गुणानुवाद आदि में अपनी असमर्थता व्यक्त करने के लिये जैसी कविता लिपिबद्ध की गई उसका पदानुसरण इन्होंने स्वरचित कारिकाओं में बहुलता से किया है। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी यह रचना ७ वीं ८ वीं शताब्दि से बहुत पहले की नहीं होनी चाहिए। उदाहरण देखिए।

---

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना ४४-४५ आदि।

व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयेत् ।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ।।

इन्होंने अपनी रचना में यह भी बतलाया है कि जिस जिनवचन महोदधि पर अनेक भाष्य लिखे गये उसको पार करने में कौन समर्थ है। यह तो सुनिश्चित है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य पर जो भाष्य लिखे गये वे सब सातवीं शताब्दि के पूर्व के नहीं है। अतः यह स्वयं उन्हींके शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थाधिगम मान्य सूत्रपाठ और भाष्य ये दोनों श्वेताम्बर आगमों पर लिखे गये भाष्योंके पूर्व की रचनाएं नहीं है।

यह श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यकी स्थिति है। इनके ऊपर हरिभद्र और सिद्धसेनगणि की विस्तृत टीकाएं उपलब्ध होती हैं। ये दोनों टीकाकार भट्ट अकलंक देवके कुछ काल बाद हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी टीकाओं में ऐसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं जो तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य के आभारी हैं। इनके बाद ऐसी छोटी बडी और भी अनेक टीकाएं समय समय पर लिखी गई हैं जिन पर विशेष ऊहापोह प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी ने तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन में किया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का संक्षेप में यह सर्वांगीण आलोडन है।

प्रवचनसार

पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे

भ. महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्माचार्य, और जंबूस्वामी तीन अनुबद्ध केवली हुए। उनके अनन्तर आ. प्रथम भद्रबाहु तक पाँच श्रुतकेवली हुए। यहाँ तक भावश्रुत और द्रव्यश्रुत की मौखिक परम्परा अविच्छिन्न चलती रही। पश्चात कालदोष से अंगपूर्व ज्ञान का क्रम से ऱ्हास होता गया। पाँच छह्सो वर्ष के नन्तर अंगश्रुत का लोप हुआ और पूर्वज्ञान का कुछ अंशमात्र ज्ञान शेष रहा। भविष्य में आगम की परम्परा अविच्छिन्न चलती रहे इसलिए जिनश्रुत अक्षरनिबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

आचार्य धरसेन को अग्रायणी पूर्व के कुछ प्राभृतों का ही ज्ञान था और आचार्य गुणधर को ज्ञान-प्रवाह पूर्व के कुछ प्राभृतों का ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त था। यह स्वल्प ज्ञान भी नष्ट न हो इस उद्देश से आचार्य धरसेन ने शिष्योत्तम पुष्पदंत और भूतवली को योग्य परीक्षा करके अपनी विद्या दी। उन्होंने ही धवल, जयधवल और महाधवल इनके मूलसूत्र षटखण्डागम की रचना की।

आचार्य गुणधर के द्वितीय श्रुतस्कध का ज्ञान गुरुपरम्परा से आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त था। इन्हें ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशम वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उसकी भावभंगी पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों में अक्षरनिबद्ध हुई। आज तक उपलब्ध सामग्रीनुसार निष्पक्ष संशोधन द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द का काल ईसवी शताब्दि प्रथम शति सिद्ध होता है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग व अध्यात्मविद्या इसका निरूपण सरल और सुबोध शैली में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में ही देखने में आता है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का मुमुक्षु जीवों पर महान् उपकार है। आज उन युगप्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द का जो साहित्य उपलब्ध है उसमें कतिपय प्राभृत, द्वादशानु-प्रेक्षा, प्राकृत भक्तिपाठ, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि शास्त्र हैं। पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार ये तीन ग्रन्थ अनमोल और महत्त्वपूर्ण हैं। वे 'ग्रन्थत्रयी' या 'प्राभृतत्रयी' नाम से विख्यात हैं। इन ग्रन्थों में तथा उनके अन्य साहित्य में ज्ञान की मुख्यता से आत्मतत्त्व का और मोक्षमार्ग का निरूपण है। ग्रन्थों के नामों से ही साधारणतः प्रतिपादित विषयों का बोध हो जाता है। श्रीसमयसार में युक्ति, आगम, स्वानुभव और गुरुपरम्परा इन चारों प्रकार से आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझाया है। पञ्चास्ति-काय में कालद्रव्य के साथ पाँच अस्तिकायों का और नवतत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में आया है। प्रवचनसार में यथानाम जिनप्रवचन का सार संक्षेप में ग्रथित किया गया है। यह ग्रन्थत्रयी या प्राभृतत्रयी या उनका कुछ अंश को अपना आधार बनाकर उत्तरकालवर्ति अनेक आचार्यों ने और ग्रन्थकारों ने ग्रन्थनिर्मिति की है।

ग्रंथकार आचार्य प्रवरने प्रस्तुत ग्रंथमें प्रारंभमें ही वीतराग चारित्रके लिए अपनी तीव्र आकांक्षा प्रकट की है। दिगंबर परंपरा में सर्वमान्य ऐसे भावलिंगी दिगंबर साधु थे। आकांक्षा शुद्धोपयोग की होने पर भी मध्य में शुभोपयोग की भूमिका आती है और प्राणिमात्र का कल्याण चाहनेवाली परोपकारिणी बुद्धि से भव्य प्राणियों के हित के लिए मंगलमय साहित्य का निर्माण हुआ है। इस ग्रंथ में बार बार क्रमापतित सराग चारित्र को पार करके वीतराग चारित्ररूप परम समाधि की भावना प्रगट हुई है।

सामान्य रीति से षटद्रव्य स्वरूप भूमिका के आधार से मोक्षमार्ग का और मोक्षमार्ग के विषयभूत सप्त तत्त्वों का वर्णन उनके साहित्य की अपनी विशेषता है। आचार्य देव सरल भाषा में विषय के हार्द को छूते हुए विषय स्पष्टीकरण के लिए ही यत्रतत्र उपमा दृष्टान्तादिक आये हैं। जीवन साधना और असाधारण बुद्धिमत्ता से इन प्रतिपाद्य विषयसंबंधी उनका अधिकार उनके साहित्य में स्पष्टरूपेण प्रगट होता है। श्री समयसार में शुद्ध नय से, परम भावग्राही द्रव्यार्थिक नय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विस्तार से वर्णन आया है। इसलिए वह ग्रंथ स्वानुभव प्रधान होकर अध्यात्म शास्त्र का मूलाधार रहा है। यह ग्रंथ मुमुक्षु की जीवनसाधना की ओर साक्षात निर्देश करता है। परन्तु इस प्रवचनसार ग्रंथ का मूल प्रयोजन वही एक होनेपर भी भूमिका और दृष्टिकोण कुछ मात्रा में स्वतंत्र रहा है। इसमें जो भी निरूपण है वह वस्तुपूरक है। निश्चय से षटद्रव्य और तत्त्वों का स्वरूप समझाकर अंत में वे समाधि की ओर ही ले जाते हैं। इस प्रकार भूमिका में भिन्नता होने के कारण ही समयसार में आचार्य भी रागादि विकार को पौद्गलिक बताते हैं, साथ में आत्मा उनका कर्ता नहीं यह भी बताते हैं। और प्रवचनसार में रागद्वेष[1] मोह से उपरंजित होने के कारण कर्मरजसे संबद्ध आत्मा को ही बंध कहा है और राग परिणामों को आत्माका ही कर्म[2] है ऐसा स्पष्ट कहा है। इन दोनों भूमिकाओं में विरोध या विसंवाद नहीं, अपितु पूर्ण सामंजस्यही है। वास्तव में प्रवचनसार में प्रदर्शित तत्त्वदृष्टि के आधारपर ही समयसार में दिखलाई हुई जीवन दृष्टि आधारित है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। प्रवचनसार के दूसरे अध्याय में ज्ञेयतत्त्व के साथ बन्धतत्त्व का निरूपण तथा पंचास्तिकाय का सप्त तत्त्वों का निरूपण और समयसार का सप्त तत्त्वों का निरूपण तथा कर्ताकर्म का निरूपण इसके उन दो ग्रन्थों में दृष्टिकोन का अन्तर स्पष्टतया प्रतीति में आता है।

प्रथम श्रुतस्कंध–ज्ञानसुखप्रज्ञापन

आचार्य प्रवर ने जिनप्रवचन का हार्द इस ग्रंथ के तीन श्रुतस्कंधों[3] में विभक्त करके प्रगट किया है। प्रथम श्रुतस्कंध में आत्मा के ज्ञान स्वभाव व सुखस्वभाव का वस्तुपूरक कथन है। आचार्य स्वयं वीतराग चारित्र की प्राप्ति चाहते हैं क्यों कि वीतराग चारित्र से ही मोक्ष होता है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

---

१. स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं॥ १८६॥

२. प्रवचनसार, गाथा १८४

३. देखो आ. अमृतचंद्र के प्रत्येक अध्याय के समाप्ति को 'श्रुतस्कंध' ऐसा कहा है।

स्वरूप में तन्मय प्रवृत्ति का नाम चारित्र और वही आत्मा का स्वभाव होने से धर्म है, समवस्थित आत्मगुण होने से साम्य है, रागद्वेष-मोहरहित आत्मा का निर्विकार परिणाम ही साम्य है, अपने निर्विकार स्वभाव में स्थित होना ही धर्म है। धर्म कोई धर्म परिणत आत्मा से अलग वस्तु नहीं है। प्रत्येक वस्तु परिणाम स्वरूप है। आत्मा भी परिणमन स्वभावी होने से स्वयं अशुभ, शुभ या शुद्ध परिणमता है। शुद्धोपयोग से परिणत धर्मी आत्मा मोक्ष सुख को शुभोपयोग से परिणत धर्मी जीव स्वर्गसुख को और धर्मपराङ्मुख अशुभोपयोग से परिणत आत्मा तिर्यंचनरकादि गतिसंबंधी दुःख को प्राप्त करता है। शुद्धोपयोगी धर्मात्मा धर्मशास्त्र और वस्तुतत्त्व का ज्ञाता, संयमतप से युक्त विरागी और समतावृत्ति का धारक होकर कर्म रजको दूर करके विश्व के समस्त ज्ञेयव्यापी ज्ञानस्वभावी आत्मा को स्वयं अन्य किसी भी कारक की अपेक्षा किये बिना ही प्राप्त करता है।

निश्चय से आत्मा का परके साथ कारक संबंध न होने से बाह्य साधन की चिंता से आकुलित होने की उसे आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और सुख आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव में पर की अपेक्षा होती नहीं, इसलिए स्वयंभू आत्मा को इन्द्रियों की अपेक्षाविना ही ज्ञान और सुखस्वभाव प्रगट होता है। स्वभाव-स्थित केवली भगवान् के शारीरिक सुखदुःख भी नहीं होता है। उनका परिणमन ज्ञेयानुसार न होकर, मात्र ज्ञानरूप होने से सर्व पदार्थ समूह अपने-अपने समस्त पर्याय सहित उनके ज्ञान में साक्षात् झलकते है। उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं होता। उनका ज्ञान सर्वग्राही होने से आत्मा भी उपचार से 'सर्वगत' कहलाता है। चक्षु विषय में प्रवेश न करके भी देखता है उसी तरह जानते समय ज्ञान ज्ञेय में न जाता है न ज्ञेय ज्ञान में जाते है। आत्मा स्वभाव से जाननेवाला है। पदार्थ स्वभाव से ज्ञेय है। उनमें ज्ञेय ज्ञायक रूप से व्यवहार होता है वह परस्पर की अपेक्षा से होता है।

आत्मा और अन्य पदार्थ इनमें ज्ञेयज्ञायक व्यवहार होनेपर भी न आत्मा पदार्थों के कारण ज्ञायक या ज्ञाता है तथा न पदार्थ भी ज्ञान के कारण ज्ञेय है। आत्मा स्वभाव से ज्ञानपरिणामी हैं और पदार्थ स्वभाव से ज्ञेय है। आत्मा के ज्ञान में ज्ञान की स्वच्छता के कारण पदार्थ स्वयं ज्ञेयाकार रूप से झलकते हैं, प्रतिबिंबित होते हैं। स्वयंभू आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक रूप से परिणमता हुआ अतीन्द्रिय होने से उस ज्ञान की स्वच्छता में सर्व पदार्थ समूह अपने पर्यायसमूह सहित प्रतिबिंबित होते हैं, और आत्मा ऐसे सहज ज्ञानरूप से परिणमित होकर अपने स्वभाव के अनुभव में तन्मय होता है। ज्ञान में संपूर्ण वस्तुमात्र अंतर्व्याप्त होने से ज्ञान उपचार से 'सर्वगत' कहलाता है। वैसे ही आत्मा ज्ञानप्रमाण होने से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेय वस्तुमात्र होने से आत्मा भी 'सर्वगत' कहलाता है। तथा ज्ञानगत ज्ञेयकारों का कारण बाह्य में उपस्थित पदार्थों के आकार होने से उपचार से ज्ञेयभूत पदार्थ भी 'ज्ञानगत' कहलाते हैं।

ऐसा कथन व्यवहार ही है। वास्तव में जानतेसमय आत्मा नेत्र की तरह कहीं ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होता तथा ज्ञेय वस्तु भी अपना स्थान छोडकर ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होती। दोनों में ज्ञायक तथा ज्ञेय स्वभाव के कारण ऐसा व्यवहार होता है। मानो स्वाभाविक ज्ञान ने समस्त ज्ञेयाकारों को पीलिया हो ऐसा कारण ज्ञेयज्ञायक व्यवहार के कारण ही ज्ञान सर्वगत और जीव सर्वज्ञ कहा जाता है। वास्तव में अन्तरंग

दृष्टि से ज्ञान आत्मसंवेदन में ही रत है। इस कथन से कहीं सर्वज्ञता की मान्यता और सिद्धि में बाधा नहीं समझना चाहिए। कारण यह है की उस स्वाभाविक ज्ञान में अशेष पदार्थसमूह ज्ञेयाकाररूप से झलकता है यह वस्तुस्थिति है। 'भगवान् सर्वज्ञ है' ऐसा कहने में आचार्यों का आशय केवल यही समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यवहार से आत्मा की अर्थों में अर्थों की ज्ञान में परस्पर वृत्ति होने पर भी केवली भगवान् उन अर्थो को न ग्रहण करते हैं, न छोडते हैं, न उन पदार्थों के रूप में परिणमित होते हैं, वे मात्र उन्हें जानते ही हैं। ऐसा ज्ञान केवली-भगवान् को ही होता हो और अल्पज्ञों का नहीं होता हो ऐसी आकांक्षा से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है स्वभाव का संवेदन तो श्रुत ज्ञान में भी सर्वत्र होता है।

किसी भी सम्यग्ज्ञान में या श्रुतज्ञान में जो क्षयोपशमिकता या सूत्र की उपाधि रहती है, उससे उसकी समीचीनता में या ज्ञान स्वभाव में कोई बाधा नहीं आती, वस्तु दृष्टि से ज्ञान की उपाधि गौण होती है। ऐसी स्थिति में ज्ञप्ति के सिवा और शेष रहता ही क्या? आत्मा के ज्ञानस्वभाव की श्रद्धापूर्वक ज्ञान चारित्र की साधना से, शुद्धोपयोग से शुद्ध आत्मा की साक्षात् प्राप्ति होती है।

इस ज्ञप्ति स्वभाव के कारण ही ज्ञान स्वपरिच्छेदक कहा जाता है। ज्ञेय संपूर्ण विश्ववर्ती अशेष-पर्याय सहित पदार्थसमूह है। इन्द्रिय ज्ञान की विषय-मर्यादा वर्तमान पर्यायों तक ही सीमित होती है। परंतु अतीन्द्रिय ज्ञान में अतीत और अनागत पर्यायें भी वर्तमान की तरह ही प्रतिबिंबित होती हैं, जैसे भित्ती पर भूत या भावी तीर्थंकारों के चित्र उत्कीर्ण होते हैं उसी तरह ज्ञान स्वभाव की अपनी विशिष्ट दिव्यता है।

समस्त पदार्थ ज्ञान में झलकते हुए भी उस स्वाभाविक ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों के अनुसार रागपरिणति नहीं होती। यदि ज्ञान का ज्ञेयानुसार परिणमन है तो वह ज्ञान न क्षायिक है न अतींद्रिय है। ज्ञान के कारण ज्ञेय परिणति नहीं होती, ज्ञेय परिणति तो उदय प्राप्त कर्मों में राग द्वेष के कारण ही होती है। भगवान् को उक्त प्रकार की ज्ञेयार्थ परिणमन रूप क्रिया होती ही नहीं, मात्र ज्ञप्ति-क्रिया होती है। यहाँ यह आशंका हो सकती है कि भगवान् के स्थान विहार आदि क्रियाएँ कैसी पाई जाती है?[1] उत्तर यह है भगवान के उक्त क्रिया अघाति कर्मोदय के फल रूप से पायी जाती है, किन्तु वे मोह के बिना इच्छा बिना ही घाति कर्म के क्षय से अविनाभावी होने के कारण उपचार से क्षायिक कही जाती है। क्रिया का बन्ध रूप कार्य भी वह नहीं पाया जाता है। इससे अन्य छद्मस्थ और मोहोदयापादित प्राणीयों की क्रियाएँ भी उनके स्वभाव में विघात नहीं करती हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्यों कि यदि ऐसा माना जायगा तो संसार भी नहीं रहेगा, आत्मा शुभाशुभरूपेण परिणमित होता हुआ कर्म संयोग को प्राप्त होता है। केवली भगवान् की क्रियाएँ राग बिना सहज रूप से पायी जाती है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ४४-४५.

जिसके ज्ञान में अशेष पदार्थों के आकार नहीं झलकते उसके समस्त ज्ञेयाकाररूप ज्ञान में न्यूनता होने के कारण संपूर्ण निरावरण स्वभाव की भी साक्षात प्राप्ति न होने से एक आत्मा को भी वह पूर्णतया नहीं जानता और समस्त ज्ञेयाकारों कों समा लेनेवाले आत्मा के ज्ञान स्वभावों को नहीं जानता, वह सर्वको भी नहीं जानता[1] इस कथन में आचार्य का अभिप्राय अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वभाव का दिग्दर्शन करना मात्र है। इससे भगवान् यथार्थ में परमार्थ से आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहे जाते हैं वास्तव में सर्वज्ञता नहीं है ऐसा फलितार्थ आचार्यों को अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय स्वाभाविक ज्ञान में समस्त ज्ञेयाकार झलकते हैं यह आत्मा की स्वच्छता शक्ति है और यह वस्तुस्थिति है।

इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञान इन्द्रियादिकों की अपेक्षा बिना ही त्रैकालिक, विविध, विषम, विचित्र पदार्थ समूह को युगपार जानता है ऐसा ज्ञान का स्वभाव आत्मा का सहज भाव है।

जैसा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का स्वभाव ही है। जिस प्रकार इंद्रिय-ज्ञान पराधीन है, ज्ञेयों में क्रम से प्रवृत्त है, अनियत और कदाचित होने से वह हेय है और अतीन्द्रिय ज्ञान स्वाधीन है; युगपत् प्रवृत्त है, सर्वदा एकरूप है और निराबाध होने से उपादेय है उसी तरह इंद्रिय सुख और अतिन्द्रिय सुख के विषय में क्रमशः हेयोपादेयता समझनी चाहिए। यथार्थ में सुख ज्ञान के साथ अविनाभावी है यही कारण है कि केवल ज्ञानी को पारमार्थिक सुख होता है और परोक्ष ज्ञानीयों का सुख अयथार्थ सुख एवं सुखाभास ही होता है। कारण स्पष्ट है। प्रत्यक्ष केवल ज्ञान के अभाव में परोक्ष ज्ञान में निमित्तभूत इन्द्रियों में जीवों की स्वभाव से ही प्रीति होती है, वे तृष्णा रोग से पीडितं होते हैं और उस तृष्णा रोग के प्रतीकार स्वरूप रम्य विषयों में रति भी होती है, इसलिए असहाय प्राणी क्षुद्र इन्द्रियों में फसे हैं उन्हें स्वभाव से ही आकुलतारूप दुःख होता है। नहीं तो वे विषयों के पीछे क्यौ दौडधूप करते ? विचार करने पर वास्तव में शरीरधारी अवस्था में भी शरीर और इन्द्रियां सुखका कारण हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। उनमें मोह रोग द्वेष मूलक होनेवाली इष्टानिष्ट बुद्धि मात्र सांसारिक सुखदुःखका यथार्थ कारण है। वहाँ पर भी स्वयं आत्मा ही इन्द्रिय सुखदुःख रूप से परिणत देखा जाता है। दिव्य वैक्रियिक शरीर भी देवों को सुख का वास्तव में कारण नहीं है, आत्मा ही स्वयं इष्टानिष्ट विषयों के आधिन होकर सुखदुःख की भावना करता है। तात्पर्य यह है आत्मा स्वयं सुख स्वभावी होने से उस सांसारिक सुखदुःख में भी शरीर, इन्द्रिय और विषय अकिंचित्कर ही है। सूर्य जैसा स्वयं प्रकाशी है वैसे प्रत्येक आत्मा स्वयं सिद्ध भगवान् की तरह सुख स्वभावी है।

शुभोपयोगरूप पुण्य के निमित्त से उत्तम मनुष्य और देवादिकों के संभवनीय भोग प्राप्त होते हैं और अशुभयोग रूप पाप से तिर्यंचगति, नरकगति, और कुमनुष्यादिक संबंधी दुःख प्राप्त होते हैं, परंतु उक्त सब भोग संपन्न और दुःखी जीवों को समान रूप से तृष्णारोग तथा देह-संभव पीडा दिखाई देने से वे वास्तव में दुःखी ही हैं। इसलिए तत्त्व दृष्टि में शुभाशुभ भेद घटित नहीं होते कारण यह है कि पुण्य भी वस्तुतः सुखाभास और दुःख का कारण है। पुण्य निमित्तक सांसारिक सुख विषयाधीन है, बाधा

---

१. प्रवचनसार, गाथा ४८-४९.

सहित है, असतोदय से खण्डित है, बंध का कारण है और विषम होने से वास्तव में दुःख ही है। इसलिए तत्त्व दृष्टि पुण्य पाप में भेद नही करती।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्य पावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो ॥ ७७ ॥

जो पुण्य–पाप में संसार कारणरूप से समानता स्वीकृत नहीं करता वह अभिप्राय में कषाय को उपादेय माननेवाला मिथ्यादृष्टि होने से अनन्त संसार का ही पात्र है। तत्त्व को यथार्थ जानकर परद्रव्य में रागद्वेष न करता हुआ जो शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त करता है वही देहजन्य दुःख नष्ट करता है। यदि पाप से परावृत्त होकर भी शुभ में मग्न होता है और मोहादिकों को छोडता नहीं है तो वह भी दुःख नष्ट करके अपने शुद्धात्मा को नहीं पा सकता। अतः मोह का नाश करने के लिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को बद्धपरिकर होना चाहिए। उस मोह राजा के सेना को जीतने का उपाय कौनसा हो सकता है यह एक गंभीर प्रश्न है। उसके लिए अरिहन्त परमात्मा उदाहरणस्वरूप है। उनका आत्मा शुद्ध सुवर्ण की तरह अत्यन्त शुद्ध है। उनके द्रव्यगुणपर्याय द्वारा यथायोग्य ज्ञान से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। प्रत्येक जीव का आत्मा और गुण द्रव्य दृष्टि से (शक्ति अपेक्षा से) अरहन्त के समान ही है, पर्याय में अन्तर है। शुद्धदशा प्राप्त आत्मा अशुद्ध भूमिकापन्न जीवों के लिए साध्य है। शुद्ध ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से पर्याय भेद और गुणभेद की वासना को द्रव्य में अतर्मग्न करके शुद्धोपयोग द्वारा ही मोहकषाय की सेना जीती जा सकती है। वही हमारे लिए मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग में व्यवहार की जो प्रतिष्ठा है वह इसही प्रकार है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए अरिहन्तादि के स्वरूप का ज्ञान कारण है, इतना ही देवशास्त्रगुरु का प्रयोजन है। मोक्ष की प्राप्ति तो स्वयं पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोग का राजमार्ग सही–सही स्वीकारने से ही होगी।

शुद्धात्मरूप चिंतामणी रत्न की रक्षा के लिए रागद्वेषरूपी डाकुओं से नित्य सावधान रहना जरुरी है। शुद्धात्म स्वभाव से च्युत करने वाले मोह का स्वभाव और उसकी रागद्वेष मोहमयी त्रितयी भूमिका को जानकर उनसे बचना कार्यकारी है। रागद्वेष मोह से परिणत जीव ही कर्मबन्ध के चक्कर में आते है। पदार्थ के स्वरूप का अयथार्थ ग्रहण, विशेषतः तिर्यंच मनुष्यों में जायमान करुणाबुद्धि (एक जीव दुसरे को बचा सकता है ऐसी भावना बाह्यतः दयारूप दिखती है परन्तु उसमें पर के कर्तृत्व का व्यामोहरूप अंधकार से व्याप्त है।) इष्ट विषयों की प्रीति जो रागरूप है तथा अनिष्ट विषयों की अप्रीति जो द्वेषरूप है ये मोह के चिन्ह है जानकर तीन भूमिका स्वरूप मोह का नाश करना चाहिए।

अरहन्त के स्वरूप समझने के साथ जिनशास्त्र का अध्ययन यह भी मोहक्षय का कारण है। जिनशास्त्र में निर्दिष्ट वस्तु व्यवस्था को जानकर प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता का बोध करने से ही पर-संबंधी राग द्वेष दूर होते हैं और मोह क्षीण होता है। आगमाभ्यास से स्वपर का भेद विज्ञान और स्वपर भेद विज्ञान से वीतराग भावों की वृद्धि होती है। यथार्थतः वीतराग चारित्र में स्थित आत्मा ही साक्षात धर्म है।

दूसरा श्रुतस्कंध ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन है। उसमें प्रथम २२ गाथाओं में पदार्थ के द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप का अपूर्व वर्णन है, जो प्रतीति कराने वाला, तलस्पर्शी और अत्यंत मार्मिक है। यह आचार्य

के अनुभव का साक्षात दर्शन हो पाता है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यमय है; द्रव्य अनन्त विशेषों का–गुणों का आधार है, तथा गुण पर्याय और द्रव्य पर्यायों का पिण्ड है। जो अपने अस्तित्व स्वभाव को छोडे बिना उत्पाद व्यय ध्रौव्य से और गुण पर्यायों से युक्त होता है वही द्रव्य है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा द्रव्य गुण, और पर्याय इनका अस्तित्व एक ही है, उनमें लक्षण भेद होने पर भी उनमें प्रदेश भेद या वस्तु भेद नहीं है। एक सत्ता गुण से संपूर्ण वस्तु मात्र का ग्रहण होता है वही महासत्ता कहलाती है। वस्तु अस्तित्व युक्त होने पर अपने–अपने गुणपर्यायों में ही वह अस्तित्व व्याप्त होता है वही अवान्तर सत्ता या स्वरूप सत्ता कहलाती है। एक ही अस्तित्व का यह दो तरह का कथन है। वह अस्तित्व स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। द्रव्य प्रति समय परिणमन शील है वह नवीन पर्याय से उत्पन्न होता है। उसी समय पूर्व पर्याय से नष्ट होता है, फिर भी द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इसी तरह प्रत्येक पर्याय भी उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप सिद्ध होती है। द्रव्य अनंत पर्यायों का पिण्ड है। एक द्रव्य पर्याय अनंत गुण पर्यायों का आधार और द्रव्य अनंत द्रव्य पर्यायों का पिण्ड होता है। जिस प्रकार मोतियों की माला में प्रत्येक मोती अपने–अपने स्थान में प्रकाश मान है उसी तरह प्रत्येक पर्याय अपने–अपने काल में क्रम से होती है। इसलिए वस्तु का अस्तित्व अतद्भाव से युक्त दिखाई देता है (उसे असदुत्पाद कहते है) और वस्तुपने से तद्रूप से भी दिखाई देता है (उसे सदुत्पाद कहते है)। द्रव्य, गुण, पर्यायों में अन्यत्व (लक्षण भेद) होकर भी पृथक्त्व (प्रदेश भेद) नहीं है। द्रव्य में नित्यानित्यता, तद्रूप और अतद्रूप सदुत्पाद और असदुत्पाद गौण–मुख्य व्यवस्था के आधीन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से सिद्ध होते है। इस प्रकार अनेकान्त से जैन प्रणीत वस्तु व्यवस्था भली भांती सिद्ध होकर कार्य कारण भाव को भी सिद्ध करती है।

यह वस्तु व्यवस्था कार्यकारण भावपूर्वक सुवर्णकंकण–पीतता, वीजांकुर वृक्ष आदि दृष्टान्तों से स्पष्ट समझायी गयी है।

जीव का निर्णय करना प्रयोजन होने से उक्त सामान्य द्रव्य स्वरूप का विचार उदाहरणस्वरूप जीव के उत्पादव्ययध्रौव्य या गुणपर्याय रूप से किया गया है। संसार में आत्मा की नरनारकादि अवस्थाएं दिखाई देती हैं उनमें शाश्वत कोई नहीं है। संसार में जीव के रागादिरूप विभाव परिणति स्वरूप क्रियाएँ अवश्य होती हैं उसका ही फल ये अशाश्वत नरनारकादि पर्याएँ है। आत्मा की सविकार परिणति आत्मा का कर्म ही है, उनका निमित्त पाकर बना हुआ पुद्गल परिणाम भी कर्म कहा जाता है और मनुष्यादि अवस्थाएँ उन कर्मों का फल है। वे कर्म ही जीव स्वभाव का पराभव करके उन पर्यायों को उत्पन्न करते है। परमार्थ रूप से विचारा जाय तो कर्म जीव के स्वभाव का घात या आच्छादन नहीं करता, किन्तु आत्मा स्वयं अपने अपराध के कारण अमूर्तत्व स्वभाव को प्राप्त न करके विकारी होता है।

इस तरह आत्मा द्रव्यरूप से नित्य होनेपर भी पर्याय से अनवस्थित अनित्य है। उसमें संसार ही हेतु है क्यों कि संसार स्वरूप से अनवस्थित ही है। संसाररूप क्रिया परिणाम या संसरण रूप क्रिया क्षणिक है, वही द्रव्य कर्म के बंध का हेतु है। और उस परिणाम का हेतु भी अनादि परंपरा से बद्ध आत्मा का पूर्वबद्ध कर्म का उदय है। वास्तव में तो आत्मा अपने विकारी भाव कर्मों का कर्ता है, द्रव्य कर्म का नहीं और पुद्गल स्वयं अपने पर्यायों का कर्ता है कर्मरूप पुद्गलभावों का जीवरूप भावकर्म का नहीं।

चैतन्य यह आत्मा का व्यापक धर्म होने से ज्ञान स्वभावी आत्मा का परिणमन चैतन्य रूपसे ही होता है। वह चेतना परिणति ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूपसे तीन प्रकार होती है। ज्ञान स्वभाव से होनेवाला परिणमन 'ज्ञानचेतना' है, कर्तृत्व रूपसे वेदन 'कर्मचेतना' है और भोक्तृत्व रूपसे वेदन 'कर्मफलचेतना' है। यथार्थ में अन्य द्रव्य की विवक्षा न होने से वे तीनों चेतनाएँ आत्मरूप ही है।

इस प्रकार ज्ञेयरूप आत्माके शुद्ध स्वरूप के निश्चय से आत्मा के ज्ञान स्वभाव की सिद्धि होती है और शुद्धात्म लाभ भी होता है। आत्मा संसाररूप या स्वभाव परिणमनरूप स्वयं अपने आप परिणत होता है इसलिए वह स्वयं कर्ता है। स्वयं ही तीनों प्रकारकी परिणतियों में साधकतम करण है, वह स्वयं का ही परिणाम होने से स्वयं ही कर्म है और आकुलतारूप सुखदुःखरूप या अतीन्द्रिय अनाकुल सुखरूप स्वयं ही होने से वह स्वयं कर्मफल है। इस प्रकार एकत्व भावना से परिणत आत्मा को परपरिणति नहीं होती, परद्रव्य से असंपृक्त होने से विशुद्ध होकर पर्यायमूढ न होता हुआ वह स्वयं सुविशुद्ध होता है।

यहाँ तक ५३ गाथाओं में ज्ञेयत्वका सामान्य और विशेष वर्णन होता है। एक आत्मद्रव्य ज्ञानरूप है और आत्मासहित द्रव्यमात्र ज्ञेय है। संसार में भी प्राणोंके द्वारा आत्म 'द्रव्य' अचेतन द्रव्यों से पृथक पहिचाना जाता है। इन्द्रिय, बल, आयु और आणप्राण इन चार प्राणोंसे पूर्व में जिया है, जिता है और जियेगा इसलिए यद्यपि वह जीव कहलाता पर वे प्राण पुद्गलकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने के कारण तथा पौद्गलिक कर्म का हेतु होने से वे चारों ही प्राण पौद्गलिक है। इन प्राणोंद्वारा जीव कर्मफल भोगता हुआ रागीद्वेषी होकर स्वपर के द्रव्यभावरूप प्राणों का व्याघात करके कर्मबंध करता है। इस पुद्गलमय प्राणों की संतति का अंतरंगहेतु पुद्गलकर्मोदय निमित्तक रागादिक तथा शरीरादिकों में ममत्व है। जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके अपने उपयोग स्वरूपी आत्मा में लीन होता है उसके प्राण संतति का उच्छेद होना है।

नरनारकादि गतिविशेषों से भी व्यवहार से जीव जानने में आता है। गतियों में अन्य द्रव्य का संयोग होने पर भी आत्मा अपने चेतनस्वरूप द्रव्यगुण पर्याय के द्वारा जडरूप द्रव्यगुण पर्यायों से अलग ही है। ऐसा स्वपर भेद विज्ञान आवश्यक है। पर द्रव्यसंयोग का कारण शुभाशुभ सोपराग (विकाररंजित) उपयोग-विशेष है। उपयोग शुभ है तो पुण्यप्राप्ति होती है और अशुभ है तो पापसंचय होता है। उपयोग सोपराग न होने पर आत्मा शुद्ध कहलाता है; वह परद्रव्य संयोग का अहेतु है। अरहन्त सिद्धसाधुओं की भक्ति, जीवों की अनुकम्पा यह शुभोपयोग है तथा विषय कषायों में मग्नता, कुविचार, दुश्रुति तथा कुसंगति उग्र कषाय के कारण आदि अशुभोपयोग है। और ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीनता या तन्मयता शुद्धोपयोग है। शरीर वचन मन ये सब पौद्गलिक होने से परद्रव्य है। आत्मा उन परद्रव्यों का न कर्ता है न कारयिता है। उन मनवचनकायरूप पुद्गल पिण्डों की रचना या बन्ध पुद्गल के ही स्निग्धत्व और रुक्षत्व के कारण होनेवाली बन्ध पद्धति से होती है। उस पुद्गल-पुद्गल के बन्ध का विस्तार से वर्णन आया है। सब पृथ्वी जलादि द्वयणुकादि स्कंध अपने अपने परिणामों से होते है। आत्मा उन पुद्गल पिण्डों का न कर्ता है न नेता है। कर्मरूप पुद्गल पिण्डों का भी आत्मा कर्ता नहीं है, शरीर का भी नहीं है। आत्मा औदारिकादि शरीररूप भी नहीं है।

अरसमरुवमगंधं अवत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥१७२॥

आत्मस्वरूप विधिमुख से और प्रतिषेधरूप से इस गाथा में कहा है । इस गाथा की टीका में तो आत्मा की परनिरपेक्ष स्वायत्तता का पुकार पुकार कर उद्घोष ही किया है । इसकी टीका में टीकाकार आचार्य की प्रज्ञा गहराई के साथ वस्तु के स्वरूप को स्पर्शती है ।

ऐसे अमूर्त आत्मा को स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने पर बन्ध कैसे होता है ऐसा मौलिक प्रश्न उपस्थित करके उसका सुविस्तृत उत्तर १७४ से १९० तक १७ गाथाओं में विवेचनपूर्वक आया है ।

प्रश्न अपने में मौलिक है । आचार्यों का उत्तर भी मौलिक है । आत्मा रूपी पदार्थ को जैसे देखता है जानता है, वैसे उसके साथ बद्ध भी होता है । अन्यथा अरूपी आत्मा रूपी पदार्थ को कैसे जानता देखता ? यह प्रश्न भी उपस्थित होना अनिवार्य है । ज्ञान की स्वच्छता में पदार्थ का प्रतिबिंब सहज होता है । आत्मा का संबंध उन ज्ञेयाकारों से है न कि पदार्थों से, परंतु उन ज्ञेयाकारों में पदार्थ कारण होने से आत्मा उन रूपी पदार्थों को जानता है ऐसा कहा जाता है । ठीक उसी तरह आत्मा का संबंध तो आत्मा में परद्रव्य के एकत्वबुद्धि से जायमान रागद्वेषमोहरूप सोपराग उपयोग है उससे है । हां ! उस सोपराग उपयोग में कर्म या अन्य पदार्थ निमित्त मात्र होने से आत्मा को उन पदार्थों का वंधन है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है । तत्त्वतः परद्रव्य के साथ आत्मा का कोई संबंध नही । यथार्थ में कार्यकारण भाव भी एक द्रव्याश्रित होता है, इसलिए आत्मा के लिए वास्तविक बंध तो उसके एकरूप चेतन–परिणाम में जो सोपराग उपयोग है वह है । उससे आत्मा का संबंध है । तन्मयता है, एकत्व परिणाम है, वही बंध है । इसलिए उस सोपरक्त उपयोग को ही भाव वंध कहते हैं । आत्मा में परिस्पन्द के कारण कर्मों का आना चालू रहता है, और यदि आत्मा विकारों से उपरक्त है अर्थात भाववंधरूप है तो वे समागत कर्म आत्मा में ठहरते है, चिपकते है इसलिए भावबंध ही द्रव्यबंध का कारण होने से प्रधान कहा गया है । यह सोपरक्त उपयोग ही स्निग्धरूक्षत्व की जगह जीव बंध है, कर्म का अपने स्निग्धरूक्षत्व के साथ जो एकत्व परिणाम है वही अजीव बंध है और आत्म प्रदेश तथा कर्म प्रदेशों का विशिष्ट रूप से अवगाह एक दूसरे के लिए निमित्त हो इस प्रकार का एक क्षेत्र अवगाह सो उभय बंध है । इस प्रकार बंध मोक्ष का यह सार है कि रागी कर्म बांधता है और वीतरागी कर्मों से मुक्त होता है ।

वह सोपराग परिणाम मोहरागद्वेष से तीन प्रकार का है । उनमें मोह और द्वेष तो अशुभ है और परिणाम शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है । शुभपरिणाम पुण्य बन्ध का कारण होने से पुण्य तथा अशुभ परिणाम पापकर्मों का कारण होने से पाप कहा जाता है । यह त्रिभूमि का रूप सोपराग परिणाम परद्रव्य प्रवृत्त एवं पर लक्ष्य से ही होते है । आत्मा का निरूपराग शुद्ध उपयोग मात्र स्वद्रव्य सापेक्ष एवं स्वलक्ष्य के कारण होने से, स्वद्रव्य प्रवृत्त है । तथा यथाकाल कर्मक्षय का और स्वरूप प्राप्ति का कारण है ।

पृथ्वीकायादि षट् जीवनिकाय कर्मनिमित्तक, कर्मसंयुक्त और कर्म का हेतु होने से परद्रव्य है और आत्मा चैतन्य स्वभाव से उनसे भिन्न है, ऐसा भेद विज्ञान ही स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है और सोपरक्त उपयोग परद्रव्य में प्रवत्ति का कारण है। आत्मा अपने परिणामों को प्राप्त होता हुआ आत्मपरिणामों का ही कर्ता है किन्तु पुद्गलमय कर्मपरिणामों का नहीं, क्यों कि स्वभावतः वह पुद्गलपरिणाम के ग्रहण त्याग से रहित है। आत्मा अपने ही अशुद्ध परिणामों का कर्ता होने से इन अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमते हुए आत्म प्रदेशों में विशेष अवगाहरूप रहते है। और यथासमय अपनी-अपनी (स्थिति समाप्त होने पर) जीव के शुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर कर्म-क्षय को पाते हैं इसलिए कर्मनिमित्तक मोहरागद्वेष से उपरक्त आत्मा कर्मरज से लिप्त होता हुआ स्वयं बन्ध है।

राग परिणाम आत्मा का कर्म है तथा आत्मा उसका कर्ता है यह निश्चय नय है और कर्मरूप पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म और आत्मा उनका कर्ता यह व्यवहारनय है। दोनों नय है क्यों कि दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति होती है परन्तु स्वद्रव्य के परिणाम को बतलानेवाला निश्चयनय मोक्षमार्ग में साधकतम होने से उपादेय है। क्यों कि जो जीव विकारी आत्मा स्वयं बन्ध है ऐसी स्वभाव की अपेक्षा-सहित स्वीकार करना है वह परद्रव्य और परभावों से स्वयं को असंपृक्त रखता है। व्यवहार से निमित्त का ज्ञान करके उससे लक्ष हटाना ही कार्यकारी होने से व्यवहारनय हेय है साथ ही साथ निश्चयनय के आलंबन से पर से लक्ष्य हटाकर, ज्ञान स्वभाव के आश्रय से शुद्ध आत्मा के सम्मुख होकर शुद्ध आत्मा की होनेवाली प्राप्ति सर्वतः श्रेयस्कर है। इसीसे मोह तथा कर्म का नाश होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की प्राप्ति होती है, जीव उसका सानुभव करता हुआ अविचल रूप से अनन्त काल रहता है।

इस तरह इस द्वितीय श्रुतस्कंध में द्रव्य का सामान्य वर्णनपूर्वक विशेष वर्णन तथा आत्मा का द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप बतलाकर शुद्धात्म द्रव्य की प्राप्ति की प्रेरणा की है।

चरणानुयोग चूलिका-तृतीय श्रुतस्कंध

सामान्य द्रव्य प्ररूपणा के उदाहरण स्वरूप जीव के द्रव्य गुण पर्याय का वर्णन तथा प्रथम अध्याय में वर्णित आत्मा और ज्ञान स्वभाव के सिद्धि के लिए विशेष द्रव्य प्रज्ञापना द्वितीय श्रुतस्कंध में कही गयी नरनारकादि पर्यायों में मूढत्व छूट कर स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की साधना एक मात्र उपाय है। आत्म द्रव्य स्वभाव के अनुसार चरण होता है, और चरण के अनुसार ही आत्म स्वभाव बनता है। दोनों सापेक्ष होने से भूमिकानुसार द्रव्य का आश्रय लेकर या चारित्र का आश्रय लेकर मोक्ष मार्ग में आरोहण करना चाहिए। द्रव्यस्वभाव की सिद्धि में चारित्र की सिद्धि है और चारित्र की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। इसलिए आत्मद्रव्य स्वभाव के अविरोधी चारित्र स्वीकार्य है, आत्म-स्वभाव की साधना चरण (चारित्र) के विना अशक्य है, श्रमण का चारित्र ही नियम से स्वभाव साधक होने से श्रमण की चर्या का वर्णन मोक्षमार्ग के वर्णन में क्रमप्राप्त होता है। जिस तरह स्वयं आचार्य ने प्रतिज्ञा के अनुसार साम्य नामक श्रामण्य का स्वीकार किया उसी तरह दुःख से छुटकारा चाहने-

वाले अन्य जीव को भी श्रामण्य का स्वीकार करना चाहिए। उसका यथा अनुभूत उपदेश आत्मा की मुख्यता से इस अध्याय में आचार्य द्वारा हुआ है।

श्रामण्यार्थी प्रथम तो पुत्र, पत्नि आदि परिवार को समझाकर उनसे विदाई लेकर उनसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का अंगीकार करता है। (२) कुलरूप वय से विशिष्ट गुणसमृद्ध आचार्य को प्रणत होकर उनके द्वारा अनुगृहीत होता हुआ जितेन्द्रिय और यथाजात दिगंबर मुद्रा धारण करता है। (३) हिंसा तथा शरीर संस्कार से रहित, केशलोंचप्रधान दिगंबर भेषरूप श्रामण्य का जो बाह्य चिन्ह है उसे और मूर्छा तथा आरंभ से रहित, परनिरपेक्ष योग उपयोग की शुद्धियुक्त जो अंतरंग चिन्ह है उनका (दीक्षा गुरुद्वारा दिये गये उन लिंगों को) ग्रहण क्रिया से समादर करता है। (४) अरहन्त देव तथा दीक्षा गुरु का नमस्कार द्वारा सम्मान करता है। क्योंकि उन्हीं के द्वारा मूलोत्तर गुण का सर्वस्व दिया गया था।

साम्य ही स्वरूप होने से श्रमण को सामायिक का स्वीकार अनिवार्य है। अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना ही सामायिक है। सामायिक का स्वीकार करने पर भी निर्विकल्प भूमिका से च्युत होकर पंचमहाव्रत, पंचसमिति, पांच इन्द्रियों का जय, छह आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खडे खडे भोजन और एकभुक्ति इन अठ्ठाईस मूलगुणरूप भेद भूमिका में आता है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग भूमिका से छूटकर सविकल्प भूमिका में आना छेद है। दीक्षागुरु ही (भेद में स्थापित करनेवाला) निर्यापक होता है, तथा वे ही या अन्य कोई भी साधु संयम का छेद होनेपर उस ही से स्थापन करनेवाला होने से निर्यापक होता है। संयम का छेद बहिरंग और अंतरंगभेद से दो तरह का है, मात्र शरीर संबंधी बहिरंग छेद का आलोचना से तथा अंतरंग छेद का आलोचना और प्रायश्चितपूर्वक संधान होता है। सूक्ष्म परद्रव्यों का भी रागादिपूर्वक संबंध छेद का आश्रय होने से त्याज्य है तथा स्वद्रव्य में संबंध ही श्रामण्य की पूर्णता का कारण होने से कर्तव्य है। आहार, अनशन, वसतिका, विहार, देह की उपाधि, अन्य श्रमण तथा आत्म-कथा की विसंवादिनी विकथाएँ इनसे प्रतिबंध (संबंध) अशुद्धोपयोग है और वह अंतरंग छेद का कारण होने से त्याज्य है। प्राण–व्यपरोपरूप बहिरंगछेद अंतरंगछेद का आश्रय होने से छेद माना गया है; किन्तु अयत्नाचार या अशुद्धोपयोग के सद्भाव में ही वह बंध करनेवाला है, उसके अभाव में नहीं। वास्तव में अयत्नाचार और अशुद्धोपयोग ही हिंसा है। चाहे प्राण व्यपरोप हो या नहीं। इस तरह केवल प्राण व्यपरोप में नियम से मुनीपणा का छेद नहीं है। किन्तु उपधि–परिग्रह बंध का कारण होने से तथा अशुद्धोपयोग का और अयत्नाचार का सहचारी होने से नियम से श्रामण्य का छेद ही है।

कारण मुनि को परिग्रह का निषेध कहा उसमें अंतरंग च्छेदका ही प्रतिषेध है। छिलके के सद्भाव में चावलों में रक्तिमारूप अशुद्धता होती ही है वैसे बाह्य परिग्रह के सद्भाव में अशुद्धोपयोग होता ही है; अतः शुद्धोपयोगजन्य मोक्षलाभ भी सुतरां अशक्य है। किन्तु उत्सर्ग मार्ग में अशक्त साधुओं को श्रामण्य और संयम की रक्षाके लिए अनिन्दनीय, असंयमी लोगों द्वारा अप्रार्थनीय तथैव मूर्छाका अनुत्पादक ऐसा दिगंबर जिनलिंग, पिंच्छी, कमंडलु, शास्त्र, गुरूपदेश आदि उपाधि अपवाद मार्ग में निषिद्ध नहीं है। मुनिचर्या की

सहकारी होने से अप्रतिसिद्ध ऐसे शरीरमात्र उपाधि की संयम ध्यानादि साधना के लिए ही युक्ताहार-विहार के द्वारा रक्षा करता है। युक्ताहार का आशय योग्य आहार या योगी का आहार है। आत्मा स्वयं अनशन स्वभावी (या अविहार स्वभावी होने से) तथा एषणादि दोषरहित आहार ग्रहण करने से (समितिपूर्वक विहार करने से) युक्ताहारी श्रमण अनाहारी ही कहा जायगा। १ एकही समय लिया गया, २ अपूर्णोदर, ३ यथाप्राप्त, ४ भिक्षावृत्ति से प्राप्त, ५ दिनको लिया हुआ ६, नीरस और मधुमांसरहित आहार ही युक्ताहार है, इससे विपरीत लिया हुआ आहार हिंसा आदि दोषों का कारण होने से अयुक्ताहार ही कहा गया है ।

बाल, वृद्ध, श्रान्त और रुग्ण साधु को भी जिस तरह संयम का मूलभूत छेद न हो इस तरह कठोर आचरण उत्सर्ग मार्ग है तथा मूलतः छेद न हो इस प्रकार अपनी उपरोक्त चारों भूमिका योग्य मृदु आचरण करना अपवाद मार्ग है। साधुको उत्सर्ग और अपवाद की मैत्रीपूर्वक-संयम भी पले और शुद्धात्मसिद्धि के लिए शरीर प्रतिबंधक न हो इस प्रकार अपवाद-सापेक्ष उत्सर्गमार्ग या उत्सर्ग-सापेक्ष अपवादमार्ग का स्वीकार करना चाहिए। तात्पर्य साधुओं की चर्या जिस तरह शुद्ध आत्मा की साधना हो ऐसी आगमानुकूल होनी चाहिए।

साम्य या सामायिक ही श्रामण्यका लक्षण है, वही दर्शनज्ञान चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग है। जिस जीव को स्वपर का निर्णय है वही अपने आत्मा में एकाग्रता कर पाता है। स्वपर पदार्थ का निर्णय इन्द्रिय विषयों में आसक्त जीव को आगम ज्ञान के विना असंभव होने से आगम के ज्ञानाध्ययन की प्रवृत्ति प्रयत्न-पूर्वक कुशलता से करनी मुमुक्षु को जीवनसाधना के हेतु अपरिहार्य है। इसलिए चाहे साधु हो या गृहस्थ हो दोनों के जीवनी में आगमाभ्यास की महत्ता विशेष है।

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्व भूदाणि।
देवाय ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ प्रवच० ॥

आशय यह है कि सर्वसाधारण प्राणियों के लिए इन्द्रिय ही नेत्र होता है, देव अवधिज्ञान–नत्रवाले होते हैं, साधु के लिए आगम ही नेत्र होता है, सिद्ध परमात्मा सर्वदर्शी होने से वे सर्वतःचक्षु होते हैं। आगमज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, आगमज्ञान तथा तत्त्वार्थ श्रद्धानपूर्वक संयम की युगपत् प्रवृत्ति मोक्षमार्ग है, जहां तीनों की एकता विद्यमान नहीं वहा मोक्षमार्ग संभव नहीं है। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और चरण की एकाग्रता यदि आत्मज्ञानपूर्वक है तो कार्यकारी है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय–सहस्स–कोडी हिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेहि उस्सास–मेत्तेण ॥ २३८ ॥

सार संक्षेप यह है कि आत्मा को न जाननेवाला अज्ञानी शतसहस्र कोटी भवों में जो कर्मों का क्षय करता है उतना कर्मक्षय आत्मज्ञानी साधु क्षणमात्र में करता है। इसलिए आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग में कर्णधार एवं तीन गुप्तिसहित होने से प्रधान है। सच्चे साधुके लिए आगमज्ञानादि तीनों की एकाग्रता के साथ आत्मज्ञान का यौगपद्य अवश्यंभावी है और उस ही जीव का चारित्र व्रततपादि सफल है। ऐसा श्रमण स्वभाव से ही शत्रु–मित्र, सुख–दुःख, निंदा–प्रशंसा, लोहकंचन, जन्म–मरण सर्वत्र समदृष्टि होता है। जिसे यह

एकाग्रता तथा यौगपद्य नहीं है वह बाह्यतः श्रमण होकर भी पदार्थों में मोहरागद्वेष के कारण विविध कर्म बंध ही करता है, तथा जो परद्रव्यों में रागादि नहीं करता और आत्मा में लीन होता है तो कर्मक्षय के साथ अतीन्द्रिय सुख को पाता है।

वास्तव में श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं तथापि गौण रूप से शुभोपयोगी भी होते हैं। शुद्धोपयोगी श्रमण आस्रवरहित होते हैं और शुभोपयोगी के पुण्य का आस्रव होने से वे उनकी कक्षा में नहीं आ सकते, फिर भी सामायिक से च्युत न होने के कारण श्रमण तो होते ही हैं। जिसे देव शास्त्रों में भक्ति, साधर्मी श्रमणों के प्रति वात्सल्य पाया जाय वह शुभोपयोगी श्रमण है, उन्हें वंदना, नमस्कार, अभ्यु-त्थान विनय तथा वैयावृत्य जैसा निन्दित नहीं वैसे ही उन्हें धर्मोपदेश, शिष्यों का पोषण, भगवान् के पूजा का उपदेश आदि सरागचर्या होती है, षट्काय जीव-हिंसा रहित, चतुःसंघों का उपकार उनको होता है, शुद्धोपयोगी के नहीं। उन्हें वैयावृत्यादि संयम से अविरोधी सराग क्रिया भी नियम से षट्काय जीव के विराधना के बिना ही होनी चाहिए। जहाँ जीवहिंसा पाई जाती वहां पर तो श्रामण्य का उपचार भी संभव नहीं। अल्पलेप होने पर भी श्रमण जिनमार्गी चतुःसंघ पर शुद्धात्म लाभ की भावना से निरपेक्ष तथा उपकार भी करता है किन्तु अन्य किसी भी लौकिक प्रयोजन से तथा मिथ्या मार्गी के प्रति वह समर्थनीय नहीं है। श्रमणों के वैयावृत्य के प्रयोजन बिना लौकिक जनों से भाषण तथा संगति भी आगम में निषिद्ध ही है। श्रमणाभासों के साथ सर्व व्यवहार वर्जनीय है। बाह्यतः तपसंयमधारी होने पर भी आत्मा तथा अन्य पदार्थों की जिसे आगमानुसार भेद-प्रतीति नहीं है वह श्रमणाभास कहलाता है। श्रमणों में भी यथायोग्य, यथागुण आगमानुकूल व्यवहार होना चाहिए, निर्दोष साधुचर्या के लिए सत्संग विधेय है तथा लौकिक साधु आदिकों का असत्संग परिवर्जनीय है।

इस तरह ७० गाथाओं में मुनिचर्या का स्वानुभव से ओतप्रोत साक्षात् प्रत्ययकारी निरूपण करने के बाद अन्त्य पाँच गाथाओं द्वारा जिनागम का रहस्य अलौकिक रूप से प्रगट किया गया है—वे पांच [२७१ से २७६ तक] गाथाएँ इस प्रवचनसार महाग्रंथराज की पंचरत्न कही जाती है।

(१) जो द्रव्यलिंगधारी होकर भी आत्मप्रधान पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करते हुए दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करनेवाले उन श्रमणों को साक्षात् 'संसारतत्त्व' जानना चाहिए। (२) यथार्थतः शास्त्र और अर्थ को समझकर समताधारी होते हुए जो अन्यथा प्रवृत्ति को टालते है ऐसे संसार में अत्यल्प काल रहनेवाले पूर्णरूप श्रमण ही साक्षात् 'मोक्ष तत्त्व' है। (३) वस्तुतत्त्व को यथार्थ जाननेवाला, अन्तरंग तथा बहिरंग परिग्रह को छोडता हुआ, विषयलोभ से अतीत शुद्धोपयोगी श्रमण ही 'मोक्ष का कारण तत्त्व' है। (४) उन शुद्धोपयोगी के ही श्रामण्य, दर्शन, ज्ञान तथा निर्वाण होता है उनके सर्व मनोरथ सम्पन्न होने से वे ही हृदय से अभिनन्दनीय हैं। (५) इसलिए जो जिन प्रवचन को यथार्थ जानते है ऐसे शिष्य ही यथा स्थान सविकल्प-निर्विकल्प भूमिका में वर्तते हुए प्रवचन के सारभूत भगवान् आत्मा को पाते है।

इस प्रकार प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने आत्मा की प्रधानतापूर्वक वस्तुस्वरूप का हृदय-ग्राही प्रतीतिकारक विवेचन किया है। तत्त्व की भूमिका सरल शैली में सुबोध रीति से समझना यह तो

कुन्दकुन्दाचार्य की शैली की विशेषता रही है। भगवान् केवली तथा श्रुतकेवली के सान्निध्यपूर्वक अनुग्रह प्राप्त होने से बल-प्राप्त वह स्वानुभव की भूमिका सजीव हो उठी है। उनके विशेष अधिकार की बात कहनी ही क्या ? वे तो दिगंवर परम्परा में सर्वमान्य हैं ही। अन्य जैन सम्प्रदाय तथा आत्म जिज्ञासू अन्य तत्त्वज्ञ भी उनके प्रति समादर रखते हैं। उन का साहित्य अध्यात्म रसिकों को आकर्षण का एकमात्र कारण रहा है। समीचीन-मोक्षमार्ग दिगंबरत्व-श्रामण्य मानों उनके रूप में साकार हुआ हो !

आचार्य अमृतचंद्र ने उनके प्रवचनसार का आत्मा अपनी तत्त्वदीपिका टीका में तो सातिशय विशेष रूप से खोल दिया है। वे भाषाप्रभु और काव्यात्म तत्त्वज्ञ थे। तत्त्वज्ञान के गहराई में जाकर उनकी भाषा तत्त्व और भाव को ठीक स्पर्श करती है। आत्मा के ज्ञान और सुख स्वभाव का वस्तु के द्रव्य गुण पर्याय का उत्पाद व्यय के स्वरूप का अमूर्त कालद्रव्य के स्वरूप का तथा उसके कार्य का विवेचन, आत्मा का स्वरूप, बंध का स्वरूप, आत्मज्ञान के साथ दर्शन ज्ञान चारित्र की एकाग्रता-यौगपद्य आदि सर्वत्र विषयों के निरूपण में सर्वत्र उनके गहराई प्रतीत होती है। सर्व विवेचन तर्कनिष्ठ होकर भी अनुभव प्रतीति से सुस्नात है। अन्त में आत्मा क्या चीज है और वह कैसा प्राप्त होता इस को सैतालिस नयों के द्वारा जो समझाया है वह इस ग्रंथ की तत्त्वप्रदीपिका टीका का खास वैशिष्ट्य है।

सारत्रयी में से पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार इन दोनों में आचार्यश्री ने आत्मा की मुख्यता से वस्तुतत्त्व के निरूपण के द्वारा भगवान् की तत्त्वदृष्टि ही खोल कर जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रस्तुत की है। इससे अमृतचंद्र आचार्य की टीका का तत्त्वप्रदीपिका नाम सार्थ है। यह तत्त्वदृष्टि ही समयसार में प्रदर्शित स्वपर भेद विज्ञाननिष्ठ जीवनदृष्टि की जिसे टीकाकार आत्मख्याति कहते हैं आधार शिला है। इसलिए इस सारत्रयी का अध्ययन, मनन, चिंतन साधक मुमुक्षुओं के लिए अनिवार्य है। आचार्य कुंद-कुंद देव का तथा टीकाकार द्वयों का मुमुक्षु जीवों पर यह महान उपकार है। नमस्कार हो आचार्य कुंदकुंद को ! आचार्य अमृतचंद्र को ! और आचार्य जयसेन को !

मूलाचार का अनुशीलन

कैलाशचन्द्र शास्त्री, संपादक जैनसंदेश, बनारस

१. मुनि आचार का महत्त्व

जैन धर्म आचार प्रधान है। आचार को चारित्र भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के प्रारम्भ में 'चारित्तं खलु धम्मो' लिखकर चारित्र को ही धर्म कहा है। चारित्र के दो प्रकार हैं। एक श्रावकों को चारित्र, दूसरा मुनियों का या श्रमणों का या अनगारों का चारित्र, किन्तु निवृत्तिप्रधान जैन धर्म का मौलिक चारित्र मुनियों का चारित्र है। पञ्च परमेष्ठी में सब नीचे का दर्जा मुनियों का है। मुनिधर्म से ही सर्वोच्च परमेष्ठी पद प्राप्त होता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह विधान था कि मुनि को अपने श्रोताओं के सन्मुख सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही उपदेश देना चाहिये, श्रावक धर्म का नहीं, क्यों कि संभव है श्रोता उच्च भावना लेकर आया हो और श्रावक धर्म को सुनकर वह उसी में उलझ जाये। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रजी ने इस विधान का निर्देश करते हुए लिखा है—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्यभगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

जो अल्पबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म का कथन न करके गृहस्थधर्म का उपदेश करता है उस उपदेशक को जिनागम में दण्ड का पात्र कहा है। क्योंकि उस दुर्बुद्धि ने क्रम का उल्लंघन करके धर्म का उपदेश दिया और इससे अति उत्साहशील श्रोता अस्थान में सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है।

इसमें मुनिधर्म का प्रथम व्याख्यान न करके गृहस्थ धर्म के व्याख्याता को अल्पमति और दुर्बुद्धि कहा है तथा गृहस्थ धर्म को अपद कहा है। वस्तुतः मुमुक्षु का वह पद नहीं है। पद तो एकमात्र मुनिधर्म है। आचाराङ्ग में उसी का कथन था, श्रावक धर्म का नहीं, तथा उससे द्वादशांग में प्रथमस्थान इसीसे प्राप्त है। अतः जैन धर्म में मुनियों का चारित्र ही वस्तुतः चारित्र है, असमर्थ श्रावक भी इसी उद्देश से श्रावक धर्म का पालन करता है कि मैं आगे चलकर मुनिधर्म स्वीकार करूंगा। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं उसीकी सोपान रूप हैं।

२. मुनि आचार का प्रथम ग्रन्थ

एक तरह से दिगम्बर परम्परा के आद्य आचार्य कुन्दकुन्द थे। सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट निषेध मिलता है और ये ही वे कारण हैं जिनसे संघभेद हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड़ों में विशेष रूप से मुनियों को लक्ष कर के ही धर्म का निरूपण है, चारित्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, नियमसार और प्रवचनसार में मुनिधर्म का ही व्याख्यान है। किन्तु इनमें से किसी भी ग्रन्थ में मुनिधर्म के आचार का सांगोपांग वर्णन नहीं है। यद्यपि प्रवचनसार के चारित्राधिकार में मुनिदीक्षा, अट्ठाईस मूलगुण छेदोपस्थापना आदि का कथन है। किन्तु वह तो साररूप है, विस्तार रूप नहीं, इसीसे इनमें से किसी भी ग्रन्थ का नाम आचारपरक नहीं है और न कोई ग्रन्थ लुप्त आचाराङ्ग की समकक्षता ही करता है अतः दिगम्बर परम्परा में एक ऐसे ग्रन्थ की कमी बनी रहती है जो मुनिआचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ हो। उस कमी की पूर्ति मूलाचार ने की है। उसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने अपनी उत्थानिका में जो भाव मूलाचार ग्रन्थ के प्रति प्रकट किये हुए है उनसे भी हमारे कथन का समर्थन होता है। उन्होंने लिखा है—

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशसहस्रपरिमाणं मूलगुण–प्रत्याख्यानसंस्तर–स्तवाराधना समयाचार–पञ्चाचार–पिण्डशुद्धि–षडावश्यक–द्वादशानुप्रेक्षा – अनगारभावना - समयसार–शीलगुणप्रस्तार–पर्याप्त्याद्यधिकारनिबद्धमहार्थ-गम्भीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचित–षड्द्रव्यनवपदार्थ-जिनवरोपदिष्टं द्वादशविधऽनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पो-पायसाधनहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्य–पारम्पर्य–प्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरूप-संहर्तुकामः स्वस्य श्रोतॄणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मङ्गलपूर्विका प्रतिज्ञां विधत्ते।

श्रुतस्कन्ध के आधारभूत, अठारह हजार पद परिमाणवाले, जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तरस्तव, समयाचार, पञ्चाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति, अधिकार नामक अधिकारों में निबद्ध और बड़ा गम्भीर है। लक्षण-सिद्ध पद-वाक्य और वर्णों से समृद्ध है, घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न केवल ज्ञान के द्वारा समस्त गुणपर्यायों से युक्त छः द्रव्य और नौ पदार्थों के ज्ञाता जिनवर के द्वारा उपदिष्ट है, बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न अनेक प्रकार की ऋद्धियों से युक्त गणधर देव के द्वारा रचा गया है और मूल गुण तथा उत्तर गुणों के स्वरूप, भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल निरूपण करने में समर्थ है, उस आचार्य परम्परा से प्रवर्तमान आचाराङ्ग को अल्प बल बुद्धि आयुवाले शिष्यों के लिये बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा से अपने तथा श्रोताओं के प्रारब्ध कार्य में आने वाले विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को करके श्री वट्टकेराचार्य सब से प्रथम मूलगुण नामक अधिकार का कथन करने के लिये मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं,।

यह उत्थानिका षट्खण्डागम और कसायपाहुड की टीकाओं के आरम्भ में वीरसेन स्वामी द्वारा रची गई उत्थानिकाओं के ही अनुरूप हैं। टीकाकार वसुनन्दि यह मानते हैं कि यह मूलाचार गणधर

रचित आचारांग का ही संक्षेपीकरण है और इसीकी तरह आचाराङ्ग में भी ये ही बारह अधिकार थे जो मूलाचार में हैं। किन्तु इसकी पुष्टि का कोई साधन नहीं है। श्वेताम्बर सम्मत आचारांग में तो इस नाम के अधिकार नहीं है, हां, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत पिण्डैषणा अध्ययन है।

किन्तु इतना निर्विवाद है कि दिगम्बर परम्परा में आचारांग का स्थानापन्न मूलाचार है। वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका के प्रारम्भ में द्वादशांग का विषय परिचय कराते हुए आचारांग में १८ हजार पदों के द्वारा मुनियों के इस प्रकार के चारित्र का कथन है ऐसा कहते हुए जो दो गाथा दी है (पु.१, पृ.९९) वे मूलाचार के दसवें अधिकार में वर्तमान हैं इससे आचाराङ्ग के रूप में इसकी मान्यता, प्रामाणिकता और प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

३. मूलाचार की प्राचीनता

धवला टीका के प्रारम्भ में आचारांग में वर्णित विषय का निर्देश करते हुए जो दो गाथाएं दी गई हैं उससे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी के सन्मुख मूलाचार वर्तमान था।

किन्तु वीरसेन के पूर्वज आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णति में तो स्पष्ट रूप से मूलाचार का उल्लेख है। तिलोयपण्णति के आठवें अधिकार में देवियों की आयु के विषय में मतभेद दिखाते हुए लिखा है।

पलिदोवमाणि पंच य सत्तारस पंचवीस पणतीसं।
चउसु जुगले सु आऊ णादव्वा इंददेवीणं ॥५३१॥
आरण दुग परियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
मूलाआरे इरिया एवं णिउणं णि रूवेंति ॥५३२॥

अर्थात् चार युगलों में इन्द्र देवियों की आयु क्रम से पांच, सतरह, पच्चीस और पैंतीस पल्य प्रमाण जानना चाहिये। इसके आगे आरण युगल तक पांच पल्य की वृद्धि होती गई है ऐसा मूलाचार में आचार्य स्पष्टता से निरूपण करते हैं।

मूलाचार के बारहवें पर्याप्ति अधिकार में उक्त कथन उसी रूप में पाया जाता है। यथा—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्ण पण्णाओ ॥८०॥

अर्थात् देवियों की आयु सौधर्म युगल में पांच पल्य, सानत्कुमार युगल में सतरह पल्य, ब्रह्मयुगल में पच्चीस पल्य, लान्तव युगल में पैंतीस पल्य, शुक्र महाशुक्र में चालीस पल्य, शतार सहस्रार में पैंतालीस पल्य, आनत युगल में पचास पल्य और आरण युगल में पचपन पल्य है।

किन्तु मूलाचार में ही इससे पूर्व की गाथा में अन्य प्रकार से देवियों की आयु बताई है। यथा—

पंचादी वेहि जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावदु अरणप्पयं कप्पं ॥७९॥

देवियों की आयु पांच पल्य से शुरू करके प्रत्येक युगल में दो बढाते हुए सत्ताईस पल्य तक, पुनः सात बढाते हुए आरण अच्युत कल्प तक जानना टीकाकार वसुनन्दिने ८० वी गाथा में बताई गई आयु को द्वितीय उपदेश कहा है।

और तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार में उक्त प्रथम उपदेश के अनुसार बताई गई आयु को देते हुए लिखा है जो आचार्य सोलह कल्प मानते हैं वे इस प्रकार आयु कहते हैं। इस के बाद मूलाचार का मत दिया है। अर्थात सोलह स्वर्ग मानने वालों के दो मत हैं वे दोनों मत वर्तमान मूलाचार में हैं किन्तु तिलोयपण्णत्तिकार मूलाचार में दिये गये द्वितीय मत को मूलाचार का कहते हैं और प्रथम को सोलह स्वर्ग मानने वालों का मत कहते हैं। अर्थात् वह सामान्य मत है और दूसरा मत मूलाचार का है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि मूलाचार नामक ग्रन्थ यतिवृषमाचार्य के सामने वर्तमान था। किन्तु वह यही था और इसी रूप में था यह चिन्त्य है।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि मूलाचार नाम मूल और आचार दो शब्दों के मेल से निष्पन्न है। इसमें से आचार नाम तो स्पष्ट है क्यों कि ग्रन्थ में आचार का वर्णन है। किन्तु उससे पहले जो मूल शब्द जोड़ा गया है यह वैसा ही जैसा मूल गुण का मूल शब्द अर्थात् मूलभूत आचार। किन्तु इसके साथ ही दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ नाम का भी एक संघ था। यह सब जानते हैं कि भगवान् महावीर का अविभक्त संघ निर्ग्रन्थ संघ के नाम से विश्रुत था। अशोक के शिलालेखों में निगंठ्या निर्ग्रन्थ नाम से ही उसका निर्देश मिलता है। किन्तु धारवाड़ जिले से प्राप्त कदम्बवंशी नरेश शिवमृगेश वर्मा के शिलालेख (९८) में श्वेत पट महा श्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महा श्रमण संघ का पृथक् पृथक् निर्देश है। अतः प्रकट है कि ईसा की ४–५ वीं शताब्दी में मूल नाम निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय को प्राप्त हो गया था। इसके साथ ही गंगवंशी नरेश माधववर्मा द्वितीय (ई. सन् ४०० के लगभग) और उसके पुत्र अविनीत के शिलालेखों में (नं. ९० और ९४) मूलसंघ का उल्लेख है। चूँकि जैन परम्परा का प्राचीन मूल नाम निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा को प्राप्त हुआ था अतः वह मूलसंघ के नाम से कहा गया। उसी का आचार जिस ग्रन्थ में वर्णित हो उसका नाम मूलाचार होना सर्वथा उचित है। मूलाचार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ति में है और तिलोयपण्णत्ति ई. सन् की पांचवी शताब्दी के अन्तिम चरण के लगभग रची गई थी। अतः मूलाचार उससे पहले ई. सन् की चतुर्थ शताब्दी के लगभग रचा गया होना चाहिये।

मूलाचार की मौलिकता

मूलाचार एक संग्रह ग्रन्थ है ऐसा विचार कुछ वर्ष पूर्व एक विद्वान न प्रकाशित कराया था। पीछे उन्होंने उसे एक मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया। किन्तु मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएँ है जो अन्य ग्रन्थों में मिलती हैं। उदाहरण[१] के लिए मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो श्वेताम्बरीय आवश्यक निर्युक्ति में भी हैं। ये गाथाएँ भी मूलाचार के षडावश्यक नामक अधिकार की हैं। इसीतरह मूलाचार के पिण्डशुद्धि

१. देखों अनेकान्त वर्ष २, कि. ३ तथा ५ में पं. परमानन्दजी के लेख।

अधिकार में भी कुछ गाथाएँ हैं जो पाठभेद या शब्दभेद के साथ श्वेताम्बरीय पिण्डनिर्युक्ति में पाई जाती है। मूलाचार की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों भगवती आराधना में मिलती हैं। मूलाचार की तरह उक्त सभी ग्रन्थ प्राचीन हैं अतः किसने किससे क्या लिया यह शोध और खोज का विषय है। किन्तु इससे इतना तो सुनिश्चित रीति से कहा जा सकता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की कृति नहीं हो सकती, यद्यपि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इसे उनकी कृति कहाँ है, क्यों कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इस प्रकार की गाथाओं की बहुतायत तो क्या थोड़ी भी उपलब्धि नही होती जो अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती हों। प्रत्युत कुन्दकुन्द की ही गाथाएँ तिलोयपण्णत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है और ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि कुन्दकुन्द एक प्रख्यात प्रतिष्ठित आचार्य थे। इसके साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि मूल में तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराएँ एक ही स्रोत से निष्पन्न हुई हैं अतः प्राचीन गाथाओं का दोनों परम्पराओं में पाया जाना संभव है।

टीकाकार वसुनन्दि इसे वट्टकेराचार्य की कृति कहते हैं। किन्तु अन्यत्र कहीं भी इस नाम के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। साथ ही नाम भी कुछ ऐसा है कि उस पर से अनेक प्रकार की कल्पनाएँ[1] की गई हैं, किन्तु जब तक कोई मौलिक आधार नहीं मिलता तब तक यह विषय विवादापन्न ही रहेगा।

मूलाचार का बाह्यरूप

किन्तु इतना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि टीकाकार वसुनन्दि को यह ग्रन्थ इसी रूप में मिला था और यह उनके द्वारा संगृहीत नहीं हो सकता उनकी टीका से या प्रत्येक अधिकार के आदि में प्रयुक्त उत्थानिका वाक्यों से किञ्चिन्मात्र भी ऐसा आभास नहीं होता। वे बराबर प्रत्येक अधिकार की संगति ही दर्शाते हैं।

मूलाचार में बारह अधिकार हैं—मूलगुणाधिकार, बृहत्प्रत्याख्यान संस्तर स्तवाधिकार, संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार, समाचाराधिकार, पंचाचाराधिकार, पिण्डशुद्धिअधिकार, षडावश्यकाधिकार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, अनगारभावनाधिकार, समयसाराधिकार, शीलगुणप्रस्ताराधिकार, पर्याप्तिनामाधिकार।

प्रत्येक अधिकार के आदि में मंगलाचरण पूर्वक उस उस अधिकार का कथन करने की प्रतीज्ञा पाई जाती है किन्तु दूसरे और तीसरे अधिकार के आदि में उस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु जो सल्लेखना ग्रहण करता है उसके प्रत्याख्यान ग्रहण करने की प्रतिज्ञा है। मूल गुणों का कथन करने के पश्चात् ही मरण के समय होने वाली सल्लेखना का कथन खटकता है। दूसरे अधिकार की उत्थानिका में टीकाकार ने कहा है, 'मुनियों के छःकाल होते हैं। उनमें से आत्म संस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थकाल तीन

---

१. देखों—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग १२, किरण १) में श्री. प्रेमी जी का लेख, तथा अनेकान्त (वर्ष ८, कि. ६-७) में मुख्तार जुगलकिशोरजी का लेख।

का कथन आराधना में किया जाता है शेष दीक्षा, शिक्षा और गणपोषण काल का कथन आचार में किया जाता है। यदि आदि के तीन कालों में मरण उपस्थित हो जाये तो उस समय इस प्रकार के (नीचे लिखे हुए) परिणाम करना चाहिये।'

शेष अधिकार यथास्थान व्यवस्थित है। अन्तिम पर्याप्तिअधिकार एक तरह से करणानुयोग की जीवविषयक चर्चा से सम्बद्ध है और उसका मुनि के आचार से सम्बन्ध नहीं है। किन्तु मुनि को जीव स्थान आदि का परिज्ञान होना आवश्यक है उसके बिना वह जीव रक्षा कैसे कर सकता है। इसी से टीकाकार ने उस अधिकार को 'सर्व सिद्धान्त करण चरण समुच्चय स्वरूप' कहा है। इन अधिकारों में क्रमशः ३६ + ७१ + १४ + ७६ + २२२ + ८२ + १९३ + ७६ + १२५ + १२४ + २६ + २०६ = १२५१ गाथा संख्या माणिकचन्द ग्रन्थमाला में मुद्रित प्रति के अनुसार है। उसमें कुछ अधिकारों में क्रमिक संख्या है और कुछ में प्रत्येक अधिकार की गाथा संख्या पृथक् पृथक् है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में वीरनन्दि नाम के आचार्य ने संस्कृत में आचारसार नामक ग्रन्थ रचा था। इसमें भी बारह अधिकार हैं किन्तु उनका क्रम मूलाचार से भिन्न है तथा अधिकारों की संख्या समान होते हुए भी नाम भेद है। यथा मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्ध्यष्टक, षडावश्यक, ध्यान, पर्याप्ति, शीलगुण। इस तरह इसमें मूलाचारोक्त छै अधिकार हैं और पंचाचार को पांच अधिकारों में फैलाकार तथा शुद्ध्यष्टक और ध्यान का वर्णन पृथक अधिकारों में करके बारह संख्या पूर्ण की गई है। इस संख्या तथा विषय वर्णन की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलाचार की रचना के आधार पर ही यह रचा गया है।

इससे पूर्व में चामुण्ड राय ने भी चारित्रसार नामक ग्रन्थ रचा था। उसमें भी अनगारधर्म का वर्णन है किन्तु वह तत्त्वार्थसूत्र के नवम अध्याय में प्रतिपादित दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषजय, चारित्र आदि को दृष्टि में रखकर तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार पूज्यपाद और अकलंक देव के अनुसरण पर रचा गया है। यद्यपि उसमें प्रसंगवश मूलाचार के पिण्ड शुद्धि नामक अधिकार की कुछ गाथाएं उद्धृत की हैं और उससे कुछ अन्य आवश्यक प्रसंग, षडावश्यक, अनगारभावना आदि लिये हैं।

पं. आशाधर ने अपना अनगारधर्मामृत उपलब्ध साहित्य को आधार बनाकर रचा है उसमें मूलाचार भी है। वह एक अध्ययनशील विद्वान थे और उपलब्ध सामग्री का पूर्ण उपयोग करने में कुशल थे। उनके अन. धर्मा. में नौ अध्याय है, क्रम वीरसेन के आचार सार जैसा है। धर्म स्वरूप निरूपण, सम्यक्त्वाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना, पिण्ड शुद्धि, मार्ग महोद्योग (दसधर्म आदि का विवेचन) तप आराधना, आवश्यक निर्युक्ति, और नित्यनैमित्तिक क्रियाभिधान।

उक्त मुनिधर्म विषयक साहित्य मूलाचार के पश्चात् रचा गया है और उसकी रचना में मूलाचार का यथायोग्य उपयोग ग्रन्थकारों ने किया है।

कुन्दकुन्द और मूलाचार

इसमें तो सन्देह नहीं कि मूलाचार कुन्दकुन्द का ऋणी है किन्तु जैसा हम पहले लिख आये हैं वह हमें कुन्दकुन्दरचित प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्द रचित नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों में जो रचना वैशिष्ट्य है निरूपण की प्राञ्जलता है, अध्यात्म की पुट है वह मूलाचार में नहीं है, उनके प्रवचनसार के अन्त में आगत मुनिधर्म का वर्णन संक्षिप्त होनेपर भी कितना सारपूर्ण है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही मूलाचार के किन्हीं वर्णनों में उनके साथ एकरूपता भी नहीं है।

मूलाचार में जो सत्य और परिग्रह त्याग व्रत का स्वरूप कहा है वह मुनि के अनुरूप न होकर श्रावक के जैसा लगता है। यथा

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतापसच्चवयणुत्तिं।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं॥

अर्थात् राग आदि के वश से असत्य न बोले, जिससे दूसरे को सन्ताप हो ऐसा सत्य भी न बोले, सूत्र के अर्थ का अन्यथा कथन न करे या आचार्य के कथन में दोष न निकाले यह सत्य महाव्रत है।

इसमें पर संतापकारी सत्य वचन भी न बोले यह गृहस्थ के उपयुक्त कथन है। मुनि के लिये तो भाषा समिति में ही यह गर्भित है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है—

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पडिवज्जदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव॥

जो साधु राग, द्वेष और मोह से झूठ बोलने के परिणामों को सदा के लिये छोड़ता है उसी के दूसरा व्रत होता है।

इसमें जो झूठ बोलने के परिणाम का त्याग कराया है वह महत्त्वपूर्ण है और कुन्दकुन्द की वाणी के वैशिष्ट्य का सूचक है।

मूलाचार में चतुर्थ व्रत का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

मादुसुदाभगिणीवय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थीकहादिणियती तिलोयपुज्जं हवे बंमं॥८॥

वृद्धा, बाला और युवती स्त्री के रूप को देखकर माता, पुत्री और भगिनी के समान मानना तथा स्त्री कथा आदि का त्याग ब्रह्मचर्य है।

इसके साथ नियमसार का कथन मिलाइये —

दट्ठूण इत्थिरूवं वंछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरियपदं॥

स्त्री रूप को देखकर उनमें जो चाह रूप परिणाम नहीं करता, अथवा मैथुन संज्ञा से रहित परिणाम को चौथा व्रत कहते हैं। यह स्वरूप कितना जोरदार और यथार्थ है। परिणाम भी न होने से ही व्रत होता है यही जैन दृष्टि है।

मूलाचार में परिग्रह त्याग व्रत का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जीवणिबद्धा वद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्मि णिम्मओऽसंगो ॥९॥

जो परिग्रह जीव से निबद्ध हैं, तथा अबद्ध हैं और जो जीव से उत्पन्न होने वाली हैं उनका शक्ति के अनुसार त्याग करना और जो शेष हैं उनमें ममत्व न करना परिग्रह त्याग व्रत है।

इसमें शक्ति के अनुसार त्याग पद खटकता है। टीकाकार ने तो उन सब का मन वचन काय से सर्वथा त्याग बतलाकर उसे सम्हाल दिया है।

नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिखेक्टन भावणापूव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चरित्तभारं वहंतस्स ॥

निरपेक्ष भावनापूर्वक समस्त परिग्रह के त्याग को चारित्र का भार वहन करनेवाले साधुओं का पांचवा परिग्रह त्यागव्रत कहा है।

इसी तरह व्रतों की भावनाओं में से तृतीयव्रत की भावना मूलाचार में बिलकुल भिन्न हैं।

मूलाचार में एक प्रकरण समयसार नाम से है, किन्तु कुन्दकुन्द के समयसार की उसमें छाया भी नहीं है। हां, साधु के योग्य जो शिक्षा उसमें दी गई है वह उपयुक्त है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु समयसार नाम से ख्यात कुन्दकुन्द की दृष्टि की उसमें कोई बात नहीं है, अतः हमें वह कुन्दकुन्द की कृति प्रतीत नहीं होती। अस्तु।

मूलाचार का अन्तरंग परिचय

मूलाचार में साधु के आचार का वर्णन है अतः मूलाचार में प्रतिपादित साधु आचार का क्रमिक वर्णन करने से ही मूलाचार का अन्तरंग परिचय हो जाता है तथा उसके साथ ही साधु के आचार का भी क्रमिक परिचय हो जाता है। इसलिए हम साधु आचार के क्रमिक परिचय के द्वारा मूलाचार के विषय का परिचय कराते हैं।

दीक्षा और उसके योग्य पात्र—मूलाचार में दीक्षा के योग्य पात्र का तथा उसकी विधि वगैरह का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रवचनसार के चारित्राधिकार के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त आभास मिलता है कि जो मुनि दीक्षा लेना चाहता हैं वह अपने बन्धु बान्धवों से अनुज्ञा प्राप्त करके गणी के पास जाता है और उन्हें नमस्कार करके दीक्षा देने की प्रार्थना करता है। उनकी आज्ञा मिलने पर सिर

और दाढी के बालों का लुञ्चन करके यथाजात रूपधर (नग्न) हो जाता है तथा साधु के आचार को श्रवण करके श्रमण हो जाता है।

श्रमण के प्रकार—आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण के दो प्रकार बताये हैं शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। मुनि अवस्था में अर्हन्त आदि में भक्ति होना, प्रवचन के उपदेशक महामुनियों में अनुराग होना शुभोपयोगी श्रमण के लक्षण हैं। इसी तरह दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण करना, जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश देना ये शुभोपयोगी श्रमण की चर्या है। कायविराधना न करके सदा चार प्रकार के मुनियों के संघ की सेवाशुश्रूषा भी शुभोपयोगी श्रमण का कार्य है। शुभोपयोगी मुनि रोग, भुख, प्यास और श्रम से पीड़ित श्रमण को देख कर अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करता हैं (प्रव० ३।४७-५२)

मूलाचार में श्रमण के ये दो प्रकार नहीं किये हैं।

संघ के संचालक—मूलाचार में कहा है कि जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पांच न हों उसमें साधु को नहीं रहना चाहिए (४।१५५)। जो शिष्यों–साधुओं के अनुशासन में कुशल होता है उन्हें दीक्षा देता है वह आचार्य है। धर्म का उपदेशक मुनि उपाध्याय है। संघ के प्रवर्तक को, चर्या आदि के द्वारा उपकारक को प्रवर्तक कहते हैं। मर्यादा के रक्षक को स्थविर कहते है और गण के पालक को गणधर कहते है (४।१५६)। प्रवचनसार (३।१०) में एक दीक्षागुरु और निर्यापक का निर्देश मिलता है जो दीक्षा देता है उसे गुरु कहते हैं। यह कार्य प्रायः आचार्य कहते हैं। किन्तु व्रत में दूषण लगने पर जो प्रायश्चित्त देकर संरक्षण करते हैं वे निर्यापक कहे जाते हैं। आचार्य जयसेन ने इन्हें शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहा है।

गण–गच्छ–कुल—संघ के भीतर संभवतया व्यवस्था के लिए अवान्तर समूह भी होते थे। तीन श्रमणों का गण होता था और सात श्रमणों का गच्छ होता था। टीकाकार ने लिखा है–‘त्रैपुरुषिको गणः, साप्तपुरुषिको गच्छः’ (४।१५३)। गा० ५।१९२ की टीका में भी टीकाकार ने गच्छ का अर्थ सप्त पुरुष सन्तान किया है—‘गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने।’ कुल का अर्थ टीकाकार ने (४।१६६) गुरु-सन्तान किया है और गुरु का अर्थ दीक्षादाता। अर्थात् एक ही गुरु से दीक्षित श्रमणों की परम्परा को कुल कहते हैं। पूज्यपादस्वामी ने भी सर्वार्थसिद्धि में (९।२४) दीक्षाचार्य की शिष्य सन्तती को कुल कहा है। और स्थविर सन्तति को गण कहा है।

मूलाचार में (५।१९२) वैय्यावृत्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—‘बाल वृद्धों से भरे हुए गच्छ में अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये।’

किन्तु आगे समयसाराधिकार में कहा है—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणमागरो॥९२॥

गण में प्रवेश करने से विवाह कर लेना उत्तम है। विवाह में राग की उत्पत्ति होती है और गण दोषों का आकर है।

टीकाकार ने इसकी टीका में लिखा है कि यति अन्त समय में यदि गण में रहता है तो शिष्य वगैरह के मोहवश पार्श्वस्थ साधुओं के सम्पर्क में रहेगा। इस से तो विवाह करना श्रेष्ठ है क्यों कि गण सब दोषों का आकर है।

इस से ऐसा लगता है कि उस समय में गण में पार्श्वस्थ साधुओं का बाहुल्य हो गया था। अन्यथा ऐसा कथन ग्रन्थकार को क्यों करना पड़ता ?

साधु के मूल गुण—मूलाचार के प्रथम अधिकार में साधु के मूलगुणों का कथन है। मूलगुण का अर्थ है प्रधान अनुष्ठान, जो उत्तरगुणों का आधारभूत होता है। वे २८ है—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुवदिट्ठा।
पंचेविंदिय रोहा छप्पिय आवासया लोचो ॥२॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंत घंसणं चेव।
ठिदि भोयणमेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचो इन्द्रियों का रोध, छ आवश्यक, केशलोच, अचेलक–नग्नता, स्नान न करना, पृथ्वीपर शयन करना, दन्त घर्षण न करना, खडे होकर भोजन करना, एकबार भोजन, ये २८ मूलगुण है।

साधु के आवश्यक उपकरण–उक्त मूल गुणों के प्रकाश में दिगंबर जैन साधु की आवश्यकताएं अत्यंन्त सीमित हो जाती हैं। नग्नता के कारण उसे किसी भी प्रकार के वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। हाथ में भोजी होने से पात्र की आवश्यकता नहीं रहती। वह केवल शौच के लिये एक कमण्डल और जीव रक्षा के निमित्त एक मयूरपिच्छिका रखता है। शयन करने के लिये भूमि या शिला या लकडी का तख्ता या घास पर्याप्त है। इन के सिवाय साधु की कोई उपधि नहीं होती। मूलाचार (१।१४) में तीन उपधियाँ बतलाई हैं—ज्ञानोपधि पुस्तकादि, संयमोपधि–पिच्छिकादि, शौचोपधि–कमण्डलु आदि।

निवास स्थान—मूलाचार (१०।५८-६०) में लिखा है- जिस स्थान में कषाय की उत्पत्ति हो, आदर का अभाव हो, इन्द्रिय राग के साधनों का प्राचुर्य हो, स्त्री बाहुल्य हो, तथा जो क्षेत्र दुःख बहुल, उपसर्गबहुलं हो उस क्षेत्र में साधु को नहीं रहना चाहिये। गिरिकी गुफा, स्मशान, शून्यागार, वृक्षमूल ये स्थान विराग बहुल होने से साधु के योग्य हैं। जिस क्षेत्र में कोई राजा न हों या दुष्ट राजा हो, जहां श्रोता ग्रहणशील न हों संयम का घात संभव हो, वहां साधू को नहीं रहना चाहिये।

ईर्या समिति—यों तो साधु को वर्षावास के चार माह छोड़कर सदा भ्रमण करते रहना चाहिये भ्रमण करते समय ईर्या समिति पूर्वक गमन करने का विधान है। मूलाचार (५।१०७-१०९) में कहा है जब सूर्य का उदय हो जाये, सब ओर प्रकाश फैल जाये, देखने में कोइ बाधा न हो तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण

और देव वन्दना करके आगे चार हाथ जमीन देखते हुए स्थूल और सूक्ष्म जीवों को सम्यक् रीति से देखते हुए सावधानतापूर्वक सदा गमन करना चाहिये। तथा प्रासुक मार्ग से ही गमन करना चाहिये। जिस मार्ग पर बैलगाडी, रथ, हाथी, घोडे मनुष्य जाते आते हो वह मार्ग प्रासुक है। जिस मार्ग से स्त्री पुरुष जाते हो या जो सूर्य के धाम से तप्त हो, जोता गया हो वह मार्ग प्रासुक है।

मूलाचार (९।३१) में विहार शुद्धि का कथन करते हुए लिखा है कि समस्त परिग्रह से रहित साधु वायु की तरह निःसंग होकर कुछ भी चाह न रख कर पृथ्वी पर विहार करते हैं। वे तृण, वृक्ष छाल, पत्ते, फल, फूल, वीज वगैरेह का छेदन न करते हैं न कराते हैं। पृथ्वीका खोदना आदि न करते हैं, न कराते हैं, न अनुमोदना करते हैं, जल सेचन, पवन का आरम्भ,[1] अग्निका ज्वालन आदि भी न करते हैं न कराते हैं और न अनुमोदन करते हैं।

एकत्र आवास का नियम—यह हम लिख आये है कि साधु को वर्षा में एक स्थान पर रहना चाहिये किन्तु साधारणतया साधु को नगर में पांच दिन और ग्राममें एक रात वसने का विधान है (९।१९)। टीका में लिखा है कि पांच दिन में तीर्थयात्रा वगैरह अच्छी तरह हो सकती है। इससे अधिक ठहरने से मोह आदि उत्पन्न होने का भय रहता है।

किन्तु मूलाचार के समयसाराधिकार में साधु के दस कल्प बतलाये है उनमें एक मास कल्प है। उसकी टीका में लिखा है को साधु का वर्षायोग ग्रहण करने से पहले एक मास रहना चाहिये फिर वर्षायोग ग्रहण करना चाहिये और वर्षायोग समाप्त कर के एक मास रहना चाहिये। वर्षायोग से पूर्व एक मास रहने में दो हेतु बतलाये हैं—लोगों की स्थिति जानने के लिये तथा अहिंसा आदि व्रतों के पालन के लिये। और वर्षायोग के पश्चात् एक मास ठहरने का कारण बतलाया है—श्रावक लोगों को जाने से जो मानसिक कष्ट होता है उसके दूर करने के लिये। दूसरा अर्थ मास का यह किया है कि एक ऋतु में दो मास होते हैं। एक मास भ्रमण करना चाहिए और एक मास एकत्र रहना चाहिये।

भगवती आराधना में भी (गा. ४२१) ये दस कल्प हैं। उसकी विजयोदया टीका में लिखा है छ ऋतुओं में एक एक महीना ही एकत्र रहना चाहिये, एक महीना विहार करना चाहिये। इसका मतलब भी एक ऋतु में एक मास एकत्र अवस्थान और एक मास भ्रमण है।

भिक्षा भोजन—मूलाचार में भोजन के योग्यकाल का कथन करते हुए लिखा है—

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले।
तिगदुग एगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ६।७३।

अर्थात् सूर्योदय से तीन घटिका पश्चात् और सूर्यास्त से तीन घटिका पूर्व साधु का भोजन काल है। तीन

---

१. आज के युग में बिजली के पंखे और लाइट के उपयोग में भी कृत, कारित अनुमोदन नहीं होना चाहिये। इन का उपयोग करने से अनुमोदना तो होती ही है।

मुहुर्त में भोजन करना जघन्य आचरण है, दो मुहुर्त में करना मध्यम आचरण है और एक मुहुर्त में भोजन कर लेना उत्कृष्ट आचरण है ।

भोजन को छियालीस दोष बचाकर ग्रहण करना चाहिये । इनका कथन पिण्ड शुद्धि नामक छठे अधिकार में किया है । साधरण तया भोजन 'नवकोटि परिशुद्ध' होना चाहिये अर्थात मनसा वाचा कर्मणा तथा कृत कारित अनुमोदन से रहित होना चाहिये ।

मूलाचार में कहा है—

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेतं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥

अर्थात् भक्तिपूर्वक दिये गये, शरीर के योग्य, प्रासुक, नवकोटि विशुद्ध एषणा समिति से शुद्ध, दस दोषों और चौदह मलों से रहित भोजन को द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जानकर खाना चाहिये ।

स्थिति भोजन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है । साधु को बिना किसी सहारे के खड़े होकर अपने अञ्जलिपुर में आहार ग्रहण करना चाहिये । दोनों पैर सम होने चाहिये और उनके मध्य में चार अंगुल का अन्तराल होना चाहिये । भूमित्रय–जहां साधु के पैर हों तथा जहां जूठ न गिरे वे तीनों भूमियाँ परिशुद्ध–जीव घातरहित होना चाहिये ।

साधु को अपना आधा पेट भोजन से भरना चाहिये । एक चौथाई जल से और एक चौथाई वायु के लिये रखना चाहिये । भोजन का परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है और एक हजार चावलों का एक ग्रास कहा है (५।१५३) । टीका में कहा है कि बत्तीस ग्रास पुरुष का स्वाभाविक आहार है । भोजन के अन्तरायों का भी विवेचन द्रष्टव्य है ।

दैनिक कृत्य—साधु को अपना समय स्वाध्याय और ध्यान में विशेष लगाना चाहिये । मूलाचार (५।१२१) की टीका में साधु की दिनचर्या इस प्रकारही है । सूर्योदय होने पर देववन्दना करते हैं । दो घड़ी बीत जाने पर श्रुतभक्ति और देवभक्ति पूर्वक स्वाध्याय करते हैं । इस तरह सिद्धान्त आदि की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और पाठादि करते हैं । जब मध्याह्नकाल प्राप्त होने में दो घड़ी समय शेष रहता है तो श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त करते हैं । फिर अपने वासस्थान से दूर जाकर शौच आदि करते हैं । फिर हाथ पैर आदि धोकर कमण्डलु और पीछी लेकर मध्याह्नकालीन देववन्दना करते हैं । फिर पूर्णोदर बालकों को तथा भिक्षा आहार करने वाले अन्य लिंगियो को देखकर भिक्षा का समय ज्ञात करके जब गृहस्थों के घर से धुआं निकलता दृष्टिगोचर नहीं होता तथा कूटने पीसने का शब्द नहीं आता तब गोचरी के लिये चलते हैं । जाते हुए न अतितीव्र गमन करते हैं, न मन्द गमन करते हैं और न रुक रुक कर गमन करते हैं । गरीब और अमीर घरों का विचार नहीं करते । मार्ग में न किसी से बात करते हैं और न

कहीं ठहरते हैं। हसी आदि नहीं करते। नीच कुलों में नहीं जाते। सूतक आदि दोष से दूषित शुद्रकुलों में भी नहीं जाते। द्वारपाल आदि के द्वारा निषिद्ध घरों में नहीं जाते। जहां तक भिक्षाप्रार्थी जा सकते हैं वहीं तक जाते हैं। विरोध वाले स्थानों में नहीं जाते। दुष्ट, गधे, ऊंट, भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदि को दूर से ही बचा जाते हैं। मदोन्मत्तों के निकट से नहीं जाते। स्नान विलेपन आदि करती हुई स्त्रियों की ओर नहीं देखते। विनयपूर्वक प्रार्थना किये जाने पर ठहरते हैं। सम्यक विधिपूर्वक दिये गये प्रासुक आहार को सिद्ध भक्तिपूर्वक ग्रहण करते हैं। पाणि रूपी पात्र को छेद रहित करके नाभि के पास रखते हैं। हाथरूपी पात्र में से भोजन नीचे न गिराकर शुरशुर आदि शब्द न करते हुए भोजन करते है। स्त्रियों की ओर किञ्चित् भी नहीं ताकते। इस प्रकार भोजन करके मुख, हाथ, पैर धोकर शुद्धजल से भरे हुए कमण्डलु को लेकर चले आते हैं। धर्म कार्य के बिना किसी के घर नहीं जाते। फिर जिनालय आदि में जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करते हैं।

षडावश्यक—साधु की उक्त दिनचर्या में षडावश्यकों का विशिष्ट स्थान हैं। वे हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। मूलाचार (७।२०) में कहा है—

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु।
आपियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं॥

यतः स्व और पर में सम है—रागद्वेष रहित है, यतः माता में और सब महिलाओं के प्रती सम है, प्रिय और अप्रिय में मान, अपमान में सम है इसी लिये उसे शमन या श्रमण कहते हैं और उसी के सामायिक होती है।

अर्थात् सब में समभाव रखना ही सामायिक है। समस्त सावधयोग को त्यागकर तीन गुप्तिपूर्वक पांचो इन्द्रियों का निरोध करना सामायिक है। जिसकी आत्मा नियम संयम तप में लीन है उसी के सामायिक है, जो त्रस स्थावर आदि सब प्राणियों में समभाव है वही सामायिक है। आर्तध्यान रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यान करना सामायिक है। साधु शुद्ध होकर खड़े होकर अपनी अंजलि में पिच्छिका लेकर एकाग्रमन से सामायिक करता है। उसके बाद चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन करता है कि मुझे उत्तम बोधि प्राप्त हो। यह स्तवन भी खड़े होकर दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखकर प्रशान्त मन से किया जाता है।

गुरुओं की वन्दना कई समयों में की जाती है। वन्दना का अर्थ है विनयकर्म। उसे ही कृतिकर्म भी कहते हैं। सामायिक स्तवपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। प्रतिक्रमणं काल में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय काल में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्न में सात और अपराह्न में सात कुल चौदह कृतिकर्म होते हैं। इनका खुलासा टीका में किया है। एक कृतिकर्म में दो अवनति-भूमिस्पर्शपूर्वक नमस्कार, बारह आवर्त और चार सिर-हाथ जोड़कर मस्तक से लगाना होते है।

कृत, कारित और अनुमत दोषों की निवृत्ति के लिये जो भावना की जाती है उसे प्रतिक्रमण

कहते हैं। प्रतिक्रमण के छै भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक। मूलाचार (७।१२९) में कहा है—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवए हे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥

भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर का धर्म सप्रतिक्रमण था अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है। शेष बाईस तीर्थङ्करों के धर्म में अपराध होनेपर प्रतिक्रमण किया जाता।

तथा मध्यम तीर्थङ्करों के समय में जिस व्रत में दोष लगता था उसी का प्रतिक्रमण किया जाता था किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के धर्म में एक व्रत में भी दोष लगने पर पूरा प्रतिक्रमण किया जाता था इसका कारण बतलाते हुए लिखा है कि मध्यम तीर्थङ्करों के शिष्य दृढ़बुद्धि, स्थिरचित और अमूढमना होते थे अतः वे जो दोष लगाते थे उसकी गर्हा करने से शुद्ध हो जाते थे। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शिष्य साधु चलचित्त और मूढमन होते थे इस लिये उन्हे सर्व प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

पच्छणं आवश्यक प्रत्याख्यान है। अतिचार के कारण सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्य के त्याग को और तप के लिये प्रासुक द्रव्य से भी निवृत्ति को प्रत्याख्यान कहते हैं। उसके दस भेद हैं— अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वानगत, सहेतुक। मूलाचार में (७।१३७-१४९) सब का स्वरूप बतलाया है।

काय अर्थात् शरीर के उत्सर्ग-परित्याग को कायोत्सर्ग कहते हैं—

वोसरिद बाहु जुगलो चदुरंगुल मन्तरेण समपादो।
सव्वगं चलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥ (७।१५३)

दोनों हाथों को नीचे लटकाकर, दोनों पैरों को चार अंगुल के अन्तराल से बराबर में रखते हुए खड़े होकर समस्त अंगों का निश्चल रहना विशुद्ध कायोत्सर्ग है।

गुप्तियों के पालन में व्यतिक्रम होने पर, व्रतों में व्यतिक्रम होने पर षट्काय के जीवों की रक्षा में या सात भय और आठ मदों के द्वारा व्यतिक्रम होने पर उसकी विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त कहा है। कायोत्सर्ग का प्रमाण विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न बतलाया है जैसे दैवासिक प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण १०८ उच्छ्वास है रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास है।

आचार्य कुन्द कुन्द के नियमसार में भी आवश्यकों का कथन है वह इससे भिन्न है। उन्हों ने कहा है वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय आलोचना तो स्वाध्याय है। यदि प्रतिक्रमणादि करने में शक्ति है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण कर।

प्रायश्चित्त—जिस तप के द्वारा पूर्वकृत पाप का शोधन किया जाता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और

श्रद्धान। आचार्य से दोष का निवेदन करना आलोचना है। मेरा दोष मिथ्या हो इस प्रकार की भावना-पूर्वक प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण को उभय कहते हैं। विवेक के दो प्रकार हैं गणविवेक और स्थानविवेक। कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। अनशन आदि को तप कहते हैं। पक्ष मास आदि के द्वारा दीक्षा का छेदन छेद है। पुनः दीक्षा देना मूल है। परिहार के दो भेद हैं गण प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध। मुनियों के द्वारा नमस्कार न किया जाना गण प्रतिबद्ध परिहार है। गण से अन्यत्र जाकर मौनपूर्वक तपश्चरण करना अगण प्रतिबद्ध परिहार है। तत्त्वरुचि होना या क्रोधादि न करना श्रद्धान है। दोष के अनुरूप प्रायश्चित्त देने का विधान है (मूला., ५।१६५)। तत्त्वार्थसूत्र में मूल के स्थान में उप-स्थापना है किन्तु अर्थ में अन्तर नहीं है।

आर्या के साथ संपर्क निषिद्ध—मूलाचार (४+१७७ आदि) में लिखा है कि आर्या के आने पर मुनि को ठहरना नहीं चाहिए अर्थात् उसके साथ एकाकी नहीं रहना चाहिए और धर्मकार्य के सिवाय वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। यदि वह एकाकी कुछ प्रश्न करे तो उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि वह गणिनी को आगे करके पूँछे तो उत्तर देना चाहिए।

यदि कोई तरुण मुनि तरुण आर्या के साथ वार्तालाप करता है तो वह पांच दोषों का भागी होता है। मुनि को आर्या के निवास स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए। न वहाँ स्वाध्याय आदि करना चाहिए। क्यों कि चिरकाल के दीक्षित वृद्ध आचार्य और बहुश्रुत तपस्वी भी काम से मलिन चित्त होने पर सब नष्ट कर देते हैं। यदि ऐसा न हो तो भी क्षणभर में अपवाद फैल जाता है अतः कन्या, विधवा, आर्या आदि का सहवास नहीं करना चाहिए। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आर्या का संसर्ग सर्वथा त्याज्य है तो उनका प्रतिक्रमणादिक कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में कहा है कि आर्यायों का गणधर गम्भीर, मितवादी चिरदीक्षित पापभीरु दृढ़व्रती निग्रह अनुग्रह में कुशल मुनि होता है। यदि इन गुणों से रहित व्यक्ति आर्याओं का गणधर होता है तो वह गण आदि घातक होने से चार प्रायश्चित्तों का भागी होता है।

आर्या की चर्या—आर्या की चर्या भी मुनि की तरह होती है। उनका वस्त्र तथा वेश विकार रहित होता है, शरीर मल से लिप्त रहता है, तप संयम स्वाध्याय में अपना समय बिताती है। एक साथ दो तीन या अधिक रहती हैं। बिना प्रयोजन किसी के घर नहीं जाती। जाना आवश्यक हो तो गणिनी से पूँछकर अन्य आर्यिकाओं के साथ जाती है; रोना, स्नान, भोजन बनाना आदि नहीं करती। मुनियों के पैर धोना, तेल लगाना, पग चम्पी भी नहीं करती। भिक्षा के लिए तीन या पांच या सात आर्यिकाएँ वृद्धाओं के साथ जाती हैं। आचार्य को पांच हाथ की दूरी से, उपाध्याय को छह हाथ की दूरी से और साधु को सात हाथ की दूरी से गवासन नमस्कार करती हैं।

इस प्रकार मूलाचार में मुनियों और आर्यिकाओं के आचार का वर्णन है। जो मुनियों और आर्यिकाओं को विशेष रूप से पढ़ना चाहिये।

समन्तभद्र भारती

परमानन्द जैन शास्त्री

आचार्य समन्तभद्र विक्रमकी तीसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। वे असाधारण विद्या के धनी थे, और उनमें कवित्व एवं वाग्मित्वादि शक्तियाँ विकासकी चरमावस्था प्राप्त हो गईं थीं। समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। वे एक क्षत्रिय राजपुत्र थे उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। समन्तभद्रका जन्म नाम शान्तिवर्मा था। उन्होंने कहां और किसके द्वारा शिक्षा पाई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी कृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनको—जैन धर्म में बड़ी श्रद्धा थी और उनका उसके प्रति भारी अनुराग था। वे उसका प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने राज्यवैभव के मोह का परित्याग कर गुरु से जैन दीक्षा ले ली। और तपश्चरण द्वारा आत्मशक्ति को बढ़ाया। समन्तभद्रका मुनि जीवन महान् तपस्वी का जीवन था। वे अहिंसादि पंच महाव्रतों का पालन करते थे, और ईर्या-भाषा-एषणादि पंच समितियों द्वारा उन्हें पुष्ट करते थे। पंच इन्द्रियों के निग्रह में सदा तत्पर और मन-वचन-काय रूप गुप्तित्रय के पालन में धीर, और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में सदा सावधान रहते थे। और इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि मेरी दैनिक चर्या या कषाय भाव के उदय से कभी किसी जीवको कष्ट न पहुँच जाय। अथवा प्रमादवश कोई बाधा न उत्पन्न हो जाय। इस कारण वे दिन में पदमर्दित मार्ग से चलते थे, किन्तु चलते समय अपनी दृष्टि को इधर-उधर नहीं घुमाते थे। किन्तु उनकी दृष्टि सदा मार्ग शोधन में अग्रसर रहती थी। वे रात्रि में गमन नहीं करते थे। और निद्रावस्था में भी वे इतनी सावधानी रखते थे कि जब कभी कर्वट बदलना ही आवश्यक होता तो पीछी से परिमार्जित करके ही बदलते थे। तथा पीछी, कमंडलु और पुस्तकादि वस्तु को देख-भाल कर उठाते रखते थे, एवं मल-मूत्रादि भी प्राशुक भूमि में क्षेपण करते थे। वे उपसर्ग-परीषहों को साम्य भावसे सहते हुए भी कभी चित्त में उद्विग्न या खेदित नहीं होते थे। उनका भाषण हित-मित और प्रिय होता था। वे भ्रामरी वृत्ति से अनोदर आहार लेते थे। पर उसे जीवन—यात्रा का मात्र अवलम्बन (सहारा) समझते थे। और ज्ञान, ध्यान एवं संयम की वृद्धि और शारीरिक स्थिति का सहायक मानते थे। स्वाद के लिये उन्होंने कभी आहार नहीं लिया। इस तरह वे मूलाचार (आचारांग) में प्रतिपादित चर्याके अनुसार व्रतोंका अनुष्ठान करते थे। अट्ठाईस मूलगुणों और उत्तर गुणोंका पालन करते हुए उनकी विराधना न हो, उसके प्रति सदा जागरुक रहते थे।

इस तरह मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए भी कर्मोदय वश उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। उसके होनेपर भी वे कभी अपनी चर्या से चलायमान नहीं हुए। जब जठराग्नि की तीव्रता भोजन का

तिरस्कार करती हुई उसे क्षणमात्र में भस्म करने लगी, क्योंकि वह भोजन मर्यादित और नीरस होता था उससे जठराग्नि की तृप्ति होना संभव नहीं था, उसके लिये तो गुरु स्निग्ध, शीतल और मधुर अन्न–पान जब तक यथेष्ट परिमाण में न मिलें, तो वह जठराग्नि शरीर के रक्त–मांसादि धातुओं को भस्म कर देती है। शरीर में दौर्बल्य हो जाता है, तृषा, दाह और मूर्च्छादिक अन्य अनेक बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं। बढ़ती हुई क्षुधा के कारण उन्हें असह्य वेदना होने लगी, '**क्षुधासमानास्ति शरीरवेदना**' की नीति चरितार्थ हो रही थी।

समन्तभद्र ने जब यह अनुभव किया कि रोग इस तरह शान्त नहीं होता, किन्तु दुर्बलता निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। अतः मुनिपद को स्थिर रखते हुए इस रोग का प्रतीकार होना संभव नहीं है। दुर्बलता के कारण जब आवश्यक क्रियाओं में भी बाधा पड़ने लगी, तब उन्होंने गुरुजी से भस्मक व्याधि का उल्लेख करते हुए निवेदन किया कि भगवन्! इस रोग के रहते हुए निर्दोष चर्या का पालन करना अब अशक्य हो गया है। अतः अब मुझे आप समाधि मरण की आज्ञा दीजिये। परन्तु गुरु बड़े विद्वान, तपस्वी, धीर–वीर एवं साहसी थे, और समन्तभद्र की जीवनचर्या से अच्छी तरह परिचित थे, निमित्तज्ञानी थे, और यह भी जानते थे कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं हैं। और भविष्य में इनसे जैनधर्म की विशेष प्रभावना होने की संभावना है। ऐसा सोच कर उन्होंने समन्तभद्र को आदेश दिया कि समन्तभद्र, तुम समाधिमरण के सर्वथा अयोग्य हो। तुम पहले इस वेष को छोड़कर भस्मक व्याधि को शान्त करो। जब यह व्याधि शान्त हो जाय, तब प्रायश्चित्त लेकर मुनिपद ले लेना। समन्तभद्र तुम्हारे द्वारा जैनधर्म का अच्छा प्रचार और प्रसार होगा। समन्तभद्र ने गुरु आज्ञा से मुनिपद तो छोड़ दिया और अनेक वेषों को धारण कर भस्मक व्याधि का निराकरण किया। जब व्याधि शान्त हो गई तब वे प्रायश्चित्त लेकर मुनिपद में स्थित हो गए। उन्होंने वीरशासन का उद्योत करने के लिये विविध देशों में विहार किया। स्वामी समन्तभद्र के असाधारण गुणों का प्रभाव तथा लोकहित की भावना से धर्मप्रचार के लिये देशाटन का शिलालेखादि से कितना ही हाल ज्ञात होता है। उससे यह भी जान पड़ता है कि वे जहां जाते थे, वहां के विद्वान उनकी वाद घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणों को चुपचाप सुन लेते थे, पर उनका विरोध नहीं करते थे, इससे उनके महान् व्यक्तित्व का कितना ही दिग्दर्शन हो जाता है। जिन–जिन स्थानों में उन्होंने वाद किया उनका उल्लेख श्रवण बेलगोल के शिलालेख के निम्न पद्य में पाया जाता है:—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालव–सिन्धु–ठक्क–विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

आचार्य समन्तभद्र ने करहाटक पहुंचने से पहले जिन देशों तथा नगरों में वाद के लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र (पटना) मालवा, सिंधु, ठक्क (पंजाब) देश, काञ्चीपुर (कांजीवरम्) विदिशा (भिलसा) ये प्रधानदेश थे, जहां उन्हों ने वाद की भेरी बजाई थी।

काञ्च्यां नग्नाटकोहं मल-मलिनतनु लाम्बुसा पाण्डुपिण्डः ।
पुण्डोड्रे शाक्यभिक्षु दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्तिशक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ।।

आचार्य समन्त भद्र जहां जिस वेश में पहुंचे उसका उल्लेख इस पद्य में किया गया है। साथ में यह भी व्यक्त किया गया है कि हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूं जिस की शक्ति हो सामने आकर वाद करें।

आचार्य समन्तभद्र के वचनों की यह खास विशेषता थी कि उनके वचन स्याद्वाद न्याय की तुला में तुले हुए होते थे। चूं कि वे स्वयं परीक्षा प्रधानी थे। आचार्य विद्यानन्द ने उन्हें 'परीक्षेक्षण'—परीक्षानेत्र से सब को देखनेवाला—लिखा है। वे दूसरों को परीक्षा प्रधानी बनने का उपदेश देते थे। उनकी वाणी का यह जबर्दस्त प्रभाव था कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके समक्ष मृदु भाषी बन जाते थे।

स्वामी समन्तभद्र के असाधारण व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले पद्य में कुछ विशेषण ऐसे उपलब्ध होते हैं जिन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। वह पद्य[१] इस प्रकार है—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तन्त्रिकोऽहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलाया मिलायाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥"

इस पद्यके सभी विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु उनमें आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत ये दो विशेषण समन्त-भद्र के असाधारण व्यक्तित्व के द्योतक हैं। वे स्वयं राजा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—हे राजन्! मैं इस समुद्रवलया पृथ्वी पर आज्ञा सिद्ध हूं—जो आदेश देता हूं वही होता है। और अधिक क्या कहूं? मैं सिद्ध सारस्वत हूं—सरस्वती मुझे सिद्ध है। सरस्वती की सिद्धि में ही समन्तभद्र की वादशक्ति का रहस्य सन्निहित है।

स्वामी समन्तभद्र को 'आद्यस्तुतिकार' होने का गौरव भी प्राप्त है। श्वेताम्बरीय आचार्य मलया-गिरि ने 'आवश्यक सूत्र' की टीका में **'आद्य स्तुति कारोप्याह'**—वाक्य के साथ स्वयंभूस्तोत्र का 'नयास्तव स्यात्पद-सत्यलाञ्छन (ञ्छिता) इमे' नाम का श्लोक उद्धृत किया है।

आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती आचार्यों, कवियों, विद्वानों और शिलालेखों में उनके यश का खुला गान किया गया है।

---

१. देखो, पंचायती मन्दिर दिल्ली का जीर्ण-शीर्ण गुच्छक।

आचार्य जिनसेन ने कवियों को उत्पन्न करनेवाला विधाता (ब्रह्मा) बतलाया है, और लिखा है कि उनके वचनरूपी वज्रपात से कुमतिरूपी पर्वत खण्ड–खण्ड हो गए थे ।[1]

कविवादीभसिंहसूरि ने समन्तभद्र मुनीश्वर का जयघोष करते हुए उन्हें सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि बतलाया है । और लिखा है कि उनके वचनरूपी वज्रनिपात से प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूप पर्वतों की चिटियां खण्ड खण्ड हो गई थीं ।[2] समन्तभद्र के आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का कोई गौरव नहीं रह गया था । आचार्य जिनसेन ने समन्तभद्र के वचनों को वीर भगवान् के वचनों के समान बतलाया है ।[3]

शक संवत् १०५९ के एक शिलालेख में तो यहां तक लिखा है कि स्वामी समन्तभद्र वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ की सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए[4] ।

वीरनन्दी आचार्य ने 'चन्द्रप्रभचरित्र में लिखा है कि गुणों से–सूत के धागों से–गूँफी गई निर्मल मोतियों से युक्त और उत्तम पुरुषों के कण्ठ का विभूषण बनी हुई हार यष्टि को—श्रेष्ठ मोतियों की माला को—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन समन्तभद्र की भारती–वाणी को पा लेना कठिन है; क्योंकि वह वाणी निर्मलवृत्त (चरित्र) रूपी मुक्ताफलों से युक्त है और बड़े बड़े मुनिपुंगवों–आचार्यों ने अपने कण्ठ का आभूषण बनाया है, जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

" गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टि परमैव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥ "

इस तरह समन्तभद्र की वाणी का जिन्हों ने हृदयंगम किया है वे उसकी गंभीरता और गुरुता से वाकिफ हैं । आचार्य समन्तभद्र की भारती (वाणी) कितनी महत्त्वपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है । स्वामी समन्तभद्र ने अपनी लोकोपकारिणी वाणी से जैन मार्ग को सब ओरसे कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है[5] । जिन्होंने उनकी भारती का अध्ययन और मनन किया है वे उसके महत्त्व से परिचित हैं । उनकी वाणी में उपेय और उपाय दोनों तत्त्वों का कथन अंकित है, जो पूर्वपक्ष का निराकरण करने में समर्थ है, जिसमें सप्त भंगों सप्त नयों द्वारा जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान कराया गया है । और जिसमें आगमद्वारा वस्तु धर्मों को सिद्ध किया गया है । जिसके प्रभाव से पात्रकेशरी जैसे ब्राह्मण विद्वान जैन धर्म की

---

१. नमः समन्तभद्राय महते कवि वेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः ॥

२. सरस्वती–स्वैर–विहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्र–निपात–पाटित–प्रतिपराद्धान्त महीध्रकोटयः ॥ —गद्य चिन्तामणि

३. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ।' —हरिवंशपुराण

४. देखो, वेलूर तालुके का शिलालेख नं. १७, जो सौम्यनाथ मन्दिर की छत के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है ।
—स्वामी समन्तभद्र, पृ. ४६

५. जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः । —मल्लिषेणप्रशस्ति

शरण में आकर प्रभावशाली आचार्य बने। जिस पर अकलंक और विद्यानन्द जैसे मुनिपुंगवों के द्वारा भाष्य और टीका ग्रंथ रचे गये हैं वह समन्तभद्र वाणी सभी के द्वारा अभिनन्दनीय, वन्दनीय और स्मरणीय है।

इस समय स्वामी समन्तभद्र की ५ कृतियां उपलब्ध हैं। देवागम (आप्तमीमांसा) स्वयंभूस्तोत्र, मुक्त्यनुशासन, जिनशतक (स्तुतिविद्या), रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र)। इनके अतिरिक्त 'जीवसिद्धि' नामकी कृति का उल्लेख तो मिलता है ? [1] पर वह अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुई। यहां इन कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

देवागम—जिस तरह आदिनाथ स्तोत्र 'भक्तामर' शब्दों से प्रारंभ होने के कारण भक्तामर कहा जाता है। उसी तरह यह ग्रन्थ भी 'देवागम' शब्दों से प्रारंभ होने के कारण 'देवागम' कहा जाने लगा। इसका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' है। ग्रन्थ में दश परिच्छेद और ११४ कारिकाएं हैं। ग्रन्थ-कार ने वीर जिनकी परीक्षा कर उन्हें सर्वज्ञ और आप्त बतलाया, तथा 'युक्तिशास्त्रविरोधिवाक् हेतु के द्वारा आप्त की परीक्षा की गई है–जिसके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी पाये गए उन्हें ही आप्त बतलाया। और जिनके वचन युक्ति और शास्त्र के विरोधी हैं, उन्हें आप्त नहीं बतलाया। क्योंकि उनके वचन बाधित हैं। साथ में यह भी बतलाया कि हे भगवान्! आपके शासनामृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्त वादी हैं, वे आप्त नहीं हैं, किन्तु आप्त के अभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है[2]। इस कारण भगवान आपही निर्दोष हैं। पश्चात् उन एकान्त बादों की भावैकान्त अभावैकान्त, उभयैकान्त, अवाच्यतैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त भेदैकान्त–अभेदैकान्त, प्रथकत्वैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त, दैवैकान्त, पारुषैकान्त हेतुवाद, आगमवाद आदि की—समीक्षा की गई है। और बतलाया है कि इन एकान्तों के कारण लोक, परलोक, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, दैव, पुरुषार्थ आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती। इनकी सिद्धि स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद का कथन करते हुए बतलाया है कि स्याद्वाद के बिना हेय, उपादेय तत्त्वों की व्यवस्था भी नहीं बनती। क्योंकि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की विवक्षा लिये रहता है। आचार्य महोदय ने इन एकान्त वादियों को—जो वस्तु को सर्वथा एकरूप मान्यता के आग्रह में अनुरक्त हैं, उन्हें स्व-पर वैरी बतलाया है—'**एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु**'। वे एकान्त के पक्षपाति होने के कारण स्व-पर वैरी हैं। क्योंकि उनके मत में शुभ अशुभ, कर्म, लोक, परलोक आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती। कारण वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसमें अनन्त धर्मगुणस्वरूप मौजूद हैं। वह उनमें से एक ही धर्म को मानता है– उसी का उसे पक्ष है, इसीलिये उसे

---

१ जीवसिद्धि विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः सन्मतभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥ —हरिवंपुराण १–३०

२ "सत्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन बाध्यते॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ —आप्तमीमांसा ६–७

स्व-पर-वैरी कहा गया है। सापेक्ष और निरपेक्ष नयों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि निरपेक्ष नय मिथ्या और सापेक्ष नय सम्यक् हैं, और वस्तु तत्त्व की सिद्धि में सहायक होते हैं। इनसे ग्रन्थ की महत्ता का सहजही बोध हो जाता है। स्वामीजी ने लिखा है कि यह ग्रन्थ हिताभिलाषी भव्य जीवों के लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेश के अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये रचा गया है[1]।

इस महान् ग्रन्थ पर भट्टाकलंक देव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य लिखा है, जो आठसौ श्लोक प्रमाण है। और विद्यानंदाचार्य ने 'अष्टसहस्री' नाम की एक बड़ी टीका लिखी है जो आज भी गूढ है जिसके रहस्य को थोड़े व्यक्ति ही जानते हैं, जिसे 'देवागमालंकृति' तथा आप्तमीमांसालंकृति भी कहा जाता है। 'देवागमालंकृति' में आ. विद्यानन्द ने पूरी 'अष्टशती' को आत्मसात् कर लिया है। अष्टसहस्री पर एक संस्कृत टिप्पण भी है, और देवागम पर एक वृत्ति है जिसके कर्ता आचार्य वसुनन्दी हैं। पं. जयचन्द्रजी छावड़ाने देवागम की हिन्दी टीका लिखी है, जो अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुकी है।

स्वयंभूस्तोत्र—प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम स्वयंभूस्तोत्र या चतुर्विंशति जिनस्तुति है। जिस तरह स्तोत्रों के प्रारम्भिक शब्दानुसार 'कल्याणमन्दिर' एकीभाव, भक्तामर और सिद्धप्रिय का नाम रखने की परम्परा रूढ है, उसी तरह प्रारम्भिक शब्द की दृष्टि से स्वयंभूस्तोत्र भी सुघटित है, इसमें वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। दूसरों के उपदेश के बिना ही जिन्हों ने स्वयं मोक्षमार्ग को जानकर और उसका अनुष्ठान कर अनन्त चतुष्टय स्वरूप—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप—आत्म–विकास को प्राप्त किया है उन्हें स्वयंभू कहते हैं।[2] वृषभादि वीरपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर अनन्त चतुष्टयादि रूप आत्मविकास को प्राप्त हुए हैं। अतः वे स्वयम्भू पद के स्वामी हैं। अतएव यह स्वयम्भूस्तोत्र सार्थक संज्ञा को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ समन्तभद्र भारती का एक प्रमुख अंग है। रचना अपूर्व और हृदयहारिणी है। यद्यपि यह ग्रन्थ स्तोत्र की पद्धति को लिए हुए है। स्तुतिपरक होने से ही यह ग्रन्थ भक्तियोग की प्रधानता को लिए हुए हैं। गुणानुराग को भक्ति कहते हैं। जब तक मानव का अहंकार नहीं मरता तब तक उसकी विकासभूमि तैयार नहीं होती। पहले से यदि कुछ विकास होता भी है तो वह अहंकार आते ही विनष्ट हो जाता है, कहा भी है—'किया कराया सब गया जब आया हुंकार।' इस लोकोक्ति के अनुसार वह दूषित हो जाता है। भक्तियोग से जहाँ अहंकार मरता है वहाँ विनय का विकास होता है, मृदुता उत्पन्न होती है। इसी कारण विकासमार्ग में सबसे प्रथम भक्तियोग को अपनाया गया है। आचार्य समन्तभद्र विकास को प्राप्त शुद्धात्माओं के प्रति कितने विनम्र और उनके गुणों में अनुरक्त थे, यह उनके स्तुति

---

१. इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छता।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ–विशेष प्रतिपत्तये॥ —देवागम ११४

२. "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्य अनुष्ठाय वाऽनन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयंभूः।"
—प्रभाचन्द्राचार्यः

ग्रन्थों से स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्तुतिविद्या में अपने विकास का प्रधान श्रेय भक्तियोग को दिया है। और भगवान जिनेन्द्र के स्तवन को भव-वन को भस्म करनेवाली अग्नि बतलाया है। और उनके स्मरण को दुख-समुद्र से पार करनेवाली नौका लिखा है। उनके भजन को लोह से पारसमणि को स्पर्श समान कहा है। विद्यमान गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके उन्हें बढ़ा चढ़ा कर कहना लोक में स्तुति कही जाती है। किन्तु समन्तभद्राचार्य की स्तुति लोकस्तुति जैसी नहीं है। उसका रूप जिनेन्द्र के अनन्त-गुणों में से कुछ गुणों का अपनी शक्ति अनुसार आंशिक कीर्तन करना है।[1] जिनेन्द्र के पुण्यगुणों का स्मरण एवं कीर्तन आत्मा की पाप-परिणति को छुड़ा कर उसे पवित्र करता है। आत्मविकास में वह सहायक होता है।

यह कोरा स्तुतिग्रन्थ नहीं है किन्तु इसमें स्तुति के बहाने जैनागम का सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है, टीकाकार प्रभाचन्द्र ने–' निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः ' और ' स्तवोयमसमः ' विशेषणों द्वारा इस स्तवन को अद्वितीय बतलाया है। समन्तभद्र स्वामी का यह स्तोत्र ग्रन्थ अपूर्व है। उसमें निहित वस्तुतत्त्व स्वर-पर के विवेक कराने में सक्षम है।

यद्यपि पूजा स्तुति से जिन देव का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे वीतराग हैं—राग-द्वेषादि से रहित हैं। अतः किसी की भक्ति पूजा से वे प्रसन्न नहीं होते किन्तु सच्चिदानन्दमय होने से वे सदा प्रसन्न स्वरूप हैं। निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं हैं क्योंकि वे वैर रहित हैं। तो भी उनके पुण्य-गुणों के स्मरण से पाप दूर भाग जाते हैं। और पूजक या स्तुतिकर्ता की आत्मा में पवित्रता का संचार हो जाता है[2]। स्वामीजी ने इसे और भी स्पष्ट किया है।

स्तुति के समय उस स्थान पर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो, फल की प्राप्ती भी चाहे सीधी होती हो या न होती हो, परन्तु आत्म-साधना में तत्पर साधु स्तोता की, विवेक के साथ भक्तिपूर्वक की गई स्तुति कुशल परिणाम की, पुण्यप्रसाधक पवित्र शुभ भावों की, कारण जरूर होती है। और वह कुशल परिणाम, श्रेय फल की दाता है। जब जगत में स्वाधीनता से श्रेयोमार्ग इतना सुलभ है, तब सर्वदा अभिपूज्य हे नमि जिन! ऐसा कौन विद्वान अथवा विवेकी जन है जो आपकी स्तुति न करें-अवश्य ही करेगा[3]। महावीर जिन स्तवन में स्याद्वाद को अनवद्य बतलाते हुए स्तवन को पूर्ण किया है:—

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादः स द्वितीय विरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः॥

---

१. याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या, लोकेस्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम॥ युक्त्यनु० २

२. स्वयंभूस्तोत्र, ५७.

३. स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपिततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्नत्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥११६।

हे मुनीश्वर ! 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथन को लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है, वह निर्दोष है, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा जो 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथन से रहित सर्वथा एकान्त वाद है वह निर्दोष नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणों से विरुद्ध है।

इन चतुर्विंशति तीर्थंकरों के स्तवनों में गुणकीर्तनादि के साथ कुछ ऐसी बातों का अथवा घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जो इतिहास तथा पौराणिकता से सम्बन्ध रखती हैं। और स्वामी समन्तभद्र की लेखनी से प्रसूत होने के कारण उनका अपना खासा महत्व है। जब भगवान पार्श्वनाथ पर केवल ज्ञान होने से पूर्व सम्बर नामक ज्योतिषी देव ने उपसर्ग किया था और धरणेन्द्र पद्मावती ने उससे उनकी सुरक्षा का प्रयत्न किया था। तब भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। और वह संवर देव भी काल-लब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यक्त्व की विशुद्धता प्राप्त कर ली। स्तवन में भगवान पार्श्वनाथ के कैवल्य जीवन की उस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया गया है। जब भगवान पार्श्वनाथ को विधूत कल्मष और शमोपदेश ईश्वर के रूप में देखकर वे वनवासी तपस्वी भी शरण में प्राप्त हुए थे, जो अपने श्रम को—पंचाग्नि साधनादिरूप प्रयास को विफल समझ गये थे, और भगवान पार्श्वनाथ जैसे विधूत कल्मष–घातिकर्म चतुष्टय रूप पाप से रहित–ईश्वर बनने की इच्छा रखते थे उन तपस्वियों की संख्या सातसौ बतलाई गई है।[1] स्तवन का वह पद्य इस प्रकार है—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्वश्रम-वन्ध्य-बुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ ४ ॥

स्तुतिविद्या—इस ग्रन्थ का मूलनाम 'स्तुतिविद्या' है, जैसा कि प्रथम मंगल पद्य में प्रयुक्त हुए "स्तुतिविद्यां प्रसाधये" प्रतिज्ञा वाक्य से ज्ञात होता है। यह शब्दालंकार प्रधान ग्रन्थ है। इसमें चित्रालंकार के अनेक रूपों को दिया गया है। उन्हें देखकर आचार्य महोदय के अगाध काव्यकौशल का सहज ही पता चल जाता है। इस ग्रन्थ के कविनाम गर्भचक्रवाले 'गत्वैकस्तुतमेव' ११६ वे पद्य के सातवें वलय में 'शान्तिवर्मकृतं' और चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है। ग्रन्थ में कई तरह के चक्रवृत्त दिये हैं। स्वामी समन्तभद्र ने अपने इस ग्रन्थ को 'समस्तगुणगणोपेता' और 'सर्वालंकारभूषिता' बतलाया है। यह ग्रन्थ इतना गूढ़ है कि बिना संस्कृत टीका के लगाना प्रायः असंभव है। इसीसे टीकाकार ने 'योगिनामपि दुष्करा' विशेषण द्वारा योगियों के लिये भी दुर्गम बतलाया है। ग्रन्थ समन्तभद्र भारती का अंगरूप है। इसमें वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों की—अलंकृत भाषा में कलात्मक स्तुति की गई है इसका शब्दविन्यास अलंकार की विशेषता को लिये हुए है। कहीं श्लोक के एक चरण को उल्टा रख देने से दूसरा चरण बन जाता है। और पूर्वार्ध को उलटकर रख देने से उत्तरार्ध, और समूचे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है। ऐसा होने पर भी उनका अर्थ भिन्न भिन्न है। इस ग्रन्थ के

---

१ प्रापत्सम्यक्त्वशुद्धिं च दृष्ट्वा तद्वनवासिनः ।
तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शतानां सप्तसंयमम् ॥ —उत्तर पुराण ७३, १४६

अनेक पद्य ऐसे हैं जो एक से अधिक अलंकारों को लिये हुए हैं। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो दो दो अक्षरों से बने हैं—दो व्यंजनाक्षरों से ही जिन के शरीर की सृष्टि हुई है[१]। स्तुतिविद्या का १४ वां पद्य ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद भिन्न प्रकार के एक एक अक्षर से बना है, यथा—

ये यायायाययेयाय नानानूना ननानन ।
ममा ममा ममा मामितातत्तीतिततीतितः ॥

यह ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है यह टीकाकार के—'घन-कठिन-घाति-कर्मेन्धनदहनसमर्था' वाक्य से जाना जाता है जिसमें घने एवं कठोर घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्म करनेवाली अग्नि बतलाया है।

इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य प्रथम पद्यमें 'आगसां जये' वाक्य द्वारा पापों को जीतना बतलाया है। वास्तव में पापों को कैसे जीता जाता है यह बड़ा रहस्य पूर्ण विषय है। इस विषय में यहां इतना लिखनाही पर्याप्त होगा कि ग्रन्थ में जिन तीर्थंकरों की स्तुति की गई है—वे सब पाप विजेता हुए हैं—उन्होंने काम, क्रोधादि पाप प्रकृतियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की है, उनके चिंतन वंदन और आराधन से तदनुकूल वर्तन से अथवा पवित्र हृदय मन्दिर में विराजमान होने से पाप खड़े नहीं रह सकते। पापों के बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने से उससे लिपटे हुए भुजंगों (सर्पों) के बन्धन ढीले पड जाते हैं,[२] और वे अपने विजेता से घबराकर अन्यत्र भाग जाने की बात सोचने लगते हैं। अथवा उन पुण्य पुरुषों के ध्यानादिक से आत्मा का वह निष्पाप वीतराग शुद्ध स्वरूप सामने आ जाता है। उस शुद्ध स्वरूप के सामने आते ही आत्मा में अपनी उस भूली हुई निज निधि का स्मरण हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये अनुराग जागृत हो जाता है, तब पाप परिणति सहज ही छूट जाती है अतः जिन पवित्र आत्माओं में वह शुद्ध स्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है उनकी उपासना पूजा करता हुआ भव्य जीव अपने में अपने उस शुद्ध स्वरूप को विकसित करने के लिये उसी तरह समर्थ होता है जिस तरह तैलादि विभूषित बत्ती दीपक की उपासना करती हुई उसमें तन्मय हो जाती है—स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब उस भक्तियोग का ही माहात्म्य है। भक्ति के दो रूप हैं सकामा और निष्कामा। सकामा भक्ति संसार के ऐहिक फलों की वांछा को लिये हुए होती है वह संसार तक ही सीमित रखती है। वर्तमान में उसमें कितना ही विकार आगया है, लोग उस भक्ति के मौलिक रहस्य को भूल गए हैं और जिनेन्द्र मुद्रा के समक्ष लौकिक एवं सांसारिक कार्यों की याचना करने लगे हैं। वहां भक्त जन भक्ति के गुणानुराग से च्युत होकर सांसारिक लौकिक कार्यों की प्राप्ति के लिये भक्ति करते देखे जाते हैं। किन्तु निष्काम भक्ति में किसी प्रकार की चाह या अभिलाषा नहीं होती, वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामों की जनक है। उससे कर्मनिर्जरा होती है, और आत्मा उससे अपनी स्वात्मस्थिति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अतः निष्काम भक्ति भव समुद्र से पार उतरने में निमित्त होती है।

---

१. देखो ५१, ५२ और ५५ वां पद्य।

२. हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेण निविड़ा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ —कल्याणमन्दिरस्तोत्र

शुभाशुभभावों, तरतमता और कषायादि परिणामों की तीव्रता-मन्दतादि के कारण कर्म प्रकृतियों में बराबर संक्रमण होता रहता है। जिस समय कर्म प्रकृतियों के उदय की प्रबलता होती है उस समय प्रायः उनके अनुरूप ही कार्य सम्पन्न होता है। फिर भी वीतरागदेव की उपासना के समय उनके पुण्य-गुणों का प्रेमपूर्वक स्मरण और चिन्तन द्वारा उनमें अनुराग बढ़ाने से शुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है जिससे पाप परिणति छूट जाती है और पुण्य परिणति उसका स्थान लेलेती है, इससे पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ जाता है। पुण्य प्रकृतियों के रस में अभिवृद्धि होने से अन्तराय कर्म जो मूल पाप प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्न रस होकर निर्बल हो जाती है, फिर वह हमारे इष्ट कार्यों में बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं होती। तब हमारे लौकिक कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में उद्धृत निम्न पद्य से प्रकट है :—

"नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरामः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्पादिरिष्टार्थ कदाऽर्हदादेः॥"

इससे वीतराग देव की निर्दोष भक्ति अमित फल को देनेवाली है इसमें कोई बाधा नहीं आती।

युक्त्यनुशासन—इस ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन है। यह ६४ पद्यों की एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने ग्रन्थ के आदि और अन्त के पद्यों में युक्त्यनुशासन का कोई नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु उनमें स्पष्ट रूप से वीर जिनस्तवन की प्रतिज्ञा और उसी की परिसमाप्ति का उल्लेख है।[1] इस कारण ग्रन्थ का प्रथम नाम वीरजिनस्तोत्र है।[1]

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ४८ वें पद्य में 'युक्त्यनुशासन' पद का प्रयोग कर उसकी सार्थकता प्रदर्शित की है, और बतलाया है कि युक्त्यनुशासन शास्त्र प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक है। "—दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।" अथवा जो युक्ति प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध नहीं है, उस वस्तु की व्यवस्था करने वाले शास्त्र का नाम युक्त्यनुशासन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु तत्व का जो कथन प्रत्यक्ष और आगम से विरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं हो सकता। साध्याविना भावी साधन से होने वाले साध्यार्थ का कथन युक्त्यनुशासन है।[2]

इस परिभाषा को वे उदाहरण द्वारा पुष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में वस्तु स्वरूप स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन तीनों को प्रति समय लिये हुए ही व्यवस्थित होता है। इस उदाहरण में जिस

---

१. 'स्तुति गोचरत्वं निनीषवःस्मो वयमद्यवीरं।' युक्त्यनुशासन १. 'स्तुतः शक्त्याश्रेयः पद्माधिगस्त्वं जिन! मया, महावीरो वीरोदुरित परसेनाऽभिविजय' ॥ ६४॥

२. 'अन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थ प्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति।'
—युक्त्यनुशासन टीका पृ. १२२.

तरह वस्तु तत्त्व उत्पादादि त्रयात्मक युक्ति द्वारा सिद्ध किया गया है उसी तरह वीर शासन में सम्पूर्ण अर्थ समूह प्रत्यक्ष और आगम अविरोधी युक्तियों से प्रसिद्ध है ।[1]

पुन्नाट संघी जिनसेन ने हरिवंश पुराण में बतलाया है कि आचार्य समन्तभद्र ने जीवादि सिद्धि नामक ग्रन्थ बनाकर युक्त्यनुशासन की रचना की है ।[2] चुनाचे टीकाकार आचार्य विद्यानन्द ने भी ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन बतलाया है ।[3]

ग्रन्थ में दार्शनिक दृष्टि से जो वस्तुतत्त्व चर्चित हुआ है वह बड़ा ही गम्भीर और तात्त्विक है । इसमें स्तवन प्रणाली से ६४ पद्यों द्वारा स्वमत पर मत के गुणदोषों का निरूपण प्रबल युक्तियों द्वारा किया गया है ।

आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्त्व' हेतु से देवागम में आप्त की परीक्षा की है । जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोध रूप हैं उन्हें ही आप्त बतलाया है । और शेष का आप्त होना बाधित ठहराया है । और बतलाया है कि आपके शासनामृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं हैं किन्तु आप्ताभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है[4] ।

ग्रन्थ में भगवान महावीर की महानता को प्रदर्शित करते हुए बतलाया है कि—वे अतुलित शान्ति के साथ शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को—चरमसीमा को—प्राप्त हुए है । और शान्तिसुखस्वरूप हैं—आप में ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप कर्मफल के क्षय से अनुपम ज्ञानदर्शन का तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनन्तवीर्य का आविर्भाव हुआ है, और मोहनीय कर्म के विनाश से अनुपम सुख को प्राप्त हैं । आप ब्रह्म पथ के—मोक्षमार्ग के—नेता हैं, और महान् हैं । आपका मत—अनेकान्तात्मक शासन—दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिये हुए हैं—ओतप्रोत हैं । नयों और प्रमाणों द्वारा सम्यक वस्तुतत्त्व को सुनिश्चित करने वाला है, और सभी एकान्त वादियों द्वारा अबाध्य है । इस कारण वह

---

१. 'जीव सिद्धि विधापीह कृत युक्त्यनुशासनम् ।'—हरिवंशपुराण.

२. जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम् ।' (१)
'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपते वीरस्य निःशेषतः ।
श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षे क्षणैः ।
साक्षात्स्वामि समन्तभद्र गुरुभिस्तत्वं समीक्ष्यांऽखिलम् ।
प्रोक्ते युक्त्यनुशासनं विजयभिः स्याद्वादमार्गानुगैः ॥"

३. युक्त्यनुशासन, प्रस्तावना पृ. २ ।

४. सत्वमेवासि निर्दोषो मुक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ (देवागम द्वा. ६–७)

अद्वितीय है[1] । इतना ही नहीं किन्तु वीर के इस शासन को 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—जो सबके उदय उत्कर्ष एवं आत्मा के पूर्ण विकास में सहायक है, जिसे पाकर जीव संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। वही सर्वोदयतीर्थ है। जो सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि सम्पूर्ण धर्मों को अपनाए हुए है— मुख्य-गौण की व्यवस्था से सुव्यवस्थित है, सब दुःखों का अन्त करने वाला है और अविनाशी है, वही सर्वोदयतीर्थ कहे जाने के योग्य है; क्योंकि उससे समस्त जीवों को भवसागर से तरने का समीचीन मार्ग मिलता है।

वीर के इस शासन की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस शासन से यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मानव भी यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति-चक्षु से—मात्सर्य के त्यागपूर्वक समाधान की दृष्टि से वीर शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान शृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्त-रूप मिथ्या आग्रह छूट जाता है। वह अभद्र (मिथ्यादृष्टि) होता हुआ भी, सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि वन जाता है जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रकट है:—

कामं द्विषन्नप्युपपत्ति चक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमान-शृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

ग्रन्थ में सभी एकान्तवादियों के मत की युक्ति पूर्ण समीक्षा की गई है, किन्तु समीक्षा करते हुए भी उनके प्रति विद्वेष की रंचमात्र भी भावना नहीं रही, और न वीर भगवान के प्रति उनकी रागात्मिका प्रवृत्ति ही रही है।

ग्रन्थ में संवेदनाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, अद्वैतवाद, शून्यवाद आदि वादों का और चार्वाक के एकान्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए विधि, निषेध और वक्तव्यतादि रूप सप्तभंगों का विवेचन किया है, तथा मानस अहिंसा की परिपूर्णता के लिए विचारों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ सामंजस्य करनेवाले अनेकान्त दर्शन का मौलिक विचार किया गया है। साथ ही वीर शासन की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ निर्माण के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभाव से नहीं रचा गया, क्यों कि आपने भव-पाश को छेदन कर दिया है। और दूसरों के प्रति द्वेषभाव से भी नहीं रचा गया है; क्यों कि हम तो दुर्गुणों कि कथा के अभ्यास को खलता समझते हैं। उस प्रकार का अभ्यास न होने से वह खलता भी हम में नहीं है। तब फिर इस रचना का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य यही है कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहिचानना चाहते हैं और

---

१. त्वं शुद्धि-शक्त्योरूदयस्य काष्ठांतुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता, महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥५॥
दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलै-प्रवादै-र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

प्रकृत पदार्थ के गुणदोषों के जानने की जिनकी इच्छा है उनके लिए यह स्तोत्र हितान्वेषण के उपाय स्वरूप आपकी गुणकथा के साथ कहा गया है। जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट हैं—

न रागान्तः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि मुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाऽभ्यास-खलता॥
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां।
हितान्वेषोपायस्तव-गुण-कथा-सङ्ग-गदितः॥६३॥

इस तरह इस ग्रन्थ की महत्ता और गंभीरता का कुछ आभास मिल जाता है किन्तु ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन किये बिना उसका मर्म समझ में आना कठिन है।

समीचीन धर्मशास्त्र या रत्नकरण्ड श्रावकाचार

इस ग्रन्थ में श्रावकों को लक्ष्य करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया गया है, जो कर्मों का विनाशक और संसारी जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में स्थापित करनेवाला है। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है—और दर्शनादिक की जो प्रतिकूल या विपरीत स्थिति है वह सम्यक् न होकर मिथ्या है अतएव अधर्म है और संसार परिभ्रमण का कारण है।

आचार्य समन्तभद्र ने इस उपाय का अध्ययन ग्रन्थ में श्रावकों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य धर्म का, व्यवस्थित एवं हृदयग्राही वर्णन किया है, जो आत्मा को समुन्नत तथा स्वाधीन बनाने में समर्थ है। ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल, मधुर, प्रौढ और अर्थगौरव को लिए हुए है। यह धर्मरत्न ग्रन्थ का छोटासा पिटारा ही है। इस कारण इसका रत्नकरण्ड नाम सार्थक है। और समीचीन धर्म की देशना को लिए होने के कारण समीचीन धर्मशास्त्र भी है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अध्ययन और मनन करना आवश्यक है। और तदनुकुल आचरण तो कल्याण कर्ता है ही।

समन्तभद्र से पहले श्रावक धर्म का इतना सुन्दर और व्यवस्थित वर्णन करने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। और पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों में भी इस तरह का कोई श्रावकाचार दृष्टिगोचर नहीं होता, और जो श्रावकाचार उपलब्ध हैं वे प्रायः उनके अनुकरण रूप हैं। यद्यपि परवर्ती विद्वानों द्वारा श्रावकाचार रचे अवश्य गए हैं पर वे इसके समकक्ष नहीं हैं। इस कारण यह सब श्रावकाचारों में अग्रणीय और प्राचीन हैं।

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सात अध्यायों में विभक्त है, जिस की श्लोक संख्या देढसौ है। प्रत्येक अध्याय में दिये हुए वर्णन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है।

प्रथम अध्याय में परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत का तीन मूढता रहित, अष्टमदहीन और आठ अंग सहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। इन सब के स्वरूप का कथन करते हुए बतलाया है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म सन्तति का विनाश करने में समर्थ नहीं होता। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा,

स्नेह और लोभ से कुलिंगियों को प्रणाम और विनय भी नहीं करता। ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है। सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग में खेवटिया के समान है। उसके बिना ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं होती। समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन की महत्ता का जो उल्लेख किया है वह उसके गौरव का द्योतक है।

दूसरे अधिकार में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके विषय चारों अनुयोगों का सामान्य कथन दिया है।

तीसरे अधिकार में सम्यक् चारित्र के धारण करने की पात्रता बतलाते हुए हिंसादि पाप प्रणालिकाओं से विरति को चारित्र बतलाया है। वह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है। सकल चारित्र मुनियों के और विकल चारित्र गृहस्थों के होता है, जो अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप है।

चतुर्थ अधिकार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाणाव्रत इन तीन गुणव्रतों का, अनर्थ-दण्डव्रत के पांच भेदों का और पांच पांच अतिचारों का वर्णन किया है।

पांचवें अधिकार में ४ शिक्षाव्रतों और उनके अतिचारों का वर्णन किया गया है। सामायिक के समय गृहस्थ को चेलोपसृष्ट मुनि की उपमा दी है।

छठे अधिकार में सल्लेखना का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके पांच अतिचारों का कथन किया है।

सातवें अधिकार में श्रावक के उन ग्यारह पदों—प्रतिमाओं का स्वरूप दिया है। और बतलाया है कि उत्तरोत्तर प्रतिमाओं के गुण पूर्व पूर्व की प्रतिमाओं के सम्पूर्ण गुणों को लिये हुए है।

इस तरह इस ग्रन्थ में श्रावकों के अनुष्ठान करने योग्य समीचीन धर्म का विधिवत् कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ भी समन्तभद्र भारती के अन्य ग्रन्थों के समान ही प्रामाणिक है।

श्री धवलसिद्धान्त ग्रंथराज

श्री. रतनचंदजी मुख्त्यार

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

यह जीवात्मा अनादिकाल से चतुर्गति (नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) रूप संसार में भ्रमण करता हुआ दुख उठा रहा है। यद्यपि कभी कभी काकतालि–न्यायवत् साता वेदनीय कर्मोदय से इन्द्रिय–जनित सुख की प्राप्ति हो जाती है किन्तु उस समय भी तृष्णा के कारण विषय–चाह रूप दाह से तपतायमान रहता है। इस भवभ्रमण रूप संसार के दुःखों से छूटने का उपाय विश्वतत्त्वज्ञ और कर्मरूप पहाड के भेदनेवाले मोक्षमार्ग के नेता ने स्वयं मोक्षमार्ग पर चल कर अपनी दिव्य–ध्वनि द्वारा बतलाया है। अतः उनको नमस्कार किया गया है।

भरतक्षेत्र वर्तमान पंचमकाल में यद्यपि उन नेताओं की उपलब्धि नहीं है तथापि उनके द्वारा हितोपदेश के आधार पर गणधरों द्वारा रचित द्वादशाङ्ग के कुछ सूत्र मूल रूप से अभी भी उपलब्ध है। यह हमारा अहोभाग्य है।

" **आगमचक्खू साहू इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि ।**" [प्रवचनसार ३।३४]

सब मनुष्यों के चर्मचक्षु अर्थात इन्द्रिय चक्षु होती है। किन्तु साधु पुरुष के आगमचक्षु होते हैं।

" **जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदोणियमा ।**
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥" [प्रवचनसार १।८६]

जिन आगम के अध्ययन से [जीव अजीव आदि पदार्थों अर्थात द्रव्य गुण, पर्यायों का ज्ञान होता है, जिससे मोह का नाश होता है।

" **एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।**
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥" [प्रवचनसार ३।३२]

जिन आगम से जीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है जिससे सम्यग्दर्शन–ज्ञानचारित्र की एकता होती अर्थात अभेद (निश्चय) रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतः आगम का अध्ययन प्रधान है।

" **मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।**" [मोक्षशास्त्र १०।१]

इस दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकाग्रता से चारित्र मोहनीय का क्षय होता है। चारित्र–मोहनीय कर्म का क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय होता है।

"आगमहीणो समणो नेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।" [प्रवचनसार ३।३३]

जिनके जिनागम रूप चक्षु नहीं हैं वे पुरुष मोक्षमार्ग में अंधे है और जीव अजीव को नहीं जानते। अतः वे मोह का नाश नहीं कर सकते। जिसके मोह का नाश नहीं हुआ उसके कर्मों का नाश भी नहीं हो सकता।

"**आगमः सिद्धान्तः**"[1] अर्थात आगम सिद्धान्त को कहते हैं।

जीव अजीव आदि पदार्थों को जांनने के लिये सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है इसके बिना जीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यथार्थ ज्ञान के बिना मोह का अभाव नहीं हो सकता अर्थात सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

आगम के दो भेद हैं—१ अंग प्रविष्ट, २ अंग बाह्य। अंग प्रविष्ट बारह प्रकार का है। १ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति-अङ्ग, ६ नाथधर्मकथाङ्ग ७ उपासकाध्ययनाङ्ग ८ अंतःकृद्दशांङ्ग ९ अनुत्तरौपपादिक दशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विपाक सूत्राङ्ग, १२ दृष्टिवादाङ्ग। इन बारह अंगों को ही द्वादशांग कहते हैं। बारहवें दृष्टिवादाङ्ग के पांच भेद हैं। १ परिकर्म, २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। चौथा भेद पूर्ववत चौदह प्रकार का है। अतः द्वादशांग 'ग्यारह अंग चौदहपूर्व' के नाम से भी प्रसिद्ध है। उपाध्याय परमेष्ठी के २५ गुण बतलाये हैं वे भी ११ अङ्ग १४ पूर्व की अपेक्षा से कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त जो भी आगम हैं वह अङ्गबाह्य है।

भरतक्षेत्र में दुःखम् सुषम् चतुर्थ काल के तीन वर्ष साढे आठ मास शेष रह गये थे तब कार्तिक कृष्णा पंद्रस के दिन अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके पश्चात ६२ वर्ष में तीन अनुबद्ध केवल ज्ञानी हुए। उसके पश्चात १०० वर्ष तक पांच श्रुत केवली हुए। उसके पश्चात १८१ वर्ष तक दशपूर्वधारी रहे। फिर १२३ बर्ष तक ११ अंगधारी रहे। उसके पश्चात दस, नव व आठ अंगधारी ९९ वर्ष तक रहे। उसके पश्चात ११८ वर्ष में एक अंग के धारी पांच आचार्य हुए। इनको शेष अङ्गों व पूर्व के एक देश का भी ज्ञान था। इन पांच आचार्यों के नाम तथा काल निम्न प्रकार है:—

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडवीसं इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो॥१६॥

[नन्दि आम्नाय की पट्टावली]

इस पट्टावली अनुसार वीर निर्वाण के ५६५ वर्ष पश्चात एक अङ्ग के धारी अर्हब्दलि आचार्य हुए जिनका काल २८ वर्ष था। उसके पश्चात एक अङ्गधारी माघनन्दि आचार्य हुए इनका काल २१ वर्ष रहा। इसके

१. धवल, पु. १, पृ. २९

पश्चात श्री धरसेन आचार्य हुए, जो सोरठ देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। इनका काल १९ वर्ष रहा। श्री धरसेन आचार्य को दृष्टिवाद नामक बारहवे अंग के चौथे भेद पूर्वगत अर्थात् १४ पूर्व के अंतरगत दूसरे अग्रायणीय पूर्व के पांचवे भेद चयन लब्धी के एक देश सूत्रों का ज्ञान था। उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि उनके पश्चात द्वादशांग के सूत्रों के ज्ञान का लोप हो जायगा। अतः श्री धरसेन आचार्य ने महिमा नगरी के मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहाँ के दो मुनि उनके पास पहुंचे। श्रीधरसेन आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त अर्थात द्वादशाङ्ग के सूत्र पढ़ाये। ये दोनों मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे। इनका काल क्रमशः ३० वर्ष व २० वर्ष रहा।

दृष्टिवाद बारहवें अंग के चौथे भेद पूर्वगत अर्थात् १४ पूर्व के अन्तर्गत दूसरे अग्रायणीय रहा। पूर्व के पांचवें भेद चयनलब्धि के जो सूत्र श्री पुष्पदन्त और भूतबलि को श्री धरसेन आचार्य ने पढ़ाये थे। इन दोनों मुनियों ने उन सूत्रों को षट्-खण्ड रूप से लिपीबद्ध किया और पुस्तकारूढ़ करके ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी को चतुर्विध संघ के साथ उन पुस्तकों को उपकरण मान श्रुतज्ञान की पूजा की जिससे श्रुतपञ्चमी पर्व की प्रख्याति आज तक चली आती है और इस तिथि को आज तक श्रुत की पूजा होती है।[1] इन छह खण्डों में श्री गणधर कृत द्वादशाङ्ग के सूत्रों का संकलन है। अतः इस ग्रन्थ का नाम षट्-खण्डागम प्रसिद्ध हुआ। आगम और सिद्धान्त एकार्थवाची है।[2] अतः श्री वीरसेन आचार्य ने इसको षट्खण्डसिद्धान्त कहा है। श्री इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में इसको षट्खण्डागम कहा है।[3]

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड का नाम 'जीवट्ठाण' है, इसमें १४ गुणस्थानों व १४ मार्गणाओं की अपेक्षा १. सत्, २. संख्या, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शन, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव, ८. अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वार द्वारा जीव का कथन है तथा नौं चूलिकाएं हैं जिनमें १ प्रकृतिसमुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३–५ तीन महादण्डक, ६ जघन्यस्थिति, ७ उत्कृष्टस्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति, ९ गतिआगति का कथन है।

दूसरा खण्ड 'खुद्दाबन्ध' है। इसमें १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना जीव काल, ९ नाना जीव का अन्तर, १० भागाभागानुगम, ११ अल्पबहुत्वानुगम इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबंध करनेवाले जीव का वर्णन किया गया है।

तीसरा खण्ड 'बन्ध स्वामित्व विचय' है। इसमें मार्गणाओं की अपेक्षा कितनी प्रकृतियों का कौन बन्धक है और उनकी बन्ध व्युच्छिति किस गुण स्थान में होती है तथा स्वोदय बन्ध प्रकृतियों व परोदय बन्ध प्रकृतियों इत्यादि का कथन सविस्तार पाया जाता है।

---

१. "ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रिया पूर्व के पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजाम् कुर्वते जैनाः ॥१४४॥" (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)

२. "आगमो सिद्धंतो पवयणामिदि एयट्ठो।" धवल, पु. १, पृ. २०.

३. षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तो गुरोः ॥१३७॥

चौथे खंड का नाम 'वेदना' है। इस खंड में सर्वप्रथम वह मंगलाचरण है जो श्री गौतम गणधर ने किया था। मूल रूप से इसके दो भेद है। १. कृति अनुयोगद्वार, २. वेदना अनुयोगद्वार। कृति अनुयोगद्वार में औदारिक आदि पांच शरीरों की संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातन कृति का कथन है। वेदना अनुयोगद्वार में ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की द्रव्य वेदना, क्षेत्र वेदना, काल वेदना, भाव वेदना तथा प्रत्यय स्वामित्व वेदना, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभाग अल्पबहुत्व का कथन है।

पाँचवा वर्गणा नामक खंड है। इसमें कर्म प्रकृतियों तथा पुद्गल की तेइस वर्गणाओं का विशेष कथन है। मनोवर्गणा तथा भाषा वर्गणा चार चार प्रकार की और कार्मण वर्गणा आठ प्रकार की बतलाई गई है। ज्ञानावरण कर्म के लिये जो कार्मण वर्गणा है उस कार्मण वर्गणा से दर्शनावरण आदि कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता है। इस खंड में प्रत्येक शरीर वर्गणा निगोद शरीर (साधारण शरीर) वर्गणा का भी सविस्तार कथन है।

छटवां खण्ड महाबन्ध है। इस खण्ड में मूल कर्म प्रकृति व उत्तर कर्म प्रकृतियों की अपेक्षा प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध व प्रदेश बन्ध का सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारा चौदह मार्गणाओं में सविस्तार कथन है। उत्तर कर्म प्रकृति प्रकृतियों के बन्ध प्रत्यय का कथन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण सम्यक्त्व और अहारक शरीर नाम कर्म प्रकृति के बन्ध का कारण संयम को बतलाया है इस प्रकार गणधर रचित द्वादशांग सूत्रों में सम्यक्त्व और संयम को भी बन्ध का कारण कहा है।

"**आहारदुगं संजमपच्चयं। तित्थयरं सम्मत्तपच्चयं।**" [महाबन्ध, पु. ४, पृ. १८६]

वर्तमान में जो आगम अर्थात शास्त्र उपलब्ध है उन सब में षट्खण्डागम शास्त्र सर्व श्रेष्ठ है। क्योंकि यह एक ऐसा शास्त्र है जिसमें द्वादशाङ्ग के सूत्र ज्यों के त्यों हैं। श्री पुष्पदंत व भूतबलि आचार्यों का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि सर्व प्रथम उन्होंने ही द्वादशांग के सूत्रों को संकलित कर षट्-खण्डागम शास्त्र की रचना की है।

"**पणमवि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं।**
भग्ग-सिव-भग्गा-कंटयमिसि-समिइ-वइम सयादंतं॥
पणमह कय-भूय-बलिं केस-वास-परिभूय-बलिं।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं॥"

जो दुष्कृत अर्थात हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पापों का अन्त करने वाले हैं (जिन्होंने पंचमहाव्रत धारणकर हिंसा आदि पांच पापों का अन्त कर दिया है।) जो कुनय (निरपेक्ष नय) रूपी अन्धकार के नाश करने के लिये सूर्य के समान हैं अर्थात अनेकान्त व स्याद्वाद रूप प्रकाशमान हैं जिन्होंने मोक्षमार्ग के कंटक (मिथ्यात्व, अज्ञान, और असंयम) को नष्ट कर दिया है। जो ऋषियों की सभा (संघ) के अधिपति आचार्य हैं और निरन्तर जो पंचेन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, ऐसे पुष्पदंत आचार्य को मैं प्रणाम करता हूं।

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्र से पूजे गये हैं, अथवा भूत–नामक व्यंतरजाति के देवों द्वारा पूजे गये हैं। जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत सुन्दर बालों से बलि अर्थात् जरा आदि से उत्पन्न होने वाली शिथिलता को तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेव के प्रसार को नष्ट कर दिया है। और जिन्होंने निर्मल ज्ञान के द्वारा ब्रह्मचर्य के प्रसार को बढ़ा दिया है ऐसे भूत–बलि आचार्य को प्रणाम करता हूँ।

इस षट्खण्डागम पर अनेक आचार्यों ने टीका रची है। १. कुन्दकुन्द नगर के श्री पद्मनन्दि अपर नाम श्री कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित परिकर्म टीका। २. श्री शामकुंड आचार्य विरचित 'पद्धति' टीका, ३ श्री तुम्बुलूर आचार्य कृत 'चूडामणि' टीका, ४ श्री समन्तभद्र स्वामी कृत टीका, ५ श्री बप्पदेव गुरु कृत 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' टीका। ये पांचों टीका इस समय उपलब्ध नहीं हैं इनमें से कुछ का उल्लेख श्री वीरसेन आचार्य ने अपनी 'धवल' टीका में किया है।

इस 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ के प्रथम पांच खण्डों पर श्री. वीरसेन आचार्य ने ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवल नामक टीका रची है। श्री वीरसेन आचार्य के विषय में श्री जिनसेन आचार्य ने निम्न प्रकार कहा है।

'श्री वीरसेन आचार्य साक्षात् केवली के समान समस्त विश्व के पारदर्शी थे। उनकी वाणी षट्खण्डागम में अस्खलित रूप से प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थ गामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देख कर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषी को शंका नहीं रही थी। विद्वान लोग उनकी ज्ञान रूपी किरणों के प्रसार को देख कर उन्हें प्रज्ञा श्रमणों में श्रेष्ठ आचार्य और श्रुत केवली कहते थे। सिद्धान्त रूपी समुद्र के जल से उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी। जिससे वे तीव्र बुद्धि प्रत्येक–बुद्धों से भी स्पर्धा करते थे। उन्होंने चिरन्तन काल की पुस्तकों की खूब पुष्टि की। और इस कार्य में वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक पाठियों से बढ़ गये थे। श्री वीरसेन आचार्य भट्टारक पद पर आरूढ़ थे। वे वादि–वृन्दारक थे तथा सिद्धान्तोपनिबन्ध कर्त्ता थे।"

श्री वीरसेन आचार्य की धवल टीका ने आगम सूत्रों को चमका दिया, इसीलिए उनकी 'धवला' को भारती की भुवनव्यापिनी कहा है।

धवला भारती तस्य कीर्तिं च शुचि–निर्मलाम्।
धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम्॥५८॥ [आदिपुराण–उत्थानिका]

इस टीका के विस्तार व विषय के पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदों के संग्रह, आलोचन व मंथन द्वारा पूर्ववर्ती टीकाओं को पाठकों की दृष्टि से ओझल कर दिया अर्थात् इस धवल टीका के प्रभाव में सब प्राचीन टीकाओं का प्रचार रुक गया।

इस धवल टीका में कहीं कहीं पर श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों की गाथाओं के शब्दों का सीधा अर्थ न करके अन्य अर्थ किया गया है। क्योंकि सीधा अर्थ करने से सिद्धान्त व युक्ति से विरोध आता था। जैसे—

(१) श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने वारस अनुवेक्खा के अन्तर्गत संसार अनुप्रेक्षा की दूसरी गाथा में कहा है कि "इस पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में समस्त पुद्गल इस जीव ने एक एक करके पुनः पुनः अनन्त बार भोग कर छोडे हैं।" इस गाथा के आधार पर समस्त विद्वानों की यही धारणा, बनी हुई है कि प्रत्येक जीव ने समस्त पुद्गल भोग लिया है। ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जिसको न भोगा हो, किन्तु श्री वीरसेन आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक जीव एक समय में अभव्यों से अनन्त गुणा तथा सिद्धों के अनन्तवें भाग पुद्गल को भोगता है। इस पुद्गल राशि को यदि सर्व जीव राशि तथा अतीत काल के समयों की संख्या से गुणा कर दिया जाय तो सर्व जीवों द्वारा अतीत काल में भोगे गये पुद्गल का प्रमाण आ जाता है। यह पुद्गल का प्रमाण समस्त पुद्गल राशि के अनन्तवें भाग है। जब सर्व जीव द्वारा भी समस्त पुद्गल नहीं भोगा गया। तो एक जीव द्वारा समस्त पुद्गल का अनन्त वार भोगा जाना असम्भव है। अतः श्री कुन्दकुन्द आचार्य की गाथा में जो 'सर्व' पद आया है उस सर्व शब्द की प्रवृत्ति सर्व के एक भाग में की गई है जैसे 'ग्राम जल गया', 'पद जल गया' इत्यादिक वाक्यों में उक्त शब्द ग्राम और पदों के एक देश में प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं अतः एक देश के लिये भी सर्व शब्द का प्रयोग होता है। सर्व से समस्त का ग्रहण न होकर एक देश का भी ग्रहण होता है।

"अदीद काले वि सव्व जीवेहि सव्व पोग्लाणमणं तिमभागो सव्व जीव रासीदों अनन्त गुणों, सव्व जीवराशि उवरिमवग्गादों अनन्तगुण हीणों पोग्गलपुंजोमुत्तुजिझ दो। कुदो! अमवसिद्धिएहि अनन्तगुणेण सिद्धाणमणंतिम भागेण गुणिदादी कालमेत्त सव्व जीव रासि समाण मुत्तुज्झिद पोग्गल परिमाणोवसंमा—

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे मुत्तुज्झिदा दु जीवेण।
असइं अणंत खुत्तो योग्ग परिपट्ट संसारे॥

एदिए सुत्तगाहए सद्द विरोहो किण्ण होदि त्ति भणिदे ण होदि, सव्वेदेसम्हि गाहत्थ–सव्व–सद्दप-वुत्तीदो। ण च सव्वम्हि पयट्टमाणस्स सदस्स एगदेसपउत्ती असिद्धा, गामो दद्धो, पदोदद्धो, इच्चादिसु गाम–पदाणमेगदेसपयट्ट सद्दुवलंभादो।" [धवल, पु. ४, पृ. ३२६]

सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं। यहां पर आये हुए 'सामान्य' शब्द का अर्थ धवल में 'आत्म पदार्थ' किया गया है। जब कि समस्त विद्वान 'सामान्य' शब्द से वस्तु का सामान्य लेते है।

चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन तथा अवधि दर्शन के विषय का प्रतिपादन करने वाली गाथाओं में इन दर्शनों का विषय यद्यपि बाह्य पदार्थ बतलाया गया है किन्तु श्री वीरसेन आचार्य ने इन गाथाओं का पारमार्थिक अर्थ करते हुए कहा है कि इन्द्रिय ज्ञान से पूर्व ही जो सामान्य स्वशक्ति का अनुभव होता है और जो ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त रूप है वह दर्शन है यथार्थ में दर्शन की अन्तरंग में ही प्रवृत्ति होती है। किन्तु बालकजनों को ज्ञान कराने के लिए बहिरंग पदार्थों के आश्रय से दर्शन की प्ररुपणा की गई है यदि गाथा का सीधा अर्थ किया जाय और दर्शन का विषय बहिरंग पदार्थ का सामान्य अंश माना जावे तो अनेक दोषों का प्रसंग आ जायगा।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए॥

ण च एदेण सुत्तेणेदं वक्खाणं विरुज्झदे अप्पत्थम्मि पउत्तसामण्णसद्दग्गहणादो।

चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तच्चक्खुदंसणं बेंति।
सेसिंदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्खु त्ति॥
परमाणु-आदियाइं अन्तिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।
तं ओधि-दंसणं पुण जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं॥

इदि वज्जत्थविसयदंसणपरुवणादो ? ण, एदाणं परमत्थत्थाणुवगमादो। को सो परमत्थत्थो ? वुच्चदे-जं यत् चक्खूणं चक्षुषां पयासदि प्रकाशते दिस्सदि चक्षुषा दृश्यते व तं तत् चक्खुदंसणं चक्षुर्दर्शनमिति बेंति ब्रुवते। चक्खिंदियणाणादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णाए अणुहओ चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तंचक्खुदसणमिदि उत्तं होदि। कधमंतरंगाए चक्खिंदियविसयपडिबद्धाए सत्तीए चक्खिंदियस्स पउत्ती ? ण, अंतरंग बहिरंगत्थोवयारेण बालजण—बोहणट्ठं चक्खूणं जं दिस्सदि तं चक्खुदसणमिदि परुवणादो। गाहाए गल भंजणमकाऊण उज्जुवत्थो किण्ण घेप्पदि ? ण तत्थ पुव्वुत्ता सेसदोसप्पसंगादो (धवल, पुस्तक ७, पृ. १०१) ओहिणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं ओहिदंसणमिदि घेत्तव्वं, अण्णहा णाणदंसणाणं भेदाभावादो [धवल, पु. ७, पृ. १०२]

सामान्य को छोड़ कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने मैं असमर्थ है। और जो अर्थ क्रिया करने में असमर्थ होता है, वह अवस्तु है। अवस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है केवल विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि सामान्य रहित, अवस्तु रुप केवल विशेष में कर्त्ताकर्म रूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इसी तरह केवल सामान्य को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः सामान्य विशेष बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान और सामान्य विशेषात्मक आत्म-स्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है।

"न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात्। तत एव न दर्शनमपि प्रमाणम्। ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्।"

[धवल, पुस्तक १, पृ. १४६-४७]

श्री वीरसेन आचार्य को षट्खण्डागम के सूत्रों पर इतनी दृढ़ श्रद्धा थी कि यदि उनके सामने सूत्र विरुद्ध अन्य आचार्यों का कोई मत आ गया तो उन्होंने उसका निर्भीकता पूर्वक खंडन किया है यहां तक कि श्री कुन्दकुन्द जैसे महानाचार्य की परिकर्म टीका के कुछ मतों का खंडन करते हुए उनको सूत्र विरुद्ध कहा है जैसे:—

१. ज्योतिष्क देवों का प्रमाण निकालने के लिए दो सौ छप्पन सूच्यमूल के वर्गप्रमाण जगप्रतर का भागहार बताने वाले सूत्र से जाना जाता है कि स्वयम्भू रमण समुद्र के परभाग में भी राजू के अर्द्धच्छेद होते हैं।

शंका—जितनी द्वीप और सागरों की संख्या है, तथा जितने जम्बूद्वीप के अर्द्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजू के अर्द्धच्छेद होते हैं। इस प्रकार के परिकर्म सूत्र के साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोध को प्राप्त होगा ?

समाधान—भले ही परिकर्म सूत्र के साथ उक्त व्याख्यान विरोध को प्राप्त होवें, किन्तु प्रस्तुत सूत्र के साथ तो विरोध को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए इस ग्रन्थ (षट्खण्डागम) के व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिए तथा सूत्रविरुद्ध परिकर्म के व्याख्यान को नहीं। अन्यथा अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जायेगा।

सयंभू रमणसमुद्दस्स परदो रज्जुच्छेणया अत्थित्ति कुदो णव्वदे ?

वे छप्पण्णंगुलसदवग्गसुत्तादो। 'जत्तियाणि दीव-सागररुवाणि जम्बूदीव छेदणाणि च रुवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुच्छेदणाणि' त्ति परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदि, किन्तु सुत्तेण सह ण विरुज्झदि। तेणे दस्सगहणं कायव्वं, ण परियमस्स; तस्स सुत्तविरुद्धत्तादों। ण सुत्तविरुद्धं वक्खाणं होदि अइप्पसंगादों। [धवल, पु. ४ पृ., १५५-५६]

२. कोई जीव बादर एक इन्द्रियों में उत्पन्न हो कर, वहां पर यदि अति दीर्घ काल तक रहता है, तो असंख्याता-संख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी तक रहता है। पुनः निश्चय से अन्यत्र चला जाता है, ऐसा कहा गया है।

शंका—कर्म स्थिति को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर बादर स्थिति होती है इस प्रकार के परिकर्म वचन के साथ यह सूत्र विरोध को प्राप्त होता है।

समाधान—परिकर्म के साथ विरोध होने से 'षट्खण्डागम' इस सूत्र के अवक्षिप्तता नहीं प्राप्त होती है, किन्तु परिकर्म का उक्त वचन सूत्र का अनुसरण करनेवाला नहीं है, इसलिए उसमें ही अवक्षिप्तता का प्रसंग आता है।

"बादरे इंदिएसु उप्पज्जिय तत्थ जदि सुट्ठु महल्लं कालय च्छदि तो असंखेज्जासंखज्जाओं ओसप्पिणी–उस्सप्पिणीओ अच्छदि। पुणो णिच्छएण अण्णत्थ गच्छदि त्ति जं वुत्तं होदि। 'कम्मट्ठिदिमावलि-पाय असंखेज्जदिभागेन गुणिदे बादरट्ठिदि जादा' ति परियम्मव्यणेण सह एदं सुत्तं निरुज्झदि त्ति णेदस्स ओक्खत्तं, सुत्ताणुसरि परियम्मवयणं ण होदि त्ति तस्सेव ओक्खत्तप्पसंगा।" [धवल, पु. ४, पृ. ३८९–९०]

श्री वीरसेन आचार्य ने अन्य आचार्यों की गाथाओं का ही अर्थ तोडमोड कर नहीं किया किन्तु षट्खण्डागम के सूत्रों की भी परस्पर संगति बैठाने के लिए उनको षट्खण्डागम के सूत्रों का अर्थ भी तोड मोड कर करना पड़ा। जैसे सत्प्ररुपणा का सूत्र नं. ९० इस प्रकार है:—

" सम्मामिच्छाइट्ठि–संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।"

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत जीव नियम से प्रर्याप्त होते हैं।

प्रश्न—कपाट, प्रतर और लोक-पूरण समुद्घात को प्राप्त केवली प्रर्याप्त है या अप्रर्याप्त है। श्री अरहंत केवली संयत है अतः सूत्र ९० के अनुसार प्रर्याप्त होने चाहिए, किन्तु समुद्घात में उनके औदारिक-मिश्रकाय योग है। "**ओरालियमिस्सकायजोगे अपज्जत्ताणं**" ॥७८॥ इस सूत्र के अनुसार "औदारिक मिश्रकाय योग अप्रयाप्तों का होता है।" समुद्घात गत केवली अप्रर्याप्त होने चाहिए। इससे सूत्र नं. ९० में 'नियम' शब्द सार्थक नहीं रहेगा। इसका समाधान करते हुए 'नियम' शब्द का जो अर्थ श्री वीरसेन आचार्य ने किया है, वह ध्यान देने योग्य है।

"सूत्र ९० में नियम शब्द निरर्थक तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि श्री पुष्पदंत आचार्य के वचन से प्राप्त तत्त्व में निरर्थकता का होना विरुद्ध है। सूत्र की नियमता का प्रकाशन करना भी, 'नियम' शब्द का फल नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा मानने पर जिन सूत्रों में नियम शब्द नहीं पाया जाता उनमें अनियमता का प्रसंग आ जायेगा। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर उपरोक्त सूत्र नं. ७८ में नियम शब्द का अभाव होने से अप्रर्याप्तको में भी औदारिक काययोग के अस्तित्व का प्रसंग प्राप्त होगा, जो इष्ट नहीं है। अतः सूत्र ९० में आया हुआ नियम शब्द ज्ञापक है, न्यामक नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो अनर्थक पने का प्रसंग आ जायेगा इस 'नियम' शब्द से क्या ज्ञापित होता है? सूत्र ९० में नियम शब्द से ज्ञापित होता है कि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत और संयत स्थान में जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं'॥९०॥ यह सूत्र अनित्य है अपने विषय में सर्वत्र समान प्रवृति का नाम नित्यता है और अपने विषय में कहीं प्रवृत्ति हो, कहीं न हो इसका नाम अनित्यता है। इससे उत्तर शरीर को उत्पन्न करने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत और संयतों के तथा कपाट, प्रतर लोकपूर्ण समुद्घात को प्राप्त केवली के अपर्याप्तपना सिद्ध हो जाता है।" [धवल पुस्तक, २, पृ. ४४१ व ४४३]

इस प्रकार सूत्र ७८ की रक्षार्थ सूत्र ९० में 'नियम' शब्द का अर्थ युक्ति व सूत्रों के बल पर 'अनियम' किया गया है यह श्री वीरसेन की महानता है।

षट्खंडागम के पांचवे वर्गणा खंड के बंधानुयोग द्वार में भावबंध कथन करते हुए सूत्र १६ में अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बंध, (१) औपशमिक-अविपाक प्रत्ययिक जीव भावबंध (२) और क्षायिक-अविपाक प्रत्ययिक जीव भावबंध, दो प्रकार का बतलाया गया है।

जो सो अविवागपच्चइयों जीव भाव बंधो णाम सो दुविहो-उवसमियो अविभाग पच्चइयो जीवभाव बंधो चेव खइयों अविवाग पच्चइओ जीव भावबंधो चेव॥१६॥

इस पर प्रश्न हुआ कि तत्वार्थ सूत्र में जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व की पारणामिक (कर्मनिरपेक्ष) भाव कहा है, इनका अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बंध में कथन क्यों नहीं किया? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन आचार्य ने जीवत्व आदिक तीनों भाव को कथन चित्त औदयिक निम्न प्रकार सिद्ध किया है:—

" आयु आदि प्राणों को धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अंतिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणों के कारण भूत आठों कर्मों का, प्रभाव है। इसलिये सिद्ध जीव नहीं है अधिक से अधिक वे जीवित पूर्व कहे जा सकते हैं। सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता। इससे ज्ञात होता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है क्योंकि जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है। ऐसा कार्यकारण भाव के ज्ञाता कहते हैं। ऐसा न्याय है। इसलिये जीव भाव औदायिक है, यह सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में जीवत्व को पारिणामिक कहा है, वह प्राणों को धारण करने की अपेक्षा से नहीं कहा है, किन्तु चैतन्य गुण की अपेक्षा से वहां वैसा कथन किया है। इसलिये वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। चार अघाति कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धत्व औदायिक भाव है। वह दो प्रकार का है—अनादि अनन्त और अनादि–सान्त इसमें से जिसके असिद्ध भाव अनादि अनन्त हैं वे अभव्य हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्य जीव हैं। इसलिये भव्यत्व और अभव्यत्व में भी विपाक प्रत्ययिक ही है। असिद्धत्व का अनादि–अनन्तपना और अनादि–सान्तपना निष्कारण है, यह समझकर इनको तत्त्वार्थसूत्र में पारणामिक कहा है। [धवल, पु. १४, पृ. १२–१४]

श्री वीरसेन आचार्य को गणित पर भी पूर्ण अधिकार था। विभिन्न भिन्न राशियों में जहां पर अंश नवोत्तर क्रम से और छेद (हर) द्विगुण क्रम से होकर जाते है उन विभिन्न राशियों के मिलाने (जोड़ने) के लिये करण सूत्र (Formula) दिया है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता है।

" इच्छित गच्छ का विरलन राशि के प्रत्येक राशि एक को दूना कर परस्पर गुणा करने से जो ऊत्पन्न हो उसकी दो प्रतिराशियां स्थापित कर उसमें से एक उत्तर (चय) सहित आदि राशि से गुणित कर इसमें से उत्तर गुणित इच्छा राशि को उत्तर व आदि संयुक्त करके घटा देने पर जो शेष रहे, उसमें आदिम–छेद के अर्ध भाग से गुणित प्रतिराशि का भाग देने पर इच्छित संकलना का प्रमाण आता है।

" इच्छां विरलिय गुणिय आण्णोण्णगुणं पुणो दुपड़िरासिं काऊण एक्क रासि उत्तर जुद आदिणा गुणिय ॥ [धवल, पु. १४, पृ. १९६]

" उत्तर गुणिंदं इच्छं उत्तर आदीए संजुदं अवणे। सेसं हरेज्ज पडिणा आदिम छेदद्धगु णिदेण। [धवल, पु. १४, पृ. १९७]

जैसेः—२२/२७ + ३१/५४ + ४०/१०८ + ४९/२१६ + ५८/४३२ + ६७/८६४ इन छः विभिन्न संख्याओं का जोड़ना हैं यहां पर इच्छित गच्छ ६ है। इसका विरलन कर प्रत्येक के ऊपर दो दो रख कर परस्पर गुणा करने से (२/१ २/१ २/१ २/१ २/१ २/१) २^६ अर्थात ६४ आता है। उसकी दो प्रति राशियां स्थापित कर ६४ ६४ का उनमें से एक राशि (६४) को उत्तर सहित आदि राशि (९ + २२ = ३१) से गुणित कर (६४ × ३१ = १९८४) में से उत्तर (९) गुणित इच्छा (६) (९ × ६ = ५४) को उत्तर (९) आदि (२२) संयुक्त करके (५४ + ९ + २२ = ८५) घटा देने पर जो शेष रहे (१९८४ – ८५ = १८९९)

उसमें आदिम–छेद (२७) के अर्धभाग ($\frac{२७}{२}$) से गुणित प्रति राशि (६४) अर्थात ($\frac{२७}{२} \times ६४ =$ ८६४) का भाग देने पर इच्छित संकलना का प्रमाण $\frac{१८९९}{८६४}$ प्राप्त होता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने इस प्रकार के अनेकों करणसूत्र (Formula) धवल पुस्तक ३१४ आदि में लिखे हैं। किन्तु कहीं कहीं पर उनके अनुवाद में भूल हुई है, क्योंकि अनुवादक विद्वत् मंडल विशेष गणितज्ञ नहीं था। यदि पुनरावृत्ति में गणित के विशेषज्ञों की साह्यताके करणसूत्र का ठीक ठीक अनुवाद किया जाय तो उत्तम होगा।

श्री वीरसेन आचार्य ने 'सव्व सप्पडिक्खा' अर्थात 'सर्व सप्रतिपक्ष' है इस सिद्धान्त का पद पद पर प्रयोग किया है और इस सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। सूक्ष्म जीव और साधारण जीव दृष्टि-गोचर नहीं होते हैं इसलिये कुछ व्यक्ति ऐसे जीवों का सद्भाव स्वीकार नहीं करते। श्री वीरसेन आचार्य धवल, पुस्तक ६ में कहते हैं कि यदि सूक्ष्म जीवों का सद्भाव स्वीकार न किया जायगा तो उन (सूक्ष्म जीवों) के प्रतिपक्षी बादर जीवों के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि सर्वत्र प्रतिपक्ष है। यदि साधारण जीव (निगोदिया जीवों) का सद्भाव न माना जाय तो साधारण जीवों के प्रतिपक्षी प्रत्येक जीव के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इसी प्रकार यदि जीव का अस्तित्व न स्वीकार किया जाय तो पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों के अस्तित्व को अभाव का भी प्रसंग आ जायगा।

धवल, पुस्तक १४, पृष्ठ २३३ पर एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि संसारी जीव राशि आयसे रहित है और व्यय सहित है, क्योंकि उसमें से मोक्ष को जाने वाले जीव उपलब्ध होते हैं, इसीलिए संसारी जीवों का अभाव (समाप्त) प्राप्त होता है ? श्री वीरसेन आचार्य शंका का समाधान करते हुऐ लिखते हैं।

" जिन्होंने अतीत काल में कदाचित् भी त्रस परिणाम (पर्याय) नहीं प्राप्त किया है, वैसे अनन्त जीव नियम से हैं।"

" अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामों।
भाव कलंक अपउरा णिगोद वासं ण मुंचंति ॥१२७॥

[धवल, पु. १४, पृ. २३३]

अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है। उनका अभाव है नहीं, क्योंकि भव्य जीवों का अभाव होने पर अभव्य जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है, और वह भी नहीं है, क्योंकि उनका (भव्य और अभव्य दोनों का) अभाव होने पर संसारी जीवों का अभाव प्राप्त होता है और यह भी नहीं है क्योंकि संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के भी अभाव का प्रसंग आता है। यदि कहा जावे कि संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों का अभाव कैसे सम्भव है (क्योंकि संसारी सब जीवों के मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाने पर संसारी जीवों का अभाव तो सम्भव है किन्तु मुक्त जीवों का अभाव सम्भव नही है)। इसका समाधान यह है कि संसारी जीवों का

अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि नहीं बन सकती। अर्थात् प्रतिपक्ष के बिना पदार्थ का सद्भाव संभव नहीं है।

'अनेकान्त' का सिद्धान्त श्री वीरसेन आचार्य का प्राण था उन्होंने एकान्त मान्यताओं का खंडन किया है और अनेकान्त को सिद्ध किया है। पुद्गल परमाणु को प्रायः सब पंडितगण निरवयव (अविभागी) मानते हैं। श्री वीरसेन आचार्य ने धवल, पुस्तक १३, पृष्ठ २१-२४ तथा धवल, पुस्तक १४, पृष्ट ५६-५७ परमाणु को निरवयव अर्थात अविभागी तथा सावयव अर्थात भाग सहित माना है। द्रव्यार्थिक नय से पुद्गल परमाणु निरवयव है, क्योंकि यदि परमाणु के अवयव होते है ऐसा माना जाय तो परमाणु को अवयवी होना चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि अवयव के विभाग द्वारा अवयवों के संयोग का विनाश होने पर परमाणु का अभाव प्राप्त होता है। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर परमाणु के अवयव नहीं होते यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि उसके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरि भाग न हो तो परमाणु का भी अभाव प्राप्त होता है। ये भाग कल्पित रूप होते हैं यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु में ऊर्ध्वभाग और मध्यम भाग तथा उपरिमोपरिम भाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं। तथा परमाणु के अवयव हैं। इसलिये उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। [धवल, पु. १४, पृ. ५६-५७]

अभव्यत्व जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो, परन्तु सभी व्यंजन पर्याय का अवश्य नाश होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इससे एकान्त वाद का प्रसंग आ जाता है। [धवल, पुस्तक ७, पृ. १७८] सब सहेतुक ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि इससे भी एकान्त वाद का प्रसंग आता है [धवल, पु. ७, पृ. ४६३]

इस प्रकार का कथन प्रायः धवल की सभी पुस्तकों में पाया जाता है।

श्री वीरसेन आचार्य की विशेषता यह रही कि जिस विषय का उनको परम्परागत उपदेश प्राप्त नहीं हुआ उस विषय में उन्होंने अपनी लेखनी नहीं उठाई किन्तु स्पष्ट रूप से अपनी अनभिज्ञता स्वीकार की है जैसे—

"ण च अम्हे एंत्थं वोत्तु समत्था अलद्धोवदेसत्तादों" अर्थात हम यह कहने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि हमको वैसा उपदेश प्राप्त नहीं है। "माणुसखेत्तादो ण णव्वदे।" मनुष्य क्षेत्र की अपेक्षा कितने क्षेत्र में रहते है यह ज्ञात नहीं है। इसमें श्री वीरसेन आचार्य की निरभिमानता प्रकट होती है।

जहां पर उन्हें आचार्य परम्परागत उपदेश प्राप्त होता है वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि यह विषय आचार्य परम्परागत उपदेश से प्राप्त होता है। जैसे "कुदो वगम्मदे? आइरिय परांपरगय उबएसादो।"

षट्खंडागम के सूत्र का अर्थ करने पर किसी ने शंका की यह कैसे जाना जाता है, उसके उत्तर में श्री वीरसेन आचार्य ने कहा कि जिन भगवान के मुंह से निकले हुए वचन से जाना जाता है ।

"कधमेदे णव्वदे ? जिणवयण विणि गयवयणादो ।" इससे जाना जाता है कि षट्खंडागम के सूत्र द्वादशांग के सूत्र हैं । धवल, पु. ७, पृ. ५४१ पर एक शंका के उत्तर में कहा है कि 'इस शंका का उत्तर गौतम से पूछना चाहिये ।' इससे अभिप्राय है यह सूत्र गौतम गणधर द्वारा रचित हैं ।

अत: प्रत्येक जैन को धवल-ग्रंथ की स्वाध्याय करनी चाहिये क्योंकि वर्तमान में इससे महान ग्रंथ अन्य नहीं है । जिन भट्टारक महाराज ने इनकी रक्षा की वे भी धन्य के पात्र हैं । यदि वे रक्षा न करते तो ऐसे महान् ग्रंथ के दर्शन असम्भव थे ।

कसायपाहुडसुत्त अर्थात् जयधवल सिद्धान्त

श्री. हिरालाल सिद्धान्त शास्त्री, ब्यावर

आचार्य श्री गुणधरस्वामी के द्वारा रचित 'कसायपाहुड सुत्त' लगभग एक हजार वर्ष से 'जय-धवल सिद्धान्त' इन नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः वीरसेनाचार्य ने 'कसायपाहुडसुत्त' और उस पर रचित यति वृषभाचार्य के चूर्णि सूत्रों को आधार बनाकर जो जयधवला टीका रची, वही उसके कारण यह ग्रन्थ 'जयधवलसिद्धान्त' के नाम से प्रख्यात हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् पुष्पदन्त ने अपने अपभ्रंश भाषा में रचित महापुराण के प्रारम्भ में अपनी लघुता का परिचय देते हुए लिखा है—

'ण उ जाणमि आगमु सद्द धामु, सिद्धन्तु धवलु जयधवलु णामु।'

अर्थात् 'मैं धवलसिद्धान्त और जयधवलसिद्धान्त जैसे आगम ग्रन्थों को नहीं जानता।'

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'षट्खण्डागम' पर धवला टीका रचे जाने के बाद वह 'धवलसिद्धान्त' नाम से और 'कषायपाहुड' पर जयधवला टीका रचे जाने के बाद वह 'जयधवलसिद्धान्त' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए चले आरहे हैं।

भ. महावीर के जिन उपदेशों को उनके प्रधान शिष्यों ने—जिन्हें साधुओं के विशाल गणों और संघ को धारण करने, उनको शिक्षा-दीक्षा देने एवं सार-संभाल करने के कारण गणधर कहा जाता था—संकलन करके अक्षर-निबद्ध किया; वे उपदेश 'द्वादशाङ्गश्रुत' के नाम से संसार में विश्रुत हुए। यह द्वादशाङ्गश्रुत कई शताब्दियों तक आचार्य परम्परा के द्वारा मौखिक रूप से सर्वसाधारण में प्रचलित रहा। किन्तु कालक्रम से जब लोगों की ग्रहण और धारणा शक्ति का न्हास होने लगा, तब श्रुत-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट ज्ञानी आचार्यों ने उस विस्तृत श्रुत के विभिन्न अंगों का उपसंहार करके उसे गाथा सूत्रों में निबद्धकर सर्वसाधारण में उनका प्रचार जारी रखा। इस प्रकार के उपसंहृत एवं गाथासूत्र-निबद्ध जैन वाङ्मय के भीतर अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि कषायपाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है।

भ. महावीर की द्वादशाङ्गी वाणी में बारहवां अंग अति विस्तीर्ण है। इस अंग के पांच भेदों में एक पूर्वगत भेद है। उसके भी उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। उनमें ज्ञान-प्रवाह नामका पांचवां पूर्व है। इसके भी वस्तु नामक बारह अवान्तर अधिकार है। उनमें भी दसवीं वस्तु के अंतर्गत 'पाहुड' नाम

के वीस अर्थाधिकार हैं। उनमें से तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्जदोस पाहुड' है। इसे गौतम गणधरने सोलह हजार मध्यम पदों में रचाया, जिनके अक्षरों का परिमाण दो कोडाकोडी, इकसठ लाख, सत्तावनहजार दो सौ बानवे करोड, बासठ लाख आठ हजार था। इतने महान् विस्तृत पेज्जदोस पाहुड का सार गुणधराचार्य ने केवल २३३ गाथाओं में निबद्ध किया, इससे ही प्रस्तुत ग्रंथ की महत्ता को आंका जा सकता है।

आचार्य गुणधर के इस 'कसाय पाहुड' की रचना अति संक्षिप्त एवं बीज पदरूप थी और उसका अर्थबोध सहज गम्य नहीं था। अतः उसके ऊपर सर्वप्रथम आ. यतिवृषभ ने छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्र रचे। चूर्णिकार ने अनेकों अनुयोगों का व्याख्यान न करके 'एवं णेदव्वं', या 'मणिदव्वं' कहकर व्याख्याताचार्यों के लिए संकेत किया कि इसी प्रकार वे शेष अनुयोगों का परिज्ञान अपने शिष्यों को करावें। यतिवृषभ के ऐसे संकेतिक स्थलों के स्पष्टीकरणार्थ उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारण वृत्ति का निर्माण किया। फिर भी अनेक स्थलों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था, अतः शामकुण्डाचार्य ने अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण पद्धति नाम की टीका और तुम्बुलूचार्य ने चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूडामणि नाम की टीका रची। आ. वीरसेन-जिनसेन ने उपर्युक्त टीकाओं को हृदयंगम करके साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका रची है। जो आज उपलब्ध, ताम्रपत्रोत्कीर्ण एवं हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित है। पद्धति और चिन्तामणि ये दोनों टीकाएं आज अनुपलब्ध हैं। गुणधराचार्य की सूत्र गाथाओं की गहनता को देखकर वीरसेनाचार्य ने **'एदा ओ अणंतत्थगब्भियाओ'** कहकर उन्हें अनन्त अर्थ से गार्भित कहा है।

कसाय पाहुड के १५ अधिकार हैं। इनके विषय में गुणधर यतिवृषभ और वीरसेन के मत से थोडा मतभेद है जो इस प्रकार है।

संख्या	गुणधर-सम्मत	यतिवृषभ-सम्मत	वीरसेन-सम्मत
१	पज्जेदोस विभक्ति	पेज्जदोस विभक्ति	पेज्जदोस विभक्ति
२	स्थिति विभक्ति	स्थिति अनुभाग विभक्ति (प्रकृति-प्रदेश विभक्ति क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक)	प्रकृति विभक्ति
३	अनुभाग विभक्ति	बन्ध	स्थिति विभक्ति
४	बन्ध (प्रदेश विभक्ति क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक)	संक्रम	अनुभाग विभक्ति
५	संक्रम	उदय	प्रदेश विभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक

संख्या	गुणधर-सम्मत	यतिवृषभ-सम्मत	वीरसेन-सम्मत
६	वेदक	उदीरणा	बन्धक
७	उपयोग	उपयोग	वेदक
८	चतु:स्थान	चतु:स्थान	उपयोग
९	व्यञ्जन	व्यञ्जन	चतु:स्थान
१०	दर्शन मोहोपशामना	दर्शन मोहोपशामना	व्यञ्जन
११	दर्शन मोहक्षपणा	दर्शन मोहक्षपणा	सम्यक्त्व
१२	संयमासंयमलब्धि	देश विरति	देश विरति
१३	चारित्रलब्धि	चारित्र मोहोपशामना	संयमलब्धि
१४	चारित्र मोहोपशामना	चारित्र मोहक्षपणा	चारित्र मोहोपशामना
१५	चारित्र मोहक्षपणा	अद्धापरिमाण निर्देश	चारित्र मोहक्षपणा

यदि पाठक गहराई से देखेंगे, तो यह अधिकार-भेद एक तो अद्धापरिमाणनिर्देश को लेकर है। वीरसेनाचार्य का कहना है कि यत: यह अधिकार सभी अधिकारों से संबद्ध है, अतः उसे अलग अधिकार मानने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा मतभेद प्रकृति विभक्ति आदि को स्वतंत्र अधिकार न मानने की अपेक्षा से है। तीसरा मतभेद वेदक वेदक अधिकार जो स्वतंत्र या उदय उदीरणा के रूप में विभक्त कर मानने का है। यद्यपि उस भेदों के कारण क्रम संख्या में कुछ ऊंचानीचापन दृष्टिगोचर होता है, तथापि वस्तुतः तत्त्वविवरण की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

अब यहां पर उपर्युक्त अधिकारों का विषय-परिचय कराने के पूर्व जैन दर्शन के मूलभूत जीव और कर्म तत्त्व को जान लेना आवश्यक है। यह तो सभी आस्तिक मतवाले मानते हैं की यह जीव अनादि काल से संसार में भटक रहा है और जन्म-मरण के चक्कर लगाते हुए नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्टों को भोग रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि जीव के इस संसार परिभ्रमण का कारण क्या है? सभी आस्तिक वादियों ने इस प्रश्न के उत्तर देने का प्रयास किया है। कोई संसार परिभ्रणम का कारण अदृष्ट को मानता है, तो कोई अपूर्व दैव, वासना, योग्यता आदि को बदलाता है। कोई इसका कारण पुरातन कर्मों को कहता है, तो कोई यह सब ईश्वर-कृत मानकर उक्त प्रश्न का समाधान करता है। पर तत्त्व-चिन्तकों ने काफी ऊहापोह के बाद यह स्थिर किया कि जब ईश्वर जगत् का कर्ता ही सिद्ध नहीं होता, तब उसे संसार-परिभ्रमण का कारण भी नहीं माना जा सकता, और न उसे सुख-दु:ख का दाता ही मान सकते हैं। तब पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यह अदृष्ट, दैव, कर्म आदि क्या वस्तु हैं? संक्षेप में यहां पर उनका कुछ विचार किया जाता है।

नैयायिक–वैशेषिक लोग अदृष्ट को आत्मा का गुण मानते हैं। उनका कहना है कि हमारे किसी भी भले या बुरे कार्य का संस्कार हमारी आत्मा पर पडता है और उससे आत्मा में अदृष्ट नाम का गुण उत्पन्न होता है। यह तब तक आत्मा में बना रहता है जब तक कि हमारे भले या बुरे कार्य का फल हमें नहीं मिल जाता है।

सांख्य लोगों का कहना है कि हमारे भले बुरे कार्यों का संस्कार जड प्रकृति पर पडता है और इस प्रकृतिगत संस्कारसे हमें सुख-दुःख मिला करते हैं।

बौद्धों का कहना है कि हमारे भले-बुरे कार्योंसे चित्तमें वासनारूप एक संस्कार पडता है, जो कि आगामी काल में सुख-दुःख का कारण होता है।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों का इस विषय में प्रायः एक मत है कि हमारे भले-बुरे कार्यों से आत्मा में एक संस्कार पडता है और यही हमारे सुख-दुःख, जीवन-मरण और संसारपरिभ्रमण का कारण है। परन्तु जैन दर्शन कहता है कि जहां इस जीवके भले-बुरे विचारों से आत्मा में संस्कार पडता है, वहां उसके साथ ही एक विशेष जाति के सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओं का आत्माके साथ सम्बन्ध भी होता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की ९५ वीं गाथा में कहा है कि जब रागद्वेष से युक्त आत्मा शुभ या अशुभ कार्य में परिणत होता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि भावों से परिणत होकर आत्मा में प्रविष्ट करती है और आत्मा के साथ बन्धकर कालान्तर में सुख या दुःखरूप फल को देती है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि संसार के परिभ्रमण और सुखदुःख देने का कारण कर्मबन्ध है और कर्म-बन्ध का कारण रागद्वेष है। राग-द्वेष का दूसरा नाम प्रेयोद्वेष या कषाय है इसीलिए इस ग्रन्थ के दोनों नामों का उल्लेख मूल ग्रन्थकार गुणधराचार्य ने और चूर्णिकार यति वृषभाचार्य ने किया है।

कर्म का स्वरूप और कर्म–बन्ध के कारण

'कर्म' शब्दकी निरुक्ति के अनुसार जीव के द्वारा की जानेवाली भली या बुरी क्रिया को कर्म कहते हैं। ईसका खुलासा यह है कि संसारी जीवकी प्रति समय जो मन वचन कायकी परिस्पन्द (हलन चलन) रूप क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। इस योग-परिस्पन्द से सूक्ष्मकर्म-परमाणु जो सारे लोक में सघनरूप से भरे हुए हैं। आत्मा की ओर आकृष्ट होते है और आत्माके राग-द्वेषरूप कषाय भावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ संबद्ध हो जाता है। कर्म परमाणुओं का आत्मा के भीतर आना आस्रव कहलाता है और उनका आत्मा के प्रदेशों के साथ बन्ध जाना बन्ध कहलाता है। कर्मों के आस्रव के समय यदि कषाय तीव्र होगी तो आस्रव बन्धनेवाले कर्मों की स्थिति भी लम्बी होगी और रस-परिपाक भी तीव्र होगा। यद्यपि इसमें कुछ अपवाद हैं, तथापि यह एक साधारण नियम है।

बन्ध के भेद—इस प्रकार योग और कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का जो बन्ध होता है, वह चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

प्रकृति नाम स्वभाव का है। आनेवाले कर्म परमाणुओं के भीतर जो आत्मा के ज्ञान-दर्शनादिक गुणों के घातने या आवरण करने का स्वभाव पडता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। स्थिति नाम काल की मर्यादा का है। कर्म परमाणुओं के आने के साथ ही उनकी स्थिति भी निश्चित हो जाती है कि ये कर्म अमुक समय तक आत्मा के साथ बन्धे रहेंगे। इसी का नाम स्थितिबन्ध है। कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणुओं में आने के साथ ही तीव्र या मन्द फल को देने की शक्ति भी पड जाती है, इसे ही अनुभाग बन्ध कहते हैं। आनेवाले कर्म-परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ बन्धना प्रदेशबन्ध है। इन चारों प्रकार के बन्धोंमें से प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध का कारण कषाय है।

मूलकर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। यद्यपि सातवें गुणस्थान तक सभी कर्मों का सदा बन्ध होता है, पर आयु कर्म का सिवाय त्रिभाग के अन्य समय में बन्ध नहीं होता है। इन आठों कर्मों में जो मोहनीय कर्म है, वह राग, द्वेष और मोह का जनक होने से सर्व कर्मो का नायक माना गया है, इसलिए सबसे पहले उसके दूर करने का ही महर्षियों ने उपदेश दिया है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शन मोह कर्म जीव को अपने स्वरूप का यथार्थ दर्शन नहीं होने देता, प्रत्युत अनात्म स्वरूप बाह्य पदार्थों में मोहित रखता है। मोहका दूसरा भेद जो चारित्र मोह है, उसके उदय से जीव सांसारिक वस्तुओं में से किसी को अपने अनुकूल जानकर उसमें राग करता है और किसी को बुरा जानकर उससे द्वेष करता है। लोक में प्रसिद्ध क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषाय इसी कर्म के उदय से होते हैं। इन चारों कषायों को राग और द्वेष में विभाजित किया गया है। यद्यपि चूर्णिकार ने नाना नयों की अपेक्षा कषायों का विभाजन राग-द्वेष में विस्तार से किया है, पर मोटे तौर पर क्रोध और मान कषाय को द्वेषरूप माना है क्यों कि इनके करने से दूसरों को दुःख होता है। तथा माया और लोभ को रागरूप मानो है, क्यों कि इन्हें करके मनुष्य अपने भीतर सुख, आनंद या हर्ष का अनुभव करता है।

प्रस्तुत कषायपाहुड ग्रन्थ में पूर्वोक्त १५ अधिकारों के द्वारा मोहनीय कर्म के इन ही राग, द्वेष, मोह, बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशमन और क्षपण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहांपर उनका संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

१. प्रेयो-द्वेष-विभक्ति—किस किस नय की अपेक्षा किस किस कषाय में प्रेय (राग) या द्वेष का व्यवहार होता है ? अथवा कौन नय किस द्रव्य में द्वेष को प्राप्त होता है और कौन नय किस द्रव्य में प्रिय (राग) भाव को प्राप्त होता है ? इन आशंकाओं का समाधान किया गया है कि नैगम और संग्रह नय की अपेक्षा क्रोध द्वेषरूप है, मान द्वेषरूप है। किन्तु माया प्रेयरूप है और लोभ प्रेयरूप है। व्यवहार नय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया, ये तीन कषाय द्वेषरूप हैं और लोभ कषाय रागरूप है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेषरूप है, मान नो-द्वेष नो-रागरूप है, माया नो-द्वेष नो-रागरूप है और लोभ रागरूप है। शब्द नयों की अपेक्षा चारों कषाय द्वेषरूप है, तथा क्रोध, मान, माया कषाय नो-रागरूप है और लोभ

स्यात् रागरूप है। यह जीव परिस्थितिवश कभी सभी द्रव्यों में द्वेषरूप व्यवहार करता है और कभी सभी द्रव्यों में रागरूप भी आचरण करता है।

इन राग द्वेषरूप चारों कषायों का बारह अनुयोग द्वारों से विवेचन किया गया है—एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग, विचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन सभी अनुयोगों द्वारा राग-द्वेष का विस्तृत विवरण जयधवला टीका में किया गया है। यहां काल की अपेक्षा दिङ्मात्र सूचन किया जाता है की सामान्य की अपेक्षा राग द्वेष दोनों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। पर विशेष की अपेक्षा दोनों का जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

२. प्रकृति-विभक्ति— प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल एक मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया गया है। अतः गुणस्थानों की अपेक्षा जो मोह कर्म अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप पन्द्रह सत्त्वस्थान हैं। उनका वर्णन इस प्रकृति विभक्ति में एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्प बहुत्व भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि इन तेरह अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे अट्ठाईस प्रकृति सत्त्वस्थान का स्वामी सादि मिथ्या दृष्टि जीव है। छब्बीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी अनादि मिथ्या दृष्टि और सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना करने वाला सादि मिथ्या दृष्टि जीव है। चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान का स्वामी अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विसंयोजक जीव होता है। इक्कीस प्रकृतिक सत्त्व स्थान का स्वामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी सभी सत्त्वस्थानों का विस्तृत वर्णन इस विभक्ति में किया गया है।

३. स्थिति-विभक्ति—इस अधिकार में मोह कर्म की सभी प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन अनेक अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे मोहनीय कर्म की सत्तर कोडा कोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का जघन्य काल एक समय है और लगातार उत्कृष्ट स्थिति बांधने का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। अनुत्कृष्ट बन्ध का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल है। जघन्य स्थिति के बन्ध का जघन्य काल और उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है। अजघन्य बन्ध का काल अनादि-अनन्त (अभव्यों की अपेक्षा) तथा (भव्यों की अपेक्षा) अनादि सान्त काल है। परिमाण की अपेक्षा एक समय में मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के विभक्ति वाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। जघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव संख्यात हैं और अजघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। इस प्रकार स्वामित्व, क्षेत्र, स्पर्शन आदि २४ अनुयोग द्वारों के द्वारा मोह कर्म की स्थिति विभक्ति का वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

४. अनुभाग-विभक्ति—आत्मा के साथ बंधनेवाले कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। बन्ध के समय कषाय जैसी तीव्र या मन्द जाति की हो, तदनुसार ही उसके फल देने की

शक्ति भी तीव्र या मन्दरूप में पडती है। यतः मोहकर्म पापरूप ही है। अतः उसका अनुभाग नीम, कंजी, विष और हलाहल के तुल्य जघन्य या मन्द स्थान से लेकर तीव्र उत्कृष्ट स्थान तक उत्तरोत्तर अधिक कटुक विपाकवाला होता है। मोहकर्म के इस अनुभाग का वर्णन 'संज्ञा' सर्वानुभाग विभक्ति, नोसर्वानुभाग-विभक्ति आदि २७ अनुयोग द्वारों से किया गया है। जैसे संज्ञानुयोगद्वार की अपेक्षा मोहकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभाग सर्व घाती भी होता है और देशघाती भी होता है। जघन्य अनुभाग देशघाती होता है और अजघन्य अनुभाग देशघाती भी होता है और सर्वघाती भी होता है। स्वामित्वानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकार एवं जागृत उपयोगी, उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला ऐसा किसी भी गति का मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर जब तक उसका घात नहीं करता है, तब तक वह उसका स्वामी है। मोहकर्म के जघन्य अनुभाग का स्वामी दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में विद्यमान क्षपक मनुष्य है। परिमाणानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग विभक्तिवाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट विभक्तिवाले अनन्त हैं। जघन्य विभक्तिवाले संख्यात हैं और अजघन्य विभक्तिवाले अनन्त जीव हैं। इस प्रकार शेष अनुयोगद्वारों की अपेक्षा मोहकर्म की अनुभाग विभक्ति का विस्तृत वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

५. प्रदेश विभक्ति—प्रतिसमय आत्मा के भीतर आनेवाले कर्म परमाणुओं का तत्काल सर्व कर्मों में विभाजन होता जाता है। उसमें से जितने कर्म प्रदेश मोहकर्म के हिस्से में आते हैं उनका भी विभाग उसके उत्तरभेद प्रमेयों में होता है। मोहकर्म के इस प्रकार के प्रदेश सत्व का वर्णन इस अधिकार में २२ अनुयोग द्वारों से गयां किया है। जैसे स्वामित्व की अपेक्षा पूछा गया कि मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेश सत्व किसके होता है? उत्तर—जो जीव बादर पृथ्वीकायिकों में साधिक दो सहस्र सागरोपम से न्यून कर्मस्थिति प्रमाण काल तक अवस्थित रहा। वहांपर उसके पर्याप्त भव अधिक और अपर्याप्त भव अल्प हुए। पर्याप्तकाल दीर्घ रहा और अपर्याप्त काल अल्प रहा। बार—बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त हुआ और बार—बार अतिसंक्लेश परिणामों को प्राप्त हुआ इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ वह बादरकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ। उनमें परिभ्रमण करते हुए उसके पर्याप्तभव अधिक और अपर्याप्तक भव अल्प हुए पर्याप्त काल दीर्घ और अपर्याप्त काल ह्रस्व रहा। वहां पर भी बार—बार उत्कृष्ट योगस्थानों को और अति संक्लेश को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से संसार में परिभ्रमण करके वह सातवीं पृथ्वी के नारकों में तेतीस सागरोपम स्थिति का धारक नारकी हुआ वहां से निकलकर वह पंचेन्द्रिय तिर्यचों में उत्पन्न हुआ और वहां अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहकर मरण करके पुनः तेतीस सागरोपम आयुवाले नारकों में उत्पन्न हुआ। वहां उसके तेतीस सागरोपम बीतने के बाद अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के समय में वर्तमान होनेपर मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। मोहकर्म की जधन्य प्रदेश विभक्ति उपर्युक्त विधान से निकलकर मनुष्य होकर क्षपक श्रेणीपर चढे हुए चरम समयवर्ती सूक्ष्म साम्पराय संयत के होती है।

वीरसेनाचार्य ने प्रदेश विभक्ति के अन्तर्गत क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक ये दो अधिकार कहे हैं। जिनका वर्णन इस प्रकार है—

क्षीणाक्षीणाधिकार—किस स्थिति में अवस्थित कर्म-प्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य या अयोग्य होते हैं, इसका विवेचन इस अधिकार में किया गया है। कर्मोकी स्थिति और अनुभाग के बढनेको उत्कर्षण, घटने को अपकर्षण और अन्य प्रकृति रूपसे परिवर्तित होने को संक्रमण कहते हैं। सत्तामें अवस्थित कर्म का समय पाकर फल देने को उदय कहते हैं। जो कर्म प्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य होते हैं, उन्हें क्षीण स्थिति कहते हैं और जो इन के योग्य नहीं होते हैं उन्हें अक्षीण स्थितिक कहते हैं। इन दोनों का प्रस्तुत अधिकार में अन्यत्र दुर्लभ बहुत सूक्ष्म वर्णन है।

स्थित्यन्तिक—अनेक प्रकार की स्थिति प्राप्त होनेवाले कर्म परमाणुओं को स्थितिक या स्थित्यन्तिक कहते हैं। ये स्थिति-प्राप्त कर्म प्रदेश उत्कृष्ट स्थिति, निषेक स्थिति, यथानिषेक स्थिति और उदय स्थिति के भेदसे चार प्रकार के होते हैं। जो कर्म बंधन के समय से लेकर उस कर्म की जितनी स्थिति है, उतने समय तक सत्ता में रह कर अपनी स्थिति के अन्तिम समय में उदय को प्राप्त होता है, उसे उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म प्रदेश बन्ध के समय जिस स्थिति में निक्षिप्त किया गया है, तदनन्तर उसका उत्कर्षण या अपकर्षण होने पर भी उसी स्थिति को प्राप्त होकर जो उदय काल में दिखाई देता है, उसे निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। बन्ध के समय जो कर्म जिस स्थिति में निक्षिप्त हुआ है, वह यदि उत्कर्षण और अपकर्षण न होकर उसी स्थिति के रहते हुए उदय में आता है, तो उसे यथा-निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म जिस किसी स्थिति प्राप्त होकर उदय में आता है, उसे उदय स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। प्रकृत अधिकार में इन चारों ही प्रकारों के कर्मों का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

६. बन्धक और संक्रम अधिकार—जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप से परिणत होकर जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर बन्धने को बन्ध कहते हैं। बन्ध के चार भेद हैं, प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। यतः प्रकृति विभक्ति आदि पूर्वोक्त चारों विभक्तियां इन चारों प्रकार के बन्धाश्रित ही हैं। अतः इस बन्ध पर मूलगाथाकार और चूर्णि सूत्रकार ने केवल उनके जानने मात्र की सूचना की है और जयधवलाकार ने यह कह कर विशेष वर्णन नहीं किया है कि भूतबली स्वामी ने महाबन्ध में विविध अनुयोग द्वारों से बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है, अतः जिज्ञासुओं को वहां से जानना चाहिए।

संक्रम अधिकार—बन्धे हुए कर्मों का यथा संभव अपने अवान्तर भेदों में संक्रान्त या परिवर्तित होने को संक्रम कहते हैं। बन्ध के समान संक्रम के भी चार भेद हैं १. प्रकृति संक्रम, २. स्थिति संक्रम, ३. अनुभाग संक्रम, ४. प्रदेश संक्रम। एक कर्म प्रकृति के दूसरी प्रकृति रूप होने को प्रकृति संक्रम कहते हैं। जैसे सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप से परिणत हो जाना। विवक्षित कर्म की जितनी स्थिति पड़ी थी परिणामों के वश से उसके हीनाधिक होने को, या अन्य प्रकृति की स्थिति रूप से परिणत हो जाने को स्थिति संक्रम कहते हैं। साता वेदनीय आदि जिन प्रकृतियों में जिस जाति के सुखादि

देने की शक्ति थी उसके हीनाधिक होने, या अन्य प्रकृति के अनुभाग रूप से परिणत होने को अनुभागसंक्रम कहते है। विवक्षित समय में आये हुए कर्म-परमाणुओं में से विभाजन के अनुसार जिस कर्म–प्रकृति को जितने प्रदेश मिले थे, उनके अन्य प्रकृति–गत–प्रदेशों के रूप से संक्रात होने को प्रदेश संक्रमण कहते है इस अधिकार में मोहकर्म की प्रकृतियों के उक्त चारों प्रकार के संक्रम का अनेक अनुयोग द्वारों से बहुत विस्तृत एवं अपूर्व विवेचन किया गया है।

७. वेदक अधिकार—इस अधिकार में मोहकर्म के वेदन अर्थात फलानुभवन का वर्णन किया गया है। कर्म अपना फल उदय से भी देते है और उदीरणा से भी देते हैं। स्थिति बन्ध के अनुसार नियत समय पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। तथा उपाय विशेष से असमय में ही निश्चित समय के पूर्व फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे शाखा में लगे हुए आम का समय पर पक कर गिरना उदय है। तथा स्वयं पकने के पूर्व ही उसे तोडकर पाल आदि में रखकर समय से पूर्व ही पका लेना उदीरणा है। ये दोनों ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार चार प्रकार के हैं। इन सब का इस अधिकार में अनेक अनुयोगद्वारों से बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है।

८. उपयोग–अधिकार—जीव के क्रोध, मान, मायादि रूप परिणामों के होने को उपयोग कहते हैं। इस अधिकार में चारों कषायों के उपयोग का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है, कि एक जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है, किस गति के जीव के कौनसी कषाय बार–बार उदय में आती है, एक भव में एक कषाय का उदय कितने बार होता है और एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है? जितने जीव वर्तमान समय में जिस कषाय से उपयुक्त है, क्या वे उतने ही पहले उसी कषाय से उपयुक्त थे, और क्या आगे भी उपयुक्त रहेंगे? इत्यादि रूप से कषाय–विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

९. चतुःस्थान अधिकार— कर्मों में फल देने की शक्ति की अपेक्षा लता, दारू, अस्थि और शैलरूप चार विभाग किये गये हैं, जिन्हें क्रमशः एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान कहते है। इस अधिकार में क्रोधादि चारों कषायों के चारों ही स्थानों का वर्णन किया गया है, इस लिए इस अधिकार का नाम चतुःस्थान है। इस अधिकार में बतलाया गया है कि क्रोध चार प्रकार का होता है–पाषाण–रेखा समान, पृथ्वी रेखा समान, वालु रेखा समान और जल रेखा समान। जैसे जल में खींची हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है और वालु, पृथ्वी एवं पाषाण में खींची गई रेखाएं उत्तरोत्तर अधिक अधिक समय में मिटती है, इसी प्रकार क्रोध कषाय के भी चार जाती के स्थान होते है, जो हीनाधिक काल के द्वारा उपशम को प्राप्त होते है। क्रोध के समान मान, माया और लोभ के भी चार चार जाति के स्थान होते हैं। इन सब का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। इस के अतिरिक्त चारों कषायों के सोलह स्थानों में से कौनसा स्थान किस स्थान से अधिक होता है और कौन किस से हीन होता है? कौन स्थान सर्वाघाती है और कौन स्थान देशघाती है? क्या सभी जातियों में सभी स्थान होते हैं, या कहीं कुछ अन्तर है? किस

स्थान का अनुभवन करते हुए किस स्थान का बन्ध होता है और किस किस स्थान का बन्ध नहीं करते हुए किस स्थान का बन्ध नहीं होता ? इत्यादि अनेक सैद्धान्तिक गहन बातों का निरूपण इस अधिकार में किया गया है।

१०. व्यञ्जन-अधिकार—व्यञ्जन नाम पर्याय-वाची शब्द का है। इस अधिकार में क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों ही कषायों के पर्यायवाचक नामों का निरूपण किया गया है। जैसे-क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, कलह, विवाद आदि। मान के मान, मद, दर्प, स्तम्भ, परिभव आदि। माया के माया, निकृति, वंचना, सातियोग, अनृजुता आदि। लोभ के लोभ, राग, निदान, प्रेयस्, मूर्च्छा आदि। कषायों इन विविध नामों के द्वारा कषाय विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों की नवीन जानकारी दी गई है।

११. दर्शन मोहोपशमना-अधिकार—जिस कर्म के उदय से जीव को अपने स्वरूप का दर्शन, साक्षात्कार, यथार्थप्रतीति या श्रद्धान नहीं होने पाता उसे दर्शन मोहकर्म कहते हैं। काललब्धि पाकर जब कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव तीनकरण-परिणामों के द्वारा दर्शन मोहकर्म के परमाणुओं का एक अन्तर्मुहूर्त के लिये अन्तररूप अभाव करके—उपशान्त दशा को प्राप्त करता है, तब उसे दर्शन मोह की उपशमना कहते हैं। दर्शन मोह की उपशमना करनेवाले जीव से कौनसा योग, कौनसा उपयोग, कौनसी कषाय, कौनसी लेश्या और कौनसा वेद होता है, इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन अधःकरणादि परिणामों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनके कि द्वारा यह जीव अलब्ध-पूर्व सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करता है। दर्शन मोह की उपशमना चारों ही गतियों के जीव कर सकते हैं, किन्तु उन्हें संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकारोपयोगी, जागृत, प्रवर्धनविशुद्ध परिणामी और शुभ लेश्यावाला होना चाहिए। अधिकार के अन्त में इस उपशम सम्यक्त्वी के कुछ विशिष्ट कार्यों और अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

१२. दर्शन मोहक्षपणा-अधिकार—ऊपर जिस दर्शन मोह की उपशम अवस्था का वर्णन किया गया है, वह अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है और फिर वह जीव पहले जैसा ही आत्म-दर्शन से वंचित हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार सदा बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उस दर्शन मोह कर्म का सदा के लिए क्षय कर दिया जावे। इसके लिए जिन खास बातों की आवश्यकता होती है, उन सब का विवेचन इस अधिकार में किया गया है। दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। हां, उसकी पूर्णता चारों गतियों में की जा सकती है। दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाले मनुष्य के कम से कम तेजोलेश्या अवश्य होना चाहिए। दर्शन मोह की क्षपणा का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस क्षपण क्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही यदि उस मनुष्य की मृत्यु हो जाय, तो वह अपनी पूर्व बद्ध आयु के अनुसार यथा संभव चारों ही गतियों में उत्पन्न होकर शेष क्षपण क्रिया को पूरी करता है। मनुष्य जिस भव में दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है, उसके अतिरिक्त अधिक से अधिक तीन भवधारण करके संसार से मुक्त हो जाता है। इस दर्शन मोह की क्षपणा के समय

अधःकरणादि परिणामों को करते हुए अन्तरंग में कौन कौनसी सूक्ष्म क्रियाएं होती हैं, इनका अतिगहन और विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

१३. संयमासंयमलब्धि अधिकार—जब आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और वह मिथ्यात्वरूप कर्दम (कीचड) से निकलकर बाहिर आता है, तो वह दो बातों का प्रयास करता है—एक तो यह कि मेरा पुनः मिथ्यात्व कर्दम में पतन न हो, और दूसरा यह कि लगे हुए कीचड को धोने का प्रयत्न करता है। इसके लिए एक ओर जहां वह अपने अपने सम्यक्त्व को दृढतर करता है, वही दूसरी ओर सांसारिक विषयवासनाओं से जितना भी संभव होता है अपने को बचाते हुए लगे कलिल–कर्दम को उत्तरोत्तर धोने का प्रयत्न करता है। इसीको संयमासंयमलब्धि कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव से देशसंयम को प्राप्त करनेवाले जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, उसे संयमासंयम या देशसंयम लब्धि कहते हैं। इसके निमित्त से जीव श्रावक के व्रतों को धारण करने में समर्थ होता है। इस अधिकार में संयमासंयम लब्धि के लिए आवश्यक सर्व कार्य–विशेषों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

संयमलब्धि–अधिकार—यद्यपि गुणधराचार्य ने संयमासंयम और संयम इन दोनों लब्धियों को एक ही गाथा में निर्दिष्ट किया है और चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य ने संयम के भीतर ही चारित्र मोह की उपशमना और क्षपण का विधान किया है, तथापि जयधवलाकार ने संयमलब्धि का स्वतंत्र अधिकाररूप से वर्णन किया है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होनेपर आत्मा में संयमलब्धि प्रकट होती है, जिससे आत्मा की प्रवृत्ति हिंसादि असंयम से दूर होकर संयम धारण करने की ओर होती है। संयम के धारण कर लेनेपर भी कषायों के उदयानुसार परिणामों का कैसा उतार–चढाव होता है, इस सब बात का प्रकृत अधिकार में विस्तृत विवेचन करते हुए संयमलब्धि स्थानों के भेद बतलाकर अन्त में उनके अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है।

१४. चारित्र मोहोपशामना अधिकार—चारित्र मोहकर्म के उपशम का विधान करते हुए बतलाया गया है कि उपशम कितने प्रकार का होता है, किस किस कर्म का उपशम होता है, विलक्षित चारित्र मोह–प्रकृति की स्थिति से कितने भाग का उपशम करता है, कितने भाग का संक्रमण करता है और कितने भाग की उदीरणा करता है। विवक्षित चारित्र मोहनीय प्रकृति का उपशम कितने काल में करता है, उपशम करने पर संक्रमण और उदीरणा कब करता है? उपशम के आठ करणों में से कब किस करण की व्युच्छित्ति होती है, इत्यादि प्रश्नों का उद्भावन करके विस्तार के साथ उन सब का समाधान किया गया है। अन्त में बतलाया गया है की उपशामक जीव वीतराग दशा को प्राप्त करने के बाद भी किस कारण से नीचे के गुणस्थानों में से नियम से नीचे के गुणस्थानों में गिरता है और उस समय उससे कौन कौनसे कार्य–विशेष किस क्रम से प्रारम्भ होते हैं।

१५. चारित्रमोहक्षपणा अधिकार—चारित्र मोहकर्म की प्रकृतियों का क्षय किस क्रम से होता है, किस प्रकृति के क्षय होनेपर कहां कितना स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व रहता है, इत्यादि अनेक आन्तरिक

कर्मविशेषों का इस अधिकार में बहुत गहन, सूक्ष्म एवं अद्वितीय विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में बतलाया गया है कि जब तक यह जीव कषायों का क्षय हो जानेपर और वीतराग दशा के पालने पर भी छद्मस्थ पर्याय से नहीं निकलता है, तब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म का नियम से वेदन करता है। तत्पश्चात् द्वितीय शुक्लध्यान से इन तीनों घातियाकर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही समूल नाश करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्तवीर्यशाली होकर धर्मोपदेश करते हुए वे आर्यक्षेत्र में आयुष्य के पूर्ण होने तक विहार करते हैं।

मूल कसायपाहुडसुत्त यही पर समाप्त हो जाता है। किन्तु इस के पश्चात् भी वीतराग केवली के चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, उनकी क्षपणविधि बतलाने के लिए चूर्णिकार ने पश्चिम स्कन्ध अधिकार कहा।

पश्चिम स्कन्ध-अधिकार—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी सयोगी जिन अपनी आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर पहले आवर्जित करण करते हैं और तृतीय शुक्ल ध्यान का आश्रय लेकर केवलि समुद्घात करते हैं। इस समय दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के द्वारा नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा करके उनकी स्थिति को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कर देते हैं। पुनः चौथे शुक्ल-ध्यान का आश्रय लेकर योग निरोध के लिए आवश्यक सभी क्रियाओं को करते हुए अयोगी जिनकी दशा का अनुभव कर शरीर से मुक्त हो जाते हैं और सदा के लिए अजर-अमर बन जाते हैं।

उपसंहार—इस प्रकार इस सिद्धान्त ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि यह जीव अनादि काल से कषायों से भरा हुआ चला आ रहा है और निरन्तर उन्हींके उदय से प्रेरित होकर, आत्म स्वरूप से अनभिज्ञ रह कर और पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके राग-द्वेष किया करता है। जब यह संसारी प्राणी राग-द्वेष को दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा, तब तक उस का संसार से उद्धार नहीं हो सकता। राग-द्वेष के उत्पादक कषाय है। कषाय की जातियां चार हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्याना-वरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व की घातक है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश संयम की घातक है, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सकल संयम की घातक है और संज्वलन कषाय यथाख्यात संयम की घातक है। यतः अनन्तानुबन्धी कषाय का घातना दर्शन मोह के अभाव किये बिना संभव नहीं है, अतः सर्व प्रथम जीव को मिथ्यात्वरूप अनादि-कालीन दर्शन मोह के अभाव के लिए प्रयत्न करना पडता है। यह प्रयत्न तभी संभव है, जब कि कषायों का उदय मन्द हो; क्यों कि कषायों के तीव्र उदय में जीव की मनोवृत्ति अत्यन्त क्षुब्ध रहती है। यही कारण है कि प्रधान रूप से सम्यक्त्व का घातक दर्शन मोह के होने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय को भी सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। प्रथम दोनों सम्यक्त्व उत्पन्न होकर छूट जाते हैं, अतः सम्यक्त्व के स्थापित्व के लिए उसकी घातक दर्शनमोह

त्रिक और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का घात करके क्षायिक सम्यक्त्व का पाना आवश्यक होता है। इसे पालने के बाद जीव अधिक से अधिक तीसरे या चौथे भव में अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही चारित्रमोह की क्षपणा का अधिकारी है, अतः वह सकल संयम धारण कर और सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षपक श्रेणीपर चढते हुए क्रमशः अन्तर्मुहूर्त में ही अपूर्व करण गुणस्थान में प्रथम शुक्ल ध्यान के आश्रय से प्रति समय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता हुआ अनिवृत्ति करण गुणस्थान में चारित्रमोह की सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त सर्व प्रकृतियों का क्षय कर दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर क्षीणमोही बन जाता है और एक ही अन्तर्मुहूर्त में शेष अघातित्रिक का भी क्षय कर वीतराग सर्वज्ञ बन जाता है। पुनः तेरहवें गुणस्थान के अन्त में केवलि-समुद्घात कर सर्व कर्मों की स्थिति समान कर के योग–निरोध कर अयोगी बन कर और सर्व कर्मों से विमुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूपी बन नित्य निरंजन सिद्ध हो जाता है।

ॐ

महाबंध

[संक्षिप्त विषय-निर्देश]

सि. आ. पं. श्री. फूलचन्दजी सिद्धांत शास्त्री, वाराणसी

१ षट्खण्डागम का मूल आधार और विषयनिर्देश

चौदह पूर्वों में अग्रायणीय पूर्व दूसरा है। इसके चौदह अर्थाधिकार हैं। पांचवा अर्थाधिकार चयनलब्धि है, वेदनाकृत्स्नप्राभृत यह दूसरा नाम है। इसके चौबीस अर्थाधिकार हैं। जिनमें से प्रारम्भ के छह अर्थाधिकारों के नाम हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन। इन्हीं छह अर्थाधिकारों को प्रकृत षट्खण्डागम सिद्धान्त में निबद्ध किया गया है। मात्र दो अपवाद हैं-एक तो जीवस्थान चूलिका की सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक आठवी चूलिका दृष्टिवाद अंग के दूसरे सूत्र नामक अर्थाधिकार से निकली है। दूसरे गति-आगति नामक नौवीं चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली है।

यह षट्खण्डागम सिद्धान्त को प्रातःस्मरणीय आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि ने किस आधार से निबद्ध किया था इसका सामान्य अवलोकन है। प्रत्येक खण्ड का अन्तः स्पर्श करने पर विहित होता है कि परमागम में बन्धन अर्थाधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान नामक जिन चार अर्थाधिकारों का निर्देश किया गया है उनमें से बन्ध नामक अर्थाधिकार से प्रारम्भ की सात चूलिकाएं निबद्ध की गई हैं। इन सब चूलिकाओं में प्रकृत में उपयोगी होने से कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों को उस उस कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्ध व अधिकारी भेद से बननेवाले स्थानों को, कर्मों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियों को तथा गति भेद से प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के सन्मुख हुए जीवों के बंधनेवाली प्रकृतियों-सम्बन्धी तीन महादण्डकों को निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागम का दूसरा खण्ड क्षुल्लक बन्ध है। इसमें सब जीवों में कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसका सुस्पष्ट खुलासा करना प्रयोजन होने से बन्धक नामक दूसरे अर्थाधिकार को निबद्ध कर जो जीव बन्धक हैं वे क्यों बन्धक हैं और जो जीव अबन्धक हैं वे क्यों अबन्धक हैं इसे स्पष्ट करने के लिये चौदह मार्गणाओं के अवान्तर भेदोंसहित सब जीव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से यथा सम्भव बद्ध और अबद्ध होते हैं इसे निबद्ध किया गया है। आगे छठवें खण्ड में बन्धन के चारों अर्थाधिकारों को निबद्ध करना प्रयोजन होने से इस खण्ड को क्षुल्लक बन्ध कहा गया है। इस खण्ड में उक्त दो अनुयोगद्वारों को छोडकर अन्य जितने भी अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं, प्रकृत में उनका स्पष्टीकरण करना प्रयोजनीय नहीं होने से उनके विषय में कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है।

षट्खण्डागम का तीसरा खण्ड बन्ध स्वामित्वविचय है। यद्यपि क्षुल्लक बन्ध में सब जीवों में से कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसे स्पष्ट किया गया है पर वहाँ अधिकारी भेदसे बन्ध को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों का नाम निर्देश नहीं किया गया है और न यही बतलाया गया है कि उक्त जीव किस गुणस्थान तक किन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और उसके बाद वे उन प्रकृतियों के अबन्धक होते है यह सब ओघ और आदेश से सप्रयोजन स्पष्ट करने के लिए इस खण्ड को निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागम का चौथा खण्ड वेदना है और पाँचवें खण्ड का नाम वर्गणा है। इन दोनों खण्डों में से प्रथम खण्ड में कर्म प्रकृति प्राभृत के कृति और वेदना अर्थाधिकारों को तथा दूसरे खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति अर्थाधिकारों के साथ बन्धन अर्थाधिकार के बन्धनीय अर्थाधिकार को निबद्ध किया गया है।

इस प्रकार उक्त पांच खण्डों में निबद्ध विषय का सामान्य अवलोकन करने पर विदित होता है कि उक्त पाँचों खण्डों में कर्म विषयक सामग्रीका भी यथासंभव अन्य सामग्री के साथ यथास्थान निबद्धीकरण हुआ है। फिर भी बन्धन अर्थाधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अर्थाधिकारों को समग्र भाव से निबद्धीकरण नहीं हो सका है अतः इन चारों अर्थाधिकारों को अपने अवान्तर भेदों के साथ निबद्ध करने के लिए छटवे खण्ड महाबन्ध को निबद्ध किया गया है।

वर्तमान में जिस प्रकार प्रारम्भ के पांच खण्डोंपर आचार्य वीरसेन की धवला नामक टीका उपलब्ध होती है उस प्रकार महाबन्ध पर कोई टीका उपलब्ध नहीं होती। इसका परिमाण अनुष्टुप् श्लोकों में चालीस हजार श्लोक प्रमाण स्वीकार किया गया है। आचार्य वीरसेन के निर्देशानुसार यह आचार्य भूतबली की अमर कृती है यद्यपि इसका मूल आधार बन्धन नामक अर्थाधिकार है, परन्तु उसके आधार से आचार्य भूतबली ने इसे निबद्ध किया है, इसीलिए यहाँ उसे उनकी अमर कृति कहा गया है।

२ महाबन्ध इस नामकरण की सार्थकता

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि षट्खण्डागम सिद्धान्त में दूसरे खण्ड का नाम क्षुल्लक बन्ध है और तीसरे खण्ड का नाम बन्ध स्वामित्व विचय है। किन्तु उनमें बन्धन अर्थाधिकार के चारों अर्थाधिकारों में से मात्र बन्धक अर्थाधिकार के आधार से विषय को सप्रयोजन निबद्ध किया गया है। तथा वर्गणाखण्ड में वर्गणाओं के तेईस भेदों का सांगोपांग विवेचन करते हुए उनमें से प्रसंगवश ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य कार्माण वर्गणाएं हैं यह बतलाया गया है। वहाँ बन्ध तत्त्व के आश्रय से बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों को एक शृंखला में बाँधकर निबद्ध नहीं किया गया है जिसकी पूर्ति इस खण्ड द्वारा की गई है, अतः इसका महाबन्ध यह नाम सार्थक है।

३ निबद्धीकरण सम्बन्धी शैली का विचार

किसी विषय का विवेचन करने के लिए तत्सम्बन्धी विवेचन के अनुसार उसे अनेक प्रमुख अधिकारों में विभक्त किया जाता है। पुनः अवान्तर प्रकरणों द्वारा उसका सर्वांग विवेचन किया जाता है।

प्रकृत में भी इसी पद्धति से बन्ध तत्त्व को प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रमुख अधिकारों में विभक्त कर उनमें से प्रत्येक का ओघ और आदेश से अनेक अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर विचार किया गया है। इससे बन्ध तत्त्व सम्बन्धी समग्र मीमांसा को निबद्ध करने में सुगमता आ गई है। समग्र षट्खण्डागम इसी शैली में निबद्ध किया गया है अतः महाबन्ध को निबद्ध करने में भी यही शैली अपनाई गई है। ऐसा करते हुए मूल में कहीं भी किसी पारिभाषिक शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। मात्र प्रकरणानुसार उसका उपयोग किया गया है। किन्तु एक पारिभाषिक शब्द एक स्थल पर जिस अर्थ से प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसे उसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

४ कर्म शब्द के अर्थ की व्याख्या

कर्म शब्द का अर्थ कार्य है। प्रत्येक द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाव वाला होने से अपने ध्रुवस्वभाव का त्याग किये बिना प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय होकर जो पर्याय रूप से नया उत्पाद होता है वह उस द्रव्य का कर्म कहलाता है। यह व्यवस्था अन्य द्रव्यों के समान जीव और पुद्गल द्रव्य में भी घटित होती है। किन्तु यहाँ जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में से क्रम से यथा सम्भव पांच, चार, तीन, दो या एक को निमित्त कर कार्मणवर्गणाओं का जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है उसे 'कर्म' कहा गया है। ज्ञानावरणादि रूप से स्वयं कार्मणवर्गणाऐं परिणमीं, इसलिए नोआगम भाव की अपेक्षा तो वह कर्मरूप परिणाम स्वयं पुद्गल का है। किन्तु उन कार्मणवर्गणाओं के परिणमन में जीव के मिथ्यात्व आदि भाव निमित्त होते हैं, इसलिए निमित्त होने की अपेक्षा उसे उपचार से जीव का भी कर्म कहा जाता है। इस प्रकार इन ज्ञानावरणादि कर्मों को जीव का कहना यह नोआगम द्रव्य-निक्षेप का विषय है, नोआगम भाव निक्षेप का विषय नहीं, इसलिए आगम में इसे द्रव्य कर्मरूप से स्वीकार किया गया है। काल–प्रत्यासत्ति या बाह्यव्याप्ति वश विवक्षित दो द्रव्यों में एकता स्थापित कर जब एक द्रव्य के कार्य को दूसरे द्रव्य का कहा जाता है तभी नोगमनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल परिणाम को जीव का कार्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं; यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार प्रकृत में उपयोगी कुछ तथ्यों का निर्देश करने के बाद अब महाबन्ध परमागम में निबद्ध विषय पर सांगोपांग विचार करते हैं।

५. महाबन्ध परमागम में निबद्ध विषय

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों विषयोंको ध्यान में रखकर महाबन्ध में बन्ध तत्त्वको निबद्ध किया गया है। यह प्रत्येक द्रव्यगत स्वभाव है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है। यतः ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला जीव स्वतंत्र द्रव्य है और प्रत्येक जीव द्रव्य पृथक् पृथक् सत्ता-सम्पन्न होने से सब जीव अनन्त हैं तथा पर्याय दृष्टि से वे संसारी और मुक्त ऐसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो चतुर्गति के परिभ्रमण से छुटकारा पा गये हैं उन्हें मुक्त कहते हैं। किन्तु जो चतुर्गति परिभ्रमण से मुक्त नहीं हुए हैं उन्हें संसारी कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जीवोंकी ये दो प्रकारकी अवस्थाऐं कैसे होती हैं ? यद्यपि इस प्रश्नका समाधान पूर्वोक्त इस कथन से हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यों में बाह्य और अन्तरंग उपाधिको समग्रता होती है। फिर भी यहाँ उस बाह्य सामग्री की सांगोपांग मीमांसा करनी है, आभ्यन्तर उपाधि के साथ जिसकी प्राप्ति होनेपर जीवों की संसार (चतुर्गति परिभ्रमणरूप) अवस्था नियमसे होती है। भगवान् भूतवली ने इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप महाबन्ध परमागमको निबद्ध किया है। इसमें जीव सम्बद्ध उस बाह्य सामग्रीकी कर्म संज्ञा रख कर और उसे व्यवहारनय (नैगमनय) से जीवका कार्य स्वीकार कर बतलाया गया है कि वे कर्म कितने प्रकार के हैं उनकी प्रकृति, स्थिति और अनुभाग क्या है। संख्यामें वे प्रदेशों की अपेक्षा कितने होते हैं। बन्धकी अपेक्षा ओघ और आदेश से कौन जीव किन कर्मोंका बन्ध करते हैं। वे सब कर्म मूल और अवान्तर भेदों की अपेक्षा कितने प्रकारके हैं। क्या सभी पुद्गलकर्मभाव को प्राप्त होते हैं या नियत पुद्गल ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं। उनका अवस्थान काल और क्षेत्र आदि कितना है आदि प्रकृत विषय सम्बधी प्रश्नों का समाधान विधि रूपसे महाबन्ध परमागम द्वारा किया गया है। इसमें सब कर्मों के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ऐसे चार भेद करके उक्त विधि से बन्ध तत्त्व को अपेक्षा सब कर्मों का विचार किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

१. प्रकृति बन्ध

प्रकृति बन्ध यह पद प्रकृति और बन्ध इन दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द हैं। इससे ज्ञात होता है कि जीव के मिथ्या दर्शन आदि को निमित्त कर जो कार्मण वर्गणाऐं कर्म भाव को प्राप्त होती हैं उनकी मूल प्रकृति जीव की विविध नर-नारकादि अवस्थाओं के होने में तथा मिथ्या दर्शनादि भावों के होने में निमित्त होती हैं। अर्थात् जब जीव अपनी पुरुषार्थ हीनता के कारण आभ्यन्तर उपाधिवश जिस अवस्था को प्राप्त होता है उसकी उस अवस्था के होने में ये ज्ञानावरणादि कर्म निमित्त (व्यवहार हेतु) होते हैं यह उनकी प्रकृति है।

किन्तु कार्मण वर्गणाओं के, जीव के मिथ्यादर्शन आदि के निमित्त से कर्म भाव को प्राप्त होने पर वे कर्म जीव से सम्बद्ध होकर रहते हैं या असम्बद्ध होकर रहते हैं इसी के उत्तर स्वरूप यहां बन्ध-तत्त्व को स्वीकार किया गया है। परमागम में बन्ध दो प्रकार का बतलाया है—एक तादात्म्य सम्बन्ध रूप और दूसरा संयोग सम्बन्ध रूप। इनमें से प्रकृत में तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का अपने गुण पर्याय के साथ ही तादात्म्यरूप बन्ध होता है, दो द्रव्यों या उनके गुण-पर्यायों के मध्य नहीं। संयोग सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है सो उसमें भी दो या दो से अधिक परमाणुओं आदि में जैसा **श्लेष बन्ध** होता है वह भी यहाँ विवक्षित नहीं है, क्यों कि पुद्गल स्पर्शवान द्रव्य होने पर भी जीव स्पर्शादि गुणों से रहित अमूर्त द्रव्य है, अतः जीव और पुद्गल का श्लेष बन्ध बन नहीं सकता। स्वर्ण का कीचड़ के मध्य रह कर दोनों का जैसा संयोग सम्बन्ध होता है ऐसा भी यहा जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि स्वर्ण के कीचड़ के मध्य होते हुए भी स्वर्ण कीचड़ से अलिप्त रहता है,

क्यों कि कीचड़ के निमित्त से स्वर्ण में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। मात्र परस्पर अवगाह रूप संयोगसम्बन्ध भी जीव और कर्म का नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जीव प्रदेशों का विस्रसोपचयों के साथ परस्पर अवगाह होने पर भी विस्रसोपचयों के निमित्त से जीव में नरकादि रूप व्यञ्जन पर्याय और मिथ्यादर्शनादि भाव रूप किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। तब यहाँ किस प्रकार का बन्ध स्वीकार किया गया है ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि जीव के मिथ्यादर्शनादि भावों को निमित्त कर जीव प्रदेशों में अवगाहन कर स्थित विस्रसोपचयों के कर्म भाव को प्राप्त होने पर उनका और जीव प्रदेशों का परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना यही जीव का कर्म के साथ बन्ध है। ऐसा बन्ध ही प्रकृत में विवक्षित है। इस प्रकार जीव का कर्म के साथ बन्ध होने पर उसकी प्रकृति के अनुसार उस बन्ध को प्रकृति बन्ध कहते हैं। इसी प्रकृति बन्ध को ओघ और आदेश से महाबन्ध के प्रथम अर्थाधिकार में विविध अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर निबद्ध किया गया है।

वे अनुयोग द्वार इस प्रकार हैं—(१) प्रकृति समुत्कीर्तन (२) सर्वबन्ध (३) नोसर्वबन्ध (४) उत्कृष्टबन्ध (५) अनुत्कृष्टबन्ध (६) जघन्यबन्ध (७) अजघन्यबन्ध (८) सादिबन्ध (९) अनादिबन्ध (१०, ध्रुवबन्ध (११) अध्रुवबन्ध (१२) बन्धस्वामित्वविचय (१३) एक जीव की अपेक्षा काल (१४) एक जीव की अपेक्षा अन्तर (१५) सन्निकर्ष (१६) भंगविचय (१७) भागाभागानुगम (१८) परिमाणानुगम (१९) क्षेत्रानुगम (२०) स्पर्शनानुगम (२१) नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम (२२) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम (२३) भावानुगम (२४) जीव अल्पबहुत्वानुगम और (२५) अद्धा-अल्प बहुत्वानुगम।

१. प्रकृति समुत्कीर्तन

प्रथम अनुयोग द्वार प्रकृति समुत्कीर्तन है। इस में कर्मों की आठों मूल और उत्तर प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। किन्तु महाबन्ध के प्रथम ताडपत्र के त्रुटित हो जाने से महाबन्धका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ है इसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। इतना अवश्य है कि इस अनुयोग द्वारका अवशिष्ट जो भाग मुद्रित है उसके अवलोकन से ऐसा सुनिश्चित प्रतीत होता है कि वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोग द्वार में ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का जिस विधि से निरूपण उपलब्ध होता है, महाबन्ध में भी ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों के निरूपण में कुछ पाठ भेद के साथ लगभग वही पद्धति अपनाई गई है। प्रकृति अनुयोग द्वार के ५९ वें सूत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है—

संवच्छर-जुग-पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोव मादओ विधओ भवंति ॥ ५९ ॥

इस के स्थान में महाबंध में इस स्थलपर पाठ है—

अयणं संवच्छर-पलिदोवम-सागरोव मादओ भवंति।

इसी प्रकार प्रकृति अनुयोग द्वार के अवधिज्ञान सम्बन्धी जो सूत्र गाथाएं निबद्ध है वे सब यद्यपि महाबन्ध के प्रकृति समुत्कीर्तन में भी निबद्ध है, पर उन में पाठ भेद के साथ व्यतिक्रम भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ प्रकृति अनुयोग द्वार में 'काले चउण्ण उड्ढी' यह सूत्र गाथा पहले है और 'तेजाकम्म सरीरं'

यह सूत्र गाथा बाद में। किन्तु महाबन्ध में 'तेजाकम्म सरीरं' सूत्र गाथा पहले है और 'काले चदुण्हं वुड्ढी' यह सूत्र गाथा बाद में। इसी प्रकार कतिपय अन्य सूत्र गाथाओं में भी व्यतिक्रम पाया जाता है।

आगे दर्शनावरण से लेकर अन्तरायतक शेप सात कर्मों की किस की कितनी प्रकृतियाँ है मात्र इतना उल्लेख कर प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोग द्वार समाप्त किया गया है। इतना अवश्य है कि नाम कर्म की वन्ध प्रकृतियों की ४२ संख्या का उल्लेख कर उसके बाद यह वचन आया है।

'यं तं गदिणामं कम्मं तं चदु विधं णिरयगदियाव देवगदित्ति। यथा पगदि मंगो तथा कादव्वो।' इसमें आये हुए 'पगदि मंगो कादव्वो' पद से विदित होता है कि सम्भव है इस पदद्वारा वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार के अनुसार जानने की सूचना की गई है।

समस्त कर्म विषयक वाङ्मय में ज्ञानावरणादि कर्मों का जो पाठ विषयक क्रम स्वीकार किया गया है उसके अनुसार ज्ञान की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर ज्ञानावरण कर्म को सर्वप्रथम रखकर तदनन्तर दर्शनावरण कर्म को रखा है–यतः दर्शनपूर्वक तत्वार्थों का ज्ञान होनेपर ही उनका श्रद्धान किया जाता है, अतः दर्शनावरण के बाद मोहनीय कर्म का पाठ स्वीकार किया है। अन्तराय यद्यपि घातिकर्म है, पर वह नामादि तीन कर्मों के निमित्त से ही जीव के भोगादि गुणों के घातने में समर्थ होता है इसलिए उसका पाठ अघाति कर्मों के अन्त में स्वीकार किया है। आयु भव में अवस्थिति का निमित्त है, इसलिए नाम कर्म का पाठ आयुकर्म के बाद रखा है तथा भव के होनेपर ही जीव का नीच–उच्चपना होना सम्भव है, इसलिए गोत्र कर्म का पाठ नाम कर्म के बाद स्वीकार किया है। यद्यपि वेदनीय अघातिकर्म है पर वह मोह के बलसे ही सुखदुःख का वेदन करने में समर्थ है, अन्यथा नहीं, इसलिए मोहनीय कर्म के पूर्व घातिकर्म के मध्य उसका पाठ स्वीकार किया है। यह आठों कर्मों के पाठक्रम को स्वीकार करने विषयक उक्त कथन गोम्मटसार कर्मकाण्ड के आधार से किया है। बहुत सम्भव है कि इस पाठकर्म का निर्देश स्वयं प्रातःस्मरणीय आचार्य भूतबलि ने प्रकृत अर्थाधिकार के प्रारम्भ में किया होगा। पर उसके प्रथम ताडपत्र के त्रुटित हो जाने के कारण ही हमने गोम्मटसार कर्मकाण्ड के आधार से यह स्पष्टीकरण किया है।

यह तो सुनिश्चित है कि २३ प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं में से सत्स्वरूप सभी वर्गणाओं से ज्ञानावरणादि कर्मों का निर्माण नहीं होता। किन्तु उनमें से मात्र कार्मण वर्गणाएं ही ज्ञानावरणादि कर्म भाव को प्राप्त होती हैं। उसमें भी अपने निश्चय उपादान के अनुसार ही वे वर्गणाऐं मिथ्यादर्शनादि बाह्य हेतु को प्राप्त कर कर्मभाव को प्राप्त होती हैं, सभी नहीं। जिस प्रकार यह नियम है उसी प्रकार उपादान भाव को प्राप्त हुई सभी कार्मणवर्गणाएं ज्ञानावरणादि रूप से कर्मभाव को प्राप्त नहीं होती। किन्तु जैसे गेहूंरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते हैं और चनेरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते हैं यह सामान्य नियम है वैसे ही ज्ञानावरणरूप परिणमन करनेवाली कार्मण वर्गणाएं जुदी हैं और दर्शनावरणादिरूप परिणमन करनेवाली कार्मणवर्गणाएं अलग हैं। इन ज्ञानावरणादि कर्मों का अपनी अपनी जाति को छोड कर अन्य कर्म रूप संक्रमित नहीं होने का यही कारण है। तथा

इसी आधार पर दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता यह स्वीकार किया गया है। चारों आयुओं का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता, बहुत सम्भव है इसका भी यही कारण हो।

२. सर्वबन्ध–नोसर्वबन्ध अनुयोगद्वार

यह प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारका सामान्य अवलोकन है। आगे जितने भी अनुयोगद्वार आये है उनद्वारा इसी प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारा को आलम्बन बनाकर विशेष ऊहापोह किया गया है। उनके नाम पहले ही दे आये है। जिस अनुयोग-द्वारका जो नाम है उसमें अपने नामानुरूप ही विषय निबद्ध किया गया है। यथा सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध इन दो अनुयोग द्वारों को लें। इनमें यह बतलाया गया है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंमें से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मका बन्ध व्युच्छित्ति होने तक सर्वबन्ध होता है, क्योंकि इन दोनों कर्मोंकी जो पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं उनका अपने बन्ध होने के स्थल तक सतत बन्ध होता रहता है। दर्शनावरण कर्मका सर्व बन्ध भी होता है और नोसर्वबन्ध भी होता है। सासादन गुणस्थान तक इसकी सभी प्रकृतियोंका बन्ध होने से सर्वबन्ध होता है, आगेके गुणस्थानों में नोसर्वबन्ध होता है, क्योंकि दूसरे गुणस्थान के अन्तमें स्त्यानगृद्धित्रिककी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। और अपूर्वकरण के प्रथम भाग में निद्रा और प्रचलाकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसी प्रकार मोहनीय और नामकर्म के विषय में भी जानना चाहिए। इन दो कर्मोंमें सर्वबन्ध से तात्पर्य जो प्रकृतियाँ अधिकसे अधिक युगपत् बन्ध सकती है उनकी विवक्षा है। तथा उनसे कर्मका बन्ध जब होता तब वह नोसर्वबन्ध कहलाता है। वेदनीय, आयु, गोत्र इन तीन कर्मोंका नोसर्वबन्ध ही होता है, क्योंकि इन कर्मोकी एक कालमें अपनी–अपनी विवक्षित एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। यह उक्त दो अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण है। इसी प्रकार अन्य अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण समझना चाहिए। इस अल्प निबन्ध में समग्र विवेचन सम्भव नहीं है। दिशा मात्रका ज्ञान कराया गया है। इतना अवश्य है कि महाबन्ध में जो बन्ध स्वामित्व विचय अनुयोगद्वार निबद्ध है उसीके अनुसार बन्ध स्वामित्व विचय तीसरे खण्डकी रचना हुई है। दोनोंका विषय एक है, और शैली भी एक है। मात्र अन्तर इतना है कि वन्ध स्वामित्व विचय में ओघके समान प्रत्येक मार्गणा में और उसके अवान्तर भेदों में किन प्रकृतियोंका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है इसको प्रकृतियों के नाम निर्देश पूर्वक निबद्ध किया गया है जब कि महाबन्ध के बन्ध स्वामित्व विचय में जिस मार्गणास्थान के विषय की पहले कहे गये जिस ओघ या मार्गणास्थान के विषय के साथ समानता है उसका 'एवं' के साथ उस मार्गणास्थान का निर्देश करके संक्षेपीकरण कर दिया गया है। यथा—एवं ओघ मंगो पंचिंदिय–तस०२मनसि। इतना अवश्य है कि महाबन्ध में इस अनुयोग-द्वार का बहुत कुछ भाग और एक जीव की अपेक्षा काल अनुयोगद्वार का प्रारम्भ का कुछ भाग इस विषय सम्बन्धी ताडपत्र के नष्ट हो जाने से त्रुटित हो गया है। जिसकी पूर्ति बन्धस्वामित्व विचय, वर्गणाखण्ड तथा अन्य उपयोगी सामग्री के आधार से की जा सकती है। पहले जिस एक ताडपत्र के नष्ट होने का निर्देश कर आये हैं उसकी भी यथा सम्भव वर्गणाखण्ड के प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वार आदि से पूर्ति की जा सकती है।

२. स्थितिबन्ध

स्थिति अवस्थान काल को कहते हैं। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होनेपर उनका जितने काल तक अवस्थान रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। वह मूल प्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। उन्हीं दोनों स्थितिबन्धों का इस अर्थाधिकार में निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूल प्रकृति स्थितिबन्ध के प्रसंग से ये चार अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये है--स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्ड प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इन चारों अनुयोगद्वारों को वेदना खण्ड के वेदना काल विधान में जिस विधि से निबद्ध किया है वही विधी यहाँ अपनाई गई है। दोनों स्थलोंपर सूत्र रचना सदृश है। मात्र महाबन्ध में परम्परोपनिधा के प्रसंग से बहुत स्थल त्रुटित हो गया है ऐसा प्रतित होता है। महाबन्ध में इस स्थल पर इसका कोई संकेत दृष्टिगोचर नहीं होता। संक्षेप में स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१४ जीव समासों में स्थितिबन्धस्थान[१] स्थितिबन्धस्थान — प्ररूपणा सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तक उत्तरोत्तर कितने गुणे होते हैं यह स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा इस अनुयोगद्वार में निबद्ध किया गया है। तथा इसी अनुयोगद्वार के उक्त चौदह जीवसमासों में संक्लेश विशुद्धिस्थानों के अल्प बहुत्व को निबद्ध किया गया है। यहाँ पर जिन परिणामों से कर्मों कि स्थितियों का वन्ध होता है उनकी स्थितिबन्ध संज्ञा करके इस अनुयोगद्वार में स्थितिबन्ध के कारणों के आधार से अल्प बहुत्व का विचार किया गया है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

परिवर्तमान असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीच गोत्र प्रकृतियों के बन्ध के योग्य परिणामों को संक्लेश स्थान कहते हैं। तथा साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को विशुद्धिस्थान कहते हैं। यहाँ पर वर्धमान कषाय का नाम संक्लेश और हीयमान कषाय का नाम विशुद्धि यह अर्थ परिगृहित नहीं है, क्यों कि ऐसा स्वीकार करने पर दोनों स्थानों को एक समान स्वीकार करना पडता है और ऐसी अवस्था में जघन्य कषाय स्थानों को विशुद्धि रूप, उत्कृष्ट कषाय स्थानों को संक्लेश रूप तथा मध्य के कषाय स्थानों को उभयरूप स्वीकार करना पडता है। दूसरे संक्लेश स्थानों से विशुद्धि स्थान थोडे हैं इस प्रकार जो प्रवाह्यमान गुरुओं का उपदेश चला आ रहा है, इस कथन के साथ उक्त कथन का विरोध आता है। तीसरे उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के कारणभूत विशुद्धि स्थान अल्प हैं और जघन्य स्थिति बन्ध के कारणभूत विशुद्धि स्थान बहुत हैं यह जो गुरुओं का उपदेश उपलब्ध होता है इस कथन के साथ भी उक्त कथन का विरोध आता है, इसलिए हीयमान कषाय स्थानों को विशुद्धि कहते हैं यह मानना समीचीन नहीं है।

यद्यपि दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की उपशमना और क्षपणा में प्रति समय अव्यवहित पूर्व समय में उदयागत अनुभाग स्पर्धकों से अगले समय में गुणहीन अनुभाग स्पर्धकों के उदय से जो कषाय उदय स्थान उत्पन्न होते हैं उन्हें विशुद्धि स्वरूप स्वीकार किया गया है, इसलिए हीयमान कषाय

को विशुद्धि कहते हैं यह नियम यहाँ बन जाता है यह ठीक है। परन्तु इस नियम को जीवों की अन्यत्र संसार स्वरूप अवस्था में लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस अवस्था में छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि द्वारा कषाय उदय स्थानों की उत्पत्ति देखी जाती है।

माना कि संसार अवस्था में भी अनन्तगुण हानी का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त स्वीकार किया गया है, इसलिए वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त काल तक अनुभाग स्पर्धकों की हानि होनेसे उतने ही काल तक विशुद्धि बन जाती है यह कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ विशुद्धि का यह अर्थ विवक्षित नहीं है। किन्तु यहाँ पर साता आदि के बन्ध के योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। और असाता आदि के बन्ध के योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं यही अर्थ विवक्षित है। अन्यथा उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध के योग्य विशुद्धिस्थान अल्प होते हैं यह नियम नहीं बन सकता। इसलिए जघन्य स्थिति बन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तक संक्लेश स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते हैं और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध से लेकर जघन्य स्थिति बन्धतक विशुद्धि स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते हैं यह सिद्ध हो जाता है और ऐसा सिद्ध हो जाने पर लक्षण भेद से दोनों प्रकार के परिणामों को पृथक् पृथक् ही मानना चाहिए। इन दोनों प्रकार के परिणामों का पृथक् पृथक् लक्षण पूर्व में किया ही है।

इस प्रकार १४ जीव समासों में संक्लेश, विशुद्धि स्थानों की अपेक्षा अल्प बहुत्व के समाप्त होने पर इसी अनुयोग द्वार में संयतों सहित १४ जीव समासों में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के जीवों को विवक्षित कर जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के अल्प बहुत्व का निर्देश करके इस अनुयोग द्वारको समाप्त किया है।

२. निषेक प्ररूपणा

दूसरा अनुयोग द्वार निषेक प्ररूपणा है। इसको अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा के आधार से निबद्ध कर इस अनुयोग द्वार को समाप्त किया गया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आयु कर्म को छोडकर अन्य कर्मों का जितना-जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है उसमें से आबाधा को कम कर जितनी स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक स्थिति के प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर एक एक चय की हानि होते हुए प्रत्येक समय में बद्ध द्रव्य निषेक रूप से विभक्त होता जाता है। इसे विशेष रूप से समझने के लिए जीवस्थान चूलिका (पृ. १५० से १५८ तक) को देखिए। प्रत्येक समय में जितना द्रव्य बँधता है उसकी समय प्रबद्ध संज्ञा है। स्थिति बन्ध के समय आबाधा को छोडकर स्थिति के जितने समय शेष रहते हैं उनमें से प्रत्येक समय में समय प्रबद्ध में से जितना द्रव्य निक्षिप्त होता है उसकी निषेक संज्ञा है तथा स्थिति बन्ध के होने पर उसके प्रारम्भ के जितने समयों में समय-प्रबद्ध सम्बन्धी द्रव्य का निक्षेप नहीं होता उसकी आबाधा संज्ञा है। प्रथम निषेक से दूसरे निषेक में, दूसरे निषेक से तीसरे निषेक में इत्यादि रूप से अन्तिम निषेक तक उत्तरोत्तर जितने द्रव्य को कम करते जाते हैं उसकी चय संज्ञा है। इसी प्रकार अन्य विषयों को समझ कर प्रकृत प्ररूपणा का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

३. आबाधाकाण्डक प्ररूपणा

तीसरा अनुयोग द्वार आबाधाकाण्डक प्ररूपणा है। आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मो का जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हो उसकी स्थिति के सब समयों में वहाँ प्राप्त आबाधा के समयों का भाग देनेपर जितना लब्ध आवे उतने समयों का एक **आबाधाकाण्डक** होता है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से लेकर उत्कृष्ट स्थिति में से जितने समय कम हुए हों वहां तक स्थितिबन्ध के प्राप्त होनेपर उस सब स्थितिबन्ध सम्बन्धी विकल्पों की उत्कृष्ट आबाधा होती है। अतः इन्हीं सब स्थितिबन्ध के विकल्पों का नाम एक **आबाधा-काण्डक** है। ये सब आबाधाकाण्डक प्रमाण स्थितिबन्ध के भेद पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। इसी विधि से अन्य आबाधाकाण्डक जानने चाहिए। यह नियम स्थितिबन्ध में वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक उक्त नियम के अनुसार आबाधाकाण्डक प्राप्त होते हैं। आयु कर्म के स्थितिबन्ध में उसकी आबाधा परिगणित नहीं की जाती, वह अतिरिक्त होती है, इसलिए कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंचों में उत्कृष्ट या मध्यम किसी भी प्रकार की आयु का बन्ध होने पर आबाधा पूर्व कोटि के त्रिभाग से लेकर आसंक्षेपाद्धाकाल तक यथा सम्भव कुछ भी हो सकती है। नारकियों, भोगभूमिज तिर्यंचों और मनुष्यों तथा देवों में भुज्यमान आयु में छह महिना अवशिष्ट रहने पर वहाँ से लेकर आसंक्षेपाद्धाकाल तक आबाधा कुछ भी हो सकती है। अतः आयुकर्म में उक्त प्रकार के आबाधाकाण्डकों के सम्भव होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. अल्पबहुत्व प्ररूपणा

इस अनुयोग द्वार में १४ जीवसमासों में जघन्य और उत्कृष्ट–आबाधा, आबाधास्थान, आबाधा-काण्डक, नानागुण हानिस्थान, एकगुण हानिस्थान जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और स्थितिबन्धस्थान पदों के आलम्बन से जिस क्रम से इन पदों में अल्प बहुत्व सम्भव है उसका निर्देश किया गया है।

४. चौवीस अनुयोगद्वार

आगे उक्त अर्थपद के अनुसार २४ अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश से स्थितिबन्ध को विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है। अनुयोगद्वारों के नाम वही हैं जिनका निर्देश प्रकृतिवन्ध के निरूपण के प्रसंग से कर आये हैं। मात्र प्रकृतिबन्ध में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम प्रकृति-समुत्कीर्तन है और यहाँ उसके स्थान में प्रथम अनुयोगद्वार का नाम अद्धाच्छेद है। अद्धा नाम काल का है। ज्ञानावरणादि किस कर्म का जघन्य और उत्कृष्ट कितना स्थितिबन्ध होता है, किसकी कितनी आबाधा होती है और आबाधा को छोडकर जहाँ जितनी कर्मस्थिति अवशिष्ट रहती है उसमें निषेक रचना होती है, इस विषय को इस अनुयोगद्वार में निबद्ध किया गया है। शेष अनुयोगद्वारों में अपने–अपने नामानुसार विषय को निबद्ध किया गया है। सर्व स्थितिबन्ध और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में यह अन्तर है कि सर्वस्थितिबन्ध अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर सभी स्थितियों का बन्ध विवक्षित रहता है और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर मात्र अन्त की उत्कृष्ट स्थिति परिगृहित की जाती है। यहाँ

इतना विशेष और जान लेना चाहिए कि अनुत्कृष्ट में उत्कृष्ट को छोडकर जघन्यसहित सब का परिग्रह हो जाता है तथा अजघन्य में जघन्य को छोडकर उत्कृष्ट सहित सब का परिग्रह हो जाता है। उक्त नियम प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध में और प्रदेशबन्ध सर्वत्र लागू होते हैं। मात्र जहाँ प्रकृति आदि जिस बन्ध का कथन चल रहा हो वहाँ उसके अनुसार विचार कर लेना चाहिए।

५. सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव स्थितिबन्ध

स्थितिबन्ध चार प्रकार का होता है—उत्कृष्ट स्थिति बन्ध, अनुत्कृष्ट स्थिति वन्ध, जघन्य स्थिति बन्ध और अजघन्य स्थिति बन्ध। इन चारों प्रकार के स्थिति बन्धों में से कौन स्थितिबन्ध सादि आदि में से किस प्रकार का होता है इस का विचार इन चारों अनुयोग द्वारों में किया गया है। यथा ज्ञानावरणादि सात कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के अपने योग्य स्वामित्व के प्राप्त होने पर ही होता है। इसलिए वह सादि है और चूंकि वह नियतकाल तक ही होता है, उसके बाद पुनः जब उसके योग्य स्वामित्व प्राप्त होता है तभी वह होता है, मध्य के काल में नहीं, इसलिए वह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अध्रुव है। तथा मध्य के काल में जो उससे न्यून स्थिति बन्ध होता है वह सब अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। यतः वह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के बाद ही सम्भव है और तभी तक सम्भव है जब तक पुनः उत्कृष्ट स्थिति बन्ध प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणि में मोहनीय का नौवें गुणस्थान में और शेष छह का दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। किन्तु पूर्व अनादि काल से उक्त सातों कर्मों का अनादि से जो स्थितिबन्ध होता है वह जघन्य स्थितिबन्ध कहलाता है। क्योंकि इसमें जघन्य स्थिति बन्ध को छोडकर शेष सब का परिग्रह हो जाता है। इसलिए तो वह अनादि है और ध्रुव है। तथा उपशम श्रेणि में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने पर पुनः इन कर्मों का यथा स्थान बन्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए वह सादि और अध्रुव है। आयुकर्म का बन्ध कादाचित्क होने से उसमें सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प बनते हैं। विशेष जानकारी हो जाय इसलिए इन चारों अनुयोग द्वारों का यहाँ स्पष्टीकरण किया है।

६. बन्ध स्वामित्व प्ररूपणा

स्थिति बन्ध के स्वामित्व को समझने के लिए कुछ तथ्यों का यहाँ विचार किया जाता है। यथा—

सामान्य नियम यह है कि सातावेदनीय आदि प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं और असाता वेदनीय आदि प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं। इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणादि सभी कर्मों का स्थिति बन्ध किस प्रकार होता है इसका यहाँ विचार करना है।

बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध। इन में से प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। ऐसा होते हुए भी यदि कषाय-उदय स्थानों को ही स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान मान लिया जावे तो कषाय

उदय स्थान के बिना मूल प्रकृतियों का बन्ध न हो सकने से सब प्रकृतियों के स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान समान हो जावेंगे। अतएव सब मूल प्रकृतियों के अपने-अपने उदय से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं वे अपने-अपने स्थितिबन्ध के कारण हैं, अतः उन्हें ही यहाँ स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान स्वीकार किया गया है।

श्री समयसार आस्रव अधिकार (गाथा १७१) में बतलाया है कि ज्ञान गुण का जब तक जघन्य-पना है तब तक वह यथाख्यात चारित्र के पूर्व अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पुनः पुनः परिणमन करता है, इसलिए उसके साथ राग का सद्भाव अवश्यंभावी होने से वह बन्ध का हेतु होता है। आगे (गाथा १७२ में) इसे और भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यद्यपि ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक अर्थात् मैं रागादि भावों का कर्ता हूँ और वे भाव मेरे कार्य है इस प्रकार रागादि के स्वामित्व को स्वीकार कर राग, द्वेष और मोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है, फिर भी जबतक वह अपने ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्ट रूप से अनुभवने, जानने और उसमें रमने में असमर्थ होता हुआ उसे जघन्य भाव से अनुभवता है, जानता है और उसमें रमता है तब तक जघन्य भाव की अन्यथा उत्पत्ति न हो सकने के कारण अनुभीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से उसके पुद्गल कर्म का बन्ध होता ही है।

यह आगम प्रमाण है। इससे ज्ञात होता है कि केवल कषाय-उदयस्थानों की स्थिति बन्धाध्य-वसानस्थान संज्ञा न होकर कषाय-उदयस्थानों से अनुरंजित ज्ञानावरणादि कर्मों में से अपने-अपने कर्म के उदय से होनेवाले परिणामों की स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान संज्ञा है। अब इन स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों के सद्भाव में ज्ञानावरणादि कर्मों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है इसका विचार करते हैं। ज्ञानावरण का बन्ध करनेवाले जीव दो प्रकार के हैं—सातबन्धक और असातबन्धक, क्योंकि जो जीव ज्ञानावरणीय कर्मों का बन्ध करते हैं वे यथासम्भव सातावेदनीय और असातावेदनीय इनमें से किसी एक का बन्ध अवश्य करते हैं। उनमें से सातबन्धक जीव तीन प्रकार के हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक सातावेदनीय का अनुभाग चार भागों में विभक्त है। उनमें से प्रथम खण्ड गुड के समान है। दूसरा खण्ड खाँड के समान है, तीसरा खण्ड शर्करा के समान है और चौथा खण्ड अमृत के समान है। जिसमें ये चारों स्थान होते हैं उसे चतुःस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमें अन्तिम खण्ड को छोडकर प्रारम्भ के तीन स्थान होते हैं उसे त्रिस्थानबन्ध कहते हैं तथा जिसमें प्रारम्भ के दो स्थान होते हैं उसे द्विस्थान बन्ध कहते हैं। जिसमें प्रारम्भ का एक भाग हो ऐसे अनुभागसहित सातावेदनीय का बन्ध नहीं होता, सत्त्व होता है, इसलिए यहां सातावेदनीय का एक स्थान बन्ध नहीं कहा। उक्त प्रकार से सातावेदनीय के बन्धक जीव भी तीन प्रकार के हो जाते हैं।

असातबन्धक जीव भी तीन प्रकार के हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक, और चतुःस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक असातावेदनीय का अनुभाग चार भागों में विभक्त है। उनमें से प्रथम खण्ड नीम के समान है, दूसरा खण्ड कांजीर के समान है, तीसरा खण्ड विष के समान है और

चवथा खण्ड हालाहल के समान है। जिसमें प्रारम्भ के दो स्थान होते हैं उसे द्विस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमें प्रारम्भ के तीन स्थान होते हैं उसे त्रिस्थानबन्ध कहते हैं तथा जिसमें चारों स्थान होते हैं उसे चतु:स्थानबन्ध कहते हैं। इस प्रकार असाता के उक्त स्थानों के बन्धक जीव भी तीन प्रकार के होते हैं।

यहाँ सातावेदनीय के चतु:स्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते हैं। यहां अत्यन्त तीव्र कषाय के अभावस्वरूप मन्द कषाय का नाम विशुद्धता है। वे अत्यन्त मन्द संक्लेश परिणामवाले होते हैं यह इसका तात्पर्य है। उनसे सातावेदनीय के त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं अर्थात् उत्कट कषायवाले होते हैं। उनसे सातावेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् सातावेदनीय के त्रिस्थानबन्धक जीव जितने उत्कट कषायवाले होते हैं उनसे द्विस्थानबन्धक जीव और अधिक संक्लेशयुक्त कषायवाले होते हैं।

असातावेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते हैं। अर्थात् मन्द कषायवाले होते हैं। उनसे त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अति उत्कट संक्लेश युक्त होते हैं। उनसे चतु:स्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अत्यन्त बहुत कषायवाले होते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल कषाय की मन्दता होना इसका नाम विशुद्धि और कषाय की तीव्रता का होना इसका नाम संक्लेश नहीं है, क्योंकि कषाय की मन्दता और तीव्रता विशुद्धि और संक्लेश दोनों में देखी जाती है, अत: आलम्बन भेद से विशुद्धि और संक्लेश समझना चाहिए। जहाँ सच्चे देव, गुरु और शास्त्र तथा दया दानादि का आलम्बन हो वह कषाय विशुद्धि स्वरूप कहलाती है तथा जहां संसार के प्रयोजन भूत पंचेन्द्रियों के विषयादि आलम्बन हो वह कषाय संक्लेश स्वरूप कहलाती है। कषाय की मन्दता और तीव्रता दोनों स्थलों पर सम्भव है।

इस हिसाब से ज्ञानावरणीय कर्म के स्थिति बन्धका विचार करने पर विदित होता है कि साता वेदनीयके चतु:स्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीय का जघन्य स्थिति बन्ध करते हैं। यहाँ दो बातें विशेष ज्ञातव्य हैं। प्रथम यह कि उक्त जीव ज्ञानावरणीय का जघन्य स्थिति बन्ध ही करते हैं ऐसा एकान्त से नहीं समझना चाहिए। किन्तु ज्ञानावरण का अजघन्य स्थितिबन्ध भी उक्त जीवों के देखा जाता है। द्वितीय यह कि यहां ज्ञानावरण कहने से सभी ध्रुव प्रकृतियों को ग्रहण करना चाहिए।

साता वेदनीय के त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरण का अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहाँ यद्यपि अजघन्य में उत्कृष्ट का और अनुत्कृष्ट में जघन्य का परिग्रह हो जाता है, पर उक्त जीव ज्ञानावरण की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का बन्ध नहीं करते है, क्यों कि उक्त जीवों में इन दोनों स्थितियों के बन्ध की योग्यता नहीं होती है।

साता वेदनीय के द्विस्थान बन्धक जीव सातावेदनीय को ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहाँ उक्त जीव सातावेदनीय का ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं इस कथन का यह आशय है कि वे ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करते। यह आशय नहीं कि वे मात्र सातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिका ही

बन्ध करते हैं। किन्तु वे साता वेदनीय की अनुत्कृष्ट स्थिति का भी बन्ध करते हैं। उक्त कथन का यह आशय यहां समझना चाहिए।

असातावेदनीय के द्विस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीय की वहाँ सम्भव जघन्य स्थिति का बन्ध करते हैं। त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरण की अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं, क्योंकि इन के उत्कृष्ट संक्लेशरूप और अति विशुद्ध दोनों प्रकार के परिणाम नहीं पाये जाते। चतुस्थान बन्धक जीव असाता के ही उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के साथ ज्ञानावरण का भी उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करते हैं।

यहाँ पर ज्ञानावरण कर्म की मुख्यता से उसके जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी का विचार किया। उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर इसी प्रकार अन्य सात कर्मों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

७. एक जीव की अपेक्षाकाल–अन्तरप्ररूपणा

स्थितिबन्ध चार प्रकार का है—जघन्यस्थितिबन्ध, उत्कृष्टस्थितिबन्ध, अजघन्यस्थितिबन्ध और अनुत्कृष्टस्थितिबन्ध। हम पहले सादि आदि चारों अनुयोग द्वारों की अपेक्षा उत्कृष्ट आदि चारों स्थितिबन्धों का तथा स्वामित्व का उहापोह कर आये हैं उसे ध्यान में रखकर किस कर्म के किस स्थितिबन्ध का जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना होता है यह एक जीव की अपेक्षा काल और अन्तरप्ररूपणा में बतलाया गया है। इसी प्रकार नाना जीवों की अपेक्षा क्षेत्र आदि शेष अनुयोग द्वारों का विचार कर लेना चाहिए।

८. भुजगार–पदनिक्षेप–वृद्धि अर्थाधिकार

भुजगार स्थितिबन्ध—पिछले समय में कम स्थितिबन्ध होकर अगले समय में अधिक स्थिति का बन्ध होना भुजगार स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समय में अधिक स्थितिबन्ध होकर अगले समय में कम स्थितिबन्ध होना अल्पतर स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समय में जितना स्थितिबन्ध हुआ हो, अगले समय में उतना ही स्थितिबन्ध होना अवस्थित स्थितिबन्ध कहलाता है तथा पिछले समय में स्थितिबन्ध न होकर अगले समय में पुनः स्थितिबन्ध होने लगना अवक्तव्य स्थितिबन्ध कहलाता है। इस अनुयोगद्वार में इन चारों स्थितिबन्धों की अपेक्षा समुत्कीर्तना, स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोग-द्वारों का आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

पदनिक्षेप—भुजगार विशेष को पदनिक्षेप कहते हैं। इसमें स्थितिबन्ध की उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थान तथा जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थान इन छह पदों द्वारा समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोग द्वारों का आलम्बन, लेकर स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

वृद्धि—पदनिक्षेपविशेष को वृद्धि कहते हैं। इसमें स्थितिबन्ध सम्बन्धी चार वृद्धि, चार हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन पदों द्वारा समुत्कीर्तना आदि १३ अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थितिबन्ध का विचार किया गया है।

९. अध्यवसान बन्ध प्ररूपणा

इसमें मुख्यतया तीन अनुयोग द्वार हैं—प्रकृति समुदाहार, स्थिति समुदाहार, और जीव समुदाहार।

प्रकृति समुदाहार में किस कर्म की कितनी प्रकृतियाँ है इसका निर्देश करने के वाद उनका अल्पबहुत्व बतलाया गया है।

स्थिति समुदाहार में प्रमाणानुगम, श्रेणि प्ररूपणा और अनुकृष्टि प्ररूपणा इन तीन अधिकारों के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सभी स्थितिं के अध्यवसान स्थानों का ऊहापोह किया गया है। साधारणतः स्थितिबंधाध्यवसान स्थानों का स्वरूप-निर्देश हम पहले कर आये हैं। समयसार के आस्रव अधिकार में वन्ध के हेतुओं का निर्देश करते हुए वे जीव परिणाम और पुद्गल परिणाम के भेद से दो प्रकार के बतलाकर लिखा है कि जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गल के परिणाम हैं वे कर्म बन्ध के हेतु हैं तथा जो राग, द्वेष और मोहरूप जीव के परिणाम हैं वे पुद्गल के परिणामरूप आस्रव के हेतु होने से कर्म बन्ध के हेतु कहे गये हैं। यह सामान्य विवेचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्म के जितने उदयविकल्प हैं उनसे युक्त होकर ही ये द्रव्य और भावरूप आस्रव के भेद कर्मबन्ध के हेतु होते हैं, इसलिए प्रकृत में स्थितिबन्धाध्यवसान स्थानों में प्रत्येक कर्म के उदयविकल्पों को ग्रहण किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जीवसमुदाहार में ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धक जीवों को सातबन्धक और असातबन्धक ऐसे दो भागों में विभक्त कर और उनके आश्रय से विशद विवेचन कर इस अर्थाधिकार को समाप्त किया गया है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन हम पहले ही कर आये हैं। इस समग्र कथन को हृदयंगम करने के लिए वेदनाखण्ड पुस्तक ११ की द्वितीय चूलिका का सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक है।

१०. उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध अर्थाधिकार

पूर्व में मूल प्रकृतियों की अपेक्षा स्थितिबन्ध का प्रकृत में प्रयोजनीय जैसा स्पष्टीकरण किया है उसी प्रकार उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा स्पष्टीकरण जानना चाहिए। जो मूल प्रकृतियों के स्थितिबन्ध का विवेचन करते हुए अनुयोगद्वार स्वीकार किये गये है वे ही यहां स्वीकार कर उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

अनुभागबन्ध की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों की सब प्रकृतियाँ दो भागों में विभक्त हैं। पुण्य प्रकृतियां और पाप प्रकृतियां। पुण्य प्रकृतियों को प्रशस्त प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियों को अप्रशस्त प्रकृतियाँ भी कहते हैं। किन्तु स्थितिबन्ध की अपेक्षा तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु को छोडकर शेष ११७

प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथा सम्भव उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश परिणामों से होता है, इसलिए शुभ और अशुभ इन सब प्रकृतियों की स्थिति अशुभ ही मानी गई है। मात्र पूर्वोक्त तीन आयुओं का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथा सम्भव तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामों से होता है, इसलिए इन तीन आयुओं की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी गई है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि उक्त ११७ प्रकृतियों में से जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सातावेदनीय के बन्ध काल में होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश का अर्थ सातावेदनीय के वन्ध योग्य जघन्य या तत्प्रायोग्य जघन्य विशुद्धि के अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। तथा जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध असातावेदनीय के बन्ध काल में होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश का अर्थ असातावेदनीय के बन्ध योग्य उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेश के अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। इन ११७ प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष तीन आयुओं का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथास्थान सातावेदनीय के बन्ध योग्य तत्प्रायोग्य विशुद्धिरूप परिणामों के काल में होता है।

यह सब प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार है। सब प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार करते समय यह विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपकश्रेणि के जीव करते हैं उनके लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनमें 'वे सर्व विशुद्ध होते हैं या तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हैं' इस प्रकार का कोई भी विशेषण नहीं दिया गया है। जब कि ऐसे जीवों के उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। ऐसा क्यों किया गया है यह एक प्रश्न है? समाधान यह है कि ये जीव शुद्धोपयोगी होते हैं, इसलिए इनके जितना कषायांश पाया जाता है वह सब अबुद्धिपूर्वक ही होता है। यही कारण है कि इन्हें उक्त प्रकार के कषायांश की अपेक्षा 'सर्व विशुद्ध या तत्प्रायोग्य विशुद्ध' विशेषण से विशेषित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि इनके प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हानि को लिए हुए वह कषायांश पाया अवश्य जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि का भी सद्भाव बतलाया गया है। शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामित्व के विषय में ऐसा समझना चाहिए कि जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध सातावेदनीय के बन्धकाल में होता है वहाँ उन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य जो परिणाम होते हैं वे सातावेदनीय के बन्धयोग्य विशुद्धि की जाति के होते हैं और जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध असातावेदनीय के बन्धकाल में होता है वहाँ उन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य जो परिणाम होते हैं वे असातावेदनीय के बन्धयोग्य संक्लेश परिणामों की जाति के होते हैं।

यह सब प्रकृतियों के स्थितिबन्ध के स्वामित्व का विचार है। अन्य अनुयोग द्वारों का उहापोह इस आधार से कर लेना चाहिए, क्योंकि यह अनुयोगद्वार शेष अनुयोगद्वारों की योनि है।

३. अनुभाग बन्ध

फल-दान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होने पर उनमें जो फलदान शक्ति प्राप्त होती है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं। वह मूल प्रकृति अनुभाग बन्ध

और उत्तर प्रकृति अनुभाग बन्ध के भेदसे दो प्रकार का है। उन्हीं दोनों अनुभाग बन्धों का इस अर्थाधिकार में निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूलप्रथम मूलप्रकृति अनुभाग बन्ध के प्रसंग से ये दो अनुयोग द्वार निबद्ध किये गये हैं—निषेक प्ररूपणा और स्पर्धक प्ररूपणा। ज्ञानावरणादि कर्मों में से जिसमें देशघाति या सर्वघाति जो स्पर्धक होते हैं वे आदि वर्गणा से लेकर आगे की वर्गणाओं में सर्वत्र पाये जाते हैं। इस विषय का प्रतिपादन निषेक प्ररूपणा में किया गया है। अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को एक वर्ग होता है, सिद्धों के अनन्तवे भाग और अभव्यों से अनन्त गुणे वर्गों की एक वर्गणा होती है, तथा उतनी ही वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है इस विषय का विवेचन स्पर्धक प्ररूपणा में किया गया है।

२४ अनुयोग द्वार

आगे उक्त अर्थपद के अनुसार २४ अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश से अनुभाग बन्ध को विस्तार से निबद्ध किया गया है। अनुयोग द्वारों के नाम वे ही हैं जिनका निर्देश प्रकृति बन्ध के निरूपण के प्रसंग से कर आये हैं। मात्र प्रकृति बन्ध में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है और इस अर्थाधिकार में प्रथम अनुयोग द्वार का नाम संज्ञा है।

१. संज्ञा अनुयोग द्वार

संज्ञा के दो भेद हैं—घाति संज्ञा और स्थान संज्ञा। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से कौन कर्म घाति है और कौन अघाति हैं इस विषय का उहापोह करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म हैं। तथा शेष चार अघाति कर्म हैं। जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग आदि गुणों का घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते हैं तथा जो इन गुणों के घातने में समर्थ नहीं है उन्हें अघाति कर्म कहते हैं। अघाति कर्मों में से वेदनीय कर्म के उदय से पराश्रित सुख दुःख की उत्पत्ति होती है। आयु कर्म उदय से नारक आदि भावों में अवस्थिति होती है। नाम कर्म के उदय से नारकादि गतिरूप जीव भावों की तथा विविध प्रकार के शरीरादि की उत्पत्ति होती है तथा गोत्र कर्म के उदय से जीव में ऊँच और नीच आचार के अनुकूल जीव-भाव की उत्पत्ति होती है।

स्थान संज्ञाद्वारा घाति और अघाति कर्म विषयक अनुभाग के तारतम्य को बतलानेवाले स्थानों का निर्देश किया गया है। उनमें से घाति कर्म सम्बन्धी स्थान चार प्रकार के हैं–एकस्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय। जिस में लता के समान लचीला अति अल्प फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह एक स्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिस में दारु के (काष्ठ के) समान कुछ सघन और कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिस में हड्डी के समान सघन होकर अति कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह त्रिस्थानीय अनुभाग कहलाता है, तथा जिसमें पाषाण के समान अति कठिनतर सघन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह चतुःस्थानीय अनुभाग कहलाता है। इस प्रकार उक्त विधि से घाति कर्मों का अनुभाग चार

प्रकार का है। उनमें से एकस्थानीय अनुभाग और द्विस्थानीय अनुभाग के प्रारम्भ का अनन्तवा भाग यह देशघाति है, शेष सर्व अनुभाग सर्वघाति है।

प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से अघाति कर्म दो प्रकार के हैं। उनमें से प्रत्येक कर्म में चार-चार प्रकार का अनुभाग पाया जाता है। पहले हम सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दो कर्मों में वह चार-चार प्रकार का अनुभाग कैसा होता है इसका स्पष्ट उल्लेख कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी घटित कर लेना चाहिए। यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है कि अनुभागबन्ध के प्रारम्भ का एक ताडपत्र त्रुटित हो गया है। इस कारण उक्त प्ररूपणा तथा इससे आगे की छह अनुयोग द्वार सम्बन्धी प्ररूपणा उपलब्ध नहीं है। साथ ही सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इन अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा का बहुभाग भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इन जो नाम हैं उनके अनुरूप ही उनमें विषय निबद्ध किया गया है। विशेष वक्तव्य न होने से यहाँ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

२. स्वामित्व अनुयोग द्वार

इस अनुयोग द्वार के अन्तर्गत ज्ञानावरणादि कर्मों के जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के स्वामित्व का विचार करने के पूर्व विशेष स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्त-अप्रशस्त प्ररूपणा इन तीन अनुयोग द्वारों को निबद्ध किया गया है।

प्रत्ययानुगम—प्रत्यय का अर्थ निमित्त, हेतु, साधन और कारण है। जीवों के किन परिणामों को निमित्त कर इन ज्ञानावरणादि मूल व उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होता है इस विषय को इस अनुयोग द्वार में निबद्ध किया गया है। वे परिणाम चार प्रकार के हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। परमार्थ स्वरूप देव, गुरु, शास्त्र और पदार्थों में अयथार्थ रुचि को मिथ्यात्व कहते हैं। निदान का अन्तर्भाव मिथ्यात्व में ही होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मसेवन, परिग्रह का स्वीकार, मधु-मांस-पांच उदम्बर फल का सेवन, अभक्ष्यभक्षण फूलों का भक्षण, मद्यपान तथा भोजनवेला के अतिरिक्त काल में भोजन करना अविरति है। असंयम इसका दूसरा नाम है। क्रोध, मान, माया और लोभ तथा राग और द्वेष ये सब कषाय हैं। तथा जीवों के प्रदेश परिस्पंद का नाम योग है। इनमें से मिथ्यात्व अविरति और कषाय ये ज्ञानावरणादि छह कर्मों के बन्ध के हेतु है तथा उक्त तीन और योग ये चारों वेदनीय कर्म के बन्ध के हेतु हैं।

यहाँ प्रारम्भ के छह कर्मों के बन्ध—हेतुओं में योग को परिगणित न करने का यह कारण है कि ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग का सद्भाव रहने पर भी उक्त कर्मों का बन्ध नहीं होता। वैसे ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा सामान्य नियम यह है कि आठों कर्मों का प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। पर उस नियम की यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ जिस कर्म बन्ध के साथ जिसकी त्रैकालिक अन्वय-व्यतिरेक रूप बाह्य व्याप्ति है उसके साथ उसका कार्य कारण भाव स्वीकार किया गया है। योग के साथ ऐसी व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि ग्यारहवें आदि तीन

गुणस्थानों में योग के रहने पर भी ज्ञानावरणादि छह कर्मों का बन्ध नहीं होता, इसलिए इन छह कर्मों के बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को कहा है। यहाँ आयु कर्म के बन्ध के हेतु जीव के कौन परिणाम हैं इस का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। आगे उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा में नरकायु को मिथ्यात्व प्रत्यय तथा तिर्यंचायु और मनुष्यायु को मिथ्यात्व प्रत्यय और असंयम प्रत्यय तथा देवायु को मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय बतलाया है। इससे विदित होता है कि आयु कर्म का बन्ध मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होना चाहिए। अपनी-अपनी बन्ध व्युच्छिति को ध्यान में रखकर उत्तर प्रकृतियों के बन्ध प्रत्ययों का विचार इसी विधि से कर लेना चाहिए।

विपाक देश—छह कर्म जीव विपाकी है, आयुकर्म भव विपाकी है तथा नामकर्म जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी है। यहाँ जो कर्म जीव विपाकी हैं उनसे जीव की नो आगम भावरूप विविध अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और नाम कर्म की जो प्रकृतियां पुद्गल विपाकी है उनसे जीवके प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही शरीरादि की रचना होती है। पुद्गल-विपाकी कर्मों के उदय से जीवके नोआगमभावरूप अवस्था नहीं उत्पन्न होती। लेश्या कर्म का कार्य है और धनादि का संयोग लेश्या का कार्य है, अर्थात् व्यक्त या अव्यक्त जैसा कषायांश और योग (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति) होता है उसके अनुसार धनादि का संयोग होता है इस विवक्षा को ध्यान में रख कर ही धनादिक की प्राप्ति को कर्म का कार्य कहाँ जाता है।

प्रशस्त-अप्रशस्तप्ररूपणा-चारों घातिकर्म अप्रशस्त हैं तथा शेष चारों अघाति कर्म प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के हैं। उत्तर भेदों की अपेक्षा प्रशस्त कर्म प्रकृतियां ४२ है और अप्रशस्त कर्म प्रकृतियां ८२ है। वर्ण चतुष्क प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं, इसलिए उन्हें दोनों में सम्मिलित किया गया है। सरल होने से यहाँ उनके नामों का निर्देश नहीं किया गया है।

इस व्यवस्था के अनुसार उक्त ४२ प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य उत्कट विशुद्धि के काल में होता है और ८२ अप्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अपने-अपने योग्य उत्कट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि के होता है। किन्तु जघन्य अनुभागबन्ध के लिए इससे विपरीत समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य संक्लेश के प्राप्त होने पर होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य विशुद्धि के प्राप्त होनेपर होता है। यहाँ प्रथम इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सातावेदनीय, असातावेदनीय, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति इन चार युगलों के जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी क्रम से चारों गति के परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि को बतलाया गया है। जब की गोम्मटसार कर्मकाण्ड में परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीवों के स्थान में अपरिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव लिये गये हैं। वेदनाखण्ड में जो जघन्य अनुभागबन्ध के अल्पबहुत्व को सूचित करनेवाला ६४ पदवाला अल्पबहुत्व आया है उसमें मध्यम परिणामवाला इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा उल्लेख नहीं किया है। किन्तु वहाँ अयशःकीर्ति सर्वविशुद्ध यशःकीर्ति का अति तीव्र संक्लिष्ट और सातावेदनीय का सर्वविशुद्ध जीव जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा बतलाया है।

इतना ही नहीं, किन्तु आगे चलकर त्रसादि दश युगल के जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी को सातासाता-वेदनीय के समान जानने की सूचना की है, जब कि महाबन्ध में इन प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबन्ध का स्वामी मध्यम परिणामवाला ही लिया गया है। गोमटसार कर्मकाण्ड में विषय में अनियम देखा जाता है। प्रति समय उत्तरोत्तर वर्धमान या हीयमान जो संक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम होते हैं वे अपरिवर्तमान परिणाम कहलाते हैं तथा जिन परिणामों में स्थित यह जीव परिणामान्तर को प्राप्त होकर एक, दो आदि समयों द्वारा पुनः उन्हीं परिणामों को प्राप्त करता है उसके वे परिणाम परिवर्तमान परिणाम कहलाते हैं। इस दृष्टि से उक्त पूरा प्रकरण विचारणीय है। यह संक्षेप में मूल व उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्वामित्व की मीमांसा है। विस्तार भय से अन्य अनुयोगद्वारों व भुजगार आदि अर्थाधिकारों का ऊहापोह यहाँ नहीं किया गया है।

अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान प्ररूपणा

जिन परिणामों से अनुभागबन्ध होता है उन्हें अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान कहते हैं। वे एक-एक स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानों के प्रति असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। किन्तु यहाँ पर कारण में कार्यका उपचार कर के अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानों से अनुभाग स्थान लिये गये हैं। प्रकृत में १२ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा—एक परमाणु में जो जघन्यरूप से अवस्थित अनुभाग है उसकी अविभागप्रतिच्छेदसंज्ञा है। इस दृष्टि से विचार करने पर एक कर्मप्रदेश में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं। उनकी वर्ग संज्ञा है। ऐसे सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले जितने कर्मप्रदेश उपलब्ध होते हैं उनकी वर्गणा संज्ञा है। इससे एक अधिक अविभागप्रतिच्छेदों से युक्त जितने कर्मप्रदेश पाये जाते हैं उनसे दूसरी वर्गणा बनती है। प्रत्येक वर्गणा में अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण वर्ग पाये जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागप्रतिच्छेद की वृद्धि हुए, अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण वर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सब वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। इसी विधि से दूसरा स्पर्धक उत्पन्न होता है। इतनी विशेषता है कि प्रथम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के एक वर्ग में जितने अविभागप्रतिच्छेद होते है उससे दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के एक वर्ग में सब जीवों से अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद होते है। इस प्रकार अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवे भागप्रमाण स्पर्धकों का एक स्थान होता है।

स्थानप्ररूपणा—एक समय में एक जीव में जो कर्म का अनुभाग दृष्टिगोचर होता हैं उसकी स्थानसंज्ञा है। नाना जीवों की अपेक्षा ये अनुभाग बन्धस्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

अन्तरप्ररूपणा—पूर्व में जो अनुभागबन्ध स्थान बतलाये हैं उनमें से एक अनुभागबन्धस्थान से दूसरे अनुभागबन्धस्थान में अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सब जीवों से अनन्तगुणा अन्तर पाया जाता है। उपरित स्थानमें से अधस्तन स्थान को घटाकर जो लब्ध आवे उसमें एक कम करने पर उक्त अन्तर प्राप्त होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

काण्डकप्ररूपणा — अनन्तभाग वृद्धिकाण्डक, असंख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक, असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक और अनन्तगुणवृद्धिकाण्डक इस प्रकार इन छह के आधार से इसमें वृद्धि का विचार किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणा—इस द्वारा वर्ग, स्थान और काण्डक ये कृतयुग्मरूप है या बादर युग्मरूप है, या कनि (?) ओजरूप है, तेजोजरूप है इसका उहापोह करते हुए अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान और काण्डक ये तीनों कृतयुग्मरूप है यह बतलाया गया है।

षट्स्थानप्ररूपणा—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह वृद्धियाँ है इनका प्रमाण कितना है यह इस प्ररूपणा में बतलाया गया है।

अधस्तन स्थानप्ररूपणा—कितनी बार अनन्तभाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातभाग वृद्धि होती है इत्यादि विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

समय प्ररूपणा—जितने भी अनुभाग बन्धस्थान हैं उनमें से कौन अनुभाग बन्धस्थान कितने काल तक बन्ध को प्राप्त होता है इस का ऊहापोह इस प्ररूपणा में किया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा —षड्गुणी हानि-वृद्धि और तत्सम्बन्धी कालका विचार इस प्ररूपणा में किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—यवमध्य दो प्रकार का है–जीव यवमध्य और काल यवमध्य। यहाँ काल यवमध्य विवक्षित है। यद्यपि समयप्ररूपणा के द्वारा ही यवमध्य की सिद्धि हो जाती है फिर भी किस वृद्धि या हानि से यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति होती है इस तथ्यका निर्देश करने के लिए यवमध्यप्ररूपणा पृथक् से की गई है।

पर्यवसान प्ररूपणा—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के जघन्य अनुभागस्थान से लेकर समस्त स्थानों में अनन्त गुण के उपर अनन्तगुणा होना यह इस प्ररूपणा में बतलाया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर अनन्तगुण वृद्धिस्थान और असंख्यात गुणवृद्धिस्थान आदि कौन कितने होते हैं इसका ऊहापोह किया गया है।

इस प्रकार उक्त बारह अधिकारों द्वारा अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानों का ऊहापोह करने के बाद जीव समुदाहार सम्बन्धी आठ अनुयोग द्वारोंका ऊहापोह किया गया है। वे आठ अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं— एकस्थान जीव प्रमाणानुगम, निरन्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, सान्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, नाना जीव कालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व।

एकस्थान जीवप्रमाणानुगम—एक-एक अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान में अनन्त जीव पाये जाते हैं यह बतलाया गया है। यहाँ यह विचार सब सकषाय जीवों की अपेक्षा किया जा रहा है, केवल त्रस जीवों की अपेक्षा नहीं इतना विशेष समझना चाहिए।

निरन्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमें सब अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान जीवों से विरहित नहीं है यह बतलाया गया है।

सान्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमें ऐसा कोई अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान नहीं है जो जीवों से विरहित हो यह बतलाया गया है।

नानाजीवकालानुगम—एक-एक अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान में नाना जीव सर्वदा पाये जाते हैं यह बतलाया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा—इसमें अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोगद्वारों का आलम्बन लेकर किस अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान में कितने जीव होते हैं यह ऊहापोह किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—इसमें सब अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानों के असंख्यातवें भाग में यवमध्य होता है तथा यवमध्य के नीचे अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान थोडे होते हैं और उसके ऊपर असंख्यातगुणे होते हैं यह बतलाया गया है।

स्पर्शप्ररूपणा—इसमें किस अपेक्षा से कितना स्पर्शनकाल होता है इसका विचार किया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें किसमें कितने जीव पाये जाते हैं इसका ऊहापोह किया गया है।

उत्तर प्रकृति अनुभागबन्ध के प्रसंग से अध्यवसान समुदाहार का विचार करते हुए ये तीन अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं—प्रकृतिसमुदाहार, स्थितिसमुदाहार, और तीव्र मन्दता। इनमें से प्रकृतिसमुदाहार के एक अवान्तर भेद प्रमाणानुग के अनुसार सब प्रकृतियों के अनुभागबन्धाध्यवसान असंख्यात लोक प्रमाण बतलाकर यह विशेष निर्देश किया गया है कि अपगतवेद मार्गणा और सूक्ष्म साम्पराय संयतमार्गणा में एक-एक ही परिणाम स्थान होता है। इसका कारण यह है कि नौवा गुणस्थान अनिवृत्तिकरण है। उसके प्रत्येक समय में अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में भी प्रत्येक समय में अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है, दोनों गुणस्थानों में जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होता है। यही कारण है कि उक्त दोनों मार्गणाओं में वहाँ बन्ध योग्य प्रकृतियों का एक-एक परिणामस्थान स्वीकार किया गया है। आगे पूर्वोक्त तीनों अनुयोगद्वारों को निबद्ध कर अनुभाग बन्ध अर्थाधिकार समाप्त किया गया है।

४. प्रदेशबन्ध

कार्मण वर्गणाओं का योग के निमित्त से कर्मभाव को प्राप्त होकर जीव प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह होकर अवस्थित रहने को प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस विधि से जो कर्मपुञ्ज जीव प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह-

रूप से अवस्थित होता है वह सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्यों से अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार प्रत्येक समय में बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्मपुञ्ज की समयप्रबद्ध संज्ञा है। मूल प्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति प्रदेशबन्ध के भेद से वह दो प्रकार का है।

अब किस कर्म को किस हिसाब से कर्मपुञ्ज मिलता है इसका सकारण निर्देश करते हैं। जब आठों कर्मों का बन्ध होता है तब आयु कर्म का स्थितिबन्ध सब से स्तोक होने के कारण उसके हिस्से में सबसे कम कर्मपुञ्ज आता है। वेदनीय को छोडकर शेष कर्मों को अपने-अपने स्थिति बन्ध के अनुसार कर्मपुञ्ज बटवारे में आता है। इसलिए नाम कर्म और गोत्र कर्म में से प्रत्येक को उससे विशेष अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म में से प्रत्येक को उससे विशेष अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म को उससे विशेष कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है। तथा वेदनीय कर्म के निमित्त से सभी कर्म जीवों में सुख-दुःख को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, इसलिए वेदनीय कर्म को सबसे अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है।

जब आयु कर्म को छोडकर सात कर्मों का बन्ध होता है तब सात कर्मों में और जब आयु तथा मोहनीय कर्म को छोडकर यथास्थान छह कर्मों का बन्ध होता है तब छह कर्मों में उक्त विधि से प्रत्येक समय में वन्ध को प्राप्त हुए कर्म पुञ्ज का बटवारा होता है। यह प्रत्येक समय में बन्ध को प्राप्त हुए समय प्रबद्ध में से किस कर्म को कितना द्रव्य मिलता है इसका विचार है। उत्तर प्रकृतियों में से जहाँ जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें अपनी-अपनी मूल प्रकृतियों को मिले हुए द्रव्य के अनुसार बटवारा होता रहता है। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की यथा सम्भव एक समय में एक प्रकृति का ही बन्ध होता है, इसलिए जब जिस प्रकृति का बन्ध हो तब उक्त कर्मों का पूरा द्रव्य उसी प्रकृति को मिलता है। शेष कर्मों का आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए। तथा आयु कर्म के बन्ध के विषय में भी आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए।

इस अर्थाधिकार के वे सब अनुयोगद्वार हैं जो प्रकृतिबन्ध आदि अर्थाधिकारों के निबद्ध कर आये हैं। मात्र प्रथम अनुयोगद्वार का स्थानप्ररूपणा है, इसके दो उप अनुयोगद्वार हैं—योगस्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा।

योगस्थानप्ररूपणा—मन, वचन और काय के निमित्त से होनेवाले जीव प्रदेशों के परिस्पन्द को योग कहते हैं। योग शरीर नाम कर्म के उदय से होता है। इसलिये यह औदयिक है। परमागम में इसे क्षायोपशमिक कहने का कारण यह है कि उक्त कर्मों के उदय से शरीर नाम कर्म के योग पुद्गल पुञ्ज के सञ्चय को प्राप्त होने पर वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वृद्धि को और हानि को प्राप्त हुए वीर्य के निमित्त से जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच, वृद्धि और हानि को प्राप्त होता है, इसलिए उसे परमागम में क्षायोपशमिक कहा गया है। परन्तु है वह औदायिक ही। यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने से अरहंतों के क्षायोपशमिक वीर्य नहीं पाया जाता यह यथार्थ है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि योग औदयिक ही है, क्षायोपशमिक नहीं, क्षायोपशमिकपने को तो उसमें उपचार किया गया है, इसलिए अरहन्तों

का वीर्य क्षायिक होने पर भी उक्त लक्षण के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं प्राप्त होता और इसीलिए अयोग केवलीयों और सिद्धों में अतिप्रसंग भी नहीं प्राप्त होता।

अब एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सब संसारी जीवों के सब प्रदेश व्याधि और भय आदि के निमित्त से सदा काल चलायमान ही होते रहते हैं ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। ऐसे समय में कुछ प्रदेश चलायमान भी होते हैं और कुछ प्रदेश चलायमान नहीं भी होते। उनमें से जो प्रदेश चलायमान न होकर स्थित रहते हैं उनमें योग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होगा। उस समय जो प्रदेश स्थित रहते हैं उनमें परिस्पन्द नहीं होने से योग नहीं बन सकेगा यह स्पष्ट ही है। यदि परिस्पन्द के बिना उनमें भी योग स्वीकार किया जाता है तो अयोग केवलियों और सिद्धों के भी योग का सद्भाव स्वीकार करने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। समाधान यह है कि मन, वचन और काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो जीव का उपयोग होता है उसे योग कहते हैं और वह कर्मबन्ध का कारण है। यह उपयोग कुछ जीव प्रदेशों में हो और कुछ में न हो यह तो बनता नहीं, क्यों कि एक जीव में उपयोग की अखण्डरूप से प्रवृत्ति होती है। और इस प्रकार सब जीव प्रदेशों में योग का सद्भाव बन जाने से कर्मबन्ध भी सब जीवप्रदेशों में बन जाता है। यदि कहा जाय कि योग के निमित्त से सब जीव प्रदेशों में परिस्पन्द होना ही चाहिए सो यह एकान्त नियम नहीं है। किन्तु नियम यह है कि जो भी परिस्पन्द होता है वह योग के निमित्त से ही होता है, अन्य प्रकार से नहीं। इसी प्रकार यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जीव का एक क्षेत्र को छोडकर क्षेत्रान्तर में जाना इसका नाम योग नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्ध जीवों का सिद्ध होने के प्रथम समय में जो ऊर्ध्व लोक के अन्त तक गमन होता है उसे भी योग स्वीकार करने पडेगा। अत एव यही निश्चित होता है कि जहाँ तक शरीर नाम कर्म का उदय है योग वहीं तक होता है। यतः सयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक यथा सम्भव उक्त कर्मों का उदय नियम से पाया जाता है, अतः योग का सद्भाव भी वहीं तक स्वीकार किया गया है।

वह योग तीन प्रकार का है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। भावमन की उत्पत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को भावमन कहते हैं, वचन की प्रवृत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को वचनयोग कहते हैं, तथा शरीर की क्रिया की उत्पत्ति के लिए होनेवाले प्रयत्न को काययोग कहते हैं। इन तीनों योगों की प्रवृत्ति क्रम से होती है। इन तीनों में से जब जिसकी प्रधानता होती है तब उस नाम का योग कहलाता है। यद्यपि कहीं मन, वचन और काय की युगपत् प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है सो इस प्रकार युगपत् प्रवृत्ति होने में विरोध नहीं है। किन्तु उनके लिए युगपत् प्रयत्न नहीं होता, अतः जब जिसके लिए प्रथम परिस्पन्द-रूप प्रयत्न विशेष होता है तब वहीं योग कहलाता है ऐसा समझना चाहिए।

एक जीव के लोकप्रमाण प्रदेश होते हैं उनमें एक काल में परिस्पन्दरूप जो योग होता है उसे **योगस्थान** कहते हैं। उसकी प्ररूपणा में ये दस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरोपनिधा[1], परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व।

एक–एक जीव प्रदेश में जो जघन्य वृद्धि होती है वह योग अविभागप्रतिच्छेद कहलाता है। इस विधि से एक जीव प्रदेश में असंख्यात लोक प्रमाण योग–अविभागप्रतिच्छेद होते हैं । इस प्रकार यद्यपि जीव के सब प्रदेशों में उक्त प्रमाण ही योग–अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। फिर भी एक जीव प्रदेश में स्थित जघन्य योग से एक जीव प्रदेश में स्थित उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा होता है।

सब जीव प्रदेशों में समान योग–अविभागप्रतिच्छेद नहीं पाये जाते, इसलिए असंख्यात लोकप्रमाण योग–अविभागप्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है। सब वर्गणाओं का सामान्य से यही प्रमाण जानना चाहिए। आशय यह है कि जितने जीव प्रदेशों में समान योग–अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं उनकी एक वर्गणा होती है। तथा दूसरे एक अधिक समान योग–अविभागप्रतिच्छेदवाले जीव प्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है। यही विधि एक स्पर्धक के अन्तर्गत तृतीयादि वर्गणाओं के विषय में भी जानना चाहिए। ये सब वर्गणाऐं एक जीव के सब प्रदेशों में श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण होती हैं। इतना विशेष है कि प्रथम वर्गणा से द्वितीयादि वर्गणाऐं जीव प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर विशेष हीन होती हैं। एक वर्गणा में कितने जीव प्रदेश होते हैं इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वर्गणा में जीव प्रदेश असंख्यात प्रतरप्रमाण होते हैं।

जहाँ क्रमवृद्धि और क्रमहानि पाई जाती है उसकी **स्पर्धक** संज्ञा है। इस नियम के अनुसार जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। इस स्पर्धक के अन्तर्गत जितनी वर्गणाऐं होती हैं उनमें से प्रथम वर्गणा के एक वर्ग में जितने योग अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं उससे दूसरी वर्गणा के एक वर्ग में एक अधिक योग–अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। यही क्रम प्रथम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा तक जानना चाहिए। इसके आगे उक्त क्रमवृद्धि का विच्छेद हो जाता है। इस विधि से एक जीव के सब प्रदेशों में जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि प्रथम स्पर्धक के ऊपर ही प्रथम स्पर्धक की ही वृद्धि होनेपर दूसरा स्पर्धक प्राप्त होता है, क्यों कि प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के एक वर्ग से दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का एक वर्ग दूना होता है। प्रथम स्पर्धक और दूसरे स्पर्धक की चौडाई (विस्तार) बराबर है। मात्र द्वितीय स्पर्धक का आयाम प्रथम स्पर्धक के आयाम से विशेष हीन है। यद्यपि ऐसी स्थिति है फिर भी यह कथन एकदेश विकृति को ध्यान में न लेकर द्रव्यार्थिक नय से किया गया है। इस प्रकार दो स्पर्धकों के मध्य कितना अन्तर होता है इसका यह विचार है। आगे के स्पर्धकों में इसी विधि से अन्तर जान लेना चाहिए। इस प्रकार एक जीव के सब प्रदेशों में जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इन्हीं सबको मिलाकर एक **योगस्थान** कहलाता है। सब जीवों के नाना समयों की अपेक्षा ये योगस्थान भी जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा का विचार सुगम है। सब योगस्थान तीन प्रकार के हैं— उपपाद–योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि–योगस्थान और परिणाम योगस्थान। इनमें से प्रारम्भ के दो योगस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय ही है। सब परिणाम योगस्थानों का जघन्य काल एक समय है।

उत्कृष्ट काल अलग–अलग है। किन्ही का दो समय है, किन्ही का तीन समय है और किन्ही का अलग–अलग चार, पांच, छह, सात और आठ समय है। ये सब योगस्थान अलग–अलग जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। तथा सब मिलाकर भी जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

उनमें से आठ समय वाले योगस्थान अल्प होते हैं। यवयमध्य के दोनों ही पार्श्व भाग में होने वाले योगस्थान परस्पर समान होकर भी उनसे असंख्यात गुणे होते हैं। इसी प्रकार छह, पांच और चार समय वाले योगस्थानों के विषय में जान लेना चाहिए। तीन और दो समय वाले योगस्थान मात्र ऊपर के पार्श्व भाग में ही होते हैं।

इन योगस्थानों में चार वृद्धि और चार हानियाँ होती हैं। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि तथा ये ही दो हानियाँ नहीं होतीं। इनमें से तीन वृद्धियों और तीन हानियों का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। तथा असंख्यात गुण वृद्धि और असंख्यात गुणहानि का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ प्रश्न है कि जिस प्रकार कर्म प्रदेशों में अपने जघन्यगुण के अनन्तवें भाग की अविभाग-प्रतिच्छेद संज्ञा होती है उसी प्रकार यहाँ भी एक जीव प्रदेशसम्बन्धी जघन्य योग के अनन्तवें भाग की अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा क्यों नहीं होती ? समाधान यह है कि जिस प्रकार कर्म गुण में अनन्तभाग वृद्धि पायी जाती है वैसा यहाँ सम्भव नहीं है, क्यों कि यहाँपर एक–एक जीव प्रदेश में असंख्यात लोक प्रमाण ही योग–अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं, अनन्त नहीं।

जीव दो प्रकार के हैं पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। इनमें से उक्त दोनों प्रकार के जीवों के नूतन भवग्रहण के प्रथम समय में उपपाद योगस्थान होता है, भवग्रहण से दूसरे समय से लेकर लब्ध्यपर्याप्त जीवों के आयुबन्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व समय तक तथा पर्याप्त जीवों के शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धि योगस्थान होता है तथा आगे दोनों के भव के अन्तिम समय तक परिणाम योगस्थान होता है।

अल्पबहुत्व का विचार करने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य सब के स्तोक है। उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग क्रम से असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यातगुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग क्रम से असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी अपर्याप्त का उत्कृष्ट योग, पर्याप्त उन्हीं का जघन्य योग तथा पर्याप्त उन्हीं का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। यहाँ प्रत्येक का उत्तरोत्तर योगगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। यहाँ जिस प्रकार योग का अल्पबहुत्व कहा है उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त होनेवाले प्रदेशपुञ्ज का अल्पबहुत्व जानना चाहिए। गुणकार भी वही है।

२. प्रदेशबन्ध स्थानप्ररूपणा

पहले जितने योगस्थान बतला आये हैं उतने प्रदेशबन्धस्थान होते हैं। इतनी विशेषता है कि योगस्थानों से प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेष की अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं। खुलासा इस प्रकार है कि जघन्य योग से आठ कर्मोंका बन्ध करने वाले जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का एक प्रदेश बन्धस्थान होता है। पुनः प्रक्षेप अधिक योगस्थान से बन्ध करने वाले जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का दूसरा प्रदेशबन्धस्थान होता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिए। इससे जितने योगस्थान हैं उतने ही ज्ञानावरणीय के प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आयुकर्म को छोड कर शेष सात कर्मोंके योगस्थान प्रमाण प्रदेश बन्धस्थान घटित कर लेना चाहिए। उपपाद योगस्थानों और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानों के काल में आयु कर्म का बन्ध नहीं होता, इसीलिए आयुकर्म के उतने ही प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते हैं जितने परिणाम योगस्थान होते हैं। यहाँ योगस्थानों से प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेष की अपेक्षा अधिक होते हैं इसका विचार आगमानुसार करना चाहिए। इतना अवश्य है कि यह नियम आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मोंपर ही लागू होता है, आयु कर्म पर नहीं, क्यों कि उसके जितने परिणाम योगस्थान होते हैं उतने ही प्रदेशबन्धस्थान पाये जाते हैं।

'प्रकृति विशेष की अपेक्षा अधिक होते हैं' इस वचन का दूसरा अर्थ यह है कि ऐसी प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि आठों कर्मों का बन्ध होते समय आयुकर्म को सब से अल्पद्रव्य प्राप्त होता है। उससे नाम और गोत्र प्रत्येक को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय प्रत्येक को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे मोहनीय कर्म को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे वेदनीय को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। आयुकर्म के बिना सात कर्मों में तथा आयु और मोहनीय कर्म को छोडकर छह कर्मों में उक्त विधिसे ही द्रव्य प्राप्त होता है। जहाँ जिस प्रकार मूल प्रकृतियों को ध्यान में रखकर विचार किया उसी प्रकार आगमानुसार उत्तर प्रकृतियों में भी विचार कर लेना चाहिए।

इस अर्थाधिकार में मूल व उत्तर प्रकृतियों का अन्य जितने अनुयोगद्वारों का अवलम्बन लेकर विचार किया गया है उन सबका इस निबन्ध में ऊहापोह करना सम्भव नहीं है। मात्र मूल प्रकृतियों की अपेक्षा ओघ से बन्धस्वामित्व का स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

३. बन्धस्वामित्वप्ररूपणा

स्वामित्व दो प्रकार का है—जघन्य और उत्कृष्ट। पहले उत्कृष्ट स्वामित्व का विचार करते हैं। वह इस प्रकार है—जो उपशामक और क्षपक उत्कृष्ट योग के द्वारा सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में छह कर्मों का बन्ध करता है उसके मोहनीय और आयुकर्म को छोडकर शेष छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है तथा उत्कृष्ट योग से सात कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा चारों गतियों में स्थित संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध

करता है। आयुकर्म के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। मात्र वह आठ कर्मों का वन्ध करनेवाला होना चाहिए।

जघन्य स्वामित्व का विचार इस प्रकार है--जो तद्भवस्थ होने के प्रथम समय में स्थित है और जघन्य योग से जघन्य प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव आयुकर्म को छोडकर सात कर्मों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव क्षुल्लक भवके तीसरे त्रिभाग के प्रथम समय में जघन्य योग से आयुकर्म का जघन्य प्रदेश कर रहा है वह आयु कर्म के जघन्य प्रदेशबन्ध का स्वामी होता है।

यह महाबन्ध में निबद्ध अर्थाधिकारो में से कुछ उपयोगी विषय की संक्षिप्त मीमांसा है। समग्र जैन समाज में जो कर्म साहित्य पाया जाता है वह न केवल इसके एक बूँद के बराबर है, अपि तु इसमें से मुख्य-मुख्य विषय को लेकर ही उसका संग्रह किया गया है। समग्र षट्खण्डागम में जितनी विपुल सामग्री निबद्ध की गई है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उस समय की रचना है जब अंग-पूर्व ज्ञान आनु-पूर्वी से इस भूतल पर विद्यमान था। इसमें बहुतसा ऐसा विषय भी संगृहित है जिस के अन्य साहित्य में दर्शन भी नहीं होते। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित पण्णवणा में यद्यपि षट्खण्डागम का कुछ अल्प मात्रा में विषय संगृहित अवश्य है और उसकी रचना भी शिथिल है, पर मात्र इसी कारण से षट्खण्डागम की रचना को पण्णवणा के बाद की घोषित करना सम्प्रदाय व्यामोह ही कहा जायगा। श्वेताम्बर विद्वानों की यह मूल प्रकृति है कि वे श्वेताम्वर परम्परा को दिगम्बर परम्परा से प्राचीन सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की कुयुक्तियों का सहारा लेते रहते हैं। उनके इस आक्रमण का दायरा बहुत व्यापक है। वे दिगम्बर परम्परा के पुरातत्त्व, साहित्य और इतिहास इन तीनों को अपनी दुरभी सन्धि का लक्ष्य बनाये हुए हैं। उनकी यह प्रकृति नई नहीं है। फिर भी दिगम्बर परम्परा का यह कर्तव्य अवश्य है कि वह इस ओर विशेष ध्यान दें और वस्तु स्वभाव के अनुरूप इस परम्परा के सब अंगों को पुष्ट करें। तभी इस काल के अन्त तक इसके सभी अंगों की उत्तम प्रकार से रक्षा करना सम्भव हो सकेगा। यद्यपि षट्खण्डागम की प्राचीनता आदि पर हमारा विस्तृत लिखने का विचार अवश्य है। और समय आने पर लिखेंगे भी। किन्तु इस समय उसके लिए आवश्यक सामग्री का योग न होने से मात्र इतना संकेत किया है।

श्रीमान् पं. टोडरमलजी और गोम्मटसार

पं. नरेंद्रकुमार भिसीकर, न्यायतीर्थ, कारंजा

यह '**गोम्मटसार**' ग्रंथ करणानुयोग में धवला षट्खंडागम सिद्धांत शास्त्रों का मंथन करके निकाला हुवा नवनीत सार है। इसका दूसरा नाम '**पंचसंग्रह**' भी रखा गया है।

इसकी मूल गाथा सूत्र रचना **सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचंद्र** इनके द्वारा रचित है। इस ग्रंथपर दो संस्कृत टीकाएं रची गई हैं। पहली संस्कृत टीका '**जीवतत्त्वप्रदीपिका**' श्रीमान् **पं. केशववर्णी** द्वारा रची गई है। दूसरी '**मंदप्रबोधिनी**' टीका श्रीमान् **आचार्य अभयचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती** द्वारा रची गई है।

पहले संस्कृत टीका का शब्दशः हिंदी भाषानुवाद **श्रीमान् पं. टोडरमलजी** द्वारा किया गया है, जिसका नाम '**सम्यग्ज्ञान-चंद्रिका**' रखा गया है। इस टीका के प्रारंभ में श्रीमान् पं. टोडरमलजी ने जो पीठिका लिखी है उसी का संक्षेपसार इस प्रबंध में संगृहीत किया है।

कालदोष से दिनप्रतिदिन बुद्धी का क्षयोपशम मंद होता जा रहा है। जिनको संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं तथा अर्थसंदृष्टि अधिकारगत सूक्ष्म गणित विषय में जिनका प्रवेश होना कठीण है उन मंदबुद्धि मुमुक्षुजनों के लिये अंकसंदृष्टि द्वारा गणित के करण सूत्रों को सुलभ और सुगम करने का श्रीमान् पं. टोडरमलजी ने जो प्रयत्न किया है वह महान् उपकार है।

१. टीका रचना का मुख्य प्रयोजन

श्रीमान् पं. टोडरमलजी ने सर्वप्रथम मुमुक्षु भव्य जीवों को इस ग्रंथ का सूक्ष्म अध्ययन करने की प्रेरणा की है।

प्रत्येक जीव दुःख से आकुलित होता हुआ सुख की अभिलाषा कर रहा है। आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष के विना अन्य जो परसंयोगजनित है वह संसार है, विनश्वर है, दुःखमय है। मोक्ष आत्मा का निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंतसुखमय है। मोक्ष प्राप्ती का उपाय-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र इनकी एकता तथा पूर्णता है। इनकी प्राप्ति जीवादिक सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान तथा समीचीन ज्ञान होने से होती है जीवादिक का स्वरूप जाने विना श्रद्धान होना आकाशफूल के समान असंभव है। 'आगमचेठ्ठा तदो जेठ्ठा' सम्यग्दर्शन के प्राप्ति के लिये आगमज्ञान इस पंचम काल में सर्वज्ञ के अभाव में प्रधान कारण माना गया है।

१. जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। २. जीवादि पदार्थों का समीचीन ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है। ३. सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक विषय और कषायों से उदासीन वृत्ति धारण कर हेय तत्त्वों का त्याग तथा उपदेय तत्त्वों का ग्रहण इसको सम्यक्चारित्र कहा है।

अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड को सम्यक्चारित्र नहीं कहा। जीव और कर्म इनका जो अनादि सम्बन्ध है वह संसार है। जीव और कर्म इनका विशेष भेदविज्ञान करके इनके सम्बन्ध का अभाव होना वह मोक्ष है। इस ग्रन्थ में जीव और कर्म का विशेष स्वरूप कहा है। उससे भेदविज्ञान होकर सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति होती है, इस प्रयोजन से इस ग्रन्थ का अभ्यास अवश्य करने की प्रेरणा की है।

इस ग्रन्थ के अभ्यास से चारों अनुयोगों की सार्थकता कैसी होती है इसका सुन्दर विवेचन श्रीमान् पं. टोडरमलजी ने किया है।

१. प्रश्न—प्रथमानुयोग का पक्षपाती शिष्य प्रश्न करता है कि—प्रथमानुयोग सम्बन्धी कथा-पुराणों का वाचन करके मुमुक्षु मन्दबुद्धि जीवों की बुद्धि पापों से परावृत्त होकर धर्ममार्ग के प्रति प्रवृत्त होती है। इसलिए जीव-कर्म का स्वरूप कथन करनेवाले इस सूक्ष्म तथा गहन ग्रन्थ का मन्दबुद्धि जनों के लिए क्या प्रयोजन है?

समाधान—प्रथमानुयोग सम्बन्धी कथा-पुराणों को सुनकर कोई क्वचित् कदाचित् निकट भव्य जीव ही पापों से भयभीत तथा परावृत्त होकर धर्म में अनुराग करते हैं। उनके उदासीन वृत्ति में बहुत शिथिलता पाई जाती है। लेकिन् पुण्य-पाप के विशेष कारण-कार्य का, जीवादि तत्त्वों का विशेष ज्ञान होने से पापों से निवृत्ति तथा धर्म में प्रवृत्ति इन दोनों कार्यों में दृढता-निश्चलता पाई जाती है इसलिए इस ग्रन्थ का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

२. प्रश्न—चरणानुयोग का पक्षपाती शिष्य प्रश्न करता है कि केवल जीव-कर्म का स्वरूप जानने से मोक्ष सिद्धि कैसे हो सकती है? मोक्ष सिद्धि के लिये तो हिंसादिक का त्याग, व्रतों का पालन, उपवासादि तप, देव पूजा, नामस्मरण, दान, त्याग और संयम रूप उदासीन वृत्ति इनका उपदेश करने वाले चरणानुयोग शास्त्रों का उपदेश देना आवश्यक है?

समाधान—हे स्थूल बुद्धि! व्रतादिक शुभ कार्य तो करने योग्य अवश्य है। लेकिन् **सम्यग्दर्शन के विना व्रतादिक सब क्रिया अंक विना बिंदी के समान है, निरर्थक है। जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जाने विना सम्यक्त्व होना वांझ पुत्र के समान असंभव है।** इसलिये जीवादि पदार्थों का ज्ञान करने के लिये इस ग्रन्थ का अभ्यास अवश्य करना चाहिये, ऐसी प्रेरणा की है।

व्रतादिक शुभ कार्यों से केवल पुण्यबन्ध होता है, इनसे मोक्ष कार्य की सिद्धि नहीं होती। लेकिन जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जानना यह भी प्रधान शुभ कार्य है उससे सातिशय पुण्यबन्ध होता है। व्रत-तपादिक में ज्ञानाभ्यास की ही प्रधानता होती है। ज्ञानपूर्वक हिंसादिकों का त्याग कर व्रत धारण करने वाला ही व्रती कहलाता है। अन्तरंग तपों में स्वाध्याय नाम का अन्तरंगतप प्रधान है। ज्ञान पूर्वक तप ही संवर निर्जरा का कारण कहा है।

विना ज्ञान के कुलक्रमागत केवल बाह्य देखादेखी देव-गुरु भक्ति भी अल्प फल देनेवाली होती है। विशेष कार्यकारी नहीं है। ज्ञान के विना उदासीन वृत्ति— त्याग-संयमवृत्ति केवल पुण्यफल को देने वाली होती है। उससे मोक्ष कार्य की सिद्धि नहीं होती। महामुनी, संयमी जनों के ध्यान व अध्ययन ये दो ही मुख्य कार्य कहे गये हैं। इसलिये इस शास्त्र का अध्ययन कर जीव–कर्म का स्वरूप समझ कर अपने आत्म स्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

प्रश्न—यहां शिष्य प्रश्न पूछता है कि कोई जीव बहुत शास्त्रोंका अध्ययन तो करते हैं, लेकिन वे विषयादिकों से उदासीन-त्याग वृत्ति धारण करनेवाले नहीं होते है। उनका शास्त्र का अध्ययन कार्यकारी है कि नहीं ?

१ यदि है, तो संत-महंत पुरुष विषयादिकों का त्याग कर क्यों व्यर्थ कायक्लेशादि तप करते हैं ?

२ यदि नहीं, तो ज्ञानाभ्यास का महिमा क्या रहा ?

समाधान—शास्त्राभ्यासी दो प्रकार के पाये जाते हैं। १ लोभार्थी २ धर्मार्थी

१ अंतरंग धर्मानुराग बिना जो केवल ख्याति-पूजा-लाभ के लिये शास्त्राभ्यास करते है उनका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नही है। वे लोभार्थी आत्मघाती महापापी है।

२ जो अंतरंग धर्मानुरागपूर्वक आत्महित के लिये शास्त्राभ्यास करते हैं, वे योग्य काललब्धि पूर्वक विषयादिकों का त्याग अवश्य करते ही हैं। उनका ज्ञानाभ्यास कार्यकारी ही है। जो कदाचित् पूर्व कर्मोदय वश विषयादिकों का त्याग करने में असमर्थ है तथापि वे अपने असंयमवृत्ति की सदैव आत्मनिंदा गर्हा करते हैं। संयम और त्याग का नितांत आदर करते हैं उनका ज्ञानाभ्यास भी कार्यकारी ही है। असंयत गुणस्थान में विषयादिक का त्याग न होते हुये भी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक (स्वरूपाचरण चारित्ररूप) **स्वरूप स्वभाव का निरंतर भान** (लक्ष्य) होने से मोक्षमार्गपना नियम से पाया जाता है।

प्रश्न—जो धर्मार्थी है, शास्त्राभ्यासी है, उसको विषयादिकों का त्याग होता नहीं यह कैसे संभव है ? क्यों कि विषयों का सेवन तो जीव विषयों के अनुराग परिणामपूर्वक ही करता है। अपने परिणाम तो अपने स्वाधीन है ?

समाधान—परिणाम दो प्रकार के होते है। १. बुद्धिपूर्वक, २. अबुद्धिपूर्वक। १. अपने अभिप्राय-पूर्वक–विषयानुरागपूर्वक जो परिणाम होते हैं वे बुद्धिपूर्वक परिणाम हैं। २. जो विना अभिप्राय के पूर्व-कर्मोदयवश होते हैं उनको अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहते हैं।

जैसे सामायिक करते समय धर्मात्मा के जो शुभ परिणाम होते है वे तो बुद्धिपूर्वक है और उसी समय विना इच्छा के जो स्वयमेव अशुभ परिणाम होते है वे अबुद्धिपूर्वक है। उसी प्रकार जो ज्ञानाभ्यासी है उसका अभिप्राय तो विषयादिक का त्यागरूप–वीतरागभावरूप ही होता है वह तो बुद्धिपूर्वक है। और चारित्रमोह के उदयते जो सराग प्रवृत्ति होती है वह अबुद्धिपूर्वक है। अभिप्रायविना कर्मोदयवश जो सराग-

भाव होते हैं उससे विषयादिक में उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है, उस बाह्य प्रवृत्ति का कारण यद्यपि उनका योग-उपयोग परिणाम होता है। तथापि उनमें उनकी रुचि–अभिप्राय–या धर्मबुद्धि नहीं होने से वे अबुद्धि-पूर्वक कहे जाते हैं।

प्रश्न—जो ऐसा है तो कोई भी विषयादिकों को सेवेंगे और कहेंगे कि हमारा उदयाधीन कार्य हो रहा है।

समाधान—केवल कहने मात्र से कार्यसिद्धि होती नहीं। **सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार ही होती है।** इसलिये **जैन शास्त्र के अभ्यास से अपने अभिप्राय को सम्यक्रूप करना चाहिये।** अंतरंग में विषयादि के सेवन का अभिप्राय रखते हुये धर्मार्थी नाम नहीं पा सकता है।

३ प्रश्न—अब द्रव्यानुयोग का पक्षपाती शिष्य पूछता है कि जीव और कर्मके विशेष स्वरूप समझने से अनेक विकल्प तरंग उत्पन्न होते है, उससे कार्यसिद्धि कैसी होगी? अपने शुद्धस्वरूप का अनुभवन करने का, स्व-पर का भेदविज्ञान का ही उपदेश कार्यकारी होगा?

समाधान—हे **सूक्ष्माभासबुद्धि**! आपका कहना तो ठीक है, लेकिन **अपनी जघन्य अवस्था का भी ख्याल रखना चाहिये।** यदि स्वरूपानुभवन में या भेदविज्ञान में निरंतर उपयोग स्थिर होता है तो नाना विकल्प करने की क्या जरूरत है। अपने स्वरूपानंद सुधारस में ही मस्त रहना चाहिये। परंतु यदि जघन्य अवस्था में उपयोग निरंतर स्थिर नहीं रहता है, उपयोग अनेक निरंतर अवलंबन को चाहता है तो उस समय गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना उचित है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास विशेष कार्यकारी है सो तो युक्त ही है। परंतु भेदविज्ञान होने के लिये स्व-पर का (जीव और कर्म का) विशेष स्वरूप जानना आवश्यक है। इसलिये इस शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये। "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्"—सामान्य शास्त्र से विशेष शास्त्र बलवान् होता है।

प्रश्न—अध्यात्म शास्त्र में तो गुणस्थानादि विशेष रहित शुद्ध स्वरूप का अनुभवन करने का उपदेश है, और इस ग्रंथ में तो गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन किया है। इसलिये अध्यात्म शास्त्र और इस शास्त्र में तो विरोध दीखता है।

समाधान—नय के २ प्रकार हैं। १ निश्चय, २ व्यवहार।

१ निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित शुद्ध अभेद वस्तुमात्र एकही प्रकार है।

२ व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेष रूप अनेक प्रकार हैं।

जो जीव सर्वोत्कृष्ट अभेद स्वरूप एक स्वभावभाव का ही अनुभव करते हैं उनके लिये तो शुद्ध निश्चयनय ही कार्यकारी है।

परंतु जो स्वानुभव दशा को प्राप्त नहीं है, स्वानुभव–निर्विकल्प दशा से च्युत होकर सविकल्प दशा को प्राप्त हुए है ऐसे अनुत्कृष्ट–अशुद्ध–भाव में स्थित है उनके लिए व्यवहारनय शास्त्र ही प्रयोजनवान् है। समयसार में कहा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमें ट्ठिदा भावे ॥

यदि परिणाम स्वरूपानुभव में भी प्रवृत्त होते नहीं और विकल्प समझकर गुणस्थानादि विशेष स्वरूप का भी विचार न किया जाय, तो 'इतो भ्रष्टः, ततो भ्रष्टः' होकर अशुभोपयोग में प्रवृत्ति करनेवाला अपना अकल्याण ही करेगा ।

अपरंच, वेदांत आदि शास्त्राभासों में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहा है। उसके यथार्थ-अयथार्थ का निर्णय विशेष स्वरूप जाने विना कैसा सम्भव है ? इसलिए इस ग्रन्थ का अभ्यास करना चाहिये ।

प्रश्न—करणानुयोग शास्त्र द्वारा जीव के विशेष स्वरूप का अभ्यास करनेवाला भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्मश्रद्धान विना संसार में ही भटकता है, परंतु अध्यात्म शास्त्र के अनुसार अल्प श्रद्धान करने वाले तिर्यंच को भी सम्यक्त्व होता है। तुष माष भिन्न इतने ही श्रद्धान से शिव भूति मुनि को मुक्ति की प्राप्ति हुई है। इसलिए प्रयोजन मात्र अध्यात्म शास्त्र का ही उपदेश देना कार्यकारी है ।

समाधान—जो द्रव्यलिंगी करणानुयोग शास्त्र द्वारा विशेष स्वरूप जानता है उसको अध्यात्मशास्त्र का भी ज्ञान यथार्थ हो सकता है। परंतु वह मिथ्यात्व के उदय से उस ज्ञान का उपयोग अयथार्थ करेगा तो उसके लिए शास्त्र क्या करेगा ? करणानुयोग शास्त्र तथा अध्यात्म शास्त्र इनमें तो परस्पर कुछ भी विरोध नहीं है ।

दोनों शास्त्रों में आत्मा के रागादिक भाव कर्म निमित्त से उत्पन्न होते है ऐसा कहा है। द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है। **शरीराश्रित सर्व शुभ-अशुभ क्रिया पुद्गलमय कही है।** द्रव्यलिंगी उनको अपनी मानकर उनमें हेय-उपादेय बुद्धि करता है। **सर्व ही शुभ-अशुभ भाव आस्रव-बन्ध के कारण कहे है।** द्रव्यलिंगी शुभ क्रिया को संवर-निर्जर-मोक्ष का कारण मानता है। **शुद्ध भाव ही संवर-निर्जरा-मोक्ष के कारण कहे है।** उनको तो द्रव्यलिंगी पहचानता ही नहीं। तथा तिर्यंच को अल्प ज्ञान से भी जो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तथा शिवभूति मुनि को अल्प ज्ञान से भी जो केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसमें भी उनके पूर्व जन्म के संस्कार कारण होते हैं। किसी विशेष जीव को अल्प ज्ञान से कार्य सिद्धि हुई, इसलिए सर्व जीवों को होगी यह कोई नियम नहीं है। किसी को दैव वश विना व्यापार करते हुये धन मिला, तो सर्व जीवों ने व्यापार करना छोड देना यह कोई राजमार्ग नहीं है। **राजमार्ग तो यही है**—इस ग्रन्थ के द्वारा नाना प्रकार जीव का विशेष स्वरूप जान कर आत्म-स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने से ही कार्य सिद्धि होगी।

शास्त्राभ्यास की महिमा अपार है। इसीसे आत्मानुभव दशा प्राप्त होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह तो परोक्षफल है।

शास्त्राभ्यास का साक्षात् फल—क्रोधादि कषायों की मंदता होती है। इंद्रियों की उच्छृंखल विषय प्रवृत्ति रुकती है। अति चंचल मन भी एकाग्र होता है। हिंसादि पंच पापों में प्रवृत्ति होती नहीं। हेय-उपादेय की पहचान होकर जीव आत्मज्ञान के सन्मुख होता है।

शास्त्राभ्यास का समय पाना महान् दुर्लभ है। एकेंद्रिय से असंज्ञीपर्यंत तो मन का ही अभाव है। संज्ञी होकर भी तिर्यंच गति में तो विवेक रहता नहीं। नरक गति में वेदना पीडित अवस्था रहती है। देवगति में विषयासक्त अवस्था रहती है। मनुष्यगति मिलना अत्यंत दुर्लभ है। उसमें भी योग्य सहवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इंद्रियों की समर्थता, निरोगता, सत्संगति, धर्म की अभिरुचि, बुद्धि का क्षयोपशम इन सर्व साधन-सामग्री का मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इसलिये इस शास्त्र का जैसे बने वैसे अभ्यास करना कल्याणकारी है।

२. ग्रंथ विषय

इस गोम्मटसार शास्त्र के मुख्य दो अधिकार हैं। १ जीव कांड, २ कर्म कांड।

१ जीवकांड के मुख्य २२ अधिकार हैं।

१ गुणस्थान अधिकार—इसमें मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों में जीवके परिणाम उत्तरोत्तर कैसे विशुद्ध होते हैं इसका वर्णन किया है।

प्रमाद का वर्णन करते समय **संखया, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट** और **समुद्दिष्ट** का विशेष निरूपण किया है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में अधःकरण अवस्था में जो परिणामों की **अनुकृष्टि रचना** होती है उसका विशेष वर्णन किया गया है।

कर्म प्रकृति के अनुभाग की अपेक्षा से **अविभाग प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, गुणहानि, नानागुणहानि, पूर्वस्पर्द्धक, अपूर्व स्पर्द्धक, बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि,** का विशेष निरूपण किया गया है। **नव केवललब्धियों का, गुणश्रेणी निर्जरा के १२ स्थानों का** विशेष वर्णन किया है। अन्त में अन्यमत में माने गये मोक्ष के अन्यथा स्वरूप का निराकरण करके मोक्ष का यथार्थ स्वरूप का निरूपण किया है।

२ जीवसमास अधिकार—दूसरे अधिकार में १४ जीव समासों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। जीव समासों के स्थानों का वर्णन करते हुये १ से लेकर १९ स्थान तक जीव के भेदों का वर्णन करके ९८ जीव समास स्थानों का वर्णन किया है। शंखावर्तादि योनि के तीन प्रकार, सन्मूर्च्छनादि जन्म-भेद पूर्वक योनि के नव प्रकार, उनके स्वामी इनका वर्णन करके ८४ लाख योनि का वर्णन किया है। अवगाहना का वर्णन करते हुये सूक्ष्म निगोदी अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से लेकर संज्ञी पंचेद्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना तक ४२ अवगाहना स्थानों का वर्णन किया है। अवगाहना भेद जानने के लिये चतुःस्थानपतित-षट्स्थानपतित हानिवृद्धि का वर्णन किया है। अवगाहना भेद जानने के लिये **मत्स्यरचना** यंत्र बतलाया गया है। कुलभेदों का वर्णन करते हुये एकसौ साडे सत्याण्णव लाख कुल कोटि का वर्णन किया है।

३. पर्याप्ति अधिकार

पहले **' मान ' का** वर्णन किया है। मान के मुख्य दो भेद है। १ लौकिक, २ अलौकिक। अलौकिक मान में द्रव्यमान के दो भेद हैं। १ संख्यामान, २ उपमा मान।

१ संख्यामान के—संख्यात–असंख्यात–अनंत आदि २१ भेदों का वर्णन है। संख्यामान में **पण्णट्ठी, बादाल,** एकट्ठी, आदि संख्याओं का वर्णन है।

२ उपमामान मे—पल्य आदि आठ भेदो का वर्णन है। व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकालने का वर्णन है। तीन प्रकार के अंगुल का वर्णन है। उद्धारपल्य से द्वीप समुद्रों की संख्या निकालने का वर्णन है। अद्धापल्य से आयुका प्रमाण जाना जाता है सूच्यंगुल-प्रतरांगुल-घनांगुल-जगत्श्रेणी, जगत्-प्रतर-जगत् घन से लोक का प्रमाण जाना जाता है।

इसके बाद पर्याप्ति प्ररूपणा का वर्णन किया है। छह पर्याप्तिओं का स्वरूप, उनका प्रारंभ तथा पूर्ण होने का काल, उनके स्वामी इनका वर्णन है। लब्ध्य पर्याप्तक का लक्षण कह कर निरंतर क्षुद्रभवों का वर्णन करके प्रसंगवश लौकिक मान में प्रमाण राशि, फलराशि, इच्छाराशि आदि त्रैराशिक गणितका वर्णन है। सयोगी जिनको भी अपर्याप्तपना का संभवने का तथा लब्ध्य पर्याप्तक, निर्वृत्त्य पर्याप्तक, पर्याप्तक इनके यथासंभव गुणस्थानों का बर्णन है।

४. प्राण-प्ररूपणा

इस अधिकार में प्राणों का लक्षण-भेद-कारण और उनके स्वामी का वर्णन किया है।

५ संज्ञा-प्ररूपणा—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा इन चार संज्ञाओं का वर्णन कर के उनके कारण, उनके स्वामी इनका वर्णन किया है।

मार्गणा महाधिकार में प्रथम सांतर मार्गणा के अंतराल का तत्वार्थसूत्र टीका के अनुसार नाना जीव, एक जीव अपेक्षा से वर्णन कर के, तथा गुणस्थान अपेक्षा मार्गणाओं के काल का अंतर का वर्णन किया है।

६ गति मार्गणा-अधिकार—चार गति का वर्णन कर के पांच प्रकार के तिर्यंचों का, चार प्रकार के मनुष्यों का तथा पंचम सिद्धगति का वर्णन है। सात प्रकार के नारकी जीवों का तथा चार प्रकार के जीवों का उनकी संख्या का वर्णन किया है। प्रसंगवश पर्याप्त मनुष्य जीवों की संख्या निकालने के लिये 'कटपय पुरस्थवर्णैः' इत्यादि सूत्रद्वारा अंक संख्या को लिपिबद्ध करने की रीति बतलाई गई है।

७ इंद्रिय मार्गणा—अधिकार–में लब्धि और उपयोग रूप भावेंद्रिय का वर्णन करके बाह्य और अभ्यंतर रूप निर्वृत्ति और उपकरण के चार प्रकार के द्रव्येंद्रियों का वर्णन किया है। इंद्रियों के स्वामी इंद्रियों का आकार, उनकी अवगाहना का वर्णन करके अतींद्रिय जीवों का वर्णन किया है।

८ कायमार्गणा–अधिकार—में पांच स्थावर काय और एक त्रसकाय जीवों का उनकी शरीर अवगाहना का वर्णन है। वनस्पति के साधारण तथा प्रत्येक इन दो भेदों का वर्णन करके प्रत्येक वनस्पति में जिस प्रकार सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित भेद है उसी प्रकार त्रस जीवों के शरीर में सप्रतिष्ठित–अप्रतिष्ठितपने का वर्णन किया है।

९ **योगमार्गणा-अधिकार**—में योग का लक्षण बतला कर मन-वचन-काय रूप तीन योगों का तथा उनके प्रभेदों का वर्णन किया है। सत्य-असत्य-उभय-अनुभय भेद से मनोयोग और वचन-योग चार चार प्रकार का है। सत्य वचन के दश भेदों का तथा आमंत्रणी-आज्ञापिनी आदि अनुभय वचनों का वर्णन किया है। केवली को मन-वचन-योग संभवने का वर्णन है। काययोग के ७ भेदों का वर्णन है। मिश्रयोग होने का विधान, उनका काल इनका वर्णन है। युगपत् योगों की प्रवृत्ति होने का विधान वर्णन किया है।

१० **वेदमार्गणा-अधिकार**—भाव-द्रव्य भेद से वेद दो प्रकार का है। उनमें कहीं पर समानता तथा असमानता पाई जाती है। वेदों के कारण को कहकर ब्रह्मचर्य अंगीकार करने का वर्णन किया है। तीनों वेदों का निरुक्ति अर्थ बतला कर अपगत वेदी जीवों का वर्णन है।

११ **कषाय मार्गणा-अधिकार**—अनंतानुबन्धी आदि कषायों का सम्यक्त्व आदि जीव के गुणों का घात करने का वर्णन किया है। कषाय के शक्ति अपेक्षा से ४ भेद, लेश्या अपेक्षा १४ भेद, तथा आयुबन्ध-अबन्ध अपेक्षा २० भेदों का वर्णन है।

१२ **ज्ञान मार्गणा अधिकार**—में मतिज्ञान आदि पांच सम्यग्ज्ञानों का, तीन मिथ्याज्ञानों का तथा मिश्रज्ञानों का वर्णन है। मतिज्ञान में अवग्रहादि भेदोंका, वर्णन है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के बिना चार इंद्रियों से होता है, तथा उसमें ईहादिक ज्ञान नहीं होते हैं। बहु-बहुविध आदि १२ भेदों से मतिज्ञान के ३३६ भेदों का वर्णन किया है। भाव श्रुतज्ञान में पर्याय-पर्यायसमास आदि भेद से २० प्रकार पाये जाते हैं। जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का प्रमाण बतलाकर उनमें क्रम से षट्स्थानपतित वृद्धि का क्रम बतलाया है।

द्रव्यश्रुतज्ञान में द्वादशांग पदों का, प्रकीर्णकों के अक्षरों की संख्या का वर्णन है।

प्रसंगवश तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होने के विधान का, तथा अंतिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामि के समय ३६३ कुवादी निर्माण हुये उन मिथ्या मतों का वर्णन करके अनेकांत सप्तभंगी का वर्णन किया है।

१३ **संयम मार्गणा-अधिकार**—में संयम के भेदों का वर्णन कर के ग्यारह प्रतिमा, संयम के २८ भेद इनका वर्णन है।

१४ **दर्शन मार्गणा-अधिकार**—में चक्षुदर्शन आदि चार प्रकार के दर्शनों का वर्णन करके शक्ति चक्षुदर्शनी, व्यक्त चक्षुदर्शनी, और अवधि-केवल अचक्षुदर्शनी जीवों की संख्याप्रमाण का वर्णन है।

१५ **लेश्या मार्गणा-अधिकार**—में भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या का वर्णन है। लेश्याओं का वर्णन १६ अधिकार में किया है।

(१) छह लेश्याओं का नाम, (२) छह द्रव्य लेश्याओं के वर्ण का कारण तथा दृष्टांत, (३) कषायों के उदयस्थान सहित संक्लेश-विशुद्धि स्थान, (४) स्वस्थान परस्थान संक्रमणरूप संक्लेश विशुद्धि-

स्थान, (५) छह लेश्याओं का कर्म (कार्य) का उदाहरण वर्णन, (६) छह लेश्याओं का लक्षण, (७) गति आयु बन्ध–अबन्ध रूप छह लेश्याओं के छब्बीस अंशों का वर्णन, (८) भाव लेश्याओं के चारों गति सम्बन्धी स्वामिओं का वर्णन, (९) द्रव्य लेश्या और भाव लेश्याओं के साधन (कारण) का वर्णन, (१०) संख्या अधिकार में छह लेश्यावाले जीवों की संख्या का वर्णन, (११) स्थान अधिकार में स्वस्थान–समुद्घात उपपादस्थान का वर्णन (१२) स्पर्शन अधिकार में तीन काल सम्बन्धी क्षेत्र का वर्णन, (प्रसंगवश मेरु पर्वत से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यंत सर्वत्र पवन के सद्भाव का वर्णन), (१३) काल अधिकार में छह लेश्याओं का वासना काल का वर्णन, (१४) अन्तर अधिकार में छह लेश्याओं का जघन्य उत्कृष्ट विरहकाल का वर्णन, (१५) भाव अधिकार में लेश्याओं के औदयिक भाव का वर्णन, (१६) अल्पबहुत्व अधिकार में लेश्या धारी जीवों की संख्या का अल्पबहुत्व वर्णन है। इस प्रकार लेश्या का वर्णन कर लेश्यारहित जीवों का वर्णन किया है।

१६ **भव्य मार्गणा–अधिकार**—भव्य अभव्य के स्वरूप तथा उनकी संख्या का वर्णन है। प्रसंगवश पंच परावर्तन का वर्णन किया है।

१७ **सम्यक्त्व मार्गणा–अधिकार**–सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन–सराग, वीतराग भेद से सम्यक्त्व का वर्णन, षट्द्रव्य नव पदार्थों के स्वरूप का वर्णन, रुपी–अरुपी अजीव द्रव्यों का वर्णन, धर्मादिक अमूर्तद्रव्यों के अस्तित्व की सिद्धि काल द्रव्य का वर्तना हेतुत्व लक्षण का दृष्टांत पूर्वक वर्णन है। मुख्य काल के अस्तित्व की सिद्धि समय आवली आदि व्यवहार काल का वर्णन, व्यवहार काल के निमित्त का वर्णन है। स्थिति अधिकार में सर्व द्रव्य अपने अपने पर्यायों के समुदायरूप अवस्थित है। जीवादिक द्रव्यों का अवगाह क्षेत्र वर्णन है। प्रसंगवश समुद्घातों का वर्णन है। जीव के संकोच विस्तार शक्ति का वर्णन है। जीवादिक द्रव्यों की तथा उनके प्रदेशों की संख्या का वर्णन है। द्रव्यों के चल–अचल प्रदेशों का वर्णन है। अणुवर्गणा आदि तेईस पुद्गल वर्गणाओं का वर्णन है। आहारादि बर्गणाओं के कार्य का वर्णन है। महास्कंध वर्गणा का वर्णन है। पुद्गल द्रव्य के स्थूल–स्थूल स्थूल आदि छह भेदों का वर्णन है। धर्मादि द्रव्यों के उपकार का वर्णन है। नवपदार्थों का वर्णन है। पापजीवों का वर्णन है। चौदह गुणस्थानों में जीवों की संख्या प्रमाण का वर्णन है। नरकादि गति के जीव यथा संभव मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में कितने रहते है उनका वर्णन है। द्रव्य-पुण्य-पाप का वर्णन है। सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन है। क्षायिक सम्यक्त्व के होने का– कितने भव में क्षायिक सम्यक्त्वी को मुक्ति होने के नियम का वर्णन है। सम्यक्त्व के पांच लब्धि का वर्णन है।

१८ **संज्ञी मार्गणा अधिकार**—में संज्ञी-असंज्ञी जीवों का उनकी संख्या प्रमाण का वर्णन है।

१९ **आहार मार्गणा अधिकार**—में आहारक अनाहारक जीवों का वर्णन है। सात समुद्घात का वर्णन है।

२० **उपयोग अधिकार**—में साकार अनाकार उपयोग का वर्णन है।

२१ **ओघादेश योगप्ररूपणा**—अधिकार में गति आदि मार्गणाओं में गुणस्थान और जीव-समासों का वर्णन है ।

२२ **आलाप अधिकार में**—सामान्य-पर्याप्त-अपर्याप्त आलापों का वर्णन है। गुणस्थान- मार्गणा स्थानों में २० प्ररुपणाओं का वर्णन है ।

इस प्रकार 'जीवकांड' नामक महाधिकार में बाईस प्ररूपणा अधिकारों का वर्णन किया है ।

२. कर्मकांड नामक महाधिकार

इस में नव अधिकार हैं ।

१ **प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार में**—जीव-कर्म के सम्बन्ध का, उनके अस्तित्व का दृष्टांत पूर्वक वर्णन है। कर्म के बन्ध उदय सत्त्व प्रकृतियों के प्रमाण का वर्णन है। ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों का, घाति-अघाति भेदों का, उनके कार्य का दृष्टांतपूर्वक वर्णन है।

प्रसंग वश अभव्य को केवल ज्ञान का सद्भाव सम्बन्धी प्रश्नोत्तर रूप से वर्णन है। अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का कार्य व वासना काल इनका वर्णन है। कर्म प्रकृतियों में पुद्गलविपाकी भवविपाकी क्षेत्र-विपाकी जीवविपाकी प्रकृतियों का वर्णन है। नामादि चार निक्षेपों का वर्णन है।

२ **बन्ध-उदय-सत्त्व-अधिकार**—बन्ध के प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश भेदों का वर्णन है। उनके उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट-जघन्य-अजघन्य अंशों का, तथा उनके सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव बन्ध का वर्णन है। किस गुणस्थान में किस प्रकृति का बन्ध-नियम है उसका वर्णन है। तीर्थंकर प्रकृति बन्धने की विशेषता का वर्णन है। किस गुणस्थान में किस प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति होती, किस का बन्ध, किसका अबंध होता इसका वर्णन है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयविवक्षा से व्युच्छित्ति का स्वरूप वर्णन है। उत्कृष्ट स्थिति बन्ध संज्ञी पंञ्चेद्रिय पर्याप्तक को ही होता है। मोहादि कर्म के आबाधाकाल का तथा आयु-कर्म के आबाधा-काल का वर्णन है। देव-नारकी-कर्म भूमि-भोगभूमि-जीवों को आयु बन्ध होने के समय का वर्णन है।

अनुभागबंध के वर्णन में घातिया कर्मों के लता-दारु-अस्थि-शैलभागरूप अनुभाग का तथा अघातिकर्मों की प्रशस्त प्रकृतियों का गुड-खंड-शर्करा-अमृत रूप अनुभाग का, तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का निंब-कांजीर-विष-हालाहल रूप अनुभाग का वर्णन है। प्रदेशबंध के वर्णन में एक जीव को प्रत्येक समय में कितने कर्मपरमाणु बद्ध होते है उनका वर्णन है। सिद्धराशि के अनन्तवां भागप्रमाण अथवा अभव्य राशि से अनन्तगुणा प्रमाण समयप्रबद्ध का प्रमाण है। घातिकर्मों में देशघाति-सर्वघाति विभाग का वर्णन है। अंतराय कर्मप्रकृतियों में सर्वघातिपना नहीं है। प्रसंगवश योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवा भागमात्र है उनका वर्णन है। उनसे असंख्यात लोक गुणा अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थान है उनका वर्णन है।

उदय का वर्णन करते हुये किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय, उदयव्युच्छित्ति, अनुदय होता है उनका वर्णन है।

सत्त्व का वर्णन करते हुये किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व–सत्त्व व्युच्छित्ति होती है इनका वर्णन है।

३ **सत्त्वस्थान अधिकार** में एक जीव को एक काल में युगपत् कितनी प्रकृतियों की सत्ता रहती है, बद्धायु हो या अबद्धायु हो तो किन प्रकृतियों की सत्ता रहती है इसका विशेष वर्णन है।

४ **त्रिचूलिका अधिकार**— (१) प्रथम चूलिका नव प्रश्नों को पूछकर प्रथम चूलिका का व्याख्यान है।

प्र. १. किन प्रकृतियों के उदयव्युच्छित्ति के पहले बंधव्युच्छित्ति होती है।

प्र. २. किन प्रकृतियों के उदयव्युच्छित्ति के अनन्तर बंधव्युच्छित्ति होती है।

प्र. ३. किन प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति और बंध-व्युच्छित्ति युगपत् होती है।

प्र. ४. किन प्रकृतियों का उदय होते हुये ही बंध होता है।

प्र. ५. किन प्रकृतियों का अन्य का उदय होते हुये ही बंध होता है।

प्र. ६. किन प्रकृतियों का अपना या परका उदय होते हुये बंध होता है।

प्र. ७. किन प्रकृतियों का निरंतर बन्ध होता है।

प्र. ८. किनका सांतर बन्ध होता है।

प्र. ९. किनका सांतर–निरंतर बन्ध होता है।

पंचभाग हार चूलिका—में उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रमण, सर्वसंक्रमण इनका वर्णन है।

३ **दशकरण चूलिका**–में १ बन्ध, २ उत्कर्षण, ३ संक्रमण, ४ अपकर्षण, ५ उदीरणा, ६ सत्त्व, ७ उदय, ८ उपशम, ९ निधत्ति, १० निकाचित इन दश करणों का वर्णन है।

५ (**बन्ध–उदय–सत्त्व सहित स्थान समुत्कीर्तन अधिकार**)—एक जीव को युगपत् संभव प्रकृतियों के बन्ध–उदय–सत्त्व रूप स्थान तथा उनमें परिवर्तन होने के भंग इनका वर्णन है।

प्रसंगवश किस गुणस्थान से किस गुणस्थान में चढना–उतरना (गति–आगति) होता है इसका वर्णन है।

६ **प्रत्यय अधिकार**—आस्रव के मूल चार प्रत्यय और उत्तर ५७ प्रत्ययों का किस गुणस्थान में कितने प्रत्यय संभव है उनका वर्णन है।

७ **भाव चूलिका अधिकार**— जीव के मोह और योग भाव से ही १४ गुणस्थान होते हैं। जीव के मूल भाव पांच हैं।

१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ मिश्र, ४ औदयिक, ५ पारिणामिक। इनके उत्तर भेद ५३ होते हैं। गुणस्थान अपेक्षा से किसको कितने भाव युगपत् संभव है उनका वर्णन है।

प्रसंगवश यहां ३६३ कुमतों के भेदों का वर्णन है। सर्वथा एकांतवाद मिथ्यावाद है स्याद्वाद-रूप एकांतवाद सम्यक्वाद है।

त्रिकरण चूलिका-अधिकार — इसमें अधःकरण अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण इन तीन करण रूप परिणामों का उनके काल का विशेष वर्णन है।

९ **कर्मस्थिति अधिकार**— कर्मों की स्थिति तथा तदनुसार उन के आबाधाकाल का वर्णन है। इसमें १ द्रव्य, २ स्थिति, ३ गुणहानि, ४ नाना गुणहानि, ५ दो गुणहानि, ६ अन्योन्याभ्यस्त राशि इनका वर्णन अर्थसंदृष्टि-तथा अंकसंदृष्टिपूर्वक विशेष वर्णन है।

१ प्रति समय समयप्रबद्ध प्रमाण (अनंतानंत) कर्म परमाणू **बंधते** हैं।

२ प्रतिसमय समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणू **उदय** में आते हैं।

३ प्रति समय किंचित् ऊन द्व्यर्द्ध गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण **सत्त्व** में रहते हैं।

श्रीमान् पं. टोडरमलजीने इस गहन ग्रंथ में सुगमता से प्रवेश होने के लिये इसके बाद **अर्थ-संदृष्टि-अधिकार** की स्वतंत्र रचना की है। उसमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने का विधान वर्णन अत्यंत उपयुक्त है। पांच लब्धि का वर्णन है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण का अभाव है। उसके बाद क्षायिक सम्यक्त्व का वर्णन है। उसका प्रारंभ-निष्ठापन इनका वर्णन है। अनंतानुबंधी के विसंयोजन का वर्णन है। इस प्रकार अर्थसंदृष्टि अंकसंदृष्टि का विशेष वर्णन किया है।

श्रीमान् पं. टोडरमलजी का जीवन काल प्रायः करीब २०० वर्ष पूर्व का है। उनका निवास स्थान जयपुर था। श्रीमान् पं. राजमल्लजी इनके साहधर्मी प्रेरक थे। उनकी प्रेरणा से श्रीमान् पं. टोडरमलजी द्वारा इस ग्रंथ की टीका लिखी गई जो कि इनकी चिरस्मृति मानी जाती है। वे यद्यपि राजमान्य पंडित थे तथापि धर्मद्वेष की भावना से अन्यधर्मी पंडितों द्वारा इस महान् विद्वान् का दुःखद अंत हुआ। सत्य धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने अपनी प्राणाहुति स्वयं स्वीकृत करली। हाथी के पाव के नीचे मरने का देहान्त राज्यशासनदंड उन्होंने सानंद स्वीकृत किया। इस प्रकार इस महान् पुरुष के वियोग से जैन समाज की महान् क्षति हुई जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

ॐ शांतिः। शांतिः। शांतिः।

भारतीय दर्शन की एक अप्रतिम कृति
अष्टसहस्री

डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,
एम्. ए., पीएच. डी., रीडर का. हिं. वि. वि.

प्रास्ताविक

आचार्य विद्यानन्द-रचित '**अष्टसहस्री**' जैन दर्शन की ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शन की एक अपूर्व, अद्वितीय और उच्चकोटि की व्याख्या-कृति है। भारतीय दर्शन-वाङ्मय में जो विशेष उल्लेखनीय उपलब्ध रचनाएँ हैं उनमें यह निःसन्देह बेजोड़ है। विषय, भाषा और शैली तीनों से यह अपनी साहित्यिक गरिमा और स्वस्थ, प्रसन्न तथा गंभीर विचार-धारा को विद्वन्मानस पर अङ्कित करती है। सम्भवतः इसीसे यह अतीत में विद्वद्-ग्राह्य और उपास्य रही है तथा आज भी निष्पक्ष मनीषियों द्वारा अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। यहाँ पर हम उसीका कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

मूल ग्रन्थ : देवागम

यह जिस महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थ की व्याख्या है वह विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शताब्दि के महान् प्रभावक दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित '**देवागम**' है। इसी का दूसरा नाम '**आप्तमीमांसा**' है। यतः यह '**भक्तामर**' '**कल्याणमन्दिर**' आदि स्तोत्रों की तरह '**देवागम**' पद से[1] आरम्भ होता है, अतः यह '**देवागम**' कहा जाता है तथा अकलङ्क,[2] विद्यानन्द,[3] वादिराज,[4] हस्तिमल्ल,[5] आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। और '**आप्तमीमांसा**' नाम स्वयं समन्तभद्र ने,[6] ग्रन्थान्त में दिया है, इससे यह '**आप्तमीमांसा**' नाम से भी विख्यात है।

---

१. 'देवागम-नभोयान.........'—देवागम, का. १।
२. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—अष्ट श. प्रार. प. २।
३. 'इति देवागमाख्ये स्वोक्त परिच्छेदे शास्त्रे .....'—अष्ट स. पृ., २९४।
४. 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।'—पार्श्वनाथचरित।
५. 'देवागमन सूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।'—विक्रान्तकौरव।
६. 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।'—देवा. का. ११४।

विद्यानन्द ने[1] इस नाम का भी अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है। इस तरह यह कृति जैन साहित्य में दोनों नामों से विश्रुत है।

इस में आचार्य समन्तभद्र ने आप्त (स्तुत्य) कौन हो सकता है, उसमें आप्तत्व के लिये अनिवार्य गुण (असाधारण विशेषताएँ) क्या होना चाहिए, इसकी युक्ति पुरस्सर मीमांसा (परीक्षा) की है और यह सिद्ध किया है[2] कि पूर्ण निर्दोषता, सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधि वक्तृतां ये तीन गुण आप्तत्व के लिये नितान्त वांछनीय और अनिवार्य हैं। अन्य वैभव शोभा मात्र है। अन्ततः ऐसा आप्तत्व उन्होंने वीर-जिन में उपलब्ध कर उनकी स्तुति की तथा अन्यों (एकान्तवादियों) के उपदेशों एकान्तवादों की समीक्षा पूर्वक उनके उपदेश-स्याद्वाद की संस्थापना की है।[3]

इसे हम जब उस युग के सन्दर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता है कि वह युग ही इस प्रकार का था। इस काल में प्रत्येक सम्प्रदाय प्रवर्तक हमें अन्य देव तथा उसके मत की आलोचना और अपने इष्टदेव तथा उसके उपदेश की सिद्धि करता हुआ मिलता है। बौद्ध दर्शन के पिता कहे जाने वाले आचार्य दिग्नाग ने भी अन्य के इष्टदेव तथा उसके उपदेशों की आलोचना और अपने इष्ट बुद्धदेव तथा उनके उपदेश (क्षणिकवाद) की स्थापना करते हुए '**प्रमाणसमुच्चय**' में बुद्ध की स्तुति की है। इसी '**प्रमाण-समुच्चय**' के समर्थन में धर्मकीर्ति ने '**पमाणवार्तिक**' और प्रज्ञाकर ने '**पमाणवार्त्तिकालंकार**' नाम की व्याख्याएँ लिखी हैं। आश्चर्य नहीं कि समन्तभद्र ने ऐसी ही स्थिति में प्रस्तुत '**देवागम**' की रचना की और उस पर अकलङ्कदेव ने धर्म कीर्ति की तरह '**देवागमभाष्य**' (अष्टशती) तथा विद्यानन्द ने प्रज्ञाकर की भाँति '**देवागमालङ्कार**' (प्रस्तुत अष्टसहस्री) रचा है। '**देवागम**' एक स्तव ही है, जिसे अकलङ्कदेव ने स्पष्ट शब्दों में '**भगवत्स्तव**' कहा है।[4] इस प्रकार '**देवागम**' कितनी महत्त्व की रचना है, यह सहज में अवगत हो जाता है।

यथार्थ में यह इतना अर्थगर्भ और प्रभावक ग्रन्थ है कि उत्तर काल में इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य-व्याख्या-टिप्पण आदि लिखे हैं। अकलङ्कदेव की '**अष्टशती**', विद्यानन्द की '**अष्टसहस्री**' और

---

१. 'अष्ट स., पृ. १, मङ्गल पद्य, आप्तपरीक्षा, पृ. २३३, २६२।

२. दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यति शायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥
सत्त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ —देवागम का., ४, ५, ६।

३. '......इति स्याद्वादसंस्थितिः ॥'—देवागम का. ११३।

४. '......स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—अष्ट श. मंग. प. २।

वसुनन्दि की '**देवागमवृत्ति**' इन तीन उपलब्ध टीकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्याएँ और लिखी गई हैं जो आज अनुपलब्ध हैं—और जिनके संकेत मिलते हैं।[१] देवागम की महिमा को प्रदर्शित करते हुए आचार्य वादिराज ने[२] उसे सर्वज्ञ का प्रदर्शक और हस्तिमल्ल ने[३] सम्यग्दर्शन का समुत्पादक बतलाया है। इसमें दस परिच्छेद हैं,[४] जो विषय-विभाजन की दृष्टि से स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अभिहित हैं। यह स्तोत्ररूप रचना होते हुए भी दार्शनिक कृति है। उस काल में दार्शनिक रचनाएँ प्रायः पद्यात्मक तथा इष्टदेव की गुणस्तुति रूप में रची जाती थीं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' और 'विग्रहव्यावर्तनी', वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशतिका व त्रिंशत्का), दिग्नाग का 'प्रमाणसमुच्चय' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की दार्शनिक हैं और पद्यात्मक शैली में रची गयी हैं। समन्तभद्र ने स्वयं अपनी (देवागम, स्वयम्भू स्तोत्र और युक्त्यनुशासन) तीनों दार्शनिक रचनाएँ कारिकात्मक और स्तुतिरूप में ही रची हैं।

प्रस्तुत देवागम में भावैकान्त-अभावैकान्त, द्वैतैकान्त-अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त–अनित्यैकान्त, अन्यतैकान्त–अनन्यतैकान्त, अपेक्षैकान्त–अनपेक्षैकान्त, हेत्वैकान्त–अहेत्वैकान्त, विज्ञानैकान्त–बहिरर्थैकान्त–दैवैकान्त–पौरुषेयैकान्त, पापैकान्त–पुण्यैकान्त, बन्धकारणैकान्त–मोक्षकारणैकान्त जैसे एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उन में सप्तभङ्गी (सप्त कोटियों) की योजना द्वारा स्याद्वाद (कथञ्चिद्वाद) की स्थापना की गयी है। स्याद्वाद की इतनी स्पष्ट और विस्तृत विवेचना इससे पूर्व जैन दर्शन के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध

---

१. विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ. २९४) के अन्त में अकलङ्कदेव के समाप्ति–मङ्गल से पूर्व '**केचित्**' शब्दों के साथ 'देवागम' के किसी व्याख्याकार की व्याख्या का '**जयति जगति**' आदि समाप्ति–मंगल पद्य दिया है। और उसके बाद ही अकलङ्कदेव की अष्टशती का समाप्ति-मंगल निबद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्क से पूर्व भी 'देवागम' पर किसी आचार्य की व्याख्या रही है, जो विद्यानन्द को प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसी पर से उन्हों ने उल्लिखित समाप्ति–मंगल पद्य दिया है। लघु समन्तभद्र (वि. सं. १३ वीं शती) ने आ. वादीमसिंह द्वारा 'आप्तमीमांसा' के उपलालन (व्याख्यान) किये जाने का उल्लेख अपने 'अष्टसहस्री–टिप्पण' (पृ. १) में किया है। उनके इस उल्लेख से किसी अन्य देवागम-व्याख्या के भी होने की सूचना मिलती है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। अकलङ्कदेव ने अष्टशती (का. ३३ की विवृति) में एक स्थान पर '**पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति**' वाक्य का प्रयोग किया है, जो देवागम के पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओं का स्पष्ट संकेत करता है। 'देवागम' के महत्त्व, गाम्भीर्य और विश्रुति को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालों में अनेक टीका–टिप्पणादि लिखे गये हों।

२. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥—पार्श्वचरित

३. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।—विक्रान्तकौरव

४. विद्यानन्द ने अकलङ्क देव के '**स्वोक्तपरिच्छेदे**' (अ. श. का. ११४) शब्दों का अर्थ "**स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति (शास्त्रं) तत्र**" (अ. स., पृ. २९४) यह किया है। उससे विदित है कि देवागम में दश परिच्छेद स्वयं समन्तभद्रोक्त हैं।

नहीं होती[1]। सम्भवतः इसीसे 'देवागम' स्याद्वाद की सहेतुक स्थापना करने वाला एक अपूर्व एवं प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है और उसके सृष्टा आचार्य समन्तभद्र को '**स्याद्वादमार्गाग्रणी**[2]' कहा जाता। व्याख्याकारों ने इस पर अपनी व्याख्याएँ लिखना गौरव समझा और अपने को भाग्यशाली माना है।

व्याख्याएँ

इस पर आचार्यों ने अनेक व्याख्यायें लिखी हैं जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं। पर आज उनमें तीन ही व्याख्याएँ उपलब्ध हैं और वे निम्नप्रकार हैं—

१ देवागमविवृति (अष्टशती), २ देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) और ३ देवागम-वृत्ति।

१. देवागम विवृति। इसके रचयिता आचार्य अकलङ्कदेव हैं। यह उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदों के अन्त में जो समाप्ति-पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका नाम 'आप्त मीमांसा-भाष्य' (देवागम-भाष्य) भी उपलब्ध होता है[3]। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के तृतीय परिच्छेद के आरम्भ में जो ग्रन्थ-प्रशंसा में पद्य दिया है उसमें उन्होंने इस का 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है[4]। सम्भवतः आठसौ श्लोक प्रमाण रचना होने से इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। इस प्रकार यह व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसाभाष्य और अष्टशती इन तीन नामों से जैन वाङ्मय में विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानों का उसमें प्रवेश संभव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को अवगत करने के लिये अष्टसहस्री का सहारा लेना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन साहित्य में इस की जोड़ की रचना मिलना दुर्लभ है। न्यायमनीषी उदयन की न्याय-कुसमाञ्जलि से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है। अष्टसहस्री के अध्ययन में जिस प्रकार कष्टसहस्री का अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशती के एक-एक स्थल को समझने में भी कष्टशती का अनुभव उसके अभ्यासी को होता है।

२. देवागमालङ्कार। यह दूसरी व्याख्या ही इस निबन्ध का विषय है। इस पर हम आगे प्रकाश डाल रहे हैं।

---

१. 'षट्खण्डागम' में 'सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता' (धवला, पु. १) जैसे स्थलों में स्याद्वाद का स्पष्टतया विधि और निषेध इन दो ही वचनप्रकारों से प्रतिपादन पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन दो में पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचनप्रकारों से वस्तु-निरूपण का निर्देश किया है। पर उसका विवरण एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया (पंचास्ति० गा० १४)।

२. विद्यानन्द, अष्टसहस्री, पृ. २९५।

३. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ॥१०॥'

४. अष्टशतीप्रथितार्था साष्टसहस्रीकृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥ —अष्ट स. पृ. १७८।

३. देवागम–वृत्ति। यह लघु परिणाम की व्याख्या है। इसके कर्ता आचार्य वसुनन्दि हैं। यह न अष्टशती की तरह दुरवगम्य है और न अष्टसहस्री के समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओं का व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्यों का अर्थ तथा कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओं के हार्द को समझने में यह वृत्ति देवागम के प्राथमिक अभ्यासियों के लिये अत्यन्त उपकारक एवं विशेष उपयोगी है। वृत्तिकार ने अपनी इस वृत्ति के अन्त में लिखा है[1] कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिये ही 'देवागम' कृति का यह संक्षेप में विवरण किया है।' उनके इस स्पष्ट आत्मनिवेदन से इस वृत्ति की लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा '**जयति जगति**' आदि श्लोक को विद्यानन्द के निर्देशानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्य की देवागम व्याख्या का समाप्ति-मंगलपद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका भी विवरण किया? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन काल में साधुओं में देवागम का पाठ करने तथा उसे कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। जैसा कि पात्रकेशरी (पात्रस्वामी) की कथा में निर्दिष्ट चारित्रभूषण मुनि को उसके कण्ठस्थ होने और अहिच्छेत्र के श्रीपार्श्वनाथ मन्दिर में रोज पाठ करने का उल्लेख है। वसुनन्दि ने देवागम की ऐसी प्रति पर से उसे कण्ठस्थ कर रखा होगा, जिस में ११४ कारिकाओं के साथ उक्त अज्ञात देवागम व्याख्या का समाप्ति मङ्गल पद्य भी किसी के द्वारा सम्मिलित कर दिया गया होगा और उस पर ११५ का संख्याङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दि ने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओं पर से जानकारी एवं खोजबीन किये बिना देवागमका अर्थ हृदयङ्गम रखने के लिये यह देवागम वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी ११५ कारिकाओं का विवरण लिखा होगा। और इस तरह ११५ कारिकाओं की वृत्ति प्रचलित हो गयी जान पड़ती है।

यह वृत्ति एक बार सन् १९१४, वी. नि. सं. २४४० में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी से सनातन जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ग्रन्थाङ्क ७ के रूप में तथा दूसरी बार निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। पर अब वह अलभ्य है। इसका पुनः अच्छे संस्करण के रूप में मुद्रण अपेक्षित है।

देवागमालङ्कार : अष्टसहस्री

अब हम अपने मूल विषय पर आते हैं। पीछे हम यह निर्देश कर आये हैं कि आचार्य विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री' देवागम की दूसरी उपलब्ध व्याख्या है। देवागम का अलङ्करण (व्याख्यान) होने से

---

१. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य......देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'—

देवागमवृत्ति, पृ. ५०, स० जैन ग्रन्थमाला, काशी।

यह देवागमालङ्कार या देवागमालङ्कृति तथा आप्त-मीमांसालङ्कार या आप्तमीमांसालङ्कृति नामों से भी उल्लिखित है[1] और ये दोनों नाम अन्वर्थ हैं। 'अष्टसहस्री' नाम भी आठ हजार श्लोक प्रमाण होने से सार्थक है। पर इसकी जिस नाम से विद्वानों में अधिक विश्रुति है और जानी-पहचानी जाती है वह नाम 'अष्टसहस्री' ही है। उपर्युक्त दोनों नामों की तरह 'अष्टसहस्री' नाम भी स्वयं विद्यानन्द प्रदत्त है[2]। मुद्रित प्रति के[3] अनुसार उसके दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें और दशवें परिच्छेदों के आरम्भ में तथा दशवें के अन्त में जो अपनी व्याख्या-प्रशंसा में एक-एक पद्य विद्यानन्द ने दिये हैं उन सब में 'अष्टसहस्री' नाम उपलब्ध है। नवमें परिच्छेद के आदि में जो प्रशंसा-पद्य है उसमें भी 'अष्टसहस्री' नाम अध्याहृत है,[4] क्योंकि वहाँ '**सम्पादयति**' क्रिया तो है, पर उसका कर्ता कण्ठतः उक्त नहीं है, जो 'अष्टसहस्री' के सिवाय अन्य सम्भव नहीं है।

रचनाशैली और विषय-विवेचन

इसकी रचना-शैली बड़ी गम्भीर और प्रसन्न है। भाषा परिमार्जित और संयत है। व्याख्येय के अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये जितनी पदावली की आवश्यकता है उतनी ही पदावली को प्रयुक्त किया है। वाचक जब इसे पढता है तो एक अविच्छिन्न और अविरल गति से प्रवाहपूर्ण धारा उसे उपलब्ध होती है, जिसमें वह अवगाहन कर आनन्द-विभोर हो उठता है। समन्तभद्र और अकलंक के एक-एक पद का मर्म तो स्पष्ट होता ही जाता है उसे कितना ही नव्य, भव्य और सम्बद्ध चिन्तन भी मिलता है। विद्यानन्द ने इसमें देवागम की कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तार पूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ में अकलंकदेव की उपर्युक्त 'अष्टशती' के प्रत्येक स्थल और पदवाक्यादि का भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनों को भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपों (शीषाक्षरों) में न रखा जाये और अष्टशती का टाइप बडा न किया जाये तो पाठक को यह भेद करना दुस्साध्य है कि यह 'अष्टशती' का अंश है और यह 'अष्टसहस्री' का। विद्यानन्द ने 'अष्टशती' के आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं प्रकृतोपयोगी सान्दर्भिक वाक्य रचना करके 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में मणि-प्रवल-न्याय से अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह 'अष्टसहस्री' न लिखते 'तो अष्टशती' का गूढ़ रहस्य उसी में ही छिपा रहता और मेधावियों के लिये वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। इसकी रचना

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ. २३३, २६२; अष्टस. पृ. १, मङ्गलपद्य तथा परिच्छेदान्त में पाये जाने वाले समाप्ती-पुष्पिका वाक्य।

२. 'जीयादष्टसहस्री....' (अष्ट स., पृ. २१३), 'साष्टसहस्री सदा जयतु।' (अष्ट स. २३१)

३. १४५४ वि. सं. की लिखी पाटन-प्रति में ये प्रशंसा पद्य परिच्छेदों के अन्त में हैं।

४. सम्यगवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्।
दैवोपेतमभीष्टं सर्वं सम्पादयत्याशु— अष्ट. स., पृ. २५९।

शैली को विद्यानन्द ने स्वयं '**जीयादष्टसहस्री........प्रसन्न-गंभीर-पदपदवी**' (अष्ट स., पृ. २१३) शब्दों द्वारा प्रसन्न और गंभीर पदावली युक्त बतलाया है।

इसमें व्याख्येय देवागम और 'अष्टशती' प्रतिपाद्य विषयों का विषदतया विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विद्यानन्द के काल तक विकसित दार्शनिक प्रमेयों और अपूर्व चर्चाओं को भी इसमें समाहित किया है। उदाहरणार्थ नियोग, भावना और विधिवाक्यार्थ की चर्चा,[1] जिसे प्रभाकर और कुमारिल मीमांसक विद्वानों तथा मण्डनमिश्र आदि वेदान्त दार्शनिकों ने जन्म दिया है और जिसकी बौद्ध मनीषी प्रज्ञाकर ने सामान्य आलोचना की है, जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम विद्यानन्द ने ही इसमें प्रस्तुत की एवं विस्तृत विशेष समीक्षा की है।—इसी तरह विरोध,[2] वैयधिकरण्य आदि आठ दोषों की अनेकान्त वाद में उद्भावना और उसका समाधान दोनों हमें सर्वप्रथम इस अष्टसहस्री में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार 'अष्ट सहस्री' में विद्यानन्द ने कितना ही नया चिन्तन और विषय विवेचन समाविष्ट किया है।

महत्त्व एवं गरिमा

इसका सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करने पर अध्येता को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अतीव महत्त्वपूर्व और गरिमामय है। विद्यानन्द ने इस व्याख्या के महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यायैः।
विज्ञायते यथैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः॥[3]

'हजार शास्त्रों का पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एक मात्र इस कृति का अध्ययन एक ओर है, क्यों कि इस एक के अभ्यास से ही स्वसमय और परसमय दोनों का विज्ञान हो जाता है।'

व्याख्याकार की यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। 'अष्टसहस्री' स्वयं इसकी निर्णायिका है। और '**हाथ कंगन को आरसी क्या**' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। हमने इस का गुरुमुख से अध्ययन करने के उपरान्त अनेकबार इसे पढ़ा और पढ़ाया है। इसमें वस्तुतः वही पाया जो विद्यानन्द ने उक्त पद्य में व्यक्त किया है।

---

१ भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ॥
कार्येऽर्थेचोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा।
द्वयोच्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ॥ (अष्ट स., पृ. ५-३५.)

२ 'इति किं नश्चिन्तया, विरोधादि दूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात्।...ततो न वैयधिकरण्यम्। एतेनोभय-दोष प्रसङ्गोऽप्यपास्तः,...एतेन संशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, ... तत एव न संकरप्रसङ्गः, एतेन व्यतिकर-प्रसङ्गो व्युदस्तः...तत एव नानवस्था...।'—अष्टस., पृ. २०४-२०७।

३ अष्टस., पृ. १५७।

दो स्थलों पर इस का जयकार करते हुए विद्यानन्द ने जो पद्य दिये हैं उनसे भी 'अष्टसहस्री' की गरिमा स्पष्ट प्रकट होती है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

(क) **जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम्।**
गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्न-गम्भीर पदपदवी ॥[1]

(ख) **स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसामसमम्।**
दर्शित-समन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥[2]

प्रथम पद्य में कहा गया है कि प्रसन्न और गम्भीर पदों की पदवी (उच्च स्थान अथवा शैली) को प्राप्त यह 'अष्टसहस्री' जयवन्त रहे—चिरकाल तक मनीषी गण इसका अध्ययन-मनन करें, जिसकी विशेषता यह है कि वह देवागम में सम्यक् रीत्या प्रतिपादित और अकलङ्क समर्थित अर्थ को सन्नयों (सप्तभङ्गों) से अवगत कराती है।

दूसरे पद्य में प्रतिपादित है कि जो पटु बुद्धियों—प्रतिभाशालियों के लिये अकलङ्कदेव के विषम—दुरूह पदों का, जिनमें स्वामी समन्तभद्र का हार्द (अभिप्राय) प्रदर्शित है, अर्थोद्घाटन स्पष्टतया करती है वह अष्टसहस्री सदा विजयी रहे।

परिच्छेदों के अन्त में पाये जाने वाले पद्यों में विद्यानन्द ने उस परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का जो निचोड़ दिया है उससे भी व्याख्या की गरिमा का आभास मिल जाता है। एकान्त वादों की समीक्षा और पूर्वपक्षियों की आशंकाओं का समाधान इसमें जिस शालीनता एवं गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। प्रायः उत्तरदाता आशंकाओं का उत्तर देते समय सन्तुलन खो देता है और पूर्वपक्षी को 'पशु', 'जड', 'अश्लील' जैसे मानसिक चोट पहुँचाने वाले अप्रिय शब्दों का प्रयोग भी कर जाता है। जैसा कि दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर 'अष्टसहस्री' में आरम्भ से अन्त तक शालीनता दृष्टिगोचर होती है और कहीं भी असन्तुलन नहीं मिलता। और न उक्त प्रकार के कठोर शब्द। एक स्थल पर सर्व पदार्थों को 'मायोपम', 'स्वप्नोपम' मानने वाले सौगत को अकलङ्कदेव की तरह मात्र 'प्रमादी' और 'प्रज्ञापराधी' कहा है।[3] इन दोनों शब्दों के प्रयोग में कितनी सौम्यता, सन्तुलन और सद्भावना निहित है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। इन सब बातों से 'अष्टसहस्री' की गरिमा निश्चय ही विदित हो जाती है।

इस पर लघु समन्तभद्र (१३ वीं शती) का एक 'अष्टसहस्री'–विषम–पद–तात्पर्य टीका नामक टिप्पण और दूसरी श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वीं शती) की 'अष्टसहस्री-तात्पर्य विवरण' संज्ञक

---

१ वही, पृ. २१३।
२ वही, पृ. २३१।
३ अष्टस., पृ. ११६।

व्याख्या उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इसका प्रकाशन सन् १९१५ वी. नि. सं. २४४१ में आकलूज निवासी सेठ श्री नाथारंगजी गांधी द्वारा एक बार हुआ था। अब वह संस्करण अप्राप्य है। दूसरा नया संस्करण आधुनिक सम्पादनादि के साथ प्रकाशनार्ह है।

इसके रचयिता

हम आरम्भ में ही निर्देश कर आये हैं कि इस महनीय कृति की रचना जिस महान् आचार्य ने की वे तार्किक शिरोमणि विद्यानन्द हैं। ये भारतीय दर्शन विशेषतः जैन दर्शनाकाश के दैदीप्यमान सूर्य हैं, जिन्हें सभी भारतीय दर्शनों का तलस्पर्शी अनुगम था, यह उनके उपलब्ध ग्रन्थों से स्पष्ट अवगत होता है। इनका अस्तित्व समय हमने ई. ७७५ से ८४० ई. निर्धारित किया है।[1] इनके और इनकी कृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार अन्यत्र किया गया है।[2]

---

१. आप्त प., प्रस्ता., पृ. ५३, वीर सेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली–६।

२. वही, प्रस्ता०, पृ. ९–५४।

ॐ

परमात्म-प्रकाश और उसके रचयिता

श्रीमान् पं. प्रकाशजी हितैषी शास्त्री, देहली

संपादक, **सन्मति-संदेश**

श्रमण संस्कृति के दर्शन और साहित्य में जो एकात्म भाव लक्षित होता है, उसका मूल कारण इसकी अध्यात्म-विद्या है। यह विद्या सनातन एवं धर्म की अंतःप्राण है। इसमें आत्मिक अलौकिक वृत्तियों का प्रतिष्ठान है। निर्विकल्पात्मक सहज-सहज आत्मानंद की उपलब्धि इसका लक्ष है। जगत् का प्राणि यद्यपि सुखशांति के लिये लालायित है किन्तु भ्रान्तिवश उससे दूर भागता रहा है। उस सहजानंद को प्राप्त स्वानुभवी संतों ने विश्वकल्याण के लिये उस मार्ग का प्रदर्शन किया है जो सदा उनका उपास्य रहा है। यही इसका वर्ण्य विषय है।

इस अध्यात्मिक सन्त परम्परा में योगीन्दु देव का महत्व पूर्ण स्थान है। उनके रचे हुए अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों में से 'परमात्म-प्रकाश' ग्रन्थ प्रमुख है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित है, इस ग्रन्थ में निरंजनदेव, आत्मा, परमात्मा, आत्मज्ञान, जीव की मोहदशा, इन्द्रियसुख और आत्मसुख, मोक्ष-तत्त्व और उससे विमुख जीवन की निरर्थकता, सिद्धि के भावशुद्धि, स्वभाव की उपासना, संसार की क्षण-भंगुरता आदि अनेक आध्यात्मिक विषयों पर सरल और सरस भाषा में बडे ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

निरंजन देव का निरूपण करते हुए आपने लिखा है, यह निरंजन देव ही परमात्मा है। इसको प्राप्त करने के लिये बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। बाहर से वृत्ति हटाकर अन्तर में प्रवेश करने से ही अपने में परमात्मा प्राप्त हो सकता है। मानस सरोवर में हंस के समान निर्मल भाव में ही ब्रह्म का वास होता है। उसे देवालय, शिल्प अथवा चित्र में खोजना व्यर्थ है—

देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पई णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिय समचित्ति ॥ १२३॥

आत्म देव देवालय (मंदिर) में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, लेप तथा मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अक्षय अविनाशी है, कर्म मल से रहित है, ज्ञान से पूर्ण है, ऐसा परमात्मा समभाव में ठहरा है।

आगे निरंजन का स्वरूप बतलाते हुए स्पष्ट किया है—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दुण फासु ।
जासणु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥ १९ ॥

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासुं ण ठाणू ण झाणु जियसो जि णिरंजणु जाणु ॥ २० ॥

जिसके न वर्ण, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श है । जिसके जन्म, मरण, क्रोध, मद, मोह, मान और माया नहीं है । जिसके कोई गुणस्थान, ध्यान भी नहीं है उसे निरंजन कहते हैं ।

परमात्मा की परिभाषा करते हुए कहा है—

जसु अब्भंतरि जगु वसह जगव्यंतरि जो जि ।
जगि जि वसंतु वि जगु जिण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥

जिसकी आत्मा में जगत् बस रहा है (प्रतिबिंबीत) हो रहा है । वह जगत् में निवास करता हुआ भी जगत् रूप नहीं होता उसीको परमात्मा जानो ।

जीवन के चरम सत्य की तर्क संगत अनुभूति एवं अन्तश्चेतना की जागृति आत्मा को ऐसी अवस्था में केन्द्रित कर देती है जो ईश्वर को साक्षात्कार का संकेत देती है । परमात्मा की ओर अग्रसर करनेवाली प्रबुद्ध चेतना स्वयं में ही अद्वैत भाव से परमात्मा का दर्शन करने लग जाती है । इसको ग्रन्थकार ने कहा है—

मणु मिलिपउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।
वीहि वि समरसि हू वाहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥ १२५ ॥

जिसका मन भगवान् आत्मा से मिल गया तन्मयो हो गया और परमेश्वर भी मनसे मिल गया, इन दोनों के समरस होने पर मैं अब किसकी पूजा करूँ ?

आध्यात्मिकता का उद्देश उस परम सत्य का साक्षात्कार करना है जो रिद्धि, सिद्धि और धन सम्पदा से परे है । वह तो इन जड चेतन का ज्ञाता दृष्टा मात्र है । उनका परिणमन जब जैसा होता है उसे वह जानता भर है, उसमें हर्ष विषाद नहीं करता । यही उसका समता भाव है ।

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ जीवहं कम्मु जणेह ।
अप्पा देखह मुणई पर णिच्छउ एवं भणेई ॥६४॥

जीवों के अनेक तरह के सुख दुख दोनों ही कर्म ही उपजाता है आत्मा उपयोगमयी होने से केवल देखता जानता है, इस प्रकार निश्चयनय कहता है । यहां सुख दुख सामग्री का सम्बन्ध कर्म से है ।

अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को उद्बोधित करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इसलिए सबसे प्रथम शिष्य प्रश्न करता है—

चउ गई दुक्ख हँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ ।
चउ-गई दुक्ख विणासयरु कहहु पत्थाएं सो वि ॥१०॥

चार गतियों के दुखों से तप्तायमान (दुखी) जीवों के दुखसे छुडानेवाला कोई चिदानंद परमात्मा है वह कौन है, हे गुरुवर उसे बतलाइये।

इसका उत्तर देते हुए योगीन्दु मुनि ने कहा है—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ वंभु परु देह हँ मं करि भेउ ॥२६॥

जैसा कर्मरहित, केवल ज्ञानादि से युक्त प्रकट कार्यसमयसार सिद्ध परमात्मा परम आराध्य देव मुक्ति में रहता है वैसा ही सब लक्षणों से युक्त शक्ति रूप कारण परमात्मा इस देह में रहता है। इसलिए हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान् और अपने में भेद मत कर!

आचार्य श्री ने यहां स्पष्ट किया कि संसार दुख से छुडाने वाला तेरा जीव नामा पदार्थ इस देह में रहता है, वही परमात्मा उपादेय है। दूसरा कोई परमात्मा तुझे दुख से नहीं छुडा सकता है।

इससे आगे उपालम्भ देते हुए योगीन्दु देव कहते हैं—

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व किया इँ ।
सो परु जाणहि जो इया देहि वसंतु ण काइँ ॥२७॥

जिस परमात्मा के देखते पूर्वोपार्जित कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं उस सदानंद रूप देह में रहने वाले निज परमात्मा को तू क्यों नहीं जानता है?

इस जीव को संसार के दुख से अन्य कोई परमात्मा नहीं छुड सकता है। अपना कारण-परमात्मा ही अपनी शक्ति के बल पर कार्य परमात्मा (सिद्ध) बन सकेगा। यहां कर्ता वाद का निषेध करने के लिए ग्रन्थकार ने कहा है कि न तो कोई परमात्मा और न कर्म आदि तेरे बनाने बिगाडने वाले हैं संसार का अन्य कोई भी पदार्थ तेरे लिए साधक बाधक नहीं है। उन्होंने आत्म पुरुषार्थ की प्रसिद्धि करने के लिए उपादान (निजशक्ति) को जागृत करने का संदेश प्रवाहित किया है। निज परमात्मा ही प्रत्येक प्राणि के लिए साध्य है और वही साधक है। साधक ही उसी की साधना से शक्तिरूप कारण-परमात्मा से व्यक्तिरूप कार्य परमात्मा बन जाता है।

निज परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए सबसे पूर्व प्रत्येक प्राणि को भेद विज्ञान करना आवश्यक है। क्योंकि स्वपर भेद विज्ञान के बिना उस निज परमात्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है। अतः योगीन्दु देव कहते हैं—

जीवाजीव म एक्कु करि लक्ख भेएँ मेउ।
जो परु सो परु भणमि मुनि अप्पा अप्पु अमेउ ॥३०॥

हे भाई ! तू जीव और अजीव को एकमत कर। इन दोनों को लक्षण स्वभाव भेद से जो देह कार्य और रागादि विकार हैं उन्हें पर मान और आत्मा को अभेद मान। क्योंकि कभी कोई भी द्रव्य परद्रव्य रूप परिणत नहीं हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव ऐसा ही है। जीव अपनी अज्ञानता के कारण दो द्रव्यों का संक्रमण भी मानता है, किन्तु उसके मान लेने से द्रव्य अपना स्वभाव कभी तीन काल में भी नहीं छोड सकता है। द्रव्य के गुण और उसकी पर्याय न बाहरसे आती है और न निकलकर बाहर जाती है। दो द्रव्यों में परस्पर में न व्याप्य व्यापक और न वास्तविक कारण कार्य संबंध है। मात्र व्यवहार से निर्मित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ ग्रन्थकार ने द्रव्य की अपनी सीमा और स्वतंत्रता की घोषणा की है। जिसके समझने पर ही आत्मकल्याण प्रारंभ होता है।

परमात्म-प्रकाश में दो अधिकार हैं, उनमें से प्रथम अधिकार में त्रिविधात्मा की प्ररूपणा है। द्वितीय अधिकार में मोक्ष स्वरूप का वर्णन है। इसके रचयिता योगीन्दु देव श्रुतधरों की उस शृंखला की कडी है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, समन्तभद्र जैसे प्रभावशाली चिन्तक मनीषीयों की गणना की जाती है, जिन आचार्यों की अमर लेखनी का स्पर्श पाकर श्रुत सूर्य के प्रकाश का संवर्धन हुआ है।

अपने अन्तः प्रकाश से सहस्रो मानवों के तमःपूर्ण जीवन में ज्योति की शिखा प्रज्वलित करने-वाले अनेक साधकों और सन्तों का जीवन वृत्त आज भी अन्धकार में है। ये साधक सन्त अपने भौतिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहना या लिखना अनावश्यक समझते थे। क्योंकि अध्यात्म जीवी को भौतिक-जीवन से कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता है। यही कारण है कि आज हम उन मनीषीयों के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक और विस्तृततः तथ्य जानने से वंचित रह जाते हैं। अतः उनके जीवन वृत्त को जानने के लिये कुछ यत्र तत्र के प्रमाणों का आश्रय लेकर कल्पना की उडाने भरते हैं या अत्यल्प ज्ञातव्य ही प्राप्त कर पाते हैं।

रचयिता का नामकरण

श्री योगीन्दु देव भी एक ऐसे साधक और कवि हो गये हैं जिनके विषय में प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। यहां तक कि उनके नाम, काल निर्णय और ग्रन्थों के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। परमात्म-प्रकाश में उनका नाम 'जोइन्दु' आया है ब्रह्म द्रेव 'परमात्म-प्रकाश' की टीका में आपको सर्वत्र 'योगीन्द्र' लिखते हैं। श्रुत सागर ने श्री 'योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण' कहा है। परमात्म-प्रकाश' की कुछ प्रतियों में 'योगेन्द्र' शब्द आया है। योगसार के अन्तिम दोहे में जोगिचन्द्र नाम आया है। आमेर शास्त्र भण्डार की एवं टोलियों के मंदिर की दो हस्तलिखित प्रतियों में 'इति योगेन्द्र देव कृतप्राकृत दोहा के आत्मोपदेश सम्पूर्ण' लिखा है।

कवि ने अपने को 'जोइन्दु' या 'जोगचन्द (जोगिचन्द) ही कहा है। यह परमात्म-प्रकाश और योगसार में प्रयुक्त नामों से स्पष्ट है। 'इन्दु' और 'चन्द्र' पर्यायवाची शब्द हैं। व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायवाची प्रयोग भारतीय काव्य में पाये जाते हैं। डॉ. ए. एन्. उपाध्ये ने भागेन्दु (भागचन्द) शुभेन्दु (शुभचन्द) आदि उद्धरण देकर इस लक्ष्य की पुष्टि की है। श्री ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में 'जोइन्दु' का संस्कृत रूपान्तर 'योगीन्द्र' कर दिया है। इसी आधार पर परवर्ती टीकाकारों और लिपिकारों ने 'योगीन्द्र' शब्द को मान्यता दी किन्तु यह प्रयोग अशुद्ध है। कवि का वास्तविक नाम 'जोइन्दु' 'योगीन्दु' ही है।

ग्रन्थ का निर्माणकाल

नामकरण के समान उनके कालनिर्णय पर भी मतभेद है। विद्वानों ने उनको ईसा की छटी शताब्दि से लेकर बारवीं शताब्दि तक अनुमानित किया है हिंन्दि साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आ. हजारीलाल जी द्विवेदी आपको आठवी नवीं शताब्दि का मानते हैं। श्री. मधुसूदन मोदी दसवीं शती तथा उदयसिंह भटनागर ने खोज कर लिखा है 'प्रसिद्ध जैन साधु जोइन्दु, जो महान् विद्वान, वैयाकरण और कवि था, संभवतः चितौड का ही निवासी था इसका समय दशमी शती था। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास भाग १ में आपको ग्यारहवीं शती से पूर्व का माना है। डॉ. कामताप्रसाद जैन आपको बारहवीं शताब्दि का पुरानी हिन्दी का कवि मानते हैं। श्री. ए. एन्. उपाध्याय ने उक्त तर्कों का खंडन करते हुए योगीन्दु को छटी शताब्दि का प्रमाणित किया है। इन मतभेदों के कारण अभी तक सुनिश्चित समय का निर्णय नहीं हो पाया है।

हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का मत यह है की इस शताब्दि के योगियों की भाषा और भाव से जोइन्दु की भाषा और भाव मिलते जुलते हैं। इस शताब्दि में ही बाह्याचार का विरोध, आत्मशुद्धि पर बल शरीरादि से ममत्व के त्याग, तथा स्वसंवेदन के आनंद के उपभोग की प्रतिष्ठा रही है। किन्तु वे विद्वान जैन साहित्य के इतिहास को उठाकर देखें तो जैनधर्म ने हमेशा आत्म प्रतिष्ठा पर बल दिया है। और प्रत्येक शताब्दि में ऐसे अनेक जैन संत होते रहे हैं, जिन्होंने अध्यात्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार किया है।

राहुलजी ने आपको आठमी शती का माना है। वे योगीन्दु की मृत्यु तिथि भी सन ७८० मानते हैं। आठवी शताब्दि के प्रारंभ में एक तरह से सभी धर्मों में आध्यात्मिक क्रान्ति हुई थी, जिसमें आत्मा और परमात्मा के विषय में विशेष अन्वेषण एवं विचार विनिमय हुआ है। राहुलजी के उक्त कथन से यही ध्वनि निकलती है कि योगीन्दु मुनि आठवीं शती से पूर्व के नहीं है।

भाषा की दृष्टि से भी विचार करनेपर परमात्मा प्रकाश का रचनाकाल आठवीं शती ही ठहरता है। इस ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है। अपभ्रंश भाषा एक परिष्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में कब आई ? इसपर भी विद्वानों में मतभेद है। वैसे अपभ्रंश शब्द काफी प्राचीन है किन्तु भाषा के रूप में इसका प्रयोग छटी शताब्दि से पूर्व नहीं मिलता। (हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. ६-डॉ. नामवरसिंह।)

संस्कृत भाषा क्लिष्ट थी, अतः उसके पश्चात् प्राकृत, पाली, अपभ्रंश क्रमशः अति अश्लिष्ट होती गई। उसमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आती गई। धातुरूप, कारकरूप आदि कम होते गये। अपभ्रंश तक आते आते भाषा का अश्लिष्ट रूप अधिक स्पष्ट हो गया। यह भाषा हिन्दी के अति निकट है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तो अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी ही माना है और अपभ्रंश साहित्य के अनेक उद्धरणों का विश्लेषण करके वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे है की यह उद्धरण अपभ्रंश कहे जाय किन्तु यह उस समय की पुरानी हिन्दी ही है। वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परंपरागत संबंध वाक्य और अर्थ से स्थान स्थान पर स्पष्ट होगा। ? (पुरानी हिन्दी, पृ. १३०)

भाषा के विकास में सक्रान्ति युग आये हैं, जब कि एक भाषा अपने स्थान से च्युत होने लगती है और दुसरी भाषा उसका स्थान ग्रहण करने के लिये सक्रिय हो उठती है। ऐसे सक्रान्ति युग, संस्कृत, पालि, पालि–प्राकृत, प्राकृत–अपभ्रंश और अपभ्रंश–हिन्दी के समय में आये है। छटी शताब्दि को प्राकृत–अपभ्रंश का संक्रान्ति युग माना जाता है जब कि प्राकृत के स्थानपर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी और कवि गण अपभ्रंश की ओर झुक रहे थे। किन्तु अभी तक अपभ्रंश का स्वरूप निर्णीत नहीं हो सका था। उसके अनेक प्रयोग हिन्दी जैसे थे। योगीन्दु मुनि के परमात्म प्रकाश और योगसार की जो भाषा है उसे हम छटी शताब्दि की नहीं मान सकते क्यों कि उस भाषा में हिन्दी जैसा अत्यधिक सरलीकरण आ गया था। देखिये योगसार के दोहे हिन्दी के कितने निकट हैं—

देहा दिउ जे परि कहिया ते अप्पणु ण होहिं।
इउ जाणे विण जीव तुह अप्पा अप्प मुणें हि ॥ ११ ॥

चउ राशि लक्खहिं फिरउं कालु अणाई अणंतु।
पर सम्मत्तु ण लद्ध जिय एहउ जाणि णि मंतु ॥ २१ ॥

" हेमचन्द्र ने अपने सिद्ध हेम शब्दानुशासन में आठवे अध्याय में प्राकृत व्याकरण पर विचार किया है। उन्होंने व्याकरण की विभिन्न विशेषताओं के कारण प्रमाण रूप में अपभ्रंश रचनाओं को उद्धृत किया है। ये उद्धरण पूर्ववर्ती एवं समकालीन ग्रंथकारों की रचनाओं से लिये गये हैं। हेमचन्द का समय सं. ११४५ से १२२९ माना जाता है। अधिकांश उद्धरण आठवी नवीं और दशमी शताब्दि के हैं। परमात्मप्रकाश के भी तीन दोहे थोडे अंतर के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में पाये जाते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने आठवीं शताब्दि से १२ वीं शताब्दि तक की अपभ्रंश पर विचार किया है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि योगीन्दु मुनि आठवीं शताब्दि के अंत अथवा नवमी के प्रारंभ में हुए होंगे। डॉ. हरिवंश कोछड ने भी योगीन्दु का समय आठवीं नवमीं शताब्दि माना है। उन्होंने डॉ. उपाध्ये के मत का खंडन करते हुए लिखा है कि चण्ड के प्राकृत लक्षण में परमात्मप्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया हुआ मिलता है, जिसके आधार पर डॉ. उपाध्ये योगीन्दु का समय चण्ड से पूर्व छठी शताब्दि मानते हैं किन्तु संभव है कि वह दोहा दोनों ने किसी दुसरे स्रोत से लिया हो। इसलिये इस युक्ति से हम

किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच सकते । भाषा के विचार से योगीन्दु का समय आठवीं शताब्दि के निकट प्रतीत होता है। " (अपभ्रंश साहित्य, पृ. २६८)

ग्रन्थकर्ता की अन्य रचनाएं

योगीन्दु के नाम की तरह उनकी रचनाओं में भी मतभेद है। ग्रन्थ परम्परा से निम्न लिखित ग्रन्थ उनके रचित कहे जाते हैं—१. परमात्मप्रकाश, २. योगसार, ३. अध्यात्म संदोह, ४. नौकार श्रावकाचार, ५. सुभाषित तंत्र और ६. तत्वार्थटीका। इनके सिवा योगीन्दु के नाम पर तीन ग्रन्थ और भी प्रकाश में आ चुके हैं, उनके नाम है दौहा १. पाहुड, २. अमृताश्शीति, ३. निजात्माष्टक। इनमें से ३-५-६ के विषय में परिचय उपलब्ध नहीं है।

अमृताश्शीति प्रेरणात्मक उपदेश प्रधान रचना है। अंतिम पद में योगीन्द्र शब्द आया है। यह रचना योगीन्दु मुनि की ही है, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

निजात्माष्टक प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। इसके भी रचयिता का भी सुनिश्चित निर्णय नहीं किया जा सका है।

नौकार, श्रावकाचार और सावय धम्म दोहा में श्रावकों के सदाचार का सुन्दर वर्णन है। इनके रचयिताओं में तीन व्यक्तियों के नाम लिए जाते है—योगीन्दु, लक्ष्मीधर और देवसेन। हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में योगीन्दु को सावय धम्म दोहा का रचयिता प्रदर्शित किया है। इन की कतिपय हस्त लिखित प्रतियों में 'जोगेन्दुकृत' लिखा है। सावय धम्म दोहा की तीन हस्तलिखित प्रतियां ऐसी भी हैं जिसमें कवि का नाम 'लक्ष्मीचन्द्र' लिखा है। इसका संपादन डॉ. हिरालाल जैन ने किया है और उन्होंने उसकी भूमिका में देवसेन को ग्रन्थकर्ता अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है। देवसेन दशमीं शताब्दि के कवि थे उन्होंने दर्शनसार और भावसंग्रह आदि ग्रन्थों को भी रचना की थी।

'दोहा पाहुड' के लिए दो रचयिताओं का नाम आता है। मुनि रामसिंह और योगीन्दु। डॉ. हिरालालजी ने ही इसका संपादन किया है। और मुनि रामसिंह को इसका कवि माना है।

अब परमात्मप्रकाश और योगसार ही ऐसे ग्रन्थ रह जाते हैं। जिनके वास्तविक रचयिता योगीन्दु मुनि को माना जा सकता है। परमात्मप्रकाश के दो अधिकारों में ३३७ दोहे हैं। इसमें सर्वत्र अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट के ज्ञान संपादनार्थ एवं उसके आत्मलाभार्थ संबोधन किया गया है। रचना के प्रारंभ में प्रभाकर भट्ट ने संसार दुख से छूटने के उपाय की जिज्ञासा प्रकट की थी, उसी के फलस्वरूप इस परमात्म-प्रकाश की रचना की गई है।

दिगम्बर जैन पुराण साहित्य

पं. पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर

भारतीय धर्मग्रंथों में पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास के साथ आता है। कितने ही लोगों ने इतिहास और पुराण को पञ्चम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिहास की गणना अथर्ववेद में की है और इतिहास में इतिवृत, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं। इतिवृत का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी विशेषता रखते हैं। कोषकारों ने पुराण का लक्षण निम्न प्रकार माना है—

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश परम्पराओं का वर्णन हो वह पुराण है। सर्ग प्रतिसर्ग आदि पुराण के पांच लक्षण हैं। इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है; परन्तु पुराण महापुरुषों की घटित घटनाओं उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल, पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है, तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का भी प्रदर्शन करता है। इतिवृत्त में केवल वर्तमान कालिक घटनाओं का उल्लेख रहता है, परंतु पुराण में नायक के अतीत अनागत भावों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सकें कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है? अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या क्या त्याग और तपस्याएं करनी पडती है? मनुष्य के जीवन-निर्माण में पुराण का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैनेतर समाज का पुराणसाहित्य बहुत विस्तृत है। वहां १८ पुराण माने गये हैं जिनके नाम निम्न प्रकार है—

१ मत्स्य पुराण, २ मार्कण्डेय पुराण, ३ भागवत पुराण, ४ भविष्य पुराण, ५ ब्रह्माण्ड पुराण, ६ ब्रह्मवैवर्त पुराण, ७ ब्राह्म पुराण, ८ वामन पुराण, ९ वराह पुराण, १० विष्णु पुराण, ११ वायु व शिव पुराण, १२ अग्नि पुराण, १३ नारद पुराण, १४ पद्म पुराण, १५ लिङ्ग पुराण, १६ गरूड पुराण, १७ कूर्म पुराण और १८ स्कन्द पुराण।

ये अठारह महापुराण कहलाते हैं। इनके सिवाय गरुडपुराण में १८ उपपुराणों का भी उल्लेख आया है जो कि निम्न प्रकार है—१ सनत्कुमार, २ नारसिंह, ३ स्कान्द, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ ओशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर, १६ परीशर, १७ मारीच और १८ भार्गव।

देवी भागवत में उपर्युक्त स्कन्द, वामन ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान में क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वासिष्ठ इन नामों का उल्लेख आया है।

इन महापुराणों और उपपुराणों के सिवाय अन्य भी गणेश, मौद्‌गल, देवी, कल्की, आदि अनेक पुराण उपलब्ध हैं। इन सब के वर्णनीय विषयों का बहुत ही विस्तार है। कितने ही इतिहासज्ञ लोगों का अभिमत है कि-इन आधुनिक पुराणों की रचना प्रायः इसवीय सन् ३०० से ८०० के बीच में हुई है।

जैसा कि जैनेतर साहित्य में पुराणों और उपपुराणों का विभाग मिलता है वैसा जैन साहित्य में नहीं पाया जाता है। फिर भी संख्या की दृष्टि से यदि विचार किया जावे तो चौबीस तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्रों की अपेक्षा जैन साहित्य में भी पुराणों की संख्या बहुत है। परन्तु जैन साहित्य में इन सब के पुराणों का संमिलित रीति से ही संकलन मिलता है। जैन समाज में जो भी पुराण साहित्य उपलब्ध है वह अपने ढंग का निराला है। जहां अन्य पुराणकार इतिवृत्त की यथार्थता सुरक्षित नहीं रख सके हैं वहा जैन-पुराणकारों ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है। इसीलिये आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि हमें प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिये जैन पुराणों से-उनके कथा-ग्रन्थों से जो सहाय्य प्राप्त होता है वह अन्य पुराणों से नहीं।

यहा मैं कुछ दिगम्बर जैन पुराणों की सूची दे रहा हूं जिससे जैन समाज समझ सके कि अभी हमने कितने चमकते हुए हीरे तिजोडियों में बन्द कर रक्खे हैं—

यह सूची पं. परमानन्दजी शास्त्री से प्राप्त हुई है।

	पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत
१	पद्म पुराण—पद्म चरित	रविषेण	७०५
२	महा पुराण (आदि पुराण)	जिनसेन	नवीं शती
३	उत्तर पुराण	गुणभद्र	१० वी शती
४	अजित पुराण	अरुणमणि	१७१६
५	आदि पुराण (कन्नड)	कवि पंप	—
६	”	भ. चन्द्रकीर्ति	१७ वी शती
७	”	भ. सकलकीर्ति	१५ वी शती
८	उत्तर पुराण	”	”
९	कर्णामृत पुराण	केशवसेन	१६८८
१०	जयकुमार पुराण	ब्र. कामराज	१५५५
११	चन्द्रप्रभ पुराण	कवि अगास देव	—
१२	चामुण्ड पुराण (कन्नड)	चामुण्डराय	शक ९८०
१३	धर्मनाथ पुराण (क)	कवि बाहुबली	—

	पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत
१४	नेमिनाथ पुराण	ब्र. नेमिदत्त	१५७५
१५	पद्मनाथ पुराण	भ. शुभचन्द्र	१७ वी शती
१६	पउम चरिय (अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	—
१७	,,	स्वयंभू देव	—
१८	पद्म पुराण	भ. सोमसेन	—
१९	,,	भ. धर्मकीर्ति	१६५६
२०	,, (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५-१६ शती
२१	,,	भ. चन्द्रकीर्ति	१७ वी शती
२२	,,	ब्रह्म जिनदास	१५-१६ शती
२३	पाण्डव पुराण	भ. शुभचन्द्र	१६०८
२४	,, (अपभ्रंश)	भ. यशकीर्ति	१४९७
२५	,,	भ. श्रीभूषण	१६५७
२६	,,	वादिचन्द्र	१६५८
२७	पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९८९
२८	,,	कवि रइधू	१५-१६ शती
२९	,,	चन्द्रकीर्ति	१६५४
३०	,,	वादिचन्द्र	१६५८
३१	महा पुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२	,, (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	—
३३	मल्लिनाथ पुराण (क)	कवि नागचन्द्र	—
३४	पुराणसार	श्रीचन्द्र	—
३५	महावीर पुराण	कवि असग	९१०
३६	,,	भ. सकलकीर्ति	१५ वी शती
३७	मल्लिनाथ पुराण	,,	,,
३८	मुनिसुव्रत पुराण	ब्रह्म कृष्णदास	—
३९	,,	भ. सुरेन्द्र कीर्ति	—
४०	वागर्थसंग्रह पुराण	कवि परमेष्ठी	—
४१	शान्तिनाथ पुराण	कवि असग	१० वी शती
४२	,,	भ. श्रीभूषण	१६५९
४३	श्री पुराण	भ. गुणभद्र	—

	पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत
४४	हरिवंश पुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	शकसंवत ७०५ (वि. सं. ८४०)
४५	,, (अपभ्रंश)	स्वयंभू देव	—
४६	,, ,,	चतुर्मुख देव	—
४७	,,	ब्र. जिनदास	१५–१६ शती
४८	,, (अपभ्रंश)	भ. यशकीर्ति	१५०७
४९	,,	भ. श्रुतकीर्ति	१५५२
५०	,, (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५–१६ शती
५१	,,	भ. धर्मकीर्ति	१६७१
५२	,,	कवि रामचन्द्र	१५६० के पूर्व

इनके अतिरिक्त चरित ग्रन्थ हैं जिनकी संख्या पुराणों की संख्या से अधिक है और जिनमें 'वराङ्ग चरित', 'जिनद चरित', 'जसदर चरिऊ', 'णायकुमार चरिउ' आदि कितने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराणों की उक्त सूचि में रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का महापुराण, गुणभद्र का उत्तर पुराण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन का हरिवंश पुराण सर्वश्रेष्ठ पुराण कहे जाते हैं। इनमें पुराण का पूर्ण लक्षण घटित होता है। इनकी रचना पुराण और काव्य दोनों की शैली से की गई है, इनकी अपनी–अपनी विशेषताएँ हैं जो अध्ययन के समय पाठक का चित्त अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेती है।

जैन पुराणों का उद्गम :—

यति वृषभाचार्यने 'तिलोय पण्णत्ति' के चतुर्थ अधिकार में तीर्थंकरों के माता पिता के नाम, जन्म नगरी, पन्चकल्याणक तिथि अन्तराल, आदि कितनी ही आवश्यक वस्तुओं का संकलन किया है। जान पडता है कि हमारे वर्तमान पुराणकारों ने अधिकांश उस आधार को दृष्टिगत रखकर पुराणों की रचनाएं की हैं। पुराणों में अधिकतर त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र चित्रण है। प्रसंगवश अन्य पुरुषों का भी चरित्र चित्रण हुआ है।

इन पुराणों की खास विशेषता यह है कि इनमें यद्यपि काव्य शैली का आश्रय लिया गया है तथापि इतिवृत्त की प्रामाणिकता की ओर पर्याप्त दृष्टि रखी गई है। उदाहरण के लिए 'रामचरित' ले लिजिए। रामचरित पर प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ 'वाल्मीकि रामायण' है और दूसरा ग्रन्थ रविषेण का 'पद्मचरित' है। दोनों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर इसका तत्काल स्पष्ट अनुभव होता है कि वाल्मीकि ने कहां कृत्रिमता लाई है। श्री डॉक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य, एम्. ए., पीएच्. डी. ने 'पौराणिक जैन इतिहास' शीर्षक से एक लेख 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' में दिया है उसमें उन्होंने जगह जगह

घोषित किया है कि अमुक विषय में जैन मान्यता सत्य है। जैनाचार्यों ने स्त्री या पुरुष जिसका भी चरित्र चित्रण किया है वह उस व्यक्ति के अन्तस्थल को सामने रख देने वाला है।

इस संदर्भ में जिनसेन के महापुराण, गुणभद्र के उत्तरपुराण, रविषेण के पद्मपुराण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन के हरिवंश पुराण पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक जान पडता है—

महापुराण

महापुराण के दो खण्ड हैं, प्रथम आदिपुराण या पूर्वपुराण और द्वितीय उत्तर पुराण। आदिपुराण ४७ पर्वों में पूर्ण हुआ है जिसके ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३ वे पर्व के ३ श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्य के द्वारा निर्मित हैं और अवशिष्ट ५ पर्व तथा उत्तर पुराण श्री जिनसेनाचार्य के प्रमुख शिष्य श्रीगुणभद्राचार्य के द्वारा विरचित है।

आदिपुराण, पुराणकाल के सन्धिकाल की रचना है अतः यह न केवल पुराण ग्रन्थ है अपितु काव्य ग्रन्थ भी है, काव्य ही नहीं महाकाव्य है। महाकाव्य के जो लक्षण हैं वे सब इसमें प्रस्फुटित हैं। श्रीजिनसेनाचार्य ने प्रथम पर्व में काव्य और महाकाव्य की चर्चा करते हुए निम्नाङ्कित भाव प्रकट किया है—

'काव्य स्वरूप के जाननेवाले विद्वान्, कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं। कवि का यह काव्य सर्व सम्मत अर्थ से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, अलंकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से सुशोभित होता है'।

'कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को। किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है'।

'सज्जन पुरुषों का जो काव्य अलंकारसहित शृङ्गारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओत प्रोत और उद्दिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान आचरण करता है'।

जिस काव्य में न तो रीति की रमणीयता है, न पदों का लालित्य है, और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिये, वह तो केवल कानों को दुःख देनेवाली ग्रामीण भाषा ही है।

जो अनेक अर्थों को सूचित करनेवाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धों महाकाव्यों की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं।

'जो प्राचीन काल से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फलको दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं'।[1]

'किसी एक प्रकरण को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो सभी कर सकते हैं परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्ध की रचना करना कठिन कार्य है''।

---

१ पर्व १, श्लोक ९४–१०५।

'जब कि संसार में शब्दों का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के अधीन है, इस स्पष्ट है और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ है तब कविता करने में दरिद्रता क्या है?'।[1]

'विशाल शब्द मार्ग में भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन बनों में घूमने से खेद खिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिये महाकाव्यरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिये'।

'प्रतिभा जिसकी जड है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी शाखाएं हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्वलपने है ऐसा यह महाकाव्य रूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है'।

'अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे है, प्रसाद आदि गुण ही जिसकी लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नो से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है, तथा जिसमें गुरु शिष्य परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकाव्य समुद्र के समान आचरण करता है'।[1]

'हे विद्वान् पुरुषों? तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल तक स्थिर रह सके'।

'उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ कर्ता की केवल पुराण रचना में उतनी आस्था नहीं है जितनी कि काव्य की रीति से लिखे हुए पुराण में धर्मकथा में—केवल काव्य में भी ग्रन्थकर्ता की आस्था वही मालूम होती, उसे वे सिर्फ कौतुकावह रचना मानते है। उस रचना से काम ही क्या, जिससे प्राणि का अन्तस्तल विशुद्ध न हो सके। उन्होंने पीठिका में आदि पुराण को 'धर्मानुबन्धिनी कथा' कहा है और बडी दृढता के साथ प्रकट किया है कि 'जो पुरुष यशरूपी धन का संचय और पुण्यरूपी पण्य का व्यवहार-लेन देन करना चाहते हैं उनके लिये धर्मकथा को निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन के समान माना गया है'।

वास्तव में आदि पुराण संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न हो। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचार शास्त्र है और युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान् इतिहास है।

युग के आदि पुरुष श्री भगवान् वृषभदेव और उनके प्रथम सम्राट् भरत चक्रवर्ती आदि पुराण के प्रधान नायक हैं। इन्होंसे संपर्क रखने वाले अन्य कितने ही महापुरुषों की कथाओं का भी इसमें समावेश हुआ है। प्रत्येक कथानायक का चरित चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि वह यथार्थता की परिधि को न लांघता हुआ भी हृदयग्राही मालूम होता है। हरे भरे वन, वायु के मन्द मन्द झौके से थिरकती हुई पुष्पित पल्लवित लताएँ, कलकल करती हुई सरिताएं, प्रफुल्ल-कमलोद्भासित सरोवर, उत्तुङ्ग गिरिमालाएं, पहाडी निर्झर, बिजली से शोभित शामल घनघटाएँ, चहकते हुएँ पक्षी, प्राची में सिन्दुरस की अरुणिया को विखेरनेवाला सूर्योदय और लोकलोचनाल्हादकारी—चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण कवि ने जिस चातुर्य से किया है वह हृदय में भारी आल्हाद की उद्भूति करता है।

तृतीय पर्व में चौदहवें कुलकर श्री नाभिराज के समय गगणाङ्गण में सर्व प्रथम घनघटा छाई हुई दिखती है, उसमें बिजली चमकती है, मन्द मन्द गर्जना होती है, सूर्य की सुनहली रश्मियों के सम्पर्क से उसमें रंगबिरंगे इन्द्र धनुष दिखाई देते हैं, कभी मन्द, कभी मध्यम, और कभी तीव्र वर्षा होती है, पृथिवी जलमय हो जाती हैं, मयूर नृत्य करने लगते हैं, चिर सन्तप्त चातक संतोष की सांस लेते हैं और प्रवृष्ट वारिधारा वसुधा तल में व्याकीर्ण हो जाती हैं।

इस प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन कवि ने जिस सरसता और सरलता के साथ किया है वह एक अध्ययन की वस्तु है। अन्य कवियों के काव्य में आप यही बात क्लिष्ट-बुद्धिगम्य शब्दों से परिवेष्टित पाते है और इसी कारण स्थूल परिधान से आवृत कामिनी के सौन्दर्य की भ्रांति वहां प्रकृति का सौन्दर्य अपने रूप में प्रस्फुटित नहीं हो पाता है परन्तु यहां कवि के सरल शब्दविन्यास से प्रकृति की प्राकृतिक सुषमा परिधानावृत नहीं हो सकी है किन्तु सूक्ष्म-महीनवस्त्रावलि से सुशोभित किसी सुन्दरी के गात्र की अवदान आभा की भांती अत्यन्त प्रस्फुटित हुई है।

श्रीमती और वज्रजंघ के भोगोपभोगों का वर्णन भोगभूमि की भव्यता का व्याख्यान, मरुदेवी गात्र की गरिमा, श्री भगवान् वृषभदेव के जन्म कल्याणक का दृश्य, अभिषेक कालीन जल का विस्तार, क्षीर समुद्र का सौन्दर्य, भगवान् की बाल्यक्रीडा, पिता नाभिराज की प्रेरणा से यशोदा और सुनन्दा के साथ विवाह करना, राज्यपालन, कर्मभूमि की रचना, नीलांजना के विलय का निमित्त पाकर चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण करना, छह माह का योग समाप्त होनेपर आहार के लिये लगातार छह माहतक भ्रमण करना, हस्तिनापुर में राजा सोमप्रभ और श्रेयांस के द्वारा इक्षुरस का आहार दिया जाना, तपोलीनता, नमि विनमि की राज्य प्रार्थना, समूचे सर्ग में व्याप्त नाना वृत्तमय विजयार्धगिरि की सुन्दरता, भारत की दिग्विजय, भरत बाहुबली का युद्ध, राजनीति का उपदेश, ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, सुलोचना का स्वयंवर, जयकुमार और अर्ककीर्ति का अद्भुत युद्ध, आदि आदि विषयों के सरस सालंकार-प्रवाहान्वित वर्णन में कविने जो कमाल किया है उससे पाठक का हृदयमयूर सहसा नाच उठता है। बरबस मुख से निकलने लगता है धन्य महाकवि धन्य ! गर्भ कालिक वर्णन के समय षट्कुमारिकाओ और मरु देवी के बीच प्रश्नोत्तर रूप में कवि ने जो प्रहेलिका तथा चित्रालंकार की छटा दिखलायी है वह आश्चर्य में डालनेवाली वस्तु है।

यदि आचार्य जिनसेन भगवान् का स्तवन करने बैठते हैं तो इतने तन्मय हुए दिखते हैं कि उन्हें समय की अवधि का भी भान नहीं रहता और एक-दो-नहीं अष्टोत्तर हजार नामों से भगवान् का सुयश गाते हैं। उनके ऐसे स्तोत्र आज सहस्र नाम स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे समवशरण का वर्णन करते हैं तो पाठक और श्रोता दोनों को ऐसा विदित होने लगता है मानों हम साक्षात समवशरण का ही दर्शन कर रहे हैं। चतुर्भेदात्मक ध्यान के वर्णन से पूरा पर्व भरा हुआ है। उसके अध्ययन से ऐसा लगने लगता है कि मानों अब मुझे शुक्लध्यान होनेवाला ही है और मेरे समस्त कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त हुआ ही चाहता है। भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन पढते समय ऐसा लगने लगता है कि जैसे मैं गंगा, सिंधु, विजयार्ध, वृषभाचल और दीपाचल आदि का साक्षात् अवलोकन कर रहा हूं।

भगवान् आदिनाथ जब ब्राह्मी सुन्दरी पुत्रियों और भरत बाहुबली आदि पुत्रों को लोककल्याणकारी विविध विद्याओं की शिक्षा देते है तब ऐसा प्रतीत होता है मानों एक सुन्दर विद्यामंदिर है और उसमें शिक्षक के स्थानपर नियुक्त भगवान् शिष्य मण्डली को शिक्षा दे रहे हैं। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से त्रस्त मानव समाज के लिये जब भगवान् सान्त्वना देते हुए षट्कर्म की व्यवस्था भारत भूमिपर प्रचलित करते हैं, देश, प्रदेशनगर, स्व और स्वामि आदि का विभाग करते हैं तब ऐसा जान पडता है कि भगवान् संत्रस्त मानव समाज का कल्याण करने के लिये स्वर्ग से अवतीर्ण हुए दिव्यावतार ही है। गर्भान्वय, दीक्षान्वय, कर्त्रन्वय आदि क्रियाओं का उपदेश देते हुए भगवान् जहां जनकल्याणकारी व्यवहार धर्म का प्रतिपादन करते हैं वहां संसार की माया ममता से विरक्त कर इस मानव को परम निर्वृति की ओर जाने का भी उन्होंने उपदेश दिया है। सम्राट् भरत दिग्विजय के बाद आश्रित राजाओं को जिस राजनीति का उपदेश देते हैं वह क्या कम गौरव की बात है? यदि आज के जननायक उस नीति को अपना कर प्रजा का पालन करें तो यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि सर्वत्र शान्ति छा जावे और अशान्ति के काले बादल कभी के क्षत–विक्षत हो जावें। अन्तिम पर्वों में गुणभद्राचार्य ने जो श्रीपाल आदि का वर्णन किया है उसमें यद्यपि कवित्व की मात्रा कम है तथापि प्रवाहबद्ध वर्णन शैली पाठक के मनको विस्मय में डाल देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिनसेनस्वामी और उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने इस महापुराण के निर्माण में जो कौशल दिखाया है वह अन्य कवियों के लिये ईर्ष्या की वस्तु है। यह महापुराण जैन पुराण साहित्य का शिरोमणि है। इसमें सभी अनुयोगों का विस्तृत वर्णन है। आचार्य जिनसेन से उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने इसे बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। आगे चलकर यह '**आर्ष**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है और जगह जगह '**तदुक्तं आर्षे**' इन शब्दों के साथ इसके श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इसके प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह कहा जा सकता है कि जो अन्यत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित है वह इसमें प्रतिपादित है, जो इस में प्रतिपादित नहीं है वह कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

जिनसेनाचार्यने पीठिकाबन्ध में जयसेन गुरु की स्तुति के बाद परमेश्वर कवि का उल्लेख किया है और उनके विषय में कहा है—

'वे कवि परमेश्वर लोक में कवियों के द्वारा पूजने योग्य हैं जिन्होंने कि शब्द और अर्थ के संग्रह रूप समस्त पुराण का संग्रह किया था। इन परमेश्वर कवि ने गद्य में समस्त पुराणों की रचना की थी, उसीका आधार लेकर जिनसेनाचार्य ने महापुराण की रचना की है।' इसकी महत्ता बतलाते हुए गुणभद्राचार्य ने कहा है—

'यह आदिनाथ का चरित कवि परमेश्वर के द्वारा कही हुई गद्य कथा के आधार से बनाया गया है। इसमें समस्त छन्द तथा अलंकारों के लक्षण हैं, इसमें सूक्ष्म अर्थ और गूढ पदों की रचना है, वर्णन की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है, समस्त शास्त्रों को उत्कृष्ट पदार्थों का साक्षात् करानेवाला है, अन्य काव्यों को तिरस्कृत करता है, श्रवण करने योग्य है, व्युत्पन्न बुद्धिवाले पुरुषों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या कवियों के गर्व को नष्ट करनेवाला है और अत्यन्त सुन्दर है। इसे सिद्धान्तग्रन्थों की टीका करनेवाले तथा

चिरकाल तक शिष्यों का शासन करनेवाले भगवान् जिनसेन ने कहा है। इसका अवशिष्ट भाग निर्मल बुद्धिवाले गुणभद्र ने अति विस्तार के भयसे और क्षेत्र काल के अनुरोध से संक्षेप में संगृहीत किया है'।

आदिपुराण में ६७ छन्दों का प्रयोग हुआ है, तथा १०९७९ श्लोक हैं जिसका अनुष्टुप् छन्दों की अपेक्षा ११४२९ श्लोक प्रमाण होता है।

भगवान् वृषभदेव और सम्राट् भरत ही आदि पुराण के प्रमुख कथानायक हैं। ये इतने अधिक प्रभावशाली हुए हैं कि इनका जैन ग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है उसके शिवाय वेद के मन्त्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उल्लेख पाया जाता है। भागवत में भी मरुदेवी, नाभिराय, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण दिया है। यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में विभिन्नता रखता है।

उत्तर पुराण

महापुराण का उत्तर भाग उत्तर पुराण के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता गुणभद्राचार्य हैं। इसमें अजितनाथ को आदि लेकर २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण तथा जीवन्धरस्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के कथानक दिये हुए हैं। इसकी रचना भी परमेश्वर कवि के गद्यात्मक पुराण के आधारपर हुई होगी। आठवें, सोलहवें, बाईसवें, तेईसवें और चौवीसवें तीर्थंकर को छोडकर अन्य तीर्थंकरों के चरित्र बहुत ही संक्षेप से लिखे गये हैं। इस भाग में कथा की बहुलता ने कवि की कवित्व शक्तीपर आघात किया है। जहां तहां ऐसा मालूम होता है कि कवि येन केन प्रकारेण कथाभाग को पूरा कर आगे बढ जाना चाहते हैं। पर फिर भी बीच बीच में कितने ही ऐसे सुभाषित आ जाते हैं जिनसे पाठक का चित्त प्रसन्न हो जाता है।

उत्तर पुराण में १६ छन्दों का प्रयोग हुआ है और उनमें ७५७५ पद्य हैं। अनुष्टुप छन्द के रूप में उनका ७७७८ परिमाण होता है। आदि पुराण और उत्तर पुराण दोनों को मिलाकर महापुराण का १९२०७ का अनुष्टुप प्रमाण परिमाण है।

महापुराण के रचयिता श्री जिनसेन स्वामी थे जो कि न केवल कवि ही थे, सिद्धान्त शास्त्र के अगाध वैदुष्य से परिपूर्ण थे। इसीलिये तो वे अपने गुरु वीरसेन स्वामि के द्वारा प्रारब्ध जयधवल टीका को पूर्ण कर सके थे। वीरसेन स्वामी बीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर जब स्वर्ग सिधार गये तब जिनसेन ने ४०००० श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसे पूर्ण किया। यह नौवीं शती के अन्तिम में हुए हैं। उत्तर पुराण के रचयिता गुणभद्र, जिनसेन के शिष्य थे और उन्होंने भी जिनसेन के अपूर्ण महापुराण को पूर्ण किया था। यह दशवीं शती के प्रारम्भ के विद्वान थे उस समय की मुनि परम्परा में ज्ञान की कैसी अद्भुत–उपासना थी!

पद्मचरित या पद्मपुराण

संस्कृत पद्मचरित दिगम्बर कथा साहित्य में बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। ग्रन्थ के कथानायक आठवे बलभद्र पद्म (राम) तथा आठवे नारायण लक्ष्मण है। दोनों ही व्यक्ति जन जन के श्रद्धा–भाजन है,

इसलिये उनके विषय में कवि ने जो भी लिखा है वह कवि की अन्तर्वाणी के रूप में उसकी मानस–हिम-कन्दरा से निःसृत मानों मन्दाकिनी ही है। प्रसङ्ग पाकर आचार्य रविषेण ने विद्याधर लोक, अन्जना–पवनञ्जय, हनूमान तथा सुकोशल आदि का जो चरित्र चित्रण किया है, उससे ग्रन्थ की रोचकता इतनी अधिक बढ गई है कि ग्रन्थ को एकबार पढना शुरू कर बीच में छोडने की इच्छा ही नहीं होती।

पद्मचरित की भाषा प्रसाद गुण से ओत प्रोत तथा अत्यन्त मनोहारिणी है। वन, नदी, सेना, युद्ध आदि का वर्णन करते हुए कवि ने बहुत ही कमाल किया है। चित्रकूट पर्वत, गङ्गा नदी, तथा वसन्त आदि ऋतुओं का वर्णन आचार्य रविषेण ने जिस खूबी से किया है वैसा तो हम महाकाव्यों में भी नहीं देखते।

इसके रचयिता आचार्य रविषेण हैं। अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख इन्होंने इसी पद्मचरितके १२३ वे पर्व के १६७ वे श्लोक में इस प्रकार किया है—

'आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि–
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्'।

अर्थात् इन्द्र गुरु के दिवाकर यति, दिवाकर यति के अर्हन् मुनि, अर्हन्मुनि के लक्ष्मणसेन और लक्ष्मणसेन के रविषेण शिष्य थे।

इस पद्मपुराण की रचना भगवान महावीर का निर्वाण होने के १२०३ वर्ष ६ माह बीत जाने पर अर्थात् ७३४ विक्रमाब्द में पूर्ण हुई है।

हरिवंश पुराण

आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण दिगम्बर सम्प्रदाय के कथा साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय–विवेचना की अपेक्षा तो प्रमुख स्थान रखता ही है, प्राचीनता की अपेक्षा भी संस्कृत कथा ग्रन्थों में तीसरा ग्रन्थ ठहरता है। पहला रविषेण का पद्मपुराण, दूसरा जयसिंह नन्दी का वराङ्गचरित और तीसरा यह जिनसेन का हरिवंश। यद्यपि जिनसेन ने अपने हरिवंश में महासेन की सुलोचना कथा तथा कुछ अन्यान्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है परन्तु अभीतक अनुपलब्ध होने के कारण उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। हरिवंश के कर्ता—जिनसेन ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में पार्श्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेन स्वामी का स्मरण किया है इसलिये इनका महापुराण हरिवंश से पूर्ववर्ती होना चाहिये यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जिस तरह जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में जिनसेन (प्रथम) का स्मरण करते हुए उनके पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख किया है उस तरह महापुराण का नहीं। इससे विदित होता है कि हरिवंश की रचना के पूर्वतक जिनसेन (प्रथम) के महापुराण की रचना है इसलिये तो वह उनके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकी, उनके शिष्य गुणभद्र के द्वारा पूर्ण हुई है।

हरिवंश पुराण में जिनसेनाचार्य बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान् का चरित्र लिखना चाहते थे परन्तु प्रसंगोपात्त अन्य कथानक भी इसमें लिखे गये हैं। यह बात हरिवंश के प्रत्येक सर्ग के उस पुष्पिका वाक्य से सिद्ध होती है जिसमें उन्होंने 'इति अरिष्टनेमि पुराणसंग्रहे' इसका उल्लेख किया है। भगवान्

नेमिनाथ का जीवनआदर्श त्याग का जीवन है। वे हरिवंश गगन के प्रकाशमान सूर्य थे। भगवान् नेमिनाथ के साथ नारायण और बलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण तथा राम का भी कौतुकावह चरित्र इसमें लिखा गया है। पाण्डवों तथा कौरवों का लोकप्रिय चरित्र इसमें बडी सुन्दरता के साथ अङ्कित किया गया है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र भी इसमें अपना पृथक् स्थान रखता है।

हरिवंश पुराण न केवल कथा ग्रन्थ है किन्तु महाकाव्य के गुणोंसे युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य भी है। इसके सैंतीसवे सर्ग से नेमिनाथ भगवान् का चरित्र शुरू होता है वहीं से इसकी साहित्यसुषमा बढती गई है। इसका पचपनवां सर्ग यमकादि अलंकारों से अलंकृत है। अनेक सर्ग सुन्दर सुन्दर छन्दों से विभूषित हैं। ऋतु वर्णन, चन्द्रोदय वर्णन आदि भी अपने ढंग के निराले हैं। नेमिनाथ भगवान् के वैराग्य तथा बलदेव के विलाप का वर्णन करनेके लिये जिनसेन ने जो छन्द चुने हैं वे रस परिपाक के अत्यन्त अनुरूप हैं। श्रीकृष्ण के मृत्यु के बाद बलदेव का करुण–विलाप और स्नेहका चित्रण, लक्ष्मण की मृत्यु के बाद रविषेण के द्वारा पद्मपुराण में वर्णित रामविलाप के अनुरूप है। वह इतना करुण चित्रण हुआ है कि पाठक अश्रुधारा को नहीं रोक सकता। नेमिनाथ के वैराग्य वर्णन को पढकर प्रत्येक मनुष्य का हृदय संसार की माया ममता से विमुख हो जाता है। राजीमती के परित्याग पर पाठक के नेत्रों से सहानुभूति की अश्रुधारा जहां प्रवाहित होती है वहां उनके आदर्श सतीत्व पर जनजन के मानस में उनके प्रति अगाध श्रद्धा भी उत्पन्न होती है। मृत्यु के समय कृष्णमुख से जो उद्गार प्रकट हुए हैं उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊंची उठ जाती है। तीर्थंकर प्रकृति का जिसे बन्ध हुआ है उसके परिणामों में जो समता होना चाहिये वह अन्ततक स्थित रही है।

हरिवंश का लोकवर्णन प्रसिद्ध है जो त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति से अनुप्राणित है। किसी पुराण में इतने विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा आना खास बात है। पुराण आदि कथा ग्रंथों में लोक आदि का वर्णन संक्षेपरूप में ही किया जाता है परन्तु इसका वर्णन अत्यन्त विस्तार और विशदता को लिये हुए है। कितने ही स्थलों पर करण सूत्रों का भी अच्छा उल्लेख किया गया है।

नेमिनाथ भगवान् की दिव्यध्वनि के प्रकरण को लेकर ग्रन्थकर्ता ने विस्तार के साथ तत्त्वों का निरूपण किया है जिसमें यह एक धर्मशास्त्र भी हो गया है। कथा के साथ साथ बीच बीच में तत्त्वों का निरूपण पढकर पाठक का मन प्रफुल्लित बना रहता है।

हरिवंश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाटसंघ के थे। इनके गुरु का नाम कीर्तिसेन और दादा गुरु का नाम जिनसेन था। यह जिनसेन, महापुराण के कर्ता जिनसेन से सर्वथा भिन्न है। इन्होंने हरिवंशपुराण के छ्यासठवे सर्ग में भगवान् महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की वही आचार्य परम्परा दी है जो कि श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में मिलती है परन्तु उसके बाद अर्थात वीर निर्वाण ६८३ वर्ष के अनन्तर जिनसेन ने अपने गुरु कीर्तिषेण तक की जो अविच्छिन्न परम्परा दी है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक पहलू भी जोरदार हो जाता है। वह आचार्य परम्परा इस प्रकार है—

विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवर्य, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरविद्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण और जिनसेन[1]। (हरिवंश के कर्ता)

इसमें अमितसेन को पुन्नाट गण का अग्रणी तथा शत वर्ष जीवी बतलाया है। वीर निर्वाण से लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष में २८ आचार्य बतलाये हैं। लोहाचार्य का अस्तित्व वि. सं. २१३ तक अभिमत है और वि. सं. ८४० तक हरिवंश के कर्ता जिनसेन का अस्तित्व सिद्ध है। इस तरह ६२७ वर्ष के अन्तराल में ३१ आचार्यों का होना सुसंगत है।

हरिवंश पुराण की रचना का प्रारम्भ वर्द्धमानपुर में हुआ और समाप्ति दोस्त्रटिका के शान्तिनाथ जिनालय में हुई। इसकी रचना शकसंवत ७०५ में हुई जिसका विक्रम संवत ८४० होता है।

---

१. हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २२–२३।

चन्द्रप्रभचरितम् : एक परिशीलन

अमृतलाल शास्त्री

ग्रन्थ-परिचय

नाम—अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ के शिक्षाप्रद जीवनवृत्त को लेकर लिखे गये प्रस्तुत महाकाव्य का नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' है, जैसा कि प्रतिज्ञा वाक्य (१.९), पुष्पिका वाक्यों तथा 'श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं....' इत्यादि प्रशस्ति के अन्तर्गत पद्य (५) से स्पष्ट है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में निबद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनके चरितान्त नाम रखने की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आरही है। समुपलब्ध काव्यों में विमलसूरि (ई० १ शती) का '**पउमचरियं**' प्राकृत काव्यों में, अश्वघोष (ई० १ शती) का '**बुद्धचरितम्**' संस्कृत काव्यों में और स्वयम्भू कवि (ई. ७ शती) का '**पउमचरिउ**' अपभ्रंश काव्यों में सर्वाधिक प्राचीन हैं। प्रस्तुत चरित महाकाव्य का नाम उक्त चरित काव्यों की परम्परा के अनुकूल है। सभी सर्गों के अन्तिम पद्यों में '**उदय**' शब्द का सन्निवेश होने से यह काव्य '**उदयाङ्क**' कहलाता है।

विषय—प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भ० चन्द्रप्रभ का अत्यन्त शिक्षाप्रद जीवनवृत्त है, जो इसके अठारह सर्गों के इकतीस छन्दों में निबद्ध एक हजार छः सौ एकानवे पद्यों में समाप्त हुआ है। प्रारम्भ के पन्द्रह सर्गों में चरितनायक अष्टम तीर्थङ्कर भ. चन्द्रप्रभ के छः अतीत भवों का और अन्तके तीन सर्गों में वर्तमान भव का वर्णन किया गया है। सोलहवें सर्ग में गर्भकल्याणक, सत्रहवें में जन्म, तप और ज्ञान तथा अठारहवें में मोक्षकल्याणक वर्णित हैं। महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और अवान्तर कथाएँ भी यत्र-तत्र गुम्फित हैं।

चं. च. की कथावस्तु का संक्षिप्त सार

चं. च. में चरितनायक के राजा श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, सम्राट् अजितसेन, अच्युतेन्द्र राजा पद्मनाभ, अहमिन्द्र और चन्द्रप्रभ[1]-इन सात भवों का विस्तृत वर्णन है, जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

---

१. यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः।
यश्चाजायत पद्मनामनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो-
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु न॥ कविप्रशस्ति, पद्य ९।

१. राजा श्रीवर्मा—पुष्करार्ध द्वीपवर्ती सुगन्धि[1] देश में श्रीपुर नामक पुर था। वहाँ राजा श्रीषेण निवास करते थे। उनकी पत्नी का नाम श्रीकान्ता[2] था। पुत्र के न होने से वह सदा चिन्तित[3] रहा करती थी। किसी दिन गेंद खेलते बच्चों को देखते ही उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसकी सखी से इस बात को सुनकर राजा श्रीषेण उसे समझाते हुए कहते हैं—देवि, चिन्ता न करो। मैं शीघ्र ही विशिष्ट ज्ञानी मुनियों के दर्शन करने जाऊँगा, और उन्हींसे पुत्र न होने का कारण पूछूँगा। कुछ ही दिनों के पश्चात् वे अपने उद्यान में अचानक आकाश से उतरते हुए चारण ऋद्धिधारी मुनिराज अनन्त के दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् प्रसङ्ग पाकर वे उनसे पूछते हैं—'भगवन्, मुझे वैराग्य क्यों नहीं हो रहा?' उन्होंने उत्तर दिया—'राजन्, पुत्रप्राप्ति की इच्छा रहने से आपको वैराग्य नहीं हो रहा है। अब शीघ्र ही पुत्र होगा। अभी तक पुत्र न होने का कारण आपकी पत्नी का पिछले जन्म का अशुभ निदान है।' घर पहुँचने पर वे अपनी पत्नी को पुत्र न होने की उक्त बात सुनाते हैं, जिससे वह प्रसन्न हो जाती है। दोनों धार्मिक कार्यों में संलग्न रहने लगते हैं। इतने में आष्टाह्निक पर्व आ जाता है। दोनों ने इस पर्व में आठ-आठ उपवास किये, आष्टाह्निक पूजा की और अभिषेक भी। कुछ ही दिनों के उपरान्त रानी गर्भ धारण करती है[4]। धीरे-धीरे गर्भ के चिह्न[5] प्रकट होने लगे। नौ मास बीतने पर पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। उसका नाम श्रीवर्मा रखा गया। वयस्क होने पर राजा उसका विवाह कर के युवराज बना देते हैं। उल्कापात देखकर राजा श्रीषेण को वैराग्य हो जाता है। फलतः वे अपने पुत्र युवराज श्रीवर्मा को अपना राज्य सौंप कर श्रीप्रभ[6] मुनि से जिन दीक्षा लेकर घोर तप करते हैं, और फिर मुक्तिकन्या का वरण करते हैं। पिता के वियोग से श्रीवर्मा कुछ दिनों तक शोकाकुल रहते हैं। मन्त्रिमण्डल के समझाने-बुझाने पर वे दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं। उसमें सफल होकर वे घर आते हैं। शरत्कालीन मेघ को शीघ्र ही विलीन होते देख कर उन्हें वैराग्य हो जाता है फलतः वे अपने पुत्र श्रीकान्त[7] को अपना उत्तराधिकार देकर श्रीप्रभ मुनि के निकट जाकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं, और फिर घोर तपश्चरण करते हैं।

२. श्रीधरदेव—घोर तपश्चरण के प्रभाव से श्रीवर्मा पहले स्वर्ग में श्रीधरदेव होते हैं। वहाँ उन्हें दो सागरोपम आयु प्राप्त होती है। उनका अभ्युदय अन्य देवों से कहीं अच्छा था। देवियाँ उन्हें स्थायी उत्सव की भांति देखती रहीं।

---

१. पुराणसारसंग्रह (७६. २) में देश का नाम गन्धिल लिखा है।
२. पुराणसारसंग्रह (७६. ३) में रानी का नाम श्रीमती दिया गया।
३. उत्तर पुराण (५४. ४४) में राजा का चिन्तित होना वर्णित है।
४. उ. पु. (५४.५१) में गर्भ धारण करने से पहले चार स्वप्न देखने का उल्लेख है, और पुराण सा. (७६.५) में पांच स्वप्न देखने का।
५. पुराण सा. में गर्भचिह्नों की चर्चा नहीं है।
६. उ. पु. (५४.७३) में मुनि का नाम श्रीपद्म और पुराण सा. (७८.१९) में श्रीधर मिलता है।
७. पुराण सा. (७८.१९) में श्रीकान्त के स्थान में श्रीधर है।

३. सम्राट अजितसेन—धातकीखण्ड द्वीप के अलका नामक देश में कोशला[१] नगरी है। वहाँ राजा अजितंजय और उनकी रानी अजितसेना[२] निवास करते हैं। उक्त श्रीधर देव इन्हीं का पुत्र अजितसेन[३] होता है। वयस्क होते ही उसे युवराज बना दिया जाता है। अजितंजय के देखते–देखते उसके सभा भवन से युवराज अजितसेन को चण्डरुचि नामक कुख्यात असुर पिछले जन्म के वैर के कारण उठा ले जाता है। राजा व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसी बीच तपोभूषण नामक एक मुनिराज पधारते हैं, और वे यह कहकर वापिस चले जाते हैं कि 'कुछ दिनों के बाद युवराज अजितसेन सकुशल घर आ जायगा'[४]। उधर वह असुर उसे बहुत ऊँचाई से एक सरोवर में गिरा कर आगे चला जाता है। मगर–मच्छों से जूझता हुआ वह किसी तरह किनारे पर पहुँच जाता है। वहाँ से वह ज्यों ही परुषा नाम की अटवी में प्रवेश करता है त्यों ही एक भयङ्कर आदमी से द्वन्द्व छिड़ जाता है। पराजित होने पर वह अपने असली रूप को प्रकट कर देता है, और कहता है—'युवराज, मैं मनुष्य नहीं, देव हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं आपका मित्र हूँ, किन्तु आपके पौरुष के परीक्षण के लिए मैंने ऐसा व्यवहार किया है, क्षमा कीजिए। पिछले तीसरे जन्म में आप सुगन्धि देश के नरेश थे। आपकी राजधानी में एक दिन शशी ने सेंध लगा कर सूर्य के सारे धन को चुरा लिया था। पता लगने पर आपने शशी को कड़ा दण्ड दिया, जिससे वह मर गया और फिर वह चण्डरुचि असुर हुआ। इसी वैर के कारण उसने आपका अपहरण किया। बरामद धन उसके स्वामी को वापिस दिलवा दिया। युवराज, वही शशी मरने के बाद हिरण्य नामक देव हुआ, जो इस समय आपसे बात कर रहा है।'[५]

तत्पचात् युवराज विपुलपुर की ओर प्रस्थान करता है। वहाँ के राजाका नाम जयवर्मा, रानीका नाम जयश्री और उनकी कन्या का नाम शशिप्रभा था। महेन्द्र नामक एक राजा जयवर्मा से उसकी कन्या की मंगिनी करता है, पर किसी निमित्त ज्ञानी से उसे अल्पायुष्क जानकर वह स्वीकृति न दे सका। उससे क्रुद्ध होकर महेन्द्र जयवर्मा को युद्ध के लिए ललकारता है। युवराज जयवर्मा का साथ देता है, और युद्ध में महेन्द्र को मार डालता है। इससे प्रभावित होकर जयवर्मा युवराज के साथ अपनी कन्या शशिप्रभा का विवाह करना चाहता है। इतने में विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के आदित्यपुर का राजा धरणीध्वज जयवर्मा को सन्देश भेजता है कि वह अपनी कन्या का विवाह मेरे (धरणीध्वज) की साथ करे। इसके लिए जयवर्मा तैयार नहीं होता। फलतः दोनों में भयङ्कर संग्राम छिड़ जाता है। पूर्वचर्चित हिरण्यदेव के सहयोग से युवराज अजितसेन धरणीध्वज को भी युद्धभूमि में स्वर्गवासी बना देता है। इसके उपरान्त राजा जयवर्मा शुभ मुहूर्त में युवराज अजितसेन के साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता है। फिर उसके साथ युवराज

---

१. उ. पु. (५४.८७) में और पुराण सा. (८०.२२) में नगरी का नाम अयोध्या दिया है।

२. पुराण सा. (८०.२३) में रानी का नाम श्रीदत्ता मिलता है।

३. श्रीधर देव के गर्भ में आने से पहले उ. पु. (५४.८९) में रानी के आठ शुभ स्वप्न देखने का उल्लेख है।

४. इस घटना का उल्लेख उ. पु. तथा पुराण सा. में नहीं है।

५. उ. पु. तथा पुराण सा. में इस घटना का उल्लेख नहीं है।

अपने नगर की शोभा बढ़ाता है। वहाँ अजितजय उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। चक्रवर्ती होने से वह चौदह रत्नों एवं नौ निधियों का स्वामित्व प्राप्त करता है। अजितंजय तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ के निकट जिन दीक्षा ले लेता है, और वहीं पर सम्राट् अजितसेन के हृदय में सच्ची श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) जाग उठती है। दिग्विजय में पूर्ण सफलता प्राप्त करके सम्राट् राज्य का संचालन करने लगता है। किसी दिन एक उन्मत्त हाथी ने एक मनुष्य की हत्या कर डाली। इस दुःखद घटना[1] को देख कर सम्राट् को वैराग्य हो जाता है, फलतः वह अपने पुत्र जितशत्रु को अपना आराअधिकार सौंप कर शिवंकर[2] उद्यान में गुणप्रभ मुनि के निकट जिन दीक्षा ग्रहण कर लेता है, और फिर घोर तपश्चरण करता है।

४. अच्युतेन्द्र—घोर तपश्चरण करने से वह सम्राट अच्युतेन्द्र होता है। बाईस सागरोपम आयु की अन्तिम अवधि तक वह दिव्य सुख का अनुभव करता है।

५. राजा पद्मनाभ—आयु समाप्त होने पर अच्युतेन्द्र अच्युत स्वर्ग से चयकर धातकीखण्ड द्वीपवर्ती मङ्गलावती देश के रत्नसंचयपुर में राजा कनकप्रभ के[3] यहाँ उनकी प्रधान रानी सुवर्णमाला की[4] कुक्षि से पद्मनाभ नामक पुत्र होता है। किसी दिन एक बूढ़े बैल को दलदल में धंस जाने से मरते देखकर कनकप्रभ को वैराग्य हो जाता है[5]। फलतः वह अपने पुत्र पद्मनाभ को अपना राज्य देकर श्रीधरमुनि से जिनदीक्षा ले लेता है, और दुर्धर तप करता है। पिता के विरह से वह कुछ दिन दुःखी रहता है। फिर मन्त्रियों के प्रयत्न से वह अपने राज्य का परिपालन करने लगता है। कुछ काल बाद अपने पुत्र को युवराज बनाकर वह अपनी रानी सोमप्रभा के[6] साथ आनन्दमय जीवन बीताने लगता है। किसी दिन माली के द्वारा श्रीधरमुनि के पधारने के शुभ समाचार सुनकर पद्मनाभ उनके दर्शनों के लिए 'मनोहर' उद्यान में जाता है। दर्शन करने के उपरान्त वह उनके आगे अपनी तत्त्वजिज्ञासा प्रकट करता है। उत्तर में वे तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनों के मन्तव्यों की विस्तृत मीमांसा करते हुए सात तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण करते हैं। उसे सुनकर राजा पद्मनाभ का संशय दूर हो जाता है। इसके पश्चात् पद्मनाभ के पूछने पर वे उसके पिछले चार भवों का विस्तृत वृत्तान्त सुनाते हैं। इस वृत्तान्त की सच्चाई पर कैसे विश्वास हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनिराज ने कहा—'राजन्, आज से दसवें दिन एक मदान्ध हाथी अपने झुण्ड से बिछुड़कर आपके नगर में प्रवेश करेगा। उसे देखकर आपको मेरे कथन पर विश्वास हो जायगा'। इसके उपरान्त मुनिराज से व्रत ग्रहण कर वह अपनी राजधानी में लौट आता है। ठीक दसवें दिन एक मदान्ध हाथी सहसा राजधानी में घुसकर उपद्रव करने लगता है। पद्मनाभ उसे अपने

---

१. उ. पु. एवं पुराण सा. में इस घटना का भी उल्लेख नहीं है।
२. उ. पु. (५४. १२२) में उद्यान का नाम 'मनोहर' लिखा है।
३. पुराण सा. (८२.३२) में कनकाभ नाम दिया है।
४. पुराण सा. (८२.३२) में रानी का नाम कनकमाला लिखा है।
५. उ. पु. तथा पुराण सा. में इस घटना की चर्चा नहीं है।
६. उ. पु. (५४.१४१) में पद्मनाभ की अनेक रानियाँ होने का संकेत मिलता है।

वश में कर लेता है, और उसपर सवार होकर वनक्रीडा के लिए चल देता है। इसी निमित्त से उस हाथी का नाम 'वनकेलि' नाम पड़ जाता है। क्रीड़ा के पश्चात् पद्मनाभ उसे अपनी गजशाला में बंधवा देता है[१]। राजा पृथ्वीपाल इस हाथी को अपना बतलाकर हथियाना चाहता है। पद्मनाभ के इनकार करने पर दोनों में युद्ध छिड़ जाता है। युद्ध में पृथिवीपाल मारा जाता है। इसके कटे सिर को देखकर पद्मनाभ को वैराग्य हो जाता है, फलतः वह श्रीधरमुनि से जिनदीक्षा लेकर सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों व तेरह प्रकार के चारित्र का परिपालन करता हुआ घोर तप करता है। कुछ ही समय में वह द्वादशाङ्ग श्रुत का ज्ञान प्राप्त करता है, और सोलहकारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध कर लेता है।

६. **वैजयन्तेश्वर**--आयु के अन्त में संन्यासपूर्वक भौतिक शरीर को छोड़कर पद्मनाभ वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होते हैं, और तेतीस सागरोपम आयु की अन्तिम अवधि तक वहाँ दिव्य सुख का अनुभव करते हैं।

७. **तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ**--आयु की समाप्ति होने पर वैजयन्तेश्वर पूर्व देश[२] की चन्द्रपुरी[३] में अष्टम तीर्थङ्कर होते हैं।

माता-पिता--इनकी माता का नाम लक्ष्मणा[४] और पिता का महासेन था। इक्ष्वाकुवंशी महासेन अनेकानेक विशिष्ट गुणों की दृष्टि से अनुपम रहे। दिग्विजय के समय इन्होंने अङ्ग, आन्ध्र, उढ्र, कर्णाटक, कलिङ्ग, कश्मीर, कीर, चेदी, टक्क, द्रमिल, पाञ्चाल, पारसीक, मलय, लाट और सिन्धु आदि अनेक देशों के नरेशों को अपने अधीन किया था।

रत्नवृष्टि--दिग्विजय के पश्चात् चन्द्रपुरी में राजा महासेन के राजमहल में चन्द्रप्रभ के गर्भावतरण के छः मास पहले से उनके जन्म दिन तक प्रति दिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वृष्टि होती रही।

गर्भशोधन आदि--रत्नवृष्टि को देख कर महासेन को आश्चर्य होता है, पर कुछ ही समय के पश्चात् इन्द्र की आज्ञा से आठ दिक्कुमारियाँ उनके यहाँ महारानी लक्ष्मणा की सेवा के लिए उपस्थित होती हैं। उनके साथ हुए वार्तालाप से उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। महासेन से अनुमति लेकर वे उनके अन्तःपुर में प्रवेश करती हैं, और लक्ष्मणा के गर्भशोधन आदि कार्यों में संलग्न हो जाती हैं।

---

१. उ. पु. और पुराण सा. में इस घटना का तथा इसके बाद होनेवाले युद्ध का उल्लेख नहीं है।

२. वाराणसी से आसाम तक का पूर्वी भारत 'पूर्व देश' के नाम से प्रख्यात रहा। उ. पु., पुराण सा. त्रिषष्टि शलाका पुरुष और त्रिषष्टि स्मृति में इस देश का उल्लेख नहीं है।

३. त्रिषष्टि शलाका पुरुष (२९६. १३) में इस नगरी का नाम 'चन्द्रानना', उ. पु. (५४. १६३) में 'चन्द्रपुर', पुराण सा. (८२. ३९) में चन्द्रपुर, तिलोयपण्णत्ती (४.५३३) में 'चन्द्रपुर' और हरिवंश (६०. १८९) में 'चन्द्रपुरी' लिखा है। सम्प्रति इसका नाम 'चन्द्रवटी' 'चन्द्रौटी' या 'चंदरौटी' है। यह वाराणसी से १८ मील दूर गङ्गा के बायें तटपर है। यहाँ दि. व श्वे. सम्प्रदाय के दो अलग-अलग जैन मन्दिर हैं।

४. तिलोयपण्णत्ती (४. ५३३) में माता का नाम 'लक्ष्मीमती' लिखा है।

शुभ स्वप्न—महारानी लक्ष्मणा सुखपूर्वक सो रही थीं, इतने में उन्हें रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न हुए। प्रभात होते ही वे अपने पति के पास पहुँचती हैं।

स्वप्नफल—पत्नी के मुख से क्रमशः सभी स्वप्नों को सुनकर महासेन ने उनका शुभ फल बतलाया, जिसे सुनकर उन्हें अपार हर्ष हुआ।

गर्भावतरण—आयु के समाप्त होते ही उक्त वैजयन्तेश्वर अपने विमान से चयकर प्रशस्त [चैत्र कृष्णा पञ्चमी के[1]] दिन महारानी लक्ष्मणा के गर्भ में अवतरण करते हैं।

गर्भकल्याणक महोत्सव—इसके पश्चात् इन्द्र महाराज महासेन के राजमहल में पहुँच कर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। माता के चरणों की अर्चना करके वे वहाँ से वापिस चले जाते हैं, पर श्री, ह्री और धृति देवियाँ वहीं रह कर उन (माता) की सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

जन्म—पौष कृष्णा एकादशी[2] के दिन लक्ष्मणा सुन्दर पुत्र-चन्द्रप्रभ को जन्म देती है। इस शुभ वेला में दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं; आकाश निर्मल हो जाता है; सुगन्धित मन्द वायु का संचार होता है; दिव्य पुष्पों की वृष्टि होती है; कल्पवासी देवों के यहां मणिघण्टिकाएँ, ज्यौतिष्क देवों के यहां सिंहनाद, भवनवासी देवों के यहां शङ्ख और व्यन्तर देवों के यहां दुन्दुभि बाजे स्वयमेव बजने लगते हैं— इन हेतुओं से तथा अपने आसन के कम्पन से इन्द्र चन्द्रप्रभ के जन्म को जानकर देवों के साथ चन्द्रपुरी की ओर प्रस्थान करते हैं।

अभिषेक—इन्द्राणी माता के निकट मायामयी शिशु को सुलाकर वास्तविक शिशु को राजमहल से बाहर ले आती है। सौधर्मेन्द्र शिशु को दोनों हाथों में लेकर ऐरावत पर सवार होता है, और सभी देवों के साथ सुमेरु पर्वत की ओर प्रस्थान करता है। वहां पाण्डुक शिला पर शिशु को बैठाकर देवों के द्वारा लाये गये क्षीरसागर के जल से अभिषेक करता है, और विविध अलङ्कारों से अलङ्कृत कर के उनका 'चन्द्रप्रभ' नाम रख देता है। इसके उपरान्त सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रों के साथ उन (चन्द्रप्रभ) की स्तुति[3] करता है, और फिर उन्हें माता के पास पहुँचा कर महासेन से अनुमति लेकर वापिस चला जाता है।

बाल्यकाल—शिशु अपनी अमृतलिप्त अङ्गुलियों को चूस कर ही तृप्त रहता है, उसे माँके दूध की विशेष लिप्सा नहीं होती। चन्द्रकलाओं की भाँति शिशु का विकास होने लगता है। धीरे-धीरे वह देवकुमारों के साथ गेंद आदि लेकर क्रीडा करने योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् वह तैरना, हाथी-घोडे पर सवारी करना आदि विविध कलाओं में प्रवीण हो जाता है।

---

१. यह मिति उ. पु. (५४. १६६) के आधार पर दी है, चं. च. में इस मिति का उल्लेख नहीं है।

२. यही मिति उ. पु., हरिवंश एवं तिलोयप. में अङ्कित है, त्रिषष्टिशलाकापु. (२९७.३२) में पौष कृष्णा द्वादशी लिखी है, पर पुराणसा. (८४.४४) में केवल अनुराधा योग का ही उल्लेख मिलता है।

३. त्रिषष्टिशलाका पुरुष में भी स्तुति का उल्लेख है, पर उ. पु. (५४, १७४) में आनन्दनाटक का उल्लेख मिलता है, न कि स्तुति का।

विवाह संस्कार—वयस्क होते ही राजा महासेन उनका विवाहसंस्कार[1] करते हैं, जिसमें सभी राजे महाराजे सम्मिलित होते हैं।

राज्यसंचालन—पिताजी के आग्रह पर चन्द्रप्रभ राज्य का संचालन स्वीकार करते हैं। इनके राज्य में प्रजा सुखी रही, किसीका अकाल मरण नहीं हुआ, प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ तथा स्वचक्र या परचक्र से कभी कोई बाधा नहीं हुई। दिन रात के समय को आठ भागों में विभक्त करके वे दिनचर्या के अनुसार चल कर समस्त प्रजा को नयमार्ग पर चलने की शिक्षा देते रहे। विरोधी राजे-महाराजे भी उपहार ले-लेकर उनके पास आते और उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम करते रहे। इन्द्र के आदेश पर अनेक देवाङ्गनाएँ प्रतिदिन उनके निकट गीत-नृत्य करती रहीं। अपनी कमला आदि अनेक पत्नियों के साथ वे चिरकाल तक आनन्द पूर्वक रहे।

वैराग्य—किसी दिन एक वृद्ध लाठी टेकता हुआ उनकी सभा में जाकर दर्दनाक शब्दों में कहता है–'भगवन्, एक निमित्त ज्ञानी ने मुझे मृत्यु की सूचना दी है। मेरी रक्षा कीजिए, आप मृत्युञ्जय हैं, अतः इस कार्य में सक्षम हैं'। इतना कह कर वह अदृश्य हो जाता है। चन्द्रप्रभ समझ जाते हैं कि वृद्ध के वेष में देव आया था, जिसका नाम था धर्मरुचि। इसी निमित्त से वे विरक्त हो जाते हैं[2]। इतने में ही लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और 'साधु' 'साधु' कह कर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। तदनंतर वे शीघ्रही दीक्षा लेने का निश्चय करते हैं, और अपने पुत्र वरचन्द्र को अपना राज्य सौंप देते हैं।

तप—तत्पश्चात् इन्द्र और देव चन्द्रप्रभ को 'विमला' नामकी शिबिका में बैठाकर सकलर्तु[3] वन में ले जाते हैं, जहाँ वे [पौष कृष्णा एकादशी के[4] दिन] दो उपवासों का नियम लेकर सिद्धों को नमन

---

१. उ. पु. (५४. २१४) में और पुराणसा. (८६.५७) में क्रमशः, निष्क्रमण के अवसर पर अपने पुत्र वरचन्द्र व रवितेज को चन्द्रप्रभ के द्वारा उत्तराधिकार सौंपने का उल्लेख है, पर दोनों में ऐसे श्लोक दृष्टिगोचर नहीं होते, जिनमें उनके विवाह की स्पष्ट चर्चा हो। चं. च. (१७.६०) में चन्द्रप्रभ की अनेक पत्नियों का उल्लेख है जो त्रिषष्टिशलाका पु. (२९८. ५५) में भी पाया जाता है।

२. चन्द्रप्रभ के वैराग्य का कारण तिलोयप. (४.६१०) में अध्रुव वस्तु का और उ. पु. (५४.२०३) तथा त्रिषष्टिस्मृति. (२८.९) में दर्पण में मुख की विकृति का अवलोकन लिखा है। त्रिषष्टिशलाका पु. एवं पुराणसा. में वैराग्य के कारण का उल्लेख नहीं है।

३. हरिवंश (७२२.२२२) में शिबिका नाम 'मनोहरा', त्रिषष्टिशलाका पु. (२९८.६१) में 'मनोरमा' और पुराण सा. (८६.५८) में 'सुविशाला' लिखा है। तिलोयप. (४.६५१) में वन का नाम 'सर्वार्थ' उ. पु. (५४.२१६) में 'सवर्तुक' त्रिषष्टिशला कापु. (२९८.६२) एवं पुराणसा. (८६.५८) में 'सहस्राम्र' लिखा है।

४. चं. च. में मिति नहीं दी, अतः हरिवंश (७२३.२३३) के आधार पर यह मिति दी गई है। उ. पु. (५४.२१६) में भी यही मिति है, पर कृष्ण पक्ष का उल्लेख नहीं है। त्रिषष्टिशलाका पु. (२९८.६४) में पौष कृष्णा त्रयोदशी मिति दी है। पुराणसा. (८६.६०) में केवल अनुराधा नक्षत्र का ही उल्लेख है।

करते हुए एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेकर तप करते हैं। दीक्षा लेते समय वे पांच दृढ मुष्टियों से केश लुञ्चन करते हैं। देवेन्द्र और देव मिलकर तप कल्याणक का उत्सव मनाते हैं, और उन केशों को मणिमय पात्र में रखकर क्षीरसागर में प्रवाहित करते हैं।

पारणा—नलिनपुर[1] में राजा सोमदत्त[2] के यहाँ वे पारणा करते हैं। इसी अवसर पर वहाँ पांच आश्चर्य प्रकट होते हैं।

कैवल्य प्राप्ति—घोर तप करके वे शुक्लध्यान का अवलम्बन लेकर [फाल्गुन कृष्णा सप्तमी[3] के दिन] कैवल्य पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करते हैं।

समवसरण—कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् इन्द्र का आदेश पाकर कुबेर साढ़े आठ योजन[4] के विस्तार में वर्तुलाकार समवसरण का निर्माण करता है। इसके मध्य गन्धकुटी में एक सिंहासन पर भगवान् चन्द्रप्रभ विराजमान हुए और चारों ओर बारह प्रकोष्ठों में गणधर आदि।

दिव्यदेशना—तदनन्तर गणधर (मुख्य शिष्य) के प्रश्न का उत्तर देते हुए भ. चन्द्रप्रभ ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों का निरूपण ऐसी भाषा में किया, जिसे सभी श्रोता आसानी से समझते रहे।

गणधरादिकों की संख्या—दस सहज, दस केवलज्ञानकृत और चौदह देवरचित अतिशयों तथा आठ प्रातिहार्यों से विभूषित भ. चन्द्रप्रभ के समवसरण में तेरानवै गणधर, दो हजार[5] कुशाग्रबुद्धि पूर्वधारी, दो लाख चारसौ[6] उपाध्याय, आठ हजार[7] अवधिज्ञानी, दस हजार[8] केवली, चौदह हजार[9]

---

१. हरिवंश (७२४.२४०) और त्रिषष्टिशलाका पु. (२९८.६६) में पुर का नाम 'पद्मखण्ड' तथा पुराणसा. (८६.६२) में 'नलिनखण्ड' दिया है।

२. हरिवंश (७२४.२४६) और पुराणसा. (८६.६२) में राजा का नाम 'सोमदेव' लिखा मिलता है।

३. यह मिति उ. पु. (५४.२२४) के आधार पर दी गयी है। चं. च. में भ. चन्द्रप्रभ के जन्म और मोक्ष कण्याणकों की मितियाँ अङ्कित हैं, शेष तीन कल्याणकों की नहीं।

४. त्रिषष्टिशलाका पु. (२९८.७५) में चं. के समसरवण का विस्तार एक योजन लिखा है।

५. तिलोय प. (४.११२०) में पूर्वधारियों की संख्या चार हजार दी है।

६. तिलोय प. (४.११२०) में उपाध्यायों की संख्या दो लाख दस हजार चारसौ दी है।

७. तिलोय प. (४.११२१) में अवभिज्ञानियों की संख्या दो हजार लिखी है।

८. तिलोय प. (४.११२१) में केवलियों की संख्या अठारह हजार दी है।

९. तिलोय प. (४.११२१) में विक्रियाऋद्धिधारियों की संख्या छः सौ दी है और हरिवंश (७३६.३८६) में दस हजार चारसौ।

विक्रियाऋद्धिधारी साधु, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी साधु, सात हजार छः सौ[१] वादी, एक लाख अस्सी हजार[२] आर्यिकाएँ, तीन लाख सम्यग्यदृष्टि श्रावक और पांच लाख[३] व्रतविभूषित श्राविकाएँ रहीं।

आर्यक्षेत्र में यत्र-तत्र धर्मामृत की वर्षा करते हुए भ. चन्द्रप्रभ सम्मेदाचल (शिखरजी) के शिखर पर पहुँचते हैं। भाद्रपद शुक्ला सप्तमी[४] के दिन अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों के नष्ट करके दस लाख पूर्व प्रमाण आयु के समाप्त होते ही वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।

चं. च. में रस योजना—चं. च. में शान्त, शृङ्गार, वीर, रौद्र, बीभत्स, करुण, अद्भुत और वात्सल्य रस प्रवाहित है। इनमें शान्त अङ्गी है और शेष अङ्ग।

चं. च. में अलङ्कार योजना—चं. च. में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, चित्र, काकुवक्तिक्कि और यमक आदि शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त पूर्णोपमा, मालोपमा, लुप्तोपमा, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परम्परितरूपक, परिणाम, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, कैतवापह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशय, अन्तदीपक, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त, विरोधाभास, विभावना, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, परिवृत्ति, परिसंख्या, समुच्चय, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, तद्गुण, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त, अनुमान, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित, समाहित, भावोदय, संसृष्टि, और सङ्कर आदि शब्दालङ्कारों का एकाधिक बार प्रयोग हुआ है।

चं. च. की समीक्षा—महाकवि वीरनन्दि को भ. चन्द्रप्रभ का जो संक्षिप्त जीवनवृत्त प्राचीन स्रोतों से समुपलब्ध हुआ, उसे उन्हों ने अपने चं. च. में खूब ही पल्लवित किया है! चं. के जीवनवृत्त को लेकर बनायी गयीं जितनी भी दि. श्वे. कृतियाँ सम्प्रति समुपलब्ध हैं, उनमें वीरनन्दि की प्रस्तुत कृति ही सर्वाङ्गपूर्ण है। इसकी तुलना में उ. पु. गत चं. च. भी संक्षिप्त-सा प्रतीत होता है, जो उपलब्ध अन्य चन्द्रप्रभचरितों से, जिनमें हेमचन्द्रकृत चं. च. भी शामिल है, विस्तृत है। अतः केवल कथानक के आधार पर ही विचार किया जाए, तो भी यह मानना पडेगा कि वीरनन्दी को सब से अधिक सफलता प्राप्त हुई है। सरसता की दृष्टि से तो इनकी कृति का महत्त्व और भी अधिक बढ गया है।

वीरनन्दि का चं. च. अपनी विशेषताओं के कारण संस्कृत महाकाव्यों में विशिष्ट स्थान रखता है। कोमल पदावली, अर्थसौष्ठव, विस्मयजनक कल्पनाएँ, अद्भुत घटनाएँ, विशिष्ट संवाद, वैदर्भी रीति,

---

१. तिलोय प. (४.११२१) में वादियों की संख्या सात हजार दी है।

२. तिलोय प. (४.११६९) तथा पुराण सा. (८८.७५) में आर्यिकाओं की संख्या चार लाख अस्सी हजार लिखी है।

३. पुराण सा. (८८.७७) में श्राविकाओं की संख्या चार लाख एकानवे हजार दी है। त्रिषष्टिशलाका पु. में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र के द्वारा दी गई संख्याएँ प्रायः इन संख्याओं से भिन्न हैं।

४. उ. पु. (५४.२७१) में चन्द्रप्रभ के मोक्षकल्याणक की मिती फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गयी है, पुराण सा. (९०.७९) में मिति नहीं दी गयी, केवल ज्येष्ठा नक्षत्र का उल्लेख किया गया है।

ओज, प्रसाद तथा माधुर्यगुण, विविध छन्दों (कुल मिलाकर इकतीस) और अलङ्कारों की योजना, रस का अविच्छिन्न प्रवाह, प्राञ्जल संस्कृत, महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और मानवोचित शिक्षा आदि की दृष्टि से प्रस्तुत कृति अत्यन्त श्लाघ्य है।

प्रस्तुत कृति में वीरनन्दि की साहित्यिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक विद्वत्ता की त्रिवेणी प्रवाहित है। साहित्यिक वेणी (धारा) अथ से इति तक अविच्छिान्न गति से बही है। दार्शनिक धारा का सङ्गम दूसरे सर्ग में हुआ है, और सैद्धान्तिक धारा सरस्वती की भांति कहीं दृश्य तो कहीं अदृश्य होकर भी अन्तिम सर्ग में विशिष्ट रूप धारण करती है। पर कवि की अप्रतिम प्रतिभा ने साहित्यिक धारा को कहीं पर भी क्षीण नहीं होने दिया। फलतः दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओं में भी पूर्ण सरसता अनुस्यूत है।

अश्वघोष और उनके उत्तरवर्ती कालिदास की भांति वीरनन्दि को अर्थचित्र से अनुरक्ति है। यों इन तीनों महाकवियों की कृतियों में शब्दचित्र के भी दर्शन होते हैं, पर भारवि और माघ की कृतियों की भांति नहीं, जिनमें शब्दचित्र आवश्यकता की सीमा से बाहर चले गये हैं।

चं. च. में वर्णित चन्द्रप्रभ का जीवनवृत्त अतीत और वर्तमान की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रारम्भ के पन्द्रह सर्गों में अतीत का और अन्तके तीन सर्गों में वर्तमान का वर्णन है। इसलिए अतीत के वर्णन से वर्तमान का वर्णन कुछ दब–सा गया है। चन्द्रप्रभ की प्रधान पत्नी का नाम कमलप्रभा है। नायिका होने के नाते इनका विस्तृत वर्णन होना चाहिए था, पर केवल एक (१७. ६०) पद्य में ही इनके नाम मात्र का उल्लेख किया गया है। इसी तरह इनके पुत्र वरचन्द्र की भी केवल एक (१७. ७४) पद्य में ही नाम मात्र की चर्चा की गयी है। दोनों के प्रति बरती गयी यह उपेक्षा खटकने वाली है। दूसरे सर्ग में की गयी दार्शनिक चर्चा अधिक लम्बी है। इसके कारण कथा का प्रवाह कुछ अवरुद्ध–सा हो गया है। इतना होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से प्रस्तुत महाकाव्य प्रशंसनीय है क्लिष्टता और दूरान्वय के न होने से इसके पद्य पढते ही समझ में आ जाते हैं। इसकी सरलता रघुवंश और बुद्धचरित से भी कहीं अधिक है।

संस्कृत व्याख्या और पञ्जिका—विक्रम की ११ वीं शती के प्रारम्भ में निर्मित प्रस्तुत महाकाव्य पर मुनिचन्द्र (वि. सं. १५६०) की संस्कृत व्याख्या और गुणनन्दि (वि. सं. १५९७) की पञ्जिका उपलब्ध हैं। पं. जयचन्द्र छावड़ाने (जन्म वि. सं. १७९५) इसके दूसरे सर्ग के ६८ दार्शनिक पद्यों पर पुरानी हिन्दी में वचनिका लिखी थी, जो उललब्ध है।

इस तरह प्रस्तुत महाकाव्य के विषय में संक्षिप्त परिशीलन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य शुभचंद्रकृत ज्ञानार्णव

प्रा. सौ. पद्मा किल्लेदार, नागपूर

[**संस्कृतमध्ये एक सुभाषित प्रसिद्ध आहे. चिता-चिन्ता-समा नास्ति बिंदुमात्र विशेषता। सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ॥** अशा सजीवाला जाळणाऱ्या चिन्तेला कसे जाळायचे ह्याच ध्यानाचा प्रमुख उद्देश्य आहे. संसारी माणूस उठतो ती चिंता घेऊनच. मग ती लाकडाची की मिठाची असो, की तेलाची. तो झोपतोही चिन्ता घेऊनच. त्याचा भूत भविष्य वर्तमान चिन्ताग्रस्त असतो. अशा ह्या जन्मापासून मरेपर्यंत ग्रस्त करणाऱ्या चिन्तेला कायमचे ग्रस्त करते ते ध्यान होय. ह्याच ध्यानाचा जैनागमात फार काळजीपूर्वक विचार केलेला आहे. कुन्दकुन्दामध्ये नामोल्लेख असणारे ध्यान उमास्वामीच्या तत्त्वार्थसूत्रात सूत्रबद्ध झाले. पूज्यपादांनी सर्वार्थसिद्धीत त्याला स्पष्ट अर्थ प्राप्त करून दिला. भट्टाकलंकाने राजवार्तिकात त्यावर साधकबाधक चर्चा केली. शुभचंद्रांनी ज्ञानार्णवात त्याचा सर्व बाजूंनी व सर्व अंगोपागांचा विचार करून अतिशय सखोल विवरण प्रस्तुत केले. अशा दुःखदायक व सुखहारक ग्रंथाचा हा अल्प परिचय मुमुक्षु लोकांसाठी करून देण्याचा हा स्वल्प प्रयत्न आहे.]

आचार्य शुभचंद्र हे आपणा सर्व धर्मबांधवांना त्यांच्या महान् कृतीमुळे व त्यांच्या ग्रंथाच्या अध्ययन परंपरेमुळे सुपरिचित आहेत. निरिच्छ वृत्तीने व साधु प्रवृत्तीने प्रसिद्धिपराङ्मुख अशी आपल्या मुमुक्षु आचार्यांची परंपराच आहे. त्यात शुभचंद्राचार्यांनी त्यांच्या कृतीत कोठेही नामोल्लेख देखील केला नाही तर जीवनविषयक माहिती दूरच राहो. पण त्यांच्या ग्रंथात त्यांनी ज्या महान आचार्यांचा उल्लेख केला आहे त्यांत योगशुद्धि करणारे पूज्यपाद, कवीन्द्रसूर्य समन्तभद्र व स्याद्वाद विद्याधारी भट्टाकलंकदेव आचार्य जिनसेन ह्यांचे प्रामुख्याने स्मरण केले आहे. ह्या चारही आचार्यांत आचार्य जिनसेन हे इ. स. ८९८ च्या काही वर्ष आधीचे. व शुभचंद्र निश्चित त्यांच्या नंतरचे आहेत. त्यामुळे इ. स. ९ व्या शतकापूर्वी त्यांचा काळ मानू शकत नाही. पण त्यानंतरचा मर्यादाकाळ ऐतिहासिक पुराव्या अभावी सिद्ध करता येत नाही.

प्रत्यक्ष ग्रंथकारांनी प्रथम सर्गाच्या अकराव्या श्लोकात व ग्रंथ समाप्तीच्या शेवटच्या दोन श्लोकांत ह्या ग्रंथाचा नामोल्लेख केलेला आहे.

प्रथम सर्ग :—

अविद्या प्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।
ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥

ग्रं. स. १) **ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।**
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥

२) **इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किंचित् ।**
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम् ॥
विबुधमुनिमनीषाम्बोधिचन्द्रायमाणं ।
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रः ॥

ग्रंथकारांनी स्वतःच ज्ञानार्णव व ध्यानशास्त्र ह्या दोन नावांनी ग्रंथाचा उल्लेख केलाच आहे. याशिवाय योगीजनांना आचरणीय व ज्ञेय सिद्धांताचे रहस्य ह्यात असल्यामुळे योगार्णव ह्या नावाने देखील लोकात प्रसिद्ध आहे. मन, वचन, काय ह्यांना शुद्ध करण्याची प्रक्रिया ह्यात सांगितली असल्यामुळे अथवा युज्ज म्हणजे जोडणे. मोक्षासाठी जो जोडतो तो योग व अशा मनवचनकायेचा परिशुद्ध धर्मव्यापार म्हणजे योग व त्याचे विस्तृत विवेचन ह्यात असल्यामुळे योगार्णव हे नाव प्रचलित झाले असावे.

ह्या नावावरून ज्ञानसाधना, योगसाधना वा ध्यानसाधना हा ह्या ग्रंथाचा प्रतिपाद्य विषय आहे.

प्रथम सर्गाच्या ९ व्या श्लोकात :

तत् श्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाध्यस्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ।।

प्रथम नान्दीरूपात ध्यानव्याख्या केलेली आहे. व ज्ञानसाधनेद्वारा ध्यानसाधना साध्य करायला प्रेरणा दिली आहे.

संक्षिप्तरुचि शिष्याकरता प्रथम बारा अनुप्रेक्षेच्या रूपात पूर्व तयारी करून संक्षेपात ध्याता ध्यान-व्याख्या व भेद सांगितले आहेत. १२ अनुप्रेक्षेचे वर्णन करताना वाचक क्षणभर भान विसरून आपला मूर्खपणा समजू शकतो. ह्या वर्णनात आपदास्पद संबंधी, रोगाक्रांत शरीर, विनाशान्त ऐश्वर्य, मरणान्त जीविता-मुळे क्षणिकत्वाची प्रतीति आहे. आपत्ति व मृत्यूपासून वाचविण्यासाठी कोणी शरण नसल्याची जाणीव आहे. संसाराचे विडंबन व पंचपरिवर्तनामुळे भय आहे. भिन्नत्वाचे प्रतिपादन आहे. एकत्वाचे सूचन आहे. अनर्थ अपवित्र मंदिर असणाऱ्या शरीराचे चित्रण आहे. आगमाप्रमाणे आस्रव, संवर, निर्जरा भेदासह स्पष्ट केले आहे. विविध प्रकारचा धर्म त्रिलोक वर्णन व दुर्लभ असणाऱ्या धर्माचा उल्लेख आहे. कामभोगशरीरेच्छेचा त्याग, संवेगी–निर्वेगी अप्रमादी व इन्द्रियविषयपराङ्मुख अशी प्रथम भूमिका तयार झाल्यावर, अशुभ, शुभ व शुद्ध असे त्रिविध आशय, लेश्येचे अवलंबन व ध्येयविषय ह्यामुळे ध्यान देखील अप्रशस्त, प्रशस्त व शुद्ध असे तीन प्रकारचे सांगितले आहे. जिताक्ष, स्ववश, संवृत्त, धीर, मुमुक्षु मुनी ध्याते आहेत. गृहस्थावस्थेत मनाचे दोष, कामवासना, आर्तरौद्र परिणाम व प्रमाद ह्यामुळे ध्यानसिद्धि होत नाही असे स्पष्ट प्रतिपादन आहे. ध्यान अपात्रांच्या यादीत तत्कालीन अन्य मत नित्यवादी, सांख्य, नैय्यायिक, वेदांती मीमांसक, अनित्यवादी बौद्ध, क्रियावादी १८०, अक्रियावादी ८४, ज्ञानवादी ६७, विनयवादी ३२, अशा ३६७ मतांचा उल्लेख करून दोषदिग्दर्शन करून मिथ्यादृष्टीत त्यांचा समावेश केला आहे.

ध्यानपात्र मुनींचे वर्णन आहे. ज्ञानपिपासु, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ ह्या चतुर्भावनेने मनशुद्धी करणारा निस्पृह कषाय व इंद्रियविजयी ध्यान सिद्ध करू शकतात. रत्नत्रय शुद्धिपूर्वक ध्यान मानले असल्यामुळे तत्त्वरुची म्हणजे सम्यक्त्व, तत्त्वप्रख्यापक ज्ञान व पापक्रिया निवृत्ती चारित्र होय. त्यांच्या भेद प्रभेदांचे व गुणदोष विचारपूर्वक विवरण आहे. सम्यक्चारित्राचे वर्णन करताना पाच महाव्रताचे वर्णन आहे. अहिंसाणुव्रताचे तर फारच सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन केले आहे. सत्यानुव्रतात, हित, मित, प्रिय, सदय धर्मरक्षक वचन हवे, पण, कठोर, वक्तवाद सदोष मर्मभेदक नको. ब्रम्हचर्य महाव्रताचे फार गहन व विस्तृत वर्णन आहे. मैथुन प्रकार, काम स्त्री दोष व गुणवर्णन, स्त्रीसंसर्ग व वृद्धसेवावर्णन आहे. परिग्रह त्यागात अन्तरंग वहिरंग परिग्रहाचा उल्लेख, २५ भावना, पाच समिति, तीन गुप्ति ह्यांचे संक्षिप्त वर्णन आहे. क्रोधादिक कषाय चारित्र व ध्यानघातक असल्यामुळे त्याचेही वर्णन आहे. ह्याप्रमाणे ध्यानाची पार्श्वभूमी तयार होण्या-करता आवश्यक त्या सर्व कर्मांची सिद्धि झाल्यावर आत्मतत्व जाणण्याची पात्रता येते. म्हणून त्या काळात प्रसिद्ध शिव, काम व गरुड ह्या ध्येयतत्त्वाचे नव्या अर्थाने आत्म्यातच अंतर्भाव करून वर्णन फारच सुंदर केले आहे. जनमनाला न दुखवित प्रच्छन्नपणे आघात करून नवीन मार्गदर्शन करून त्याच नावाखाली ध्येय तत्त्व बदलविले आहे. ध्यानसाधनेसाठी मनोरोध सांगून, मनोव्यापाराचे चित्रण करून अन्य मतांनी मानलेल्या आठ ध्यानांगाचा उल्लेख केला व निजरूपात स्थिरता हेच ध्यान सांगून मनाला वीतराग, वीतद्वेष व वीतमोह करण्याची प्रेरणा देऊन रागी व वीतरागीमुळे अनुक्रमे बंध मोक्ष पद्धति आहे हे सांगून साम्यभाव आचरायला सांगितला आहे.

साम्यभावपरं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येयं शास्त्रविस्तरः ॥

साम्य भावामुळे अशुभांचा जसा हेयपणा तसाच शुभहि हेय ही बुद्धि निर्माण होऊन शुभातच धर्म समज-णाऱ्या विचारातून व्यक्ति वर येते व त्यामुळे ध्यानसन्मुख अवस्था म्हणजेच साम्यभाव असे समजायला काही हरकत नाही. व हा साम्यभाव निश्चल व्हावा हाच ध्यानाचा हेतु आहे. ध्यान व समभाव दोन्हीही एकमेकांना आधार आहेत.

वास्तविक ज्ञान वा ध्यान प्रशस्तच आहेत. पण आमचे अज्ञान ज्ञानाला मोहाकरता व ध्यानाला नरका-करता योजते म्हणून अप्रशस्त ध्यान हेय आहे असे सांगून मोक्षाकरिता प्रयोजनभूत असणारी ध्यानव्याख्या केली आहे. शिष्यांना उपदेश करताना प्रथम उत्कृष्ट तत्त्वाचाच उपदेश करायचा, पण शिष्याच्या बलहीनतेमुळे त्यातून मार्ग काढण्याकरता क्रमाक्रमाने खालून उत्कृष्ट तत्त्व सांगायचे ही जैनचार्यांची पद्धती शुभचंद्रांनीही स्वीकारली होती. उत्कृष्ट संहनन असणाऱ्या व्यक्तीचे एकाच अग्रावर मनाला जे निरूद्ध करणे ते ध्यान. त्याचा जास्तीत जास्त काल अन्तर्मुहूर्त आहे. एकाच ध्येयावर स्थिर असणारे ते ध्यान व अनेक अर्थाचा विचार म्हणजे अनुप्रेक्षा. ह्या ध्यानव्याख्येत सर्व प्रकारच्या ध्यानाचा व ध्यानस्वामींचा अंतर्भाव होऊ शकत नाही. फक्त बुद्धिपूर्वक ध्यानाचा व संज्ञी जिवांचा विचार ह्यात येतो पण अबुद्धिपूर्वक. (मनव्यतिरिक्त) प्रत्येक इन्द्रियांनी होणारे अप्रशस्त ध्यान एकेन्द्रियापासून असंज्ञी पंचेन्द्रियापर्यंत असणारे ध्यानस्वामी ह्यात समाविष्ट होऊ शकत

नाही. पण ह्यात तपाच्या अनुषंगाने, मनुष्यगतीतूनच मोक्ष आहे. ह्या सिद्धांताप्रमाणे मुनिअवस्थेपासून तो मोक्ष-साधक ध्यानाचाच विचार आहे. त्यामुळे प्रसंगोचित अशी ही विशेष उत्कृष्ट ध्यानव्याख्या आहे. सर्व प्रकारच्या ध्यानांचा अंतर्भाव होणारी सामान्य व्याख्या नाही असे वाटते, पण उत्तम संहनन नसणाऱ्यालाही कमी कालमर्यादा असणारे ध्यान होऊ शकते. क्षायोपशमिक ज्ञानभावाच्या उपयोगाची एकाच अग्रावर असणारी स्थिरता म्हणजे ध्यान हा अर्थ ह्याच व्याख्येवरून निघतो. म्हणून मानली तर विशेष व मानली तर सामान्य ह्या दोन्ही व्याख्या ह्यात अंतर्भूत आहेत. प्रथम ध्यानाचे प्रशस्त अप्रशस्त भेद करून, अप्रशस्त ध्यान म्हणजे आर्त व रौद्र व प्रशस्त म्हणजे धर्म्य व शुक्ल ध्यान सांगितले आहे.

(१) आर्त म्हणजे पीडा, दुःख त्यात जे उत्पन्न होते ते आर्त. अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, रोगादिकांच्या पीडेमुळे व चौथे भोगांत निदानामुळे होते. हे आर्तध्यान एक ते सहा गुणस्थानापर्यंत असते एक ते पाच पर्यंत पहिले चार व सहाव्यात निदानरहित तीन आर्त ध्यान असतात. कृष्ण, नील, कापोत ह्या अशुभ लेश्येच्या सामर्थ्याने होतात. निसर्गतः स्वयमेव उत्पन्न होते. काळ अंतर्मुहूर्त, त्यानंतर निश्चित ज्ञेयांतर असते. प्रमादि, भित्रे, उद्भ्रांत, आळशी, कलहप्रिय असे आर्तध्यानी असतात. तिर्यंचगती हे फळ होय. रुद्र, क्रूर आशयापासून उत्पन्न होणारे रौद्रध्यान हिंसानंद, चौर्यानंद, मृषानंद व संरक्षणानंद हे चार प्रकार आहेत. प्रामुख्याने कृष्णलेश्या असते व नरकगती हे फल होय. सामान्यपणे कृष्ण, नील, कापोत ह्या तीन लेश्या असतात व तिर्यंचगती हेही फल असते. पाच गुणस्थानापर्यंत स्वामी असतात. पाचव्या गुणस्थानात अशुभ लेश्या व नरकायुचा बंध नाही. पण हे वर्णन मिथ्यादृष्टीच्या प्राधान्याने केलेले आहे. सम्यग्दृष्टीच्या अपेक्षेने एवढे रुद्र परिणाम नरकफलाला देणारे नाहीत. क्रूरता, कठोरता, फसवणूक हे रौद्रध्यानीचे बाह्य चिन्ह आहेत. काल अंतर्मुहूर्त आहे. स्वयमेव उत्पन्न होणारे आहेत. ही दोन्हीही ध्याने पूर्वकर्मामुळे मुनींना देखील होतात. तेव्हा हे दोन्हीही अप्रशस्त ध्यान हेय आहेत.

आर्तध्यानाचा विषय दुःखपीडा तर रौद्र ध्यानाचा पाच पापात हर्षरूप रुद्र विषय. दोन्ही ध्यान क्षायोपशमिक भाव आहेत. दोन्हींचा काल जास्तीत जास्त अन्तर्मुहूर्त आहे. आर्तध्यान स्वामीचे एक ते सहा गुणस्थानापर्यंत तर रौद्र स्वामी एक ते पाच पर्यंत. आर्तध्यानात कृष्ण, नील, कापोत ह्या ३ लेश्येचे अवलंबन तर रौद्र ध्यानात प्रामुख्याने फक्त कृष्ण लेश्येचे अवलंबन. आर्ताचे फल तिर्यंचगति तर रौद्राचे फल नरकगति आहेत. दोन्ही स्वयमेव अनादि संस्काराने उत्पन्न होतात. त्यानंतर धर्मध्यानाचे वर्णन आहे. धर्मध्यानापूर्वीची भूमिका तयार झाल्यावरच ते होऊ शकते. प्रशम भावांचे अवलम्बन, इन्द्रिय व मन स्ववश, कामभोगामध्ये निरिच्छ व विरक्त झाल्यावर धर्मध्यानाचा विचार. ह्या धर्मध्यानाचा ध्याता ज्ञानवैराग्यसंपन्न संवृत, स्थिराशयी, मुमुक्षु, उद्यमी, शांत व धैर्यवान असावा.

प्रथम धर्मध्यानाच्या पोषक चार भावना सांगितल्या आहेत. मित्राविषयी अनुरागाने सुरवात मैत्री-पोषक रस, चुका झाल्यावर दुरुस्ती, स्खलन झाल्यास तडजोड अशी हितैषी भावना असते. त्याप्रमाणे सर्व प्राणिमात्राच्या ठिकाणी समभावनेने अनुरागपूर्वक हितैषी भावना म्हणजे मैत्री. सहानुभूतीने वा दयेने, दुःखाने पीडित जिवांचे दुःख दूर करणारी बुद्धि करुणा, गुणीजनात प्रमोद व विपरीताचरण करणाऱ्यांच्या

विषयी माध्यस्थ भाव ठेवावा. ह्यामुळे कषाय आटोक्यात राहतात. ह्या भावना व मोक्षमार्गाचा प्रकाश दाखविण्याकरिता दीपिकेप्रमाणे आहेत.

त्यानंतर ध्यान करण्यायोग्य व अयोग्य स्थानाचा निर्देश आहे. म्लेंच्छ पापी दुष्ट राज्याच्या अधिकारातील स्थान, पाखंडी ऋषी, रुद्रादिक देवतास्थान, गर्विष्ठ सावकाराचे क्षेत्र, व्यसनी अड्डयाचे स्थान, शिकारी हिंसक, समरांगण हे ध्यानाकरिता अस्थान आहेत. एकंदर क्षोभज, मोहज, विकारज स्थान नको.

सिद्ध क्षेत्र, महा क्षेत्र, कल्याणक स्थान, समुद्रकिनारा, वन, पर्वत, संगमस्थान, द्वीप, वन, गुंफा, जुने वन वा स्मशान, कृत्रिम वा अकृत्रिम चैत्यालय, शून्य घर, गांव, उपवन, संक्षेपाने ध्यान अविक्षेपक स्थाने असावीत.

पर्यंक, अर्धपर्यंक, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ही ध्यान योग्य आसने आहेत. ध्यानसिद्धीकरता, स्थिरतेकरता स्थान व आसन वर्णन आहे.

उत्तर किंवा पूर्व दिशेला तोंड करून ध्यान करावे. पण रत्नत्रयसहित मुनींसाठी हा नियम नाही. ह्या धर्मध्यानाचे स्वामी मुख्य व उपचार ह्या भेदाने प्रमत्तगुणस्थानी व अप्रमत्तगुणस्थानी आहेत. त्यात अप्रमत्तगुणस्थानी पूर्वधारी सातिशय अप्रमत्त होऊन श्रेणीला आरंभ करतो. म्हणून धर्मध्यानी होय. विकलश्रुत देखील धर्मध्यानाचे स्वामी आहेत. चवथ्या गुणस्थानापासून सातव्या गुणस्थानापर्यंत धर्मध्यानाचे स्वामी आहेत. जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदाने ध्यान तीन प्रकारचे आहेत.

त्यानंतर ध्यानमुद्रेचे वर्णन आहे. आसन विजयी, विकसित कमलसदृश दोन हात, निर्विकार चेहरा, शरीर सरळ व ताठ, निश्चल व अविभ्रमी मुद्रा असावी.

बाकीच्या सांख्यादिकांनी आसनप्राणायामादि आठ ध्यानांग मानलेत. पण त्यांच्या मानण्यात लौकिक व शारीरिक निर्दोषता हे प्रयोजन आहे. त्यापाठीमागे तत्त्वज्ञानाची बैठक असायला पाहिजे. ती नाही.

आचार्य शुभचंद्राच्या आधी ध्यानाचा प्रसंगोपात्त उल्लेख आहे. पण एवढा सविस्तर दिगंबरमान्य ध्यानग्रंथ आज उपलब्ध ग्रंथसंग्रहात नाही. त्यांच्या आधीच्या कोणत्याही आगमग्रंथात वा पूज्यपादांच्या ग्रंथात ह्या ध्यानांगाचा विचार आढळत नाही. पण ह्या ज्ञानार्णवात तत्वज्ञानाच्या बैठकीच्या सुंदर कोंदणात ही ध्यानपरिकर बसविली असल्यामुळे ध्यानसाधना सुंदर नि तेजस्वी झाली आहे. त्या काळात जनमनावर ह्या बाकीच्या मान्यतेचा इतका प्रभाव असावा की तो न डावलता, सम्यक्त्वात व शुद्धीत बाधा न आणता त्यांचा प्रयोजनभूत तेवढा स्वीकार त्यांनी केला आहे.

साधारण ध्यानीकरता, मनाच्या अविक्षिप्त वा स्थिर अवस्थेकरिता ही ध्यानांग प्रयोजनभूत आहे. पण आत्मध्यानींना कसलाही आसनस्थानादिकांचा निर्बंध नाही. व ह्याच नव्या दृष्टिकोनातून त्यांनी त्या अंगाचा विचार केला. त्याचप्रमाणे प्राणायामाचा देखील आगम व स्याद्वादाने निर्णय करून सिद्धी, मनाच्या एकाग्रतेपूर्वक आत्मस्वरूपात स्थैर्य ह्या दोन प्रयोजनाकरता प्राणायाम उपयुक्त होय. ह्यामुळे दृष्ट वा लौकिक प्रयोजन गौण करून सम्यक्त्वपूर्वक मुक्तीसाठी प्रयोजनभूत सांगितले आहे.

पवनस्तंभन हे प्राणायामाचे लक्षण व ते स्तंभन, पूरण, कुंभक व रेचक असे ३ प्रकारचे आहे. ह्यामुळे वायुस्तंभनाबरोबर मन निष्प्रमादी व आत्म्यावर अवरुद्ध होते. व कक्षाय क्षीण होतात. त्या अनुषंगाने पवनमंडल चतुष्टयांचे वर्णन केले. पृथ्वी, आप, पवन व वन्हीमंडल आहेत व त्यांचे कार्यविशेषाने शुभाशुभ भेद सांगितले आहेत. त्यामुळे अनेक लौकिक सिद्धी सांगितल्या पण मन स्ववश होते. त्यामुळे विषयवासना नष्ट होते. निजस्वरूपांत लयप्रवृत्ती व परंपरेने मोक्ष हे पारमार्थिक फल आहे.

प्रत्याहार—आपल्या इंद्रियाला व मनाला त्यांच्या त्यांच्या इंद्रियापासून परावृत्त करून स्वेच्छेनुसार ते लावतो हा प्रत्याहार. प्राणायामात विक्षेपाला प्राप्त झालेले मन स्वास्थ्याला प्राप्त होण्याकरता समाधिप्राप्ती-करता प्रत्याहाराचे प्रयोजन आहे. संसाररहित परामात्म्याचे वीर्यसहित ध्यान ते सवीर्यध्यान होय. ह्यात आत्मा परमात्म्याचे सूक्ष्म विवेचन आहे. त्यानंतर बहिरात्मा, अंतरात्मा व परमात्म्याचे वर्णन आहे. शरीरादिकांच्या ठिकाणी आत्मत्वाची बुद्धी असणारा बहिरात्मा, आत्म्यात आत्मत्वाची भावना करणारा अंतरात्मा व अत्यंत शुद्ध निर्मळ परमात्मा. (ह्यातील अनेक श्लोकांचे आचार्यांनी पूज्यपादांच्या समाधिशतकाच्या कितीतरी श्लोकांशी साम्य आहे.) बहिरात्मा हेय, अंतरात्मा साधन, व त्या साधनाने परमात्मा साध्य आहे. ५ ते ११–१९–२०–२२ इत्यादि जवळजवळ बत्तिसावा सर्ग म्हणजे पूज्यपादश्रींच्या समाधिशतकाशी बहुतांश श्लोकांच्या अर्थाशी मिळताजुळता आहे.

हे धर्म्यध्यान सातव्या गुणस्थानात परिपूर्ण होते. त्या ठिकाणी उत्कृष्ट धर्मध्यान आहे. ह्या ध्यानाने सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानातून श्रेणी चढतो व त्यामुळे शुक्लध्यान प्राप्त करून त्यामुळे कर्मनाश व केवल-ज्ञानाची प्राप्ती होते. धर्म्य व शुक्ल ह्या दोन्ही ध्यानांचे ध्येय एकच आहे पण धर्मध्यानापेक्षा विशुद्धि शुक्लध्यानाची जास्त व गुणस्थानभेदाने स्वामिभेद आहे.

अनादिविभ्रमवासना, मोहोदय, अनभ्यास, तत्त्वसंग्रह अभाव व अस्थिर झालेल्या चित्ताला स्थिर करण्याकरता, ध्यानविघ्न दूर करण्याकरता समस्त वस्तूंचा निश्चय करण्याकरता वस्तूच्या धर्मामध्ये स्थिर होण्याकरता धर्म्यध्यान आहे. ह्यात छद्मस्थाच्या क्षायोपशमिक वा दृष्ट ज्ञानाने सर्वज्ञांच्या आगमावरून परमात्म्याचा निश्चय करून परमात्म्याचे ध्यान करावे.

आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय व संस्थान विचय हे धर्मध्यानाचे भेद आहेत. आगमात सांगितलेल्या वस्तुतत्त्वाला सर्वज्ञांची आज्ञा म्हणून चिंतवन आज्ञा विचय, त्यात प्रमाणनय निक्षेपाने उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप चेतन अचेतन रूप तत्त्वसमूहाचे चिंतवन, शब्दात्मक व अर्थात्मक श्रुतज्ञानाचे चिंतवन, हा ह्या ध्यानाचा विषय आहे. अनुषंगाने श्रुतज्ञानाचे विस्तृत विवेचन आहे.

अपायामध्ये, मोक्षसाधनेमध्ये अपायभूत असणाऱ्या तत्त्वाचा विचार आहे. व त्यापासून परावृत्त होण्याची व सावधानतेची प्रेरणा आहे. मोक्षपाया व मोक्षाच्या निर्णयाचा विचार आहे. विपाक विचयात कर्म, कर्मोदय, ८ कर्मे त्यांचे भेद, त्यांच्या उदयादिक अवस्थांचे चिंतवन आहे.

संस्थान विचयात त्रिलोक स्वरूपाचा विस्तृत विचार आहे. चार गतींचे वर्णन. देवगतीचे वैभव विस्तृत चितारले आहे. व ह्याच संस्थान विचयात पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ह्या चार प्रकारच्या ध्यानाचा अंतर्भाव केला आहे. आज उपलब्ध ग्रंथांत ह्या चार प्रकारच्या ध्यानाचा उल्लेख फक्त ह्याच ग्रंथात प्रथम सापडतो. म्हणून जैन योगसाधनेत ही एक नवी देन म्हणायला काही हरकत नाही.

पिंडस्थ ध्यानात पाच धारणांचे वर्णन आहे. पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी, तत्त्वरूपवती ह्या त्या धारणा होत.

पिंडस्थ धारणेत पार्थिवी धारणात प्रथम तिर्यकलोकसदृश निःशब्द कल्लोलरहित व बर्फसदृश क्षीर समुद्राचे चिंतवन, नंतर त्यात दीप्तिमान सहस्रदल कमळाचे चिंतवन, त्यानंतर कमळाचे मध्यभागी दशदिशा व्यापणाऱ्या पीतवर्ण कर्णिकेचे ध्यान, त्या कर्णिकेत श्वेतवर्ण सिंहासन व त्यात सुखशान्तस्वरूप, क्षोभरहित आत्म्याचे चिंतवन आहे.

त्यानंतर आपल्या नभोमंडलात सोळा पाकळ्यांच्या कमळाचे व त्या कमळाच्या कर्णिकेत र्हूँ ह्या मंत्राची स्थापना व चिंतवन व त्या सोळा पानांवर अ, आ, ते अः पर्यंत सोळा अक्षरांचे ध्यान, त्यानंतर धूम, स्फुल्लिंग, ज्वाला त्यांच्यामुळे जळणाऱ्या हृदयस्थ कमळाचे चिंतवन. हृदयस्थ कमळ अधोमुख व आठ पाकळ्यांचे आहे. त्या आठ पाकळ्यांवर आठ कर्म स्थिर आहेत. व अशा कमळाला र्हूँ ह्या महामंत्रापासून उठणाऱ्या ज्वाला जाळतात. तेव्हा अष्टकर्म जळतात. ते कमल जळल्यानंतर अग्नीचे चिंतवन करावे व ह्या अग्नीच्या ज्वाला समूहाने जळणाऱ्या वडवानलाप्रमाणे ध्यान करावे. अग्नी बीजाक्षरव्याप्त, अन्ति सह चिन्हाने युक्त व वर वायुमंडलाने उत्पन्न धूमरहित असे चिंतवन करावे. ह्याप्रमाणे हे बाहेरचे अग्निमंडल अंतरंगाच्या मंत्राग्नीला दग्ध करते, त्यानंतर नाभिस्थ कमळाला जाळून दाह्य पदार्थाच्या अभावामुळे शांत होते.

त्यानंतर श्वसना धारणेत आकाशात पूर्ण होऊन संचार करणाऱ्या, वेगवान व महाबलवान वायुमंडलाचे चिंतन करावे. तो वारा जगात पसरून पृथ्वीतलात प्रवेश करून त्या दग्ध शरीरादिकाच्या भस्माला उडवून देतो व त्यानंतर तो शांत होतो.

वारुणी धारणा, गर्जना, विजा, इंद्रधनुष्यादि चमत्कारयुक्त मेघव्याप्त आकाशाचे ध्यान, त्यानंतर जलबिंदु धारा, त्यानंतर अर्धचन्द्राकार आकाशातला वाहून नेणाऱ्या वरुण मंडलाचे ध्यान व ह्या दिव्य ध्यानाने भस्मप्रक्षालन करतो असे चिंतवन करावे.

व त्यानंतर तत्त्वरूपवती धारणेत सप्तधातुरहित निर्मल सर्वत्र समान आत्म्याचे ध्यान करावे. त्यानंतर अतिशय युक्त सिंहासनावर आरूढ, कल्याणिक महिमायुक्त व पूज्य अशा आत्म्याचे चिंतवन व त्यानंतर अष्टकर्मरहित अतिनिर्मळ आत्म्याचे चिंतवन करावे. पिंडस्थ ध्यानामुळे विद्या मंडळ, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजाल क्रूर क्रियादिकांचा उपद्रव होत नाही.

वास्तविक ज्ञानानन्दरूप आत्माच ध्येय आहे. पण ह्या पाच धारणादिका कल्पना करून कां ध्यान सांगितले हा प्रश्न आचार्यांनीच उभा करून उत्तर दिले की शरीर पृथ्व्यादिक धातुमय आहे. व पुद्गल-कर्म--

द्वारा उपन्न आहे. त्याचा आत्म्याशी सम्बन्ध आहे. त्यामुळे आत्मा द्रव्य भाव कलंकाने मलीन आहे. त्यामुळे अनेक विकल्प उत्पन्न होतात. त्यामुळे परिणाम निश्चल होत नाही. त्या चित्ताला स्वाधीन चिंतवनाने वश करायला पाहिजे. आलंबनाशिवाय चित्तस्थैर्य नाही म्हणून पाच धारणांची कल्पना केल्या गेली. ह्याप्रमाणे प्रत्येक विक्षेपजन्य वस्तूवर मनाला अवरुद्ध करून क्रमाने उत्तम तत्त्वावर अवरुद्ध करण्याच्या अभ्यासाने ध्यानाची दृढ ध्यानसाधना होते. बाकीच्या सांप्रदायाने ह्या धारणा मानल्यात पण त्यामुळे काही लौकिक चमत्कारसिद्धी होते. पण मोक्षसाधक ध्यान यथार्थ आत्मतत्त्वनिरूपणाशिवाय होत नाही. गाभ्याशिवाय चोथा त्याप्रमाणे ते ध्यान आहे.

पदस्थ ध्यान—पवित्र मंत्राच्या अक्षरस्वरूप पदांचा अवलंबन करून चिंतवन करतात. ते पदस्थ ध्यान होय. ह्यात वर्णमातृका (स्वर व्यंजन) ध्यान, प्रथम स्वरावली, नंतर अनुक्रमे पंचवीस व्यंजन, नंतर आठ वर्ण, नंतर ऱ्हूँ बीजाक्षर तत्वरूप असणारे मंत्रराज, हे मंत्रराज अक्षर विविध लोकांनी विविध रूपात मानले आहे. पण हे अक्षर म्हणजे साक्षात जिनेन्द्र भगवान मंत्रमूर्तीला धारण करून विराजमान आहेत. प्रथम अर्हं अक्षराचे सर्व अवयवासहित ध्यान, नंतर अवयवरहित, नंतर वर्णमात्र चिंतवन करावे. त्यानंतर बिंदुरहित, कलारहित, रेफरहित, अक्षररहित, उच्चार करण्याला योग्य न होईल अशा क्रमाने चिंतवन करावे. नंतर अनाहत देवस्मरण. ह्या ध्यानामुळे सर्व सिद्धी प्राप्त होतात. त्यानंतर प्रणवमंत्रा चे (ओंकार) ध्यान. पंचनमस्कार मंत्र, षोडशाक्षरी महाविद्या, (अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः) अरहंत, सिद्ध, व पंचाक्षरमयी विद्या (ऱ्हाँ ह्रीं ऱ्हूँ ह्रौं ऱ्हः अ सि आ उ सा न मः) मंगल उत्तम व सरण ह्या तीनही पद-समूहाचे स्मरण, त्रयोदशाक्षर विद्या (अर्हत्सिद्धसयोगकेवली स्वाहा) ऱ्हीं श्रीं नमः 'णमो सिद्धाणं' (अक्षर पंक्तीने विराजमान मंत्र), अष्टाक्षरी मंत्र (णमो अरहंताणं) मायावर्ण ह्रीं, सिद्धविद्या (क्ष्वीं) सात अक्षरी मंत्र, सर्वज्ञमुखविद्या, इत्यादी मंत्रविद्येचा उल्लेख विधी व फल सविस्तर सांगितले आहे.

क्रूरजंतू उपसर्ग व्यंतरादिक उपशमाकरता असणाऱ्या ध्यानाचे विशेष वर्णन आहे. त्यात एक मंत्र पद, पापभक्षिणी विद्या, सिद्धचक्र मंत्र, सर्वकल्याणबीज मंत्र सांगितला आहे. ग्रंथकारांनी वीतरागी योगी वीतरागीपणाने वीतराग समस्त पदार्थ समूह ध्येयाचे ध्यान करतो असे सांगितले. वरील सर्व मंत्राचा सूक्ष्मार्थ पाहिला तर कोणत्याही मंत्रात वीतरागता ध्येय आहे. हा सर्वांत सामान्य भाव आहे. पण त्यामुळे लौकिक सिद्धी व पारमार्थिक साध्य प्राप्त होते ह्यात संशय नाही. या ध्यानाने विशुद्धी, एकाग्रता, स्थैर्य वाढते. लौकिक प्रयोजनाकरता ध्मान करण्याचा मोक्षमार्गात निषेध आहे.

रूपस्थ ध्यान—या ध्यानात अरहंत भगवानच ध्येय आहेत. व त्या अनुषंगाने सर्वज्ञांचा निश्चय करून निर्दोष सर्वज्ञ अरहंत जिनदेवांचे ध्यान करायला सांगितले आहे.

रूपातीत ध्यान—ह्या ध्यानाच्या वर्णनापूर्वी असमीचीन ध्यानाचा स्वप्नात देखील विचार करायला नको. म्हणूनच रूपस्थ ध्यानात स्थिरचित्त असणाऱ्याने अमूर्त इन्द्रिय अगोचर अशा परमात्म्याच्या ध्यानाला प्रारंभ करावा. 'चित्तमेवमनाकूलं ध्यानं' अनाकूल चित्तच ध्यान आहे. प्रथम परमात्म्याच्या गुणसमूहाचे पृथक् पृथक् चिंतवन करावे. नंतर गुणसमुदाय रूप चिंतवन करावे. गुणगुणीच्या अभिन्नभावाने स्मरण व नंतर

अन्यसहायनिरपेक्ष होऊन परमात्म्यातच लीन व्हावे. या ध्यानात सुरुवात पृथक् विचाराने पण अन्ती ध्येय व ध्याता एकरूप होतात. त्यानंतर स्वतःच्या आत्म्याला परमात्म्यामध्ये योजतो. कर्मरहित आत्मा व्यक्तिरूपाने परमात्मा व कर्मसहित आत्मा शक्तिरूपाने परमात्मा आहे. अमूर्त अनाकार अशा परमात्म्याचे ध्यान या ध्यानात करावे. याप्रमाणे सिद्धपरमेष्टीच्या ध्यानाने त्यांच्याप्रमाणे व्यक्त रूप होण्याकरता त्याच्यात लीन होतो.

ह्याप्रमाणे बाह्य व अभ्यंतर सामग्रीने म्हणजे प्रथम तीन संहनन व वैराग्यभाव असणारा योगी शुक्लध्यानपात्र होतो. ह्या धर्मध्यानाने कर्मक्षय, क्षायिक सम्यग्दृष्टीपासून अप्रमत्तगुणस्थानपर्यंत असंख्यात-गुणी निर्जरा होते. ह्याचा उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त आहे. भाव व क्षायोपशमिक लेश्या शुक्ल, प्रसन्नचित्त, कांतिमान, सहृदय, सौम्य व शांत प्रवृत्ती ही ह्याची चिन्हे आहेत. नवग्रैवेयक, नवअनुत्तर व सर्वार्थसिद्धीमध्ये उत्तम देव होतात. व शुक्लध्यान प्राप्त करून मोक्ष मिळवितात.

शुक्ल ध्यान—धर्मध्यानपूर्वकच शुक्लध्यान होते. जे क्रियारहित, इंद्रियातीत ध्यानधारणेने रहित स्वरूपसंमुख आहे ते शुक्लध्यान. वज्र–वृषभ–नाराच–संहनन, ११ अंग चौदा पूर्वधारी शुद्ध चरित्रवान् मुनी शुक्लध्यानयोग्य ध्याता होय. कषाय मलाचा क्षय किंवा उपशम होत असल्यामुळे हे शुक्लध्यान होय. पृथक्त्ववितर्क विचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती व व्युपरताक्रियानिवर्ती हे चार प्रकार आहेत. पहिले दोन शुक्लध्यान छद्मस्थाला, अर्थसंबंधाने, श्रुतज्ञानाच्या अवलंबनाने होतात. पहिले पृथक्त्ववितर्कविचार हे ध्यान पृथक्त्व, वितर्क व विचारसहित आहे. पृथक् पृथक् रूपाने श्रुताचे संक्रमण होते म्हणजे वेगवेगळे श्रुतज्ञान बदलते म्हणून सपृथक सवितर्क व सविचार रूप आहे.

ज्या ध्यानात श्रुतज्ञानाचा विचार होत नाही. एक–रूप राहते ते एकत्ववितर्क अविचार ध्यान होय. ह्यात अनेकपणा म्हणजे पृथक्त्व श्रुतज्ञान म्हणजे वितर्क व अर्थ, व्यंजन व योगाचे संक्रमण म्हणजे विचार होय. एका अर्थावरून दुसऱ्या अर्थावर ती अर्थसंक्रांतीने एका व्यंजनाहून दुसऱ्या व्यंजनावर व व्यंजनसंक्रांति एका योगाहून दुसऱ्या योगावर स्थिर होणे ही योगसंक्रांती होय. ह्या दुसऱ्या ध्यानामध्ये स्थिर असणारा योगी क्षणात कर्माचा उपशम किंवा क्षय करतो. व हे ध्यान पृथक्त्वध्यानपूर्वकच होते. ह्याचा ध्येय विषय, एक द्रव्य वा एक पर्याय वा एक अणु व एकाच योगाने चिंतवन करतो. व जेव्हा ह्या ध्यानात संक्रमण होत नाही तेव्हा बाकी राहिलेल्या घातिया कर्मांचा मूलतः नाश करतो. तिसरे शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती. ह्यांत उपयोगाची क्रिया नाही पण काययोग विद्यमान आहे. व ह्या काययोगाची क्रिया कमी कमी होऊन सूक्ष्म राहते तेव्हा हे ध्यान होते. हे ध्यान सयोगकेवलींना होते.

अरहंताचे अन्तमुर्हूर्त आयुष्य शिल्लक असतांना बाकीच्या तीन कर्मांची स्थिती कमी अधिक अस-ल्यास समुद्घात विधि करतात. उत्कृष्ट सहा महिने आयुष्य कमी असताना जे केवली होतात ते अवश्य समुद्घात करतात. व सहा महिन्यापेक्षा जास्त काळ शिल्लक असतांना केवल समुद्घात विकल्पाने करतात. व अंतमुर्हूर्त आयुष्य शिल्लक असतांना आयुकर्माएवढी वेदनीय, नाम, गोत्र ह्या कर्माची स्थिती जेव्हा होते तेव्हा सर्व वचनयोग, मनोयोग, व बादर काययोग सुटतो व फक्त सूक्ष्म काययोगाच्या अवलंबनाने परिस्पंदन होते, म्हणून सूक्ष्मक्रिया–प्रतिपाती ध्यान होते. आयुकर्माची स्थिती बाकी कर्मापेक्षा जास्त असल्यास आत्म-

प्रदेश तीन समयांत व दण्ड कपाट प्रखर रूप होऊन चौथ्या समयांत लोकपूरण होतात. व बाकी कर्माची स्थिती समान करून बादरकाययोगात स्थिर राहून बादर वचनयोग व बादर मनोयोग सूक्ष्म करतात व पुन: काययोग सोडून त्याची स्थिती कमी करून काययोग सूक्ष्म करतात. नंतर वचनयोग मनोयोगाचा क्षणात निग्रह करतात. ह्या प्रक्रियेला सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती म्हणतात. व समुच्छिन्न क्रिया हे चौथे शुक्लध्यान, ह्यांत काययोगाच्याही सूक्ष्म राहिलेल्या क्रिया मिटतात. हे ध्यान अयोगी जिनांना होते. ह्या दोन गुणस्थानांत ध्यान उपचारमात्र आहे. योग आहे पण सूक्ष्म वा काहीही योगक्रिया नाही. व अयोगी गुणस्थानात बाकीच्या १३ अघाती कर्मप्रकृतींचा नाश होतो. व ह्या १४ व्या गुणस्थानातून फक्त पाच लघुअक्षरांचे उच्चारण होईपर्यंत थांबतात व स्वभावानेच कर्मबन्धरहित शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन करतात व सिद्धात्मा होतात. अतीन्द्रिय अव्याबाध, व स्वाभाविक सुख मिळवितात. व मोक्ष हे शुक्लध्यानाचे फळ आहे.

ह्याप्रमाणे ह्या ग्रंथाचा प्रतिपाद्य विषय मधुर मोक्षफलाने संपवितात.

ह्या ग्रंथात आचार्यांना मोक्षसाधनेला साधकतम कारण जे संवर व निर्जरा आहे, त्यात ध्यान हे अधिकच साधकतम कारण आहे. म्हणून संवरनिर्जरेला व परंपरेने मोक्षाला कारणीभूत असणाऱ्या ध्यानांचे त्यांनी विस्तृत पण कंटाळवाणे नव्हे तर काव्यशैलीने अतिशय रोचक वर्णन केले आहे. ध्यान म्हणजे कष्टसाध्य दुष्कर अशी योगसाधना नसून दुर्लभ असणाऱ्या ज्ञानसाधनेने विशुद्ध ध्यानसाधनेत विशुद्धिपूर्वक स्वच्छता वा एकाग्रता वा क्षयोपशमिक ज्ञानभावाची उपयोगात स्थिरता म्हणजे ध्यान होय. म्हणून ध्यानसाधनेची पूर्वपीठिका म्हणून ज्ञानसाधना, वैराग्य भाव, संवेगी निर्वेगी कामभागनिर्विण्णा अशी अशुभ व हेय असणाऱ्या आर्त रौद्र ध्यानापासून परावृत्त करणारी, नंतर शुभ ध्यान धर्मध्यानात प्रवृत्ती करण्याची प्रेरणा भव्य जीवाला दिली आहे. ह्या खंडात ह्या काळात धर्म्यध्यानच प्रामुख्याने होऊ शकते. शुक्लध्यानाची शक्यता नाही म्हणून वा शुक्लध्यानाचे साधकतम साधन म्हणून धर्म्यध्यानाचे विस्तृत व विविध प्रकाराने वर्णन केले आहे. खरोखर धर्म्यध्यानाचे वर्णन वाचताना वाचकाला एकाग्र, तन्मय होऊन ध्यानी बनूनच रस घ्यावा लागतो. त्याशिवाय क्षिप्त मताला त्याची अवीट गोडी, निरलस अखंड माधुर्य चाखता यायचे नाही. ज्ञानसाधनेनेच ध्यानसाधना व ध्यानसाधनेने परंपरेने मोक्षसाधना हेच तत्त्व आचार्यांना निर्विवादपणे आपणा मुमुक्षु वाचकासमोर प्रवाही अर्थगतीने, सुबोध भाषाशैलीने, अलंकारिक रचनेने, लालित्यपूर्ण पदरचनेने एकमेव अनुपम रसाने सजवून विविध प्रकारच्या रसिकांसमोर मांडायचे होते. व त्याबरोबरच अन्य सांप्रदायाचे ध्येयविषय, ध्यानांग, ध्यान, परिकर धारणादिक मान्यतेचे संपूर्णपणे उच्चाटन न करता जैन रूपात म्हणजे जैन तत्त्वज्ञानाच्या भरभक्कम तत्त्वाच्या बैठकीत बसवून आपले तत्त्व न सोडता जनमनाला जणू त्यांनी काबीज केले. तत्कालीन मान्य असणाऱ्या काम, गरुड व शिव तत्त्वाचे आत्मरूपात विसर्जन करून विशाल पण सखोल दृष्टिकोन स्वीकारून नव्या रूपात स्पष्टीकरण दिले आहे व पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ही चार प्रकारच्या ध्यानाची जणू नवी दालने आपणासारख्या ध्यानप्रेमी रसिकांकरिता खुली केलीत. जैन योगसाधनेत तर ही अत्यंत नवी प्रभावी परिणामकारक देन होय. पिण्डस्थ ध्यानात पाच धारणांनी स्वाधीन चिंतवनाने चित्ताला वश करण्याचा उपाय आहे.

आचार्यांनी मंत्रसाधनेचा ध्यानसाधनेत अंतर्भाव करून घेतला. पदस्थ ध्यानात अनेक विविध बीजाक्षराने, मंत्राने, उत्तम व परमात्म पदाचेच ध्यान आहे. लौकिक दृष्टी वा सिद्धीसाठी किंवा दुर्ध्यानासाठी मंत्र नाहीत. रूपस्थ ध्यानात सगुण साकार उपासना, तर रूपातीत ध्यानात निराकार गुणोपासनेने ध्येयो--पासना आहे. वीतरागता व विज्ञानता ह्या मूल बीजाला न सोडता इष्ट ध्येय बिंदू वा केंद्र बिंदू धरून साऱ्या योगसाधनेचा प्रपंच आहे. बाह्य जगाला भूल पाडणारी ही अगणित साधने त्यांनी ध्येय बिंदूशी केंद्रित करून तिळभरही विचलित न होण्याची क्षमता आम्हाला नवे ध्यान-सामर्थ्य प्रदान करतो.

आचार्यांना कोणत्याही जैन सिद्धांताचे विषय अज्ञात नव्हते तर सर्व विषय संक्षिप्त रूपांत सर्व प्रकरणवश आलेच आहेत. आचार्य शेकडो विषयांवरून उड्डाण करीत करीत गेले तरी आपल्या ध्येयाशिवाय ते कोठेही विसावले नाहीत. कोठे घसरले वा पडले नाहीत. ध्यानी आत्म्याशिवाय का हे शक्य आहे ? आपणाला ओढ्याच्या रूपांत परिचित असणाऱ्या ध्यानाला त्यांनी सागराच्या रूपात आपणासमोर मांडले आहे. व शेवटी सूर्यचंद्र व मेरु जोवर पृथ्वीवर प्रकाशमान व विद्यमान आहेत तोवर हा ग्रंथही ज्ञानाच्या भरतीसाठी चंद्राप्रमाणे प्रकाशमान व ज्ञानाच्या स्थैर्यासाठी मेरूप्रमाणे स्थिर राहो ही सद्भावना पण केवळ्या आत्म-विश्वासाने मांडली आहे.

ग्रंथकारांची शैली कवी भर्तृहरीचे अनुसरण करते. कवींनी ध्याताच्या रूपांत वीर रस, विशुद्धीच्या रूपांत शांत रस, स्त्रीवर्णनाने बीभत्स व शृंगार रस, आर्तध्यानाने व अहिंसा महाव्रताने करुण रस, ध्यानाच्या अद्भुत विधीने व फलाने अद्भुत रस, रौद्र ध्यानाने व संसार भावनेने रौद्र रसाचे पोषण केले आहे.

ह्याप्रमाणे नवरसाने रसरसलेला, काव्यगुणाने भरलेला, मुमुक्षु रसिकांना तन्मय करणारा लयी ध्यानी बनविण्याची प्रेरणा देणारा असा हा जैन योगसाधनेचा ग्रंथराज आहे.

जैन बंधूंच्या निष्ठा वाढविणारे, जैन सिद्धांताचे रहस्य साठविणारे, सुप्त शक्तींचा विकास घडविणारे विशाल व विस्तृत दृष्टिकोन ठेवणारे आचार्य शुभचंद्र व त्यांचा योगग्रंथराज 'ज्ञानार्णव' अत्यंत अगाध गंभीर स्थिर आहे. त्यात माझ्यासारख्या क्षिप्त अज्ञानी पामराने वरून पाहूनही घाबरून जावे. पण न घाबरता डुबकी घेण्याचे हे धाडस, धैर्य, त्यांच्याच महान भक्तिप्रभावाने मी केले. हा माझा व्यर्थ खटाटोप आहे. पण घरोघरी जनमनात ह्या ग्रंथाची आवड, आकर्षण निर्माण होऊन अध्ययनाचा विषय व्हावा, व त्यांच्याप्रमाणे आम्हीही परंपरेने मोक्षाचे भागीदार व्हावे ह्याच सद्भावनेतून हा अल्पसा प्रयत्न वाचकांनी गोड करून घ्यावा. ह्यातील सदाशयाला दिगंबर जैन मुनींची अखंड ज्ञानसाधना कारणीभूत आहे. ह्यातील दोषाला सर्वस्वी मी जबाबदार आहे.

तत्त्वार्थसार

बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

जैन आगम ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र का स्थान अतिशय महत्त्वपूर्ण है। वह ग्रन्थ प्रमाण से संक्षिप्त होने पर भी अर्थतः गम्भीर और विशाल है। उसके आश्रय से सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ वार्तिक और श्लोक वार्तिक जैसे विस्तीर्ण टीका ग्रन्थों की रचना हुई है। प्रस्तुत तत्त्वार्थसार उसकी एक पद्यात्मक स्वतंत्र व्याख्या है। वह उसके सारभूत ही है, तत्त्वार्थ वार्तिक और श्लोक वार्तिक जैसी गम्भीर और विस्तीर्ण नहीं है। इसके कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में "वर्ण पदों के कर्ता हैं, पदसमूह वाक्यों का कर्ता हैं, और वाक्य इस शास्त्र के कर्ता हैं, वस्तुतः हम इस के कर्ता नही हैं।" यह कह कर जो आत्म कर्तृत्वका निषेध किया है वह उनकी निरभिमानता और महत्त्व का द्योतक है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्म सन्त थे। भगवान् कुन्द-कुन्द विरचित प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयप्राभृत जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों पर उनके द्वारा निर्मित टीकाएं महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से भी उक्त तत्त्वार्थसार विषयक कर्तृत्व के अभिमान से अपने को पृथक् रखना उन जैसोंके लिये अस्वाभाविक नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि वे कण्टकाकीर्ण एकान्त पथ के पथिक नहीं थे, प्रत्युत अनेकान्त वाद के भक्त व उसके प्रबल समर्थक थे। यह उनके द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्ध्यु-पाय से भलीभाँति ज्ञात होता है। कारण कि वहां उन्होंने मंगल स्वरूप परंज्योति (जिनेन्द्र की ज्ञान ज्योति) के जयवन्त रहने की भावना को प्रदर्शित करते हुए अनेकान्त को नमस्कार किया है व उसे परमागम का बीज और समस्त एकान्तवादों का समन्वयात्मक बतलाया है।

इसी प्रकार नाटक–समयसार–कलश के प्रारम्भ में भी उन्होंने अनेकान्तरूप मूर्ति के सदा प्रकाश-मान रहने की भावना व्यक्त की है तथा अन्त में यही सूचित किया है कि यह समय (समयसार) की व्याख्या अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व को व्यक्त करनेवाले शब्दों के द्वारा की गई है; स्वरूप में गुप्त अमृत-चन्द्र सूरि का इसमें कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है। उक्त अनेकान्त के समर्थन में वे इसी समयसार–कलश में कहते हैं कि 'स्यात्' पद से द्योतित—अनेकान्तस्वरूप–जिनवचननिश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के विरोध को नष्ट करनेवाले हैं। उन में—अनेकान्तरूप जिनागम के विषय में—जो निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) जन रमते हैं वे शीघ्र ही उस समयसारभूत परं ज्योति का अवलोकन करते हैं जो नयपक्ष से रहित है। इसीको और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि प्राक् पदवी में—जब तक निश्चल दशा प्राप्त नहीं हुई है तबतक—व्यवहारनय व्यवहारी जनों को हाथ का सहारा देनेवाला है—निश्चय का साधक

होने से वह उनके लिए उपयोगी है। परन्तु जब वे अन्तःकरण में पर के सम्बन्ध से रहित शुद्ध चैतन्यरूप परमार्थ का दर्शन करने लगते हैं तब उन्हें उक्त व्यवहारनय कुछ भी नहीं रहता—वह उस समय निरर्थक हो जाता है (४–५)।

प्रस्तुत तत्त्वार्थसार में ये आठ अधिकार हैं—१ सप्ततत्त्वपीठिका, २ जीवतत्त्ववर्णन, ३ अजीवतत्त्ववर्णन, ४ आस्रवतत्त्ववर्णन, ५ बन्धतत्त्ववर्णन, ६ संवरतत्त्ववर्णन, ७ निर्जरातत्त्ववर्णन और ८ मोक्षतत्त्ववर्णन। इनमें श्लोकों का प्रमाण क्रमशः इस प्रकार है—५४, २३८, ७७, १०५, ५४, ५२, ६० और ५५। इसके अतिरिक्त अन्त में २१ श्लोकों के द्वारा सब का उपसंहार किया गया है।

१. **सप्ततत्त्वपीठिका**—इस प्रकरण में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को युक्ति और आगम से सुनिश्चित बतलाते हुए उन तीनों के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं—तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन, तत्त्वार्थावबोध का नाम सम्यग्ज्ञान और वस्तुस्वरूप को जानकर उसके विषय में उपेक्षा करना—न उसमें इष्ट मान कर राग करना और न अनिष्ट समझ कर द्वेष करना, इसका नाम सम्यक्चारित्र है।

चूंकि उक्त श्रद्धान, अधिगम और उपेक्षा के विषय भूतजीवादि तत्त्व हैं, अत एव जो मोक्षमार्ग को जानना चाहते हैं उनसे प्रथमतः उन जीवादि तत्त्वार्थों के जानने की प्रेरणा की गई है। आगे उन जीवादि तत्त्वार्थों का नामनिर्देश करते हुए उनके कथन का प्रयोजन यह बतलाया है कि जीव उपादेय और अजीव हेय है। इस हेयभूत अजीव (कर्म) के जीव में उपादानका कारण आस्रव है तथा उस हेय के ग्रहण का नाम बन्ध है। संवर और निर्जरा ये दोनों उस हेय की हानि के कारण हैं—नवीन हेय का रोकनेवाला संवर और पुरातन संचित उस हेय के जीव से पृथक् करने का कारण निर्जरा है। जीव का उस हेय से छुटकारा पा जाने का नाम मोक्ष है। इस प्रकार आत्मा के प्रयोजन को लक्ष्य में रखते हुए संक्षेप में उक्त जीवादि सात तत्त्वार्थों का स्वरूप यहां बहुत सुन्दरता के साथ बतलाया गया है।

तत्पश्चात् नामादि निक्षेपों के स्वरूप को बतलाकर भेदप्रभेदों के साथ प्रमाण और नय का विवेचन किया गया है। अन्त में निर्देशादि और सत्–संख्या आदि अन्य भी जो तत्त्व के जानने के उपाय हैं उनका भी निर्देश करके पीठिका को समाप्त किया गया है।

२. **जीवतत्त्वप्ररूपणा**—तत्त्वार्थसूत्र में जीवों की जो प्ररूपणा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीन अध्यायों में की गई हैं वह सभी प्ररूपणा यहां कुछ विशेषताओं के साथ प्रकृत अधिकार में की गई है। सर्वप्रथम यहां यह बतलाया है कि सात तत्त्वों में जिस तत्त्व का स्वतत्त्व–निजस्वरूप–अन्य अजीवादि में न पाये जानेवाले औपशमिकादि पांच असाधारण भाव हैं उसका नाम जीव है। इस प्रकार जीव के स्वरूप का निर्देश करते हुए उक्त पांच भावों के स्वरूप और उनके पृथक् पृथक् भेदों का विवेचन किया गया है।

आगे कहा गया है कि जीवका लक्षण उपयोग है और वह उससे अभिन्न है। कर्म से सम्बद्ध होते हुए भी जीवकी अभिव्यक्ति इसी उपयोग के द्वारा की जाती है। यह उपयोग साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार का है। जो विशेषता के साथ वस्तुको ग्रहण करता है वह साकार और जो बिना विशेषता

के (सामान्य से) वस्तुको ग्रहण करता है वह निराकार उपयोग कहलाता है। साकार उपयोग ज्ञान है और निराकार है दर्शन। ज्ञान मतिज्ञानादि के भेद से आठ प्रकार का और दर्शन चक्षु आदि के भेद से चार प्रकार का है।

इसके पश्चात् यहां जीवोंके संसारी और मुक्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें संसारी जीवों की प्ररूपणा सैद्धान्तिक पद्धति के अनुसार चौदह गुणस्थान, चौदह जीवस्थान (जीव समास), छह पर्याप्तियों, दस प्राणों, आहारादि चार संज्ञाओं और चौदह मार्गणाओं के आश्रय से की गई है। आगे विग्रह गति का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि विग्रह का अर्थ शरीर होता है, पूर्व शरीर के छूटने पर नवीन शरीर की प्राप्ति के लिये जो गति होती है वह विग्रहगति कहलाती है। वह सामान्यरूप से दो प्रकार की है। सविग्रह मोड़सहित और अविग्रह–मोडरहित, वही विशेष रूप से इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका के भेद से चार प्रकार की है। इषुगति में मोड़ नहीं लेना पडता–वह बाणकी गति के समान सीधी आकाश प्रदेश पंक्ति के अनुसार होती है और उसमें एक समय लगता है। मुक्त होने वाले जीवों की नियमतः यही गति होती है। परन्तु अन्य (संसारी) जीवों में इसका नियम नहीं है—किन्ही के विग्रह रहित यह इषुगति होती है और किन्हीं के वह विग्रह-सहित भी होती है। दूसरी पाणिमुक्ता विग्रह गति में एक मोड़ लेना पड़ता है और उसमें दो समय लगते हैं। तिसरी लांगलिका गति में दो मोड़ लेने पड़ते हैं और उसमें तीन समय लगते हैं। चौथी गोमूत्रिका में तीन मोड़ लेने पडते हैं और चार समय उसमें लगते हैं। पाणिमुक्ता विग्रह गति में जीव अनाहारक–औदारिक आदि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल के ग्रहण से रहित—एक समय रहता है। लांगलिका में वह दो समय और गोमूत्रिका में तीन समय अनाहारक रहता है।

उक्त विग्रहगति में जीव के औदारिक आदि सात काययोगों में एक कार्मण काययोग ही रहता है, जिसके आश्रय से वह वहाँ कर्म को ग्रहण किया करता है तथा नवीन शरीर को प्राप्त करता है।

आगे तीन प्रकार के जन्म और नौ योनियों का निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किन जीवों के कौनसा जन्म और कौनसी योनियां होती हैं। पश्चात् विशेषरूप से चौरासी लाख (८४०००००) योनियों में से किन जीवों के कितनी होती हैं, इसका भी उल्लेख कर दिया है। साथ ही यहां किन जीवों के कितने कुलभेद होते हैं, यह भी प्रगट कर दिया है।

तत्पश्चात् चारों गतियों के जीवों के आयुप्रमाण को बतलाकर नारकी, मनुष्य और देवों के शरीर की ऊंचाई का निरूपण करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर की अवगाहना के प्रमाण का निर्देश किया गया है।

आगे गति–आगति की प्ररूपणा में कौन कौन से जीव मरकर किस किस नरक तक जा सकते है तथा सातवें व छठे आदि नरकों से निकले हुए जीव कौन कौनसी अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसका विवेचन किया गया है। सब अपर्याप्तक जीव, सूक्ष्म शरीरी, अग्निकायिक, वायुकायिक और असंज्ञी ये जीव

तिर्यंचगति से नहीं निकल सकते—आयु के समाप्त होने पर पुनरपि तिर्यंचगति में ही वे रहते हैं। पृथिवी-कायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक, विकलत्रय और असंज्ञी इनका मनुष्य और तिर्यंचों में परस्पर उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है—ये मरकर मनुष्य और तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं। नारकी और देवों का परस्पर में उत्पन्न होना विरुद्ध है—नारकी देव नहीं हो सकता और देव नारकी नहीं हो सकता। बादर पृथिवीकायिक, अप्कायिक और प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक इनमें तिर्यंच और मनुष्यों का जन्म लेना सम्भव है। सब तेजकायिक और सब वायुकायिक जीव अगले भव में मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकते। पर्याप्त असंज्ञी तिर्यंचों का जन्म नारकी, देव, तिर्यंच और मनुष्यों में हो सकता है, परन्तु उनकी सभी अवस्थाओं में उनका जन्म लेना सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह कि वे प्रथम पृथिवी के नारकियों में तथा भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में ही उत्पन्न हो सकते हैं—अन्य नारकी और देवों में नहीं। इसी प्रकार भोगभूमिजों और पुण्यशाली मनुष्य-तिर्यंचों को छोडकर शेष मनुष्यों व तिर्यंचों में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

असंख्यात वर्ष की आयुवाले (भोगभूमिज) मनुष्य और तिर्यंचों का जन्म संख्यात वर्ष की आयु-वाले (कर्मभूमिज) संज्ञी मनुष्य और तिर्यंचों में से ही होता है। उक्त असंख्यात वर्ष की आयुवाले सभी भोगभूमिजों का संक्रमण स्वाभाविक मन्दकषायता के कारण देवों में ही होता है। तिर्यंच और मनुष्य अनन्तर भव में शलाका पुरुष नहीं होते, परन्तु मुक्ति कदाचित् वे प्राप्त कर सकते हैं। संज्ञी अथवा असंज्ञी मिथ्यादृष्टी जीव व्यन्तर और भवनवासी हो सकते हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टी तथा उत्कृष्ट तापस ये ज्योतिषीदेव तक हो सकते हैं। इसी प्रकार से आगे देवों की आगति और गतिका भी निरूपण किया गया है। इस क्रमसे यहां जीवों की गति–आगति की प्ररूपणा विस्तार से (१४६–७५) की गई है, जिसका आधार सम्भवतः मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार रहा है।[1]

आगे जीवों के निवासस्थान की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि जीवों का क्षेत्र लोक है जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणुओं और पुद्गलों से व्याप्त होकर आकाश के मध्य में अवस्थित है। उसका आकार नीचे वेतके आसन के समान, मध्य में झालर के समान और ऊपर मृदंग के समान है। यद्यपि सामान्यरूप से सभी लोक तिर्यंचों का क्षेत्र है, फिर भी नारकी, मनुष्य और देवों में उसका विभाग किया गया है। अधोलोक में रत्नप्रभा आदि जो सात पृथिवियां हैं उनमें नारकियों के बिल हैं, जिनमें वे निरन्तर अनेक प्रकार के दुःखों को सहते हुए रहते हैं। यहां उनके इन बिलों की संख्या और दुःख के कारणों का भी निर्देश किया गया है।

---

१. मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार (१२) की निम्न गाथाओं से क्रमशः तत्त्वार्थसार के निम्न श्लोकों का मिलान कीजिए। इनमें अधिकांश प्राकृत गाथाओं का संस्कृत में रूपान्तर जैसा प्रतीत होता है—

मूला.—११२–१३, ११४–१५, ११६–१८, ११९–२०, १२३, १२५.

त. सा.—१४६–१४७, १४८, १४९–५१, १५२, १५४, १५६.

मूला.—१२४, १२६–३२, १३३–४०, १४१–१४२.

त. सा. १५७, १५८–६४, १६६–७३, १७४–७५.

लोक के मध्य में अवस्थित मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं जो क्रम से गोलाकार होकर एक दूसरे को वेष्टित कर के स्थित हैं। सब के मध्य में जम्बूद्वीप और उसके मध्य में मन्दर (सुमेरू) पर्वत है। जम्बूद्वीप को घेरकर लवणसमुद्र, इसको घेरकर घातकी खण्डद्वीप, इसको घेरकर कालोद समुद्र और इसको घेरकर पुष्करद्वीप स्थित है। पुष्करद्वीप के बीचोंबीच एक मानुषोत्तर नाम का पर्वत स्थित है, जिससे उस द्वीप के दो विभाग हो गये हैं। इस प्रकार दो द्वीप पूरे, दो समुद्र और मानुषोत्तर से इधर का आधा पुष्करद्वीप, इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप गिना जाता है। इसके भीतर ही मनुष्यों का निवास है। वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के हैं। आर्यखण्डों में उत्पन्न होनेवाले आर्य और म्लेच्छखण्डों में उत्पन्न होनेवाले शक आदि म्लेच्छ कहलाते हैं। कुछ मनुष्य अन्तर द्वीपों में भी उत्पन्न होते हैं।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार भेद देवों के हैं। घर्मा पृथिवी के प्रथम व द्वितीय विभाग में कुछ भवन हैं, जिनमें भवनवासी देव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी के मध्य में तथा उपरिम तलपर विविध अन्तरों में व्यन्तरदेव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी से ऊपर तिर्यग्लोक को आच्छादित कर आकाशगत पटलों में ज्योतिष्क देव रहते हैं। वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में स्थित तिरेसठ विमान प्रतरों में रहते हैं। ये देव क्रम से ऊपर ऊपर अपने कर्म के अनुसार कान्ति, लेश्याविशुद्धि, आयु, इन्द्रिय विषय, अवधि विषय, सुख और प्रभाव इनमें अधिक तथा मान, गमन, शरीर और परिग्रह इनमें हीन होते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों का क्षेत्र समस्त लोक तथा सिद्धों का क्षेत्र लोक का अन्त है। अन्त में इस अधिकार को समाप्त करते हुए कहा गया है कि जो शेष तत्त्वों के साथ इस जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है व उपेक्षा करता है—उनमें रागद्वेष नहीं करता है—वह मुक्तिगामी होता है।

२ अजीवतत्त्व—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांच अजीव हैं। ये पांचों अजीव और पूर्वोक्त जीव ये छह द्रव्य कहे जाते हैं। इनमें एकप्रदेशात्मक कालको छोड़कर शेष पाच द्रव्य प्रदेश प्रचयात्मक होने से अस्तिकाय माने गये हैं। द्रव्यका लक्षण उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य है। वह (द्रव्य) गुण व पर्यायों से सहित होता है। अवस्थान्तर की प्राप्ति का नाम उत्पाद, पूर्व अवस्था के विनाश का नाम व्यय और पूर्वोत्तर दोनों ही अवस्थाओं में रहने वाले त्रैकालिक स्वभाव का नाम ध्रौव्य है। द्रव्य की विधि को उसके शाश्वतिक अस्तित्व को प्रकट करनेवाले स्वभाव को गुण और उसकी परिवर्तित होनेवाली अवस्थाओं को पर्याय कहा जाता है। ये दोनों ही-गुण और पर्यायें-उस द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं—तदात्मक ही हैं। उक्त छह द्रव्यों में एक पुद्गल रूपी (मूर्तिक) और शेष पाच अरूपी हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक द्रव्य हैं तथा काल, पुद्गल और जीव ये अनेक रूपता को लिये हुए हैं। उक्त छह द्रव्यों में क्रियावान् जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य हैं, शेष चार निष्क्रिय हैं। इस प्रकार से अजीव तत्त्व की प्ररूपणा करते हुए आगे उन द्रव्यों की प्रदेश संख्या, अवगाह व उपकार का निरूपण किया गया है।

तत्पश्चात् धर्म-अधर्म आदि उक्त द्रव्यों का स्वरूप प्रगट करते हुए उनके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। प्रसंगानुसार काल और पुद्गल द्रव्य के कुछ भेद-प्रभेदों का भी विवेचन किया गया है।

४. **आस्रवतत्त्व**— कर्मके आस्रवणका (आगमन) जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा पानी का आस्रवण होता है, अतः उस नाली को जलका आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार चूंकि योग के द्वारा कर्म का आस्रवण होता है, अतः उस योग को आस्रव कहा जाता है। शरीर, वचन और मन की क्रिया का नाम योग है। वह थोडा शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। इनमें शुभ योग पुण्य का और अशुभ योग पाप का आस्रव है। साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से कर्म दो प्रकार का है। कषायसहित प्राणी जिस कर्म को बांधता है वह बांधी गई स्थिति के अनुसार आत्मा के साथ सम्बद्ध रहकर हीनाधिक फल दिया करता है, इसीको साम्परायिक कर्म कहा जाता है। परन्तु ईर्यापथ कर्म वह है जो कषाय से रहित प्राणी के योग के निमित्त से आकर के स्थिति व अनुभाग से रहित होता हुआ आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रहता। जैसे-सूखी दिवाल पर मारा हुआ ढेला उससे सम्बद्ध न होकर उसी समय गिर जाता है। इसी प्रकार योग के विद्यमान रहने से कर्म आता तो है, पर कषाय के अभाव में वह स्थिति व अनुभाग से रहित होता है। इस प्रकार प्रथमतः सामान्यरूप से आस्रव के स्वरूप आदि को दिखलाकर पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय, सातावेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, नारक आयु, तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु, अशुभ नामकर्म, शुभ नामकर्म, तीर्थंकरत्व नामकर्म, नीचगोत्र, उच्चगोत्र और अन्तराय इन कर्मों के आस्रव हेतुओं का क्रमशः पृथक् पृथक् निरूपण किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में इन कर्मों के आस्रव के जो भी कारण निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यहां वे कुछ अधिक कहे गए हैं। उनका उल्लेख सम्भवतः तत्त्वार्थवार्तिक के आधार से किया गया प्रतीत होता है।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि शुभ योग पुण्य के आस्रव का कारण है और अशुभ योग पाप के आस्रव का। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि व्रत से पुण्य का आस्रव होता है और अव्रत से पाप का। हिंसादि पांच पापों के परित्याग का नाम व्रत है। इनका पूर्णतया परित्याग कर देने को महाव्रत और देशतः त्याग को अणुव्रत कहा जाता है। पूर्णतया उनका त्याग करनेवाले साधु और देशतः त्याग करनेवाले श्रावक कहलाते हैं। आगे उक्त पांचों के परित्याग रूप पांच व्रतों पृथक् पृथक् पांच पांच भावनाओं आदि का निर्देश करते हुए हिंसादिका स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार पांच महाव्रतों व अणुव्रतों का निरूपण करके आगे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग संख्या और अतिथि संविभाग इन सात शीलव्रतों का निर्देश किया गया है। उक्त सात शीलव्रतों के साथ पूर्वोक्त पांच अणुव्रतों को ग्रहण करने पर ये बारह श्रावक के व्रत कहे जाते हैं। अन्तमें-मरणकी सम्भावना होने पर-सल्लेखना-पूर्वक प्राणों का त्याग भी अवश्य करणीय है। प्रकृत अधिकार को समाप्त करते हुए आगे यथाक्रम से सम्यक्त्व, बारह व्रत और सल्लेखना के अतीचार भी कहे गये हैं।

५. **बन्धतत्त्व**— यहां सर्वप्रथम मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच बन्ध के कारणों का निर्देश करते हुए क्रमसे उनके स्वरूप व भेदों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् बन्ध का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जीव कर्मोदय से कषाययुक्त होकर योग के द्वारा कर्म के योग्य पुद्गलों को जो सब ओर से ग्रहण करता है, इसका नाम बन्ध है। यह बन्ध आत्मा की कथंचित् मूर्त अवस्था में

हुआ करता है। यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्तिक ही है, फिर भी चूंकि वह अनादि काल से कर्म के साथ सम्बद्ध हो रहा है, अतएव एक साथ गलाये गये सुवर्ण और चांदी में जिस प्रकार एकरूपता देखी जाती है उसी प्रकार अनादि से जीव के व कर्म के प्रदेशों के एक क्षेत्रावगाह होकर परस्पर में अनुप्रविष्ट होने से उन दोनों में भी एकरूपता होती है। इस कारण मूर्त कर्म के साथ एकमेक होने से पर्याय की अपेक्षा आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। तब वैसी अवस्था में कर्म का बन्ध उसके असम्भव नहीं है। हां, जो जीव उस अनादि कर्म बन्ध से रहित (मुक्त) हो जाता है उसके मूर्तता न रहने से वह कर्मबन्ध अवश्य असम्भव हो जाता है।

वह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। आगे इन चारों की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरणादि रूप मूल व उत्तर प्रकृति के भेद, उनके आत्मा के साथ सम्बद्ध बने रहने की कालमर्यादा (स्थिति), पूर्वोपार्जित शुभ–अशुभ कर्मों के विपाक तथा सभी भवों में योगविशेष से सर्व कर्म प्रकृतियों के योग्य सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को आत्मप्रदेशों में आत्मसात् करने रूप प्रदेश का विवेचन किया गया है।

६. **संवरतत्त्व**—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र इन कारणों के द्वारा जो आस्रव का निरोध होता है, इसे संवर कहते हैं। आगे इन संवर के कारणों की क्रम से प्ररूपणा करते हुए इस अधिकार को समाप्त किया गया है।

७. **निर्जरातत्त्व**—उपार्जित कर्मों का आत्मा से पृथक् होना, इसका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—विपाकजा और अविपाकजा। कर्मबन्ध की परम्परा बीज और अंकुर की परम्परा के समान अनादि है। पूर्वबद्ध कर्म का उदय प्राप्त होने पर जो वह अपना फल देकर क्षीण होता है, इसे विपाकजा निर्जरा कहते हैं। तथा जो कर्म उदय को प्राप्त न होकर तप के प्रभाव से उदयप्राप्त कर्म की उदयावली में प्रविष्ट कराकर वेदा जाता—अनुभव में आता है, उसे अविपाकजा निर्जरा कहा जाता है। जैसे—कटहल आदि फलों को पाककाल के पूर्व में ही उपाय द्वारा पका लिया जाता है, इसी प्रकार कर्म का भी परिपाक समझना चाहिए। इनमें विपाकजा निर्जरा तो सभी प्राणियों के हुआ करती है, किन्तु अविपाकजा तपस्वियों के ही हुआ करती है। आगे निर्जरा के कारणभूत उस तप के प्रसंग में क्रम से अवमोदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्या, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन इन छह बाह्य तपों का तथा स्वाध्याय, शोधन (प्रायश्चित्त), वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान इन छह अभ्यन्तर तपों की प्ररूपणा की गई है।

८. **मोक्षतत्त्व**—बन्ध के कारणों के अभाव (संवर) और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के हो जाने से जो समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है, इसे मोक्ष कहते हैं। सयोगकेवली के योग का सद्भाव होने से जो एकमात्र सातावेदनीय का बन्ध होता था, योग का अभाव हो जाने से अयोगकेवली के वह भी नहीं होता। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मस्वरूप की जो प्राप्ति हो जाती है, इसी का नाम मोक्ष है। कर्मक्षय के साथ मुक्त जीवों के औपशमिकादि भावों का तथा भव्यत्व का भी अभाव हो जाता है, उनके उस समय सिद्धत्व, सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शन ये विद्यमान रहते हैं। कर्मबन्ध की परम्परा यद्यपि

अनादि है, फिर भी उसका विनाश सम्भव है। जिस प्रकार बीज के विनष्ट हो जाने पर अंकुरोत्पत्ति की परम्परा के अनादि होने पर भी आगे उसका अभाव हो जाता है, इसी प्रकार बन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से उक्त कर्मबन्ध की परम्परा के भी अभाव को समझना चाहिये। बन्ध का कारण आस्रव है, उसके नष्ट हो जाने पर फिर वह कारण के बिना कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। समस्त कर्म का क्षय हो जाने पर वायु के बिना अग्नि की ज्वाला के समान जीव का स्वभावतः लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन होता है, धर्मास्तिकाय के बिना आगे उसका गमन सम्भव नहीं है। वहां सिद्धालय में पहुंचकर वह जहां अनन्तसिद्ध विराजमान हैं वहीं वह भी अवगाहन शक्ति की विलक्षणता से स्थित हो जाता है। जैसे—एक दीपक के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र में अन्य अनेक दीपों का भी प्रकाश समा जाता है। इस प्रकार यहां मोक्ष विषयक अनेक शंकाओं का निराकरण करते हुए उसका वर्णन किया गया है। जो निर्बाधसुख कर्म परतंत्र संसारी जीवों को कभी सम्भव नहीं है वह मुक्त जीवों को प्राप्त है व अनन्तकाल तक उसी प्रकार रहनेवाला है।

उपसंहार—पूर्वप्ररूपित सात तत्त्वों का उपसंहार करते हुए अन्त में कहा गया है कि इस प्रकार प्रमाण नय निक्षेप, निर्देशादि और सदादि अनुयोग द्वारों के आश्रय से इन सात तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधक है। अपनी शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा (तद्विषयक राग-द्वेष का अभाव) है; यह रत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा परस्वरूप से जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा है, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो मुनि परद्रव्यविषयक श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षा से युक्त होता है वह व्यवहारी मुनि है तथा जो स्वद्रव्यविषयक श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षा से सम्पन्न होता है वह निश्चय से मुनिश्रेष्ठ माना जाता है। निश्चय से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है—आत्मा से भिन्न ज्ञानादि नहीं है। निश्चयदृष्टि से कर्ता, कर्म व करण आदि कारकों का भी भेद सम्भव नहीं है। अन्त में कहा गया है कि जो समबुद्धि—रागद्वेषरहित—जीव इस प्रकार से तत्त्वार्थसार को जानकर मोक्षमार्ग में स्थिरता से अधिष्ठित होता है वह संसार-बन्धन से छूट कर निश्चय से मोक्षतत्त्व को प्राप्त करता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरिविरचित

श्री जिननामावली

डॉ. पद्मनाभ श्रीवर्मा जैनी,

युनिवर्सिटी ऑफ कॅलिफोर्निया, यू. एस. ए.

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयसार के कुशल भाष्यकार श्री अमृतचन्द्र सूरि का नाम सभी अध्यात्म प्रेमियोकों विदित है। **लघुतत्वस्फोट** (या **शक्तिमणितकोश**) नामक उनकी एक श्रेष्ठ कृति आजतक दिगम्बर समाज में भी अज्ञात ही थी। सद्भाग्य से इस ग्रन्थ की एक ही ताडपत्रीय प्रति अहमदाबाद के श्वेताम्बर जैन मन्दिर के डेला भण्डार में होने का समाचार उस सम्प्रदाय के आगमोद्धारक मुनिराज श्री पुण्यविजयजी से प्राप्त हुआ। पाठकों को याद होगा कि इन्हीं मुनि श्री के प्रयत्न से आचार्य श्री अकलङ्कदेव विरचित प्रमाणसंग्रह की प्रति पाटण के भण्डार से प्राप्त हुई थी जिसका सम्पादन स्व० श्री. न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी से श्री सिंधी जैन सिरीज् से हुआ था। मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने लघुतत्त्व कोश की कॉपी करा के सम्पादन के लिए मेरे पास भेजने की उदारता की है। यथावकाश अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर से यह ग्रन्थ प्रकाशित होगा।

लघुतत्त्वस्फोट में कुल ६२५ (छः सौ पचीस) श्लोक हैं। पूरा ग्रन्थ एक महान् स्तोत्र ही है जिसके द्वारा आचार्य श्री ने जैन तत्त्वका, विशेषतः अनेकान्त का, रसपूर्ण विवेचन किया है। भाषा पांडित्यपूर्ण है और कुछ कठिन भी। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री **जिननामावली** दी गई है जिसमें कौशल्य के साथ चौबीस तीर्थङ्करोंके नाम गिनाए गये हैं। चतुर्विंशति जिनस्तव जैनोंके देवपूजा का एक अवश्य अङ्ग है। स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य के बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र आदि में तत्त्वचर्चा भी काफी मिलती है। इसीका कुछ अनु-सरण श्री अमृतचन्द्राचार्य के इस जिननामावली में उपलब्ध होता है। वाचक–वाच्य, सत्–असत्, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि अनेक द्वन्द्वों को एकत्र लाकर अनेकान्तात्मक सद्द्रव्यका प्ररूपण इस जिननामावली में किया गया है।

श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागर महाराज के आशीर्वाद से श्री जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था ने जो महान् प्रभावना का कार्य गत पचीस वर्षों में किया है उसकी रजतजयन्ति के शुभावसरपर इस अज्ञात ग्रन्थ का एक छोटासा भी भाग क्यों न हो, प्रकट करना उचित ही है। आशा है विद्वज्जन इसका पठन और मनन करेंगे और इसपर विचार विमर्श भी करेंगे।

ॐ नमः परमात्मने । नमोऽनेकान्ताय ॥

स्वायम्भुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे,
 येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः ।
ॐभूर्भुवः प्रभृतिसन्मननैकरूप–
 मात्मप्रमातृपरमातृ न मातृ मातृ ॥ १ ॥

माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि
 मानस्य चासिफलमित्य**जितासि** सर्वम् ।
नास्त्येव किञ्चिदुत नासि तथापि किञ्चि–
 दस्त्येव चिच्चकचकायितचुम्बुरुच्चैः ॥ २ ॥

एको न भासयति देव ! न भासतेऽस्मि–
 न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च ।
तौ द्वौ तु भासयसि **शम्भव** ! भाससे च
 विश्वं च भासयसि भा असि भासको न ॥ ३ ॥

यद्भाति भाति तदिहाथ च भाति भातिं
 नाभाति भाति स च भाति नयो न भाति ।
भाभाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
 सा **चाभिनन्दन** विभान्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥ ४ ॥

लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा यो
 वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजः प्रकाशः ।
सोऽयं तवोल्लसति कारकचक्रचर्चा
 चित्रोऽप्यकच्चु (र्बु) रसप्रसरः **सुबुद्धेः** ॥ ५ ॥

एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य–
 मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम् ।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः
 पद्मप्रभ ! स्वयमसि प्रकटः प्रकाशः ॥ ६ ॥

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसद्वत्
 सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य ।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत्
 पीतः समग्रममृतं भगवान् **सुपार्श्वः** ॥७॥

उन्मज्जतीति परितो विनिमज्जतीति
मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि ।
अन्तर्निमग्न इति भाति न भाति भाति
चन्द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघः ॥८॥

यस्मिन्नवस्थितिमुपेत्यनवस्थितं तत्
तत्स्थः स्वयं **सुविधि**रप्यनवस्थ एव ।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एव नान्यः
सोऽप्यन्य एवमतथाऽपि स एव नान्यः ॥९॥

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्य
शून्योऽन्यशून्यविभवोऽप्यसि नैकपूर्णः ।
त्वं नैकपूर्णमहिमापि सदैक एव
कः **शीतलेति** चरितं तव मातुमीष्टे ? ॥१०॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं
नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य ।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि
श्रेय: प्रभोद्भुतनिधान किमेतदीदृक् ॥११॥

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्च भासि
सन्भांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि ।
सत्त्वं स्वयं विभव भासि न चासि सत्त्वं
सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न **वासुपूज्य** ॥१२॥

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्त्तमानो
भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम् ।
यो वा भविष्यसि स खल्वसि वर्त्तमानो
यो वर्त्तसे **विमलदेव** स एव भूतः ॥१३॥

एकं प्रपीतविषमा परिमेयमेय—
वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव ।
द्वैतं प्रसाधयदिदं **तदनन्त**शान्त—
मद्वैतमेव महयामि महन्महस्ते ॥१४॥

सर्वात्मकोऽसि न च जातु परात्मकोऽसि
स्वात्मात्मकोऽसि न तवास्त्यपरः स्व आत्मा ।
आत्मा त्वमस्यऽन्व (?) च **धर्म**निरात्मताति (–?)
नाच्छिन्नदृक्प्रसररूपतयास्ति सापि ॥१५॥

अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु–
स्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि ।
एकप्रभाभरसुसंभृतशान्त**शान्ते** !
चित्सत्त्वमात्रमिति भास्यथ च स्वचित्ते ॥१६॥

यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवसेन भेद–
मापद्य चित्रमपि चारचयन्त्यचित्रे ।
कुन्थो ! स्फुटन्ति घनसंघटितानि नित्यं
विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव ॥१७॥

एकोप्यनेक इति भासि न चास्यनेक
एकोऽस्यनेकसमुदायमयः सदैव ।
नानेकसञ्चयमयोऽस्यऽसि चैक एक–
स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वराऽर ॥१८॥

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं
प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यसि निर्विभागः ।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै–
र्निर्भाग एव च चिता प्रतिभासि **मल्ले**॥ १९ ॥

उत्पाटितोऽपि **मुनिसुव्रत** रोपितस्त्व–
मारोपितोऽप्यसि समुद्धृत एव नैव ।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद–
व्यानद्धकृत्स्नभुवनोऽनिसमच्युतोऽसि ॥ २० ॥

विष्वंक् ततोऽपि न ततोऽस्य ततोऽपि नित्य–
मन्तःकृतत्रिभुवनोऽसि तदंसगोऽसि ।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि **नमे** त्रिलोकी
मा प्लावयस्यमलबोधसुधारसेन ॥ २१ ॥

बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो
बद्धोऽसि बद्धमहिमाऽपि सदासि मुक्तः ।
नो बद्धमुक्तपरितोऽस्यसि मोक्ष एव
मोक्षोऽपि नासि चिदसित्वमरिष्ट **नेमे** ॥ २२ ॥

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि
साक्षाद्भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि ।
विद्याऽसि साप्यसि न **पार्श्व**जडोऽसि नैवं
चिद्भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित् ॥ २३ ॥

आत्मीकृता चलितचित्परिणाममात्र–
विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ ।
नो कर्तृवोद्धृतचवोदपि वोधमात्रं
तद्वर्धमान ! तव धाम किमद्भुतं नः ॥ २४ ॥

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां
नामावली**ममृतचन्द्र**चिदेक पीताम् ।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥ २५ ॥

जैन ज्योतिष साहित्य का सर्वेक्षण

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री

एम. ए., पी.एच. डी., डी. लिट्., आरा

"ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रं"—सूर्यादि ग्रह और काल करनेवाला शास्त्र ज्योतिष कहलाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से आकाश-मण्डल मानव के लिए कौतूहल का विषय रहा है। सूर्य और चन्द्रमा से परिचित हो जाने के उपरान्त ताराओं, ग्रहों एवं उपग्रहों की जानकारी भी मानव ने प्राप्त की। जैन परम्परा बतलाती है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रति श्रुति के समय में, जब मनुष्यों को सर्वप्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पडे, तो वे इतने सशंकित हुआ और अपनी उत्कंठा शान्त करने के लिए उक्त प्रतिश्रुति नामक कुलकर-मनु के पास गये। उक्त कुलकर ने सौर-ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगमिक परम्परा अनवच्छिन्नरूप से अनादि होने पर भी इस युग में ज्योतिष साहित्य की नींव का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। यों तो जो ज्योतिष-साहित्य आजकल उपलब्ध है, वह प्रतिश्रुति कुलकर से लाखों वर्ष पीछे का लिखा हुआ है।

जैन ज्योतिष-साहित्य का उद्भव और विकास :—आगमिक दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादांग और परिकर्मों से हुआ है। समस्त गणित-सिद्धान्त ज्योतिष-परिकर्मों में अंकित था और अष्टांग निमित्त का विवेचन विद्यानुवादांग में किया गया था। षट्खंडागम धवला-टीका[1] में रौद्र श्वेत, मैत्र, सारगट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित्, रोहण, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन् और भाग्य ये पन्द्रह मुहूर्त आये हैं। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से प्राप्त श्लोकों को उन्होंनें उद्धृत किया है। अतः मुहूर्त चर्चा पर्याप्त प्राचीन है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों की मीमांसा कई दृष्टिकोणों से की गयी है। समस्त नक्षत्रों को कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है। यह वर्णन प्रणाली ज्योतिष के विकास से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनि, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उत्तरा-फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल एवं उत्तराषाढा ये नक्षत्र कुलसंज्ञक, श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा, एवं पूर्वाषाढा ये नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित्, शतमिषा, आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुल संज्ञक हैं। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को

१. धवलाटीका, जिल्द ४, पृ. ३१८.

होनेवाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। अभिप्राय यह है कि श्रावण मास के धनिष्ठा, श्रवण और अभिजित् भाद्रपदमास के उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद और शतमिषा; आश्विनमास के अश्विनी और रेवती, कार्तिकमास के कृत्तिका कौर भरणी, अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिरा और रोहिणी, पौषमास के पुष्य, पुनर्वसु और आर्द्रा, माघमास के मघा और आश्लेषा, फाल्गुनमास के उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी, चैत्रमास के चित्रा और हस्त, वैशाखमास के विशाखा और स्वाति, ज्येष्ठमास के ज्येष्ठा, मूल और अनुराधा एवं अषाढमास के उत्तराषाढा और पूर्वाषाढा नक्षत्र बताए गए हैं।[1] प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसंज्ञक और तीसरा कुलोपकुल संज्ञक होता है। इस वर्णन का प्रयोजन उस महीने का फलनिरूपण करना है। इस ग्रन्थ में ऋतु, अयन, मास, पक्ष और तिथि सम्बन्धी चर्चाएँ भी उपलब्ध हैं।

समवायाङ्ग में नक्षत्रों की ताराएँ, उनके दिशाद्वार आदि का वर्णन है। कहा गया है--"कत्ति-आइया सत्तणक्खत्ता पुव्वदारिआ। महाइया तत्तणक्खत्ता दाहिणदारिआ। अणुराहा-इया सत्तणक्खता अवरदारिआ। धनिट्ठाइया सत्तणक्खता उत्तरदारिआ"[2] अर्थात् कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा ये नक्षत्र दक्षिणद्वार, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित् और श्रवण ये सात नक्षत्र पश्चिमद्वार एवं धनिष्ठा, शतमिषा पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी ये सात नक्षत्र उत्तरद्वार वाले हैं। समवायांग १।६, २।४, ३।२, ४।३, ५।९ में आयी हुई ज्योतिष चर्चाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्श योग करनेवाले नक्षत्रों का कथन किया गया है। वहाँ बतलाया गया है—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा ये आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करनेवाले हैं। इस योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञाएँ तथा उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तार पूर्वक बतलाये गये हैं। ठाणांग में अंगारक, काल, लोहिताक्ष, शनैश्चर, कनक, कनक-कनक, कनक-वितान, कनक-संतानक, सोमहित, आश्वासन, कज्जीवग, कर्वट, अयस्कर, दंदुयन, शंख, शंखवर्ण, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, वृहस्पति, राहु, अगस्त, भानवक, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, विमल, पीपल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवास्तिक, वर्द्धमान, पुष्पमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदचित, स्वयंप्रभ, उसम, श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, निर्मल, विमुख, वितत, वित्रस्त, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु, एवं भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताए गये हैं।[3] समवायांग में भी उक्त ८८ ग्रहों का कथन आया है। "एगमेगस्सणं चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो"[4] अर्थात् एक एक चन्द्र और सूर्य के परिवार, में अट्ठासी-

१. प्रश्नव्याकरण, १०.५.
२. समवायांग, स. ६, सूत्र ५.
३. ठाणांग, पृ. ९८-१००.
४. समवायांग, स. ८८.१.

अट्ठासी महाग्रह हैं। प्रश्न–व्याकरण में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरू, शुक्र, शनि, राहु और केतु या धूमकेतु इन नौ ग्रहों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

समवायांग में ग्रहण के कारणों का भी विवेचन मिलता है।[1] इस में राहु के दो भेद बतलाये गये हैं—नित्यराहु और पर्वराहु। नित्यराहु को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का कारण तथा पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। केतु, जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदण्ड से ऊँचा है, भ्रमणवश वही केतु सूर्यग्रहण का कारण होता है।

दिनवृद्धि और दिनऱ्हास के सम्बन्ध में भी समवायांग में विचार–विनिमय किया गया है। सूर्य जब दक्षिणायन में निषध–पर्वत के आभ्यंतर मण्डल से निकलता हुआ ४४ वें मण्डल–गमन मार्ग में आता है, उस समय ६१/८८ मुहूर्त दिन कम होकर रात बढती है—इस समय २४ घटी का दिन और ३६ घटी की रात होती है। उत्तरदिशा में ४४ वें मंडल–गमन मार्ग पर जब सूर्य आता है, तब ६१/८८ मुहूर्त दिन बढने लगता है। और इस प्रकार जब सूर्य ९३ वें मंडल पर पहुँचता है, तो दिन परमाधिक ३६ घटी का होता है। यह स्थिति आषाढी पूर्णिमा को आती है।[2]

इस प्रकार जैन आगम ग्रंथों में ऋतु, अयन, दिनमान, दिनवृद्धि, दिनह्रास, नक्षत्रमान, नक्षत्रों की विविध संज्ञाएँ, ग्रहों के मण्डल, विमानों के स्वरूप और विस्तार ग्रहों की आकृतियों आदि का फुटकर रूप में वर्णन मिलता है। यद्यपि आगम ग्रंथों का संग्रह काल ई. सन की आरंभिक शताब्दी या उसके पश्चात् ही विद्वान् मानते हैं, किन्तु ज्योतिष की उपर्युक्त चर्चाएँ पर्याप्त प्राचीन हैं। इन्हीं मौलिक मान्यताओं के आधार पर जैन ज्योतिष के सिद्धान्तों को ग्रीकपूर्व सिद्ध किया गहा है।[3]

ऐतिहासज्ञ विद्वान् गणित ज्योतिष से भी फलित को प्राचीन मानते हैं। अतः अपने कार्यों की सिद्धि के लिये समयशुद्धि की आवश्यकता आदिम मानव को भी रही होगी। इसी कारण जैन आगम ग्रन्थों में फलित ज्योतिष के बीज तिथि, नक्षत्र, योग, करण, वार, समयशुद्धि, दिनशुद्धि आदि की चर्चाएँ विद्यमान हैं।

जैन ज्योतिष–साहित्य का सांगोपांग परिचय प्राप्त करने के लिये इसे निम्न चार कालखण्डों में विभाजित कर हृदयंगम करने में सरलता होगी।

आदिकाल—	ई. पू. ३००	से	६००	ई.	तक।
पूर्व मध्य काल—	६०१	ई. से	१०००	ई.	तक।
उत्तर मध्यकाल—	१००१	ई. से	१६००	ई.	तक।
अर्वाचीन काल—	१६०१	ई. से	१८६०	ई.	तक।

---

१. समवायांग, स. १५.३.

२. बहिराओं उत्तराओणं कट्ठाओ सूरिए पठमं छम्मासं अयमाणे चोयालिस इमे मंडलगते अट्ठासीति एगसीट्ठ-भागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुट्ठेत्ता एयणीखेत्तस्स अभिनिवुड्ठेत्ता सूरिए चारं चरइ.।—स. ८८.४.

३. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत ग्रीकपूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा शीर्षक निबन्ध, पृ. ४६२.

आदिकाल की रचनाओं में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, अंगविज्जा, लोकविजययन्त्र एवं ज्योतिष्करण्डक आदि उल्लेखनीय हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में लिखित एक प्राचीन रचना है। इस पर मलयगिरि की संस्कृत टीका है। ई० सन् से दो सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि, नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान् महावीर की शासनतिथि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से, जब कि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग, आयु, परिवार आदि के प्रतिपादन के साथ पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन भी किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्रायः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। विषय की अपेक्षा यह सूर्यप्रज्ञप्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली गई है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकाल कर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित की गई है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया गया है। इसमें समचतुस्त्र, विषमचतुस्त्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा को समचतुस्त्र गोल आकार बताया गया है। इसका कारण यह है कि सुषमा-सुषमाकाल के आदि में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण-अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर-वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर-ईशानकोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण नैऋत्य कोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुस्त्र संस्थान था, पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार निकले, अतः चन्द्रमा और सूर्य का आकार अर्धकपीठ-अर्ध समचतुस्त्र गोल बताया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छायासाधन किया गया है और छाया प्रमाण पर से दिनमान भी निकाला गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि जब अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो, उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा ? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोपहर के बाद अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग ($\frac{4}{5}$ भाग) अवशेष दिन समझना चाहिये।[1]

इस ग्रंथ में गोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करनेवाले श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी,

१. ता अवड्ढपोरिसाणं छाया दिवसस्स किं गते सेसे वा ता तिभागे गए वा ता सेसे वा, पोरिसाणं छाया दिवस्स किं गए वा सेसे वा जाव चउभाग गए सेसे वा। चन्द्रप्रज्ञप्ति, प्र. ९.५.

कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़ ये पन्द्रह नक्षत्र बताए गए हैं। पैंतालीस मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, पुर्नवसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढ़ा ये छः नक्षत्र एवं पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले शतमिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र बताये गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९ वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बतलाया है तथा इसके घटने–बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया गया है। १८ वें प्राभृत में पृथ्वी तल से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई बतलाई गयी है।

ज्योतिष्करण्डक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है इसमें अयनादि के कथन के साथ नक्षत्र लग्न का भी निरूपण किया गया है। यह लग्न निरूपण की प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है—

लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे॥

अर्थात् अश्विनी और स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं। जिस प्रकार नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को राशि कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न बताया गया है।

इस ग्रंथ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि, श्रवणादि एवं अभिजित आदि नक्षत्र गणनाओं की विवेचना की गयी है। ज्योतिष्करण्ड का रचनाकाल ई. पू. ३०० के लगभग है। विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

अंगविज्जा का रचनाकाल कुषाण गुप्त युग का सन्धि काल माना गया है। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिन्हों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन करना ही इस ग्रंथ का वर्ण्य विषय है। इस ग्रंथ में कुल साठ अध्याय हैं। लम्बे अध्यायों का पाटलों में विभाजन किया गया है। आरम्भ में अध्यायों में अंगविद्या की उत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य के गुण–दोष, अंगविद्या का माहात्म्य प्रभृति विषयों का विवेचन किया है। गृह–प्रवेश, यात्रारम्भ, वस्त्र, यान, धान्य, चर्या, चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। प्रवासी घर कब और कैसी स्थिति में लौटकर आयेगा इसका विचार ४५ वें अध्याय में किया गया है। ५२ वें अध्याय में इन्द्रधनुष, विद्युत, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय, अस्त, अमावास्या, पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, उल्कापात, दिशादाह आदि निमित्तों से फलकथन किया गया है। सत्ताईस नक्षत्र और उनसे होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में अष्टांग निमित्त का विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टियों से कथन किया गया है।[1]

लोकविजय–यन्त्र भी एक प्राचीन ज्योतिष की रचना है। यह प्राकृत भाषा में ३० गाथाओं में लिखा गया है। इसमें प्रधानरूप से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष की जानकारी बतलायी गयी है। आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहा है—

---

१. अंगविज्जा, पृ. २०६–२०९.

पणमिय पयारविंदं तिलोचनाहस्स जगपईवस्स।
बुच्छामि लोयविजयं जंतं जंतूण सिद्धिकयं ॥

जगत्पति–नाभिराय के पुत्र त्रिलोकनाथ ऋषभदेव के चरणकमलों में प्रणाम करके जीवों की सिद्धि के लिये लोकविजय यन्त्र का वर्णन करता हूँ।

इसमें १४५ से आरम्भ कर १५३ तक ध्रुवांक बतलाए गए हैं। इन ध्रुवांकों पर से ही अपने स्थान के शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। कृषिशास्त्र की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

कालकाचार्य—यह भी निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल के साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था। जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है, यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते, तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पापश्रुत समझकर अछूता ही छोड देते।

वराहमिहिर ने बृहज्जातक में कालकसंहिता का उल्लेख किया है।[1] निशीथ चूर्णि आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों से इनके ज्योतिष–ज्ञान का पता चलता है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इनके मत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरु पर्वत है, ग्रह नित्य गतिशील होते हुए मेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। चौथे अध्याय में ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारों का भी वर्णन किया है। संक्षेप रूप में आई हुई इनकी चर्चाएँ ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार आदिकाल में अनेक ज्योतिष की रचनाएँ हुईं। स्वतंत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषय धार्मिक ग्रन्थों, आगम ग्रन्थों की चूर्णियों, वृत्तियों, और भाष्यों में भी ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण बातें अंकित की गयीं। तिलोय–पण्णत्ति में ज्योतिर्मण्डल का महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। ज्योतिर्लोकान्धकार में अयन, गमनमार्ग, नक्षत्र एवं दिनमान आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

पूर्व मध्यकाल में गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें ऋषिपुत्र, महावीराचार्य, चन्द्रसेन, श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विदों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा इस साहित्य की श्रीवृद्धि की।

भद्रबाहु के नाम पर अर्हच्चूडामणिसार नामक एक प्रश्नशास्त्र सम्बन्धी ६८ प्राकृत गाथाओं में रचना उपलब्ध है। यह रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की है, इसमें तो सन्देह है। हमें ऐसा लगता है कि यह भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे, अतः संभव है कि इस कृति के लेखक यह द्वितीय भद्रबाहु ही होंगे। प्रारम्भ में वर्णों की संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। अ इ ए ओ, ये चार स्वर तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल स, ये चौदह व्यंजन आलिंगित संज्ञक हैं। इनका सुभग, उत्तर और संकट नाम भी है।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. २०७.

आ ई ऐ औ, ये चार स्वर तथा ख छ ठ थ फ र ष घ झ ठ, ध म व ह ये चौदह व्यंजन अभिधूमित संज्ञक हैं। इनका मध्य, उत्तराधर और विकट नाम भी है। उ ऊ अं अः ये चार स्वर तथा ङ. ञ ण न म य व्यंजन दग्धसंज्ञक हैं। इनका विकट, संकट, अधर और अशुभ नाम भी हैं। प्रश्न में सभी आलिंगित अक्षर हों, तो प्रश्नकर्ता की कार्यसिद्धि होती है।

प्रश्नाक्षरों के दग्ध होने पर कार्यसिद्धि का विनाश होता है। उत्तर संज्ञक स्वर उत्तर संज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने से उत्तरतम और उत्तराधर तथा अधर स्वरों से संयुक्त होने पर उत्तर और अधर संज्ञक होते हैं। अधर संज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने पर अधराधरतर संज्ञक होते हैं। दग्धसंज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में मिलने से दग्धतम संज्ञक होते हैं।[1] इन संज्ञाओं के पश्चात् फलाफल निकाला गया है। जय-पराजय, लाभालाभ, जीवन-मरण आदि का विवेचन भी किया गया है। इस छोटी-सी कृति में बहुत कुछ निबद्ध कर दिया गया है। इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मध्यवर्ती क, ग और त के स्थान पर य श्रुति पायी जाती है।

करलक्खण—यह सामुद्रिक शास्त्र का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें रेखाओं का महत्त्व, स्त्री और पुरुष के हाथों के विभिन्न लक्षण, अंगुलियों के बीच के अन्तराल पर्वों के फल, मणिबन्ध, विद्यारेखा, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, धर्म, व्रत आदि रेखाओं का वर्णन किया है। भाई, बहन, सन्तान आदि की द्योतक रेखाओं के वर्णन के उपरान्त अंगुष्ठ के अधोभाग में रहनेवाले यव का विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिपादन किया गया है। यव का यह प्रकरण नौ गाथाओं में पाया जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है।—

इय करलक्खणमेयं समासओ दंसिअं जइजणस्स।
पुव्वायरिएहिं णरं परिक्खिऊणं वयं दिज्जा ॥६१॥

यतियों के लिए संक्षेप में करलक्षणों का वर्णन किया गया है। इन लक्षणों के द्वारा व्रत ग्रहण करनेवाले की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जब शिष्य में पूरी योग्यता हो, व्रतों का निर्वाह कर सके तथा व्रती जीवन को प्रभावक बना सके, तभी उसे व्रतों की दीक्षा देनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य जनकल्याण के साथ नवागत शिष्य की परीक्षा करना ही है। इसका प्रचार भी साधुओं में रहा होगा।

ऋषिपुत्र का नाम भी प्रथम श्रेणी के ज्योतिर्विदों में परिगणित है। इन्हें गर्ग का पुत्र कहा गया है। गर्ग मुनि ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके सम्बन्ध में लिखा मिलता है।

जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं सुनिर्णीत यं सत्पाशात्र केवली ॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्च शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

---

१. अर्हच्चूडामणिसार, गाथा १-८.

संभवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होंगे। इनका नाम ही इस बात का साक्षी है कि यह किसी ऋषि के वंशज थे अथवा किसी मुनि के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। ऋषिपुत्र का एक निमित्त शास्त्र ही उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गयी एक संहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रंथ में उल्लेख मिलता है। ऋषिपुत्र के उद्धरण बृहत्संहिता की महोत्पली टीका में उपलब्ध हैं।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पहले होना चाहिए। यतः ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर पर स्पष्ट है। यहाँ दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जायगा।

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण इत्ति होइ णायव्वो।
संजामं पुण घोरं खज्जं सूरो णिवेदई ॥—ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र
शशिरुधिकरीनमे मानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामाः।—वराहमिहिर

अपने निमित्तशास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले आकाश में दृष्टिगोचर होनेवाले और विभिन्न प्रकार के शब्द श्रवण द्वारा प्रकट होनेवाले इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। वर्षोत्पात, देवोत्पात, राजोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की है।

लग्नशुद्धि या लग्नकुंडिका नाम की रचना हरिभद्र की मिलती है। हरिभद्र दर्शन, कथा और आगम शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका समय आठवीं शती माना जाता है। इन्होंने १४४० प्रकरण ग्रन्थ रचे हैं। इनकी अब तक ८८ रचनाओं का पता मुनि जिन विजयजी ने लगाया है। इनकी २६ रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

लग्नशुद्धि प्राकृत भाषा में लिखि गयी ज्योतिष रचना है। इसमें लग्न के फल, द्वादश भावों के नाम, उनसे विचारणीय विषय, लग्न के सम्बन्ध में ग्रहों का फल, ग्रहों का स्वरूप, नवांश, उच्चांश आदि का कथन किया गया है। जातकशास्त्र या होराशास्त्र का यह ग्रन्थ है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व है। ग्रहों के बल तथा लग्न की सभी प्रकार से शुद्धि—पापग्रहों का अभाव, शुभग्रहों का सद्भाव वर्णित है।

महाविराचार्य—ये धुरन्धर गणितज्ञ थे। ये राष्ट्रकूट वंश के अमोघवर्ष नृपतुंग के समय में हुए थे, अतः इनका समय ई. सन् ८५० माना जाता है। इन्होंने ज्योतिषपटल और गणितसार-संग्रह नाम के ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनों ही ग्रन्थ गणितज्योतिष के हैं? इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज ही में आँका जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए बताया है कि गणित के बिना संसार के किसी भी शास्त्र की जानकारी नहीं हो सकती है। कामशास्त्र, गान्धर्व, नाटक, सूपशास्त्र, वास्तुविद्या, छन्दशास्त्र, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण, कलाप्रभृति का यथार्थ ज्ञान गणित के बिना संभव नहीं है; अतः गणितविद्या सर्वोपरि है।

इस ग्रंथ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्णव्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिव्यवहार, मिश्रकव्यवहार, क्षेत्र-गणितव्यवहार, खातव्यवहार, एवं छायाव्यवहार नाम के प्रकरण हैं। मिश्रकव्यवहार में

समकुट्टीकरण, विषमकुट्टीकरण, और मिश्रकुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित हैं। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। इसके क्षेत्रव्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिणत करने के सिद्धान्त दिये गये हैं। समत्रिभुज, विषमत्रिभुज, समकोण, चतुर्भुज, विषमकोण चतुर्भुज, वृत्तक्षेत्र, सूची व्यास, पंचभुजक्षेत्र एवं बहुभुजक्षेत्रों का क्षेत्रफल तथा घनफल निकाला गया है।

ज्योतिष पटल में ग्रहों के चार क्षेत्र, सूर्य के मण्डल, नक्षत्र और ताराओं के संस्थान, गति, स्थिति और संख्या आदि का प्रतिपादन किया है।

चन्द्रसेन के द्वारा 'केवलज्ञान होरा' नामक महत्त्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कल्याणवर्मा के पीछे का रचा गया प्रतीत होता है। इसके प्रकरण सारावली से मिलते-जुलते हैं, पर दक्षिण में रचना होने के कारण कर्णाटक प्रदेश के ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है। इन्होंने ग्रंथ के विषय को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में कन्नड़ भाषा का भी आश्रय लिया है। इस ग्रन्थ अनुमानतः चार हजार श्लोकों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है—

होरा नाम महाविद्या वक्तव्यं च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानैकसारं भूषणं बुधपोषणम्॥

उन्होंने अपनी प्रशंसा भी प्रचुर परिणाम में की है—

आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः।
केवलीसदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे॥

इस ग्रन्थ में हेमप्रकरण, दाम्यप्रकरण, शिलाप्रकरण, मृत्तिका प्रकरण, वृक्ष प्रकरण, कार्पास-गुल्म बल्कल-तृण-रोम-चर्म-पटप्रकरण, संख्या प्रकरण, नष्ट द्रव्य प्रकरण, निर्वाह प्रकरण, अपत्य प्रकरण, लाभालाभ प्रकरण, स्वर प्रकरण, स्वप्न प्रकरण, वास्तु प्रकरण, भोजन प्रकरण, देहलोहदिक्षा प्रकरण, अंजन विद्या प्रकरण एवं विष विद्या प्रकरण, आदि हैं। ग्रन्थ को आद्योपान्त देखने से अवगत होता है कि यह संहिता-विषयक रचना है, होराविषयक नहीं।

श्रीधर—ये ज्योतिष शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इनका समय दसवीं शती का अंतिम भाग है। ये कर्णाटक प्रान्त के निवासी थे। इनकी माता का नाम अब्बोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने बचपन में अपने पिता से ही संस्कृत और कन्नड़-साहित्य का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ये शैव थे, किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गये थे। इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञानविधि संस्कृत भाषा में तथा जातकतिलक कन्नड़-भाषा में रचनाऐं हैं। गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भाग जाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमात्र जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड, मिश्रक व्यवहार, एकपत्रीकरण, सुवर्ण गणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रयविक्रय, श्रेणीव्यवहार, खातव्यवहार, चितिव्यवहार, काष्ठक व्यवहार, राशि व्यवहार, एवं छायाव्यवहार आदि गणितों का निरूपण किया है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि प्रारम्भिक ज्योतिष का ग्रन्थ है। इसमें व्यवहारोपयोगी मुहूर्त भी दिये गये हैं। आरम्भ में संवत्सरों के नाम, नक्षत्र नाम, योग-करण, तथा उनके शुभाशुभत्व दिये गये हैं। इसमें मासशेष, मासाधिपति शेष, दिनशेष एवं दिनाधिपति शेष आदि गणितानयन की उद्भुत प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं।

जातकतिलक—कन्नड भाषा में लिखित होरा या जातकशास्त्र सम्बन्धी रचना है। इस ग्रन्थ में लग्न, ग्रह, ग्रहयोग, एवं जन्मकुण्डली सम्बन्धी फलादेश का निरूपण किया गया है। दक्षिणभारत में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार है।

चन्द्रोन्मीलन प्रश्न भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नशास्त्र की रचना है। इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रन्थ को देखने में यह अवश्य अवगत होता है कि इस प्रश्नप्रणाली का प्रचार खूब था। प्रश्नकर्ता के प्रश्नवर्णों का संयुक्त, असंयुक्त, अभिहत, अनभिहत, अभिघातित, अभिधूमित, आलिंगित और दग्ध इन संज्ञाओं में विभाजन कर प्रश्नों का उत्तर में चन्द्रोन्मीलन का खण्डन किया गया है। "प्रोक्तं चन्द्रोन्मीलनं शुक्लवस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्" इससे ज्ञात होता है कि यह प्रणाली लोकप्रिय थी। चन्द्रोन्मीलन नाम का जो ग्रन्थ उपलब्ध है, यह साधारण है।

उत्तरमध्यकाल में फलित ज्योतिष का बहुत विकास हुआ। मुहूर्त्तजातक, संहिता, प्रश्न सामुद्रिक-शास्त्र प्रभृति विषयों की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ लिखी गयी हैं। इस युग में सर्वप्रथम और प्रसिद्ध ज्योतिषी दुर्गदेव हैं। दुर्गदेव के नाम से यों तो अनेक रचनाएँ मिलती हैं, पर दो रचनाएँ प्रमुख हैं—रिट्ठसमुच्चय और अर्द्धकाण्ड। दुर्गदेव का समय सन् १०३२ माना गया है। रिट्ठसमुच्चय की रचना अपने गुरु संयमदेव के वचनानुसार की है। ग्रन्थ में एक स्थान पर संयमदेव के गुरु संयमसेन और उनके गुरु माधवचन्द्र बताए गए हैं। रिटठसमुच्चय शौरसेनी प्राकृत में २६१ गाथाओं में रचा गया है। इसमें शकुन और शुभाशुभ निमित्तों का संकलन किया गया है। लेखक ने रिष्टों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नामक तीन भेद किए हैं। प्रथम श्रेणी में अंगुलियों का टूटना, नेत्रज्योति की हीनता, रसज्ञान की न्यूनता, नेत्रों से लगातार जलप्रवाह एवं जिव्हा न देख सकना आदि को परिगणित किया है। द्वितीय श्रेणी में सूर्य और चन्द्रमा का अनेकों रूपों में दर्शन प्रज्वलित दीपक को शीतल अनुभव करना चन्द्रमा को त्रिभंगी रूप में देखना, चन्द्रलांछन का दर्शन न होना इत्यादि को ग्रहण किया है। तृतीय में निजछाया परच्छाया तथा छायापुरुष का वर्णन है। प्रश्नाक्षर, शकुन और स्वप्न आदि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

अर्द्धकाण्ड में तेजी-मंदी का ग्रहयोग के अनुसार विचार किया गया है। यह ग्रन्थ भी १४९ प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है।

मल्लिसेन—संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके पिता का नाम जिनसेन सूरि था, ये दक्षिण भारत के धारवाड जिले के अन्तर्गत गदग तालुका नामक स्थान के रहनेवाले थे। इनका समय ई. सन् १०४३ माना गया है। इनका आयसद्भाव नामक ज्योतिषग्रंथ उपलब्ध है। आरम्भ में ही कहा है—

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम् ।
तत्सम्प्रत्यार्थाभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥
ध्वजधूमसिंहमण्डल वृषखरगजवायसा भवन्त्यायाः ।
ज्ञायन्ते ते विद्भिरिहैकोत्तरगणनया चाष्टौ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनके पूर्व भी सुग्रीव आदि जैन मुनियों के द्वारा इस विषय की ओर रचनाएँ भी हुई थीं, उन्हींके सारांश को लेकर आयसद्भाव की रचना की गयी है। इस कृति में १९५ आर्याऐं और अन्त में एक गाथा, इस तरह कुल १९६ पद्य हैं। इसमेंध्वज, धूम, सिंह, मण्डल, वृष, खर, गज और वायस इन आठों आयों के स्वरूप और फलादेश वर्णित हैं।

भट्टवोसरि—आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि हैं। यह प्रश्नशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें २५ प्रकरण और ४१५ गाथाऐं हैं। ग्रन्थकर्त्ता की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। दामनन्दी का उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं. ५५ में पाया जाता है। ये प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा या गुरु-भाई थे। अतः इनका समय[1] विक्रम संवत, की ११ वीं शती है और भट्टवोसरि का भी इन्हीं के आसपास का समय है।

इस ग्रन्थ में ध्वज, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष, ध्वांक्ष इन आठ आयों द्वारा प्रश्नों के फलादेश का विस्तृत विवेचन किया है। इसमें कार्य-अकार्य, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उदय प्रभदेव—इनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था। इनका समय ई. सन् १२२० बताया जाता है। इन्होंने ज्योतिष विषयक आरम्भ सिद्धि अपरनामा व्यवहारचर्या ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर वि. सं. १५१४ में रत्नशेखर सूरि के शिष्य हेमहंस गणि ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका में इन्होंने मुहूर्त सम्बन्धी साहित्य का अच्छा संकलन किया है। लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थोक्त अध्यायों का संक्षिप्त नामकरण निम्नप्रकार दिया है।

दैवज्ञदीपकालिकां व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेवानाम् शास्तिक्रमेण तिथिवारमयोगराशिगोचर्य-कार्यागमवास्तुविलग्नभिः।

हेमहंसगणि ने व्यवहारचर्या नाम की सार्थकता दिखलाते हुए लिखा है—

"व्यवहारं शिष्टजनसमाचारः शुभतिथिवारमादिषु शुभकार्यकरणादिरूपस्तस्य चर्या।" यह ग्रन्थ मुहूर्त चिन्तामणि के समान उपयोगी और पूर्ण है। मुहूर्त विषय की जानकारी इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से की जा सकती है।

---

१. प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, संपादक-जुगलकिशोर मुख्तार, प्रस्तावना, पृ. ९५-९६ तथा पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना, पृ. १०१-१०२.

राजादित्य—इनके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। इनका जन्म कोंडि-मण्डल के 'युविनबाग' नामक स्थान में हुआ था। इनके नामान्तर राजवर्म, भास्कर और वाचिराज बताये जाते हैं। ये विष्णुवर्धन राजा की सभा के प्रधान पण्डित थे, अतः इनका समय सन् ११२० के लगभग है। यह कवि होने के साथ-साथ गणित और ज्योतिष के माने हुए विद्वान थे। "कर्णाटक-कवि-चरिते" के लेखक का कथन है कि कन्नड़-साहित्य में गणित का ग्रन्थ लिखनेवाला यह सबसे बडा विद्वान् था। इनके द्वारा रचित व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न तथा जैन-गणित-सूत्रटीकोदाहरण और लीलावती ये गणित ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पद्मप्रभसूरि—नागौर की तपागच्छीय पट्टावली से पता चलता है कि ये वादिदेव सूरि के शिष्य थे। इन्होंने भुवनदीपक या ग्रहभावप्रकाश नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर सिंहतिलक सूरि ने वि. सं. १३३६ में एक विवृत्ति लिखी है। "जैन साहित्य नो इतिहास" नामक ग्रंथ में इन्होंने इनके गुरु का नाम विबुधप्रभ सूरि बताया है। भुवनदीपक का रचनाकाल वि. सं. १२९४ है। यह ग्रन्थ छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ३६ द्वारा-प्रकरण हैं। राशिस्वामी, उच्चनीचत्व, मित्रशत्रु, राहु का गृह, केतुस्थान, ग्रहों के स्वरूप, द्वादश भावों से विचारणीय बातें, इष्टकालज्ञान, लग्न सम्बन्धी विचार, विनष्टगृह, राजयोग का कथन, लाभालाभ विचार, लग्नेश की स्थिति का फल, प्रश्न द्वारा गर्भ विचार, प्रश्न द्वारा प्रसवज्ञान, यमजविचार, मृत्युयोग, चौर्यज्ञान, द्रेष्काणादि के फलों का विचार विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ में कुल १०० श्लोक हैं। इसकी भाषा संस्कृत है।

नरचन्द्र उपाध्याय—ये कातद्दहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र के कई ग्रन्थों की रचना की है। वर्त्तमान में इनके बेड़ा जातक वृत्ति, प्रश्न शतक, प्रश्न चतुर्विंशतिका, जन्म-समुद्रटीका, लग्नविचार और ज्योतिषप्रकाश उललब्ध हैं। नरचन्द्र ने सं. १३२४ में माघ सुदि ८ रविवार को बेड़ाजातक वृत्ति की रचना १०५० श्लोक प्रमाण में की है। ज्ञानदीपिका नाम की एक अन्य रचना भी इनकी मानी जाती है। ज्योतिषप्रकाश, संहिता और जातकसंबंधी महत्त्वपूर्ण रचना है।

अट्ठकवि या अर्हदास—ये जैन ब्राह्मण थे। इनका समय ईस्वी सन् १३०० के आसपास है। अर्हदास के पिता नागकुमार थे। अर्हदास कन्नड़-भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने कन्नड़ में अट्ठमत नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। शक संवत् की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रंथ का तेलगू भाषा में अनुवाद किया था। अट्ठमत में वर्षा के चिन्ह, आकस्मिक लक्षण, शकुन, वायुचक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प, भूजातफल, उत्पात लक्षण, परिवेष लक्षण, इन्द्रधनुर्लक्षण, प्रथम-गर्भलक्षण, द्रोणसंख्या, विद्युतलक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण, संवत्सरफल, ग्रहद्वेष, मेघों के नाम, कुलवर्ण, ध्वनि-विचार, देशवृष्टि, मासफल, राहुचन्द्र, १४ नक्षत्रफल, संक्रान्ति फल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

महेन्द्रसूरि—ये भृगुपुर[1] निवासी मदन सूरि के शिष्य फिरोजशाह तुगलक के प्रधान सभापण्डित थे। इन्होंने नाडीवृत्त के धरातल में गोलपृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके यन्त्रराज नामक ग्रह गणित का उपयोगी ग्रन्थ लिखा है। इनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर सोदाहरण टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में परमाक्रान्ति २३ अंश ३५ कला मानी गयी है। इसकी रचना शक संवत् १२९२ में हुई है। इसमें गणिताध्याय, यन्त्रघटनाध्याय, यन्त्ररचनाध्याय, यन्त्रशोधनाध्याय और यन्त्रविचारणाध्याय ये पांच अध्याय हैं। क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चापसाधन, क्रान्तिसाधक धुज्याखंडसाधन, धुज्या-फलानयन, सौम्य गणित के विभिन्न गणितों का साधन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, ग्रन्थ के नक्षत्र ध्रुवादिक से अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादिक का साधन, नक्षत्रों के दृक्कर्मसाधन, द्वादश राशियों के विभिन्न वृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन, इष्ट शन्कु से छायाकरण साधन यन्त्रशोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न राशि नक्षत्रों के गणित का साधन, द्वादशभाव और नवग्रहों के स्पष्टीकरण का गणित एवं विभिन्न यन्त्रों द्वारा सभी ग्रहों के साधन का गणित बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है! इस ग्रन्थ में पंचांग निर्माण करने की विधि का निरूपण किया है।

भद्रबाहु संहिता अष्टांग निमित्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के २७ अध्यायों में निमित्त और संहिता विषय का प्रतिपादन किया गया है। ३० वें अध्याय में अरिष्टों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का निर्माण श्रुतकेवली भद्रबाहु के वचनों के आधार पर हुआ है। विषयनिरूपण और शैली की दृष्टि से इसका रचनाकाल ८–९ वीं शती के पश्चात् नहीं हो सकता है। हां, लोकोपयोगी रचना होने के कारण उसमें समय–समय पर संशोधन और परिवर्त्तन होता रहा है।

इस ग्रन्थ में व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छन्न, अन्तरिक्ष, लक्षण एवं स्वप्न इन आठों निमित्तों का फलनिरूपणसहित विवेचन किया गया है। उल्का, परिवेशण, विद्युत, अभ्र, सन्ध्या, मेघ, वात, प्रवर्षण, गन्धर्वनगर, गर्भलक्षण, यात्रा, उत्पात, ग्रहचार, ग्रहयुद्ध, स्वप्न, मुहूर्त, तिथि, करण, शकुन, पाक, ज्योतिष, वास्तु, इन्द्रसम्पदा, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह, लग्न, विद्या, औषध, प्रभृति सभी निमित्तों के बलाबल, विरोध और पराजय आदि विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यह निमित्तशास्त्र का बहुत ही महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ है। इससे वर्षा, कृषि, धान्यभाव, एवं अनेक लोकोपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

केवलज्ञान प्रश्नचूडामणि के रचयिता समन्तभद्र का समय १३ वीं शती है। ये समन्त विजयप के पुत्र थे। विजयप के भाई नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की रचना आनन्द संवत्सर में चैत्रमास की पंचमी को की है। अतः समन्तभद्र का समय १३ वीं शती है। इस ग्रन्थ में धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ,

---

१. अभूत् भृगुपुरे वरे गणकचक्र–चूडामणिः
कृती नृपीतसंस्तुतो मदनसूरिनामा गुरुः।
तदीयपदशालिना विरचिते सुयन्त्रागमे,
महेन्द्रगुरुणोद्धताजनि विचारणि यन्त्रजा ॥ यन्त्रराज, अ. ५, श्लोक ६८.

हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, शकुन, जन्म, कर्म, अस्त्र, शल्य, वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सिद्धि, असिद्धि आदि विषयों का प्ररूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अ च ट त प य श अथवा आ ए क च ट प य श इन अक्षरों का प्रथम वर्ग, आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष इन अक्षरों का द्वितीय वर्ग, इ ओ ग ज ड द व ल स इन अक्षरों का तृतीय वर्ग, ई औ घ झ भ व ह न अक्षरों का चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ण न भ अं अः इन अक्षरों का पंचम वर्ग बताया गया है। प्रश्नकर्ता के वाक्य या प्रश्नाक्षरों को ग्रहण कर संयुक्त, असंयुक्त, अभिहित और अभिघातित इन पांचों द्वारा तथा आलिंगित अभिधूमित और दग्ध इन तीनों क्रियाविशेषणों द्वारा प्रश्नों के फलाफल का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में मूक प्रश्नों के उत्तर भी निकाले गये हैं। यह प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

हेमप्रभ—इनके गुरु का नाम देवेन्द्रसूरि था। इनका समय चौदहवीं शती का प्रथम पाद है। संवत १३०५ में त्रैलोक्यप्रकाश रचना की गयी है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला।[1]

त्रैलोक्यप्रकाश बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ११६० श्लोक हैं। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से फलित ज्योतिष की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आरंभ में ११० श्लोकों में लग्नज्ञान का निरूपण है। इस प्रकरण में भावों के स्वामी, ग्रहों के छः प्रकार के बल, दृष्टिविचार, शत्रु, मित्र,—वक्री मार्गी, उच्च–नीच, भावों की संज्ञाएँ, भावराशि, ग्रहबल विचार आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय, प्रकरण में योगविशेष—धनी, सुखी, दरिद्र, राज्यप्राप्ति, सन्तानप्राप्ति, विद्याप्राप्ति, आदि का कथन है। तृतीय प्रकरण, में निधिप्राप्ति घर या जमीन के भीतर रखे गये धन और उस धन को निकालने की विधि का विवेचन है। यह प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इतने सरल और सीधे ढंग से इस विषय का निरूपण अन्यत्र नहीं है। चतुर्थ प्रकरण भोजन और पंचम ग्राम पृच्छा है। इन दोनों प्रकरणों में नाम के अनुसार विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के योगों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ पुत्र प्रकरण है, इसमें सन्तान प्राप्ति का समय, सन्तान संख्या, पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति आदि का कथन है। सप्तम प्रकारण में छठे भाव से विभिन्न प्रकार के रोगों का विवेचन, अष्टम में सप्तम भाव से दाम्पत्य संबंध और नवम में विभिन्न दृष्टियों से स्त्री–सुख का विचार किया गया है। दशम प्रकरण में स्त्रीजातक–स्त्रियों की दृष्टि से फलाफल का निरूपण किया गया है। एकादश में परचक्रगमन, द्वादश में गमनागमन, त्रयोदश में युद्ध, चतुर्दश में सन्धिविग्रह, पंचदश में वृक्षज्ञान, षोडश में ग्रह दोष–ग्रह पीड़ा, सप्तदश में आयु, अष्टादश में प्रवहण और एकोनविंश में प्रवज्या का विवेचन किया है। बीसवें प्रकरण में राज्य या पदप्राप्ति, इक्कीसवें में वृष्टि, बाईसवें में अर्धकाण्ड, तेईसवें में स्त्रीलाभ, चौबीसवें में नष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं पच्चीसवें में ग्रहों के उदयास्त, सुभिक्ष–दुर्भिक्ष, महर्घ, समर्घ, और विभिन्न प्रकार से तेजी–मन्दी की जानकारी बतलाई गयी है। इस ग्रंथ की प्रशंसा स्वयं ही इन्होंने की है।[2]

---

१. जैन ग्रन्थावली, पृ. ३५६.   २. त्रैलोक्यप्रकाश, श्लो. ४३०.

श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणां शिष्येण ज्ञानदर्पणः ।
विश्वप्रकाशकश्चक्रे श्रीहेमप्रभसूरिणा ॥

श्री देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्री हेमप्रभ सूरि ने विश्वप्रकाशक और ज्ञानदर्पण इस ग्रन्थ को रचा ।

मेघमाला की श्लोक संख्या १०० बतायी गयी है। प्रो. एच. डी. वेलंकर ने जैन ग्रंथावली में उक्त प्रकार का ही निर्देश किया है ।

रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धिदीपिका नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा है। इनका समय १५ वीं शती बताया जाता है । ग्रन्थ के अन्त में निम्न प्रशस्ति गाथा मिलती है ।

सिरिवयरसेण गुरुपट्ट–नाहीसरिहेमतिलयसूरीणं ।
पायपसाया एसा, रयणसिहरसूरिणा विहिया ॥१४४॥

वज्रसेन गुरु के पट्टधर श्री हेमतिलक सूरि के प्रसाद से रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि प्रकरण की रचना की ।

इसे " मुनिमणभवणपयासं " अर्थात् मुनियों के मन रूपी भवन के प्रकाशित करनेवाला कहा है। इसमें कुल १४४ गाथाएँ हैं । इस ग्रन्थ में वारद्वार, कालहोरा, वारप्रारम्भ, कुलिकादियोग, वर्ज्यप्रहर, नन्दभद्रादि संज्ञाएं, क्रूरतिथि, वर्ज्यतिथि, दग्धातिथि, करण, भद्राविचार, नक्षत्रद्वार, राशिद्वार, लग्नद्वार, चन्द्र-अवस्था, शुभरवियोग, कुमारयोग, राजयोग, आनन्दादि योग, अमृतसिद्धियोग, उत्पादियोग, लग्नविचार, प्रयाण-कालीन शुभाशुभ विचार, वास्तु मुहूर्त, षडष्टकादि, राशिकूट, नक्षत्रयोनि विचार, विविध मुहूर्त्त, नक्षत्र दोष विचार, छायासाधन और उसके द्वारा फलादेश एवं विभिन्न प्रकार के शकुनों का विवेचन किया गया है । यह ग्रन्थ व्यवहारोपयोगी है ।

चौदहवीं शताब्दी में ठक्कर फेरू का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने गणितसार और जोइससार ये दो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण लिखे हैं। गणितसार में पाटीगणित और परिकर्माष्टक की मीमांसा की गयी है। जोइससार में नक्षत्रों की नामावलि से लेकर ग्रहों के विभिन्न योगों का सम्यक् विवेचन किया गया है ।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अरिरिक्त हर्षकीर्ति कृत जन्मपत्रपद्धति, जिनवल्लभ कृत स्वप्नसंहितका, जय-विजय कृत शकुनदीपिका, पुण्यतिलक कृत ग्रहायुसाधन, गर्गमुनि कृत पासावली, समुद्र कवि कृत सामुद्रिक–शास्त्र मानसागर, कृत मानसागरीपद्धति, जिनसेन कृत निमित्तदीपक आदि ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं । ज्योतिष-सार, ज्योतिषसंग्रह, शकुनसंग्रह, शकुनदीपिका, शकुनविचार, जन्मपत्री पद्धति, ग्रहयोग, ग्रहफल, नाम के अनेक ऐसे संग्रह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके कर्ता का पता ही नहीं चलता है ।

अर्वाचीन काल में कई अच्छे ज्योतिर्विद् हुए हैं जिन्होंने जैन ज्योतिष साहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है ।[1] यहाँ प्रमुख लेखकों का उनकी कृतियों के साथ परिचय दिया जाता है। इस युग के सब से

---

१. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि का प्रस्तावना भाग.

प्रमुख मेघविजय गणि हैं। ये ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय वि० सं० १०३६ के आसपास माना गया है। इनके द्वारा रचित मेघ महोदय या वर्षप्रबोध, उदयदीपिका, रमलशास्त्र और हस्तसंजीवन आदि मुख्य हैं। वर्षप्रबोध में १३ अधिकार और ३५ प्रकरण हैं। इसमें उत्पात प्रकरण, कर्पूरचक्र, पद्मिनीचक्र, मण्डलूपकरण, सूर्य और चन्द्रग्रहण का फल, मास, वायु विचार, संवत्सर का फल, ग्रहों के उदयास्त और वक्री अयन मास पक्ष विचार, संक्रान्ति फल, वर्ष के राजा, मंत्री, धान्येश, रसेश आदि का निरूपण, आय-व्यय विचार, सर्वतोभद्रचक्र एवं शकुन आदि विषयों का निरूपण किया गया है। ज्योतिष विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिये यह रचना उपयोगी है।

हस्तसंजीवन में तीन अधिकार हैं। प्रथम दर्शनाधिकार में हाथ देखने की प्रक्रिया, हाथ की रेखाओं पर से ही मास, दिन, घटी, पल आदि का कथन एवं हस्तरेखाओं के आधार पर से ही लग्नकुण्डली बनाना तथा उसका फलादेश निरूपण करना वर्णित है। द्वितीय स्पर्शनाधिकार में हाथ की रेखाओं के स्पर्श पर से ही समस्त शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। इस अधिकार में मूल प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया भी वर्णित है। तृतीय विमर्शनाधिकार में रेखाओं पर से ही आयु, सन्तान, स्त्री, भाग्योदय, जीवन की प्रमुख घटनाएँ, सांसारिक सुख, विद्या, बुद्धि, राज्यसम्मान और पदोन्नति का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और पठनीय है।

उभयकुशल—का समय १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। ये फलित ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने विवाह पटल और चमत्कारचिन्तामणि टबा नामक दो ग्रन्थों की रचना की है। ये मुहूर्त और जातक, दोनों ही विषयों के पूर्ण पंडित थे। चिन्तामणि टबा में द्वादश भावों के अनुसार ग्रहों के फलादेश का प्रतिपादन किया गया है। विवाह पटल में विवाह के मुहुर्त और कुण्डली मिलान का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

लब्धचन्द्रगणि—ये खरतरगच्छीय कल्याणनिधान के शिष्य थे। इन्होंने वि. सं. १०५१ में कार्तिक मास में जन्मपत्री पद्धति नामक एक व्यवहारोपयोगी ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ में इष्टकाल, भयात, भयोग, लग्न, नवग्रहों का स्पष्टीकरण, द्वादशभाव, तात्कालिक चक्र, दशबल, विंशोत्तरी दशा साधन आदि का विवेचन किया गया है।

बाधती मुनि—ये पार्श्व चन्द्रगच्छीय शाखा के मुनि थे। इनका समय वि. सं. १०८३ माना जाता है। इन्होंने तिथिसारिणी नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त इनके दो-तीन फलित-ज्योतिष के भी मुहूर्त सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ हैं। इनका सारणी ग्रन्थ, मकरन्द सारणी के के समान उपयोगी है।

यशस्वतसागर—इनका दूसरा नाम जसवंतसागर भी बताया जाता है। ये ज्योतिष, न्याय, व्याकरण और दर्शन शास्त्र के धुरन्धर विद्वान थे। इन्होंने ग्रहलाघव के ऊपर वार्तिक नाम की टीका लिखी है। वि. सं. १०६२ में जन्मकुण्डली विषय को लेकर "यशोराज-पद्धति" नामक एक व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ

लिखा है। यह ग्रन्थ जन्मकुंडली की रचना के नियमों के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। उत्तरार्द्ध में जातक पद्धति के अनुसार संक्षिप्त फल बतलाया है।

इनके अतिरिक्त विनयकुशल, हरिकुशल, मेघराज, जिनपाल, जयरत्न, सूरचन्द्र, आदि कई ज्योतिषियों की ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हैं। जैन ज्योतिष साहित्य का विकास आज भी शोध टीकाओं का निर्माण एवं संग्रह ग्रन्थों के रूप में हो रहा है।[१] संक्षेप में अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमितिगणित, प्रतिमागणित, पंचांग निर्माण गणित, जन्मपत्र निर्माण गणित आदि गणित-ज्योतिष के अंगों के साथ होराशास्त्र, संहिता,[२] मुहूर्त, सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, निमित्तशास्त्र, रमल-शास्त्र, पासाकेवली प्रभृति फलित अंगों का विवेचन जैन ज्योतिष में किया गया है। जैन ज्योतिष साहित्य के अब तक पाँच सौ ग्रन्थों का पता लग चुका है।[3]

---

१. भद्रबाहु संहिता का प्रस्तावना अंश.

२. महावीर स्मृतिग्रन्थ के अन्तर्गत "जैन ज्योतिष की व्यावहारिकता" शीर्षक निबन्ध, पृ. १९६-१९७.

३. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत 'भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष', पृ. ४७८-४८४.

पुरुषार्थसिद्धयुपाय : एक–अध्ययन

पं. ब्र. माणिकचंद्रजी चवरे, कारंजा

'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' आचार्य अमृतचंद्र का आचारविषयक अद्भुत ग्रंथ है। आचार्य श्री अमृतचंद्र विक्रम की १२ वीं सदी के दृष्टि–संपन्न विद्वान्, मर्मज्ञ भाषाप्रभु, अधिकार संपन्न सन्तश्रेष्ठ हैं। इनके:—१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसार आत्मख्याति–टीका, ४ प्रवचनसार–तत्त्वदीपिका टीका, ५ पंचास्तिकाय–समयव्याख्या टीका ये पांच ग्रंथ मुद्रित रूपमें हमें उपलब्ध हैं। ये विद्वन्मान्य ग्रंथ हैं। आम्नाययुक्ति योग से सुसंपन्न हैं। इसके सिवा 'स्फुटमणिकोश' नामक उद्भट पच्चिसिकाओं का संग्रह वर्तमानही में उपलब्ध हुआ है। जिसका संपादन हो रहा है। इस प्रकार कुल छह ग्रंथों की अपूर्व संपत्ति दृष्टिगोचर होती है। निर्दोष तत्त्व–मूल यथार्थ कहना, युक्तिसहित कहना, संक्षेप में सूत्र रूपसे कहना, अधिकारसंपन्न अनुभव की भाषा में कहना ये आचार्य रचना के सातिशय विशेष हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आर्याच्छन्द के कुल २२६ श्लोक हैं। ग्रंथ छह प्रमुख विभागों में विभक्त है।

१ ग्रंथपीठिका (श्लोक १–१९) मंगल, तत्वमूल, कार्यकारण भाव इ.।

२ सम्यग्दर्शनाधिकार (श्लोक २०–३०) स्वरूप, आठ अंगों का निश्चय व्यवहार कथन।

३ सम्यग्ज्ञानाधिकार (श्लोक ३१–३६) सम्यग्दर्शन से अविनाभाव और कार्यकारण संबंध।

४ सम्यक्चारित्राधिकार (३७–१७४) बारह व्रतों की अहिंसा, पोषकता इ.।

५ सल्लेखनाधिकार (श्लोक १७५–१९६) जिसमें व्रतातिचारों का भी वर्णन सम्मिलित है।

६ सकलचारित्राधिकार (श्लोक १९७–२२६) जिसमें रत्नत्रय धर्म की निर्दोषता युक्तिपूर्वक सिद्ध है।

ग्रंथ के ऊपर आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी की हिंदी टीका है जो अपूर्ण थी और उसे कविवर्य पं. दौलतरामजी ने सं. १८२७ में पूर्ण की। इसका वर्तमान हिंदी अनुवाद पं. नाथूरामजी प्रेमी ने किया है। यदि इस ग्रंथ को उपासक श्रावकों की '**आचारसंहिता**' कही जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

पीठिका–बंधरूप प्रथम अधिकार में ग्रंथकार ने मंगलाचरण में केवल ज्ञान को परंज्योति कहा है, उसे ऐसे दर्पण की उपमा दी जिसमें संपूर्ण पदार्थमालिका यथार्थ प्रतिबिम्बित है। गुणी किसी विशिष्ट व्यक्ति के नामस्मरण के ऐवज में गुणमात्र का स्मरण सहेतुक है। परीक्षाप्रधान अभेदरूप कथनशैली का यह मंगलमय

सूत्रपात है। परमागम तत्त्व को कहता है। तत्त्व वस्तु का यथार्थ धर्म होता है। वस्तु स्वयं अनेकान्त रूप है इसलिए अनेकान्त परमागम का बीज सिद्ध है। नित्य–अनित्य, सत–असत्, एक–अनेक, भेद–अभेद ये परस्पर सापेक्ष अनेक धर्म (अन्त) स्वयं वस्तु के अंगभूत हैं। सूक्ष्मदृष्टि के अवलंबन करने पर इन धर्मों में सामंजस्य सहज ही प्रतीत होता है। इसकी भी आचार्य ने वन्दना की है। ग्रंथरचना की प्रतिज्ञा में लोकोत्तम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ का अवतार विचक्षण विद्वानों के लिए है, इस स्पष्ट उल्लेख से ग्रंथ की लोकोत्तर श्रेणी स्वयं सुनिश्चित होती है।

किसी भी वस्तुतत्त्व का वर्णन मुख्यरूप से (स्वरूप प्रधान–निश्चय प्रधान) और उपचाररूप से (निमितप्रधान=व्यवहारप्रधान) होता है। अमूर्त चैतन्यघन पुरुष के (आत्मा के) यथार्थ ज्ञान के लिए उभय नयों का ज्ञान नितान्त आवश्यक होता है। **स्वाश्रितो निश्चयः**। शरीरादि से संयुक्त होनेपर भी आत्मा को विभक्त–एकत्व स्वरूप अर्थात् नोकर्म और भाव कर्मों से पृथक् और अपने गुणपर्यायों से तन्मय जानकर ही जीव स्वयं को शुद्ध अनुभव कर सकता है। इस शुद्ध स्वरूप को 'भूतार्थ', 'परमार्थ' कहते है और इसे जाननेवाले नय को निश्चय नय तथा कथन को अनुपचरित कथन कहते हैं। **पराश्रितो व्यवहारः**। शरीरादि परद्रव्यों के आश्रय से आत्मा को जानना जैसे यह आत्मा मनुष्य है, इत्यादि कथन उपचार कथन है। और ऐसा ज्ञान व्यवहारनय द्वारा होता है। इसका विषय अर्थात् अभूतार्थ है। निरपवाद वस्तुतत्व के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित सूत्रों को हृदयंगम करने से आगामी आचार विषयक किसी प्रकार को विकल्प नहीं रहेगा। यह दृष्टि आचार की आधारशिला है सिद्धशिला तुल्य स्वयं सिद्ध है।

निश्चय भूतार्थ (वस्तुस्वरूप) और व्यवहार अभूतार्थ (अवस्तुस्वरूप) है।

व्यवहार और निश्चय को यथार्थ जाननेवाले ही विश्व में तीर्थ निर्माता होते है।

निश्चय श्रद्धासे विमुख व्यक्ति परद्रव्य में एकत्व प्रवृत्ति करता है। यही संसार है।

अज्ञानी को तत्त्व समझाने मात्र के लिए 'घी के घडे' की तरह व्यवहार कथन मात्र उपचार प्रयोग होता है।

उपदेश के यथार्थ फल के इच्छुकों को निश्चय और व्यवहार दोनों को यथार्थ जान कर मध्यस्थ होना अनिवार्य है।

परमार्थ से पराङ्मुख व्रत–तप बालव्रत बालतप है वे निर्वाण के कारण नहीं। उनमें समीचीन दृष्टि नहीं है और रागद्वेष की सत्ता भी है।

चारित्र, शुद्धिस्वरूप है उसे पुण्यबंध का कारण मानना अज्ञानता है। बंध के कारण मिथ्याध्यवसाय–रागद्वेष होते है, न कि शुद्धि और वीतरागता।

आत्मा के श्रद्धानज्ञान–स्थिरतारूप मोक्षमार्ग को न पहिचानकर केवल व्यवहाररूप दर्शन ज्ञान चारित्र की साधना को मोक्षमार्ग माननेवाले—शुभोपयोग में सन्तुष्ट होते है शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी होते

है। आर्या ९ से १५ में पुरुष–पुरुषार्थ–पुरुषार्थसिद्धि और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का स्वरूप क्रमशः स्पष्ट हुआ है। हमारा विवेकी जिज्ञासुओं को अनुरोधविशेष है कि वे इन प्रारंभिक १९ मूल श्लोकों का और पंडितजी के हिंदी अनुवाद का अक्षरशः मनन अवश्य करें। वह स्वयंपूर्ण है। चारित्र संबंधी संपूर्ण विकल्पों का सहजही परिहार हो जावेगा। चारित्र को किस दृष्टि से आंकना इसका परिज्ञान भी हो जावेगा।

'पुरुष' शब्द का अर्थ 'चिदात्मा' है वह स्पर्शादि से रहित है। अपने ज्ञानादि गुण पर्यायों से तन्मय है। द्रव्य का दूसरा लक्षण जो उत्पादव्यय ध्रौव्य का होना उससे वह समाहित है। चिदात्मा का चेतना लक्षण निर्दोष है। वह ज्ञान चेतना व दर्शन चेतनारूप से दो प्रकार की होकर भी परिणमन अपेक्षा से तीन प्रकार है। **ज्ञान चेतना**–शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमन करती है। **कर्म चेतना**–रागादिरूप परिणमन करती है। **कर्मफल चेतना**–सुखदुःखादि भोगनेरूप परिणमन करती है। पुरुष का 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन सुख है फिर भी अनादिकाल से ज्ञानादि गुणों के सविकार–परिणमनरूप परिणमता हुआ यह जीव सविकार परिणामों का हि कर्ता–भोक्ता रहा है और का नहीं यह विपरीत पुरुषार्थ रहा। विकारों से रहित अचल ज्ञायकरूप चैतन्यरूपता को प्राप्त होना कृतकृत्यता है यही पुरुषार्थ–सिद्धि है।

उपाय के परिज्ञान के लिए जीवस्वरूप–कर्मस्वरूप–परस्पर निमित्त नैमित्तिक संम्बध, स्वभाव–विभाव इत्यादि विषयक श्लोक १२, १३, १४, १५ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साथही साथ समयसार कलश—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत् कर्म।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥

इसको साथ में रखकर कार्यकारण भाव और निमित्त नैमित्तिक भावसंबंधी संपूर्ण विकल्प जाल गल सकता है।

पुद्गलों का कर्मरूपसे स्वयं परिणमन होता है। जीव के शुभाशुभ परिणाम केवल निमित्त मात्र होते हैं। इसही प्रकार जीव अपने–चिदात्मक भावरूप से परिणमता है, पुद्गल कर्म केवल निमित्त मात्र होता है, यह है वस्तुस्थिति। कर्म–निमित्तक भावों में तन्मयता का अनुभवन करना अज्ञान है और संसार का बीज है।

रागादिभाव सचेतन है इसलिए इनका कर्ता जीव होते हुए भी स्वयं ग्रन्थकार उन्हें 'कर्मकृत' कहकर 'असमाहित' भी कह रहे है। आशय स्पष्ट है कि वे शुद्ध जीव स्वभावरूप नहीं है कर्म के निमित्त होते हुए होते है। अतएव 'कर्मकृत' कहे गये हैं। इनमें आत्मस्वरूप की कल्पना करना और उपादेयता की धारणा बनाना यह कोरा अज्ञान है। इस विपरीत मिथ्या अभिप्राय को जडमूल से दूर करना यह सम्यग्दर्शन है। कर्म निमित्तक भावों से भिन्न, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथावत् जानना–अनुभवना यह सम्यग्ज्ञान है। और कर्मनिमित्तक भावों से उदासीन होकर निजस्वरूप में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। रत्नत्रय स्वरूप तिनों का समुदाय यथार्थ में पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय स्वयं सिद्ध होता है।

जिस प्रकार निर्लेप नग्नत्व (दिगम्बरत्व) मौन भाव से मुक्तिमार्ग को बतलाता है इसलिए हम उसे मंगल-लोकोत्तम और शरण के रूप में विना किसी विकल्प के स्वीकार कर लेते हैं; उसी प्रकार शुद्ध पुरुष का शुद्ध परिणाम रूप कार्य उसको अनुपचरित रूपसे कहनेवाला निश्चयनय—उसकी भूतार्थता व्यवहार की निमिताधीनता उसकी अभूतार्थता आदि को अभ्रांतरूप में स्पष्ट स्पष्ट नग्न सत्य कहनेवाले श्लोकों का महत्त्वपूर्ण आशय मंगल है, लोकोत्तम है और शरण भी है उसे यथार्थरूपसे स्वीकार कर लेनेपरहि ग्रन्थान्तर्गत सारा वर्णन सजग सचेतन हो जाता है। रत्नत्रयात्मक मार्ग के पथिक मुनीश्वरों का आचार एकान्तविरतिरूप 'औत्सर्गिक' होता है; और पदानुसारी उपासकों की वृत्ति एकदेश विरतिरूप होते हुए भी आत्माभिमुख दृष्टि होने से तथा रत्नत्रय के बीज उसमें विहित होने से श्रावकाचार मोक्षमार्ग को बतलानेवाला होता है इसीलिए वह कथनीय है। इस सत् आशय को लेकर ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण पीठिका समाप्त होती है।

श्रावकधर्म व्याख्यान (श्लोक २०-३०)

मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है। यथाशक्ति आराधना उपादेय है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अनिवार्य है उसके होनेपर हे ज्ञान और चारित्र यथार्थ होते हैं। जीवाजीवादि तत्त्वार्थो का निरंतर श्रद्धान करना चाहिये। यह श्रद्धान विपरीत श्रद्धान विरहित आत्मस्वरूप हि है। पृथग्मूल वस्तु नहीं है यद्यपि सम्यग्दर्शन के आठ अंग वे ही कहे जो रत्नकरणादि ग्रंथों में वर्णित हैं फिर भी उनका लक्षण विशिष्ट दृष्टिसहित है, (निश्चय और व्यवहाररूप) निरूपित है।

१ **निःशंकितः**—सर्वज्ञकथित वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है क्या वह सत्य है या असत्य ऐसे विकल्पों का न होना।

२ **निष्कांक्षितः**—इह परलोक में बडप्पन की और पर समय की (एकान्त तत्त्व की) अभिलाषा न करना।

३ **निर्विचिकित्साः**—अनिष्ट क्षुधा तृषा आदि भावों में तथा मलमूत्रादि के संपर्क होने पर ग्लानि नहीं करना।

४ **अमूढ दृष्टिः**—तत्त्वरुचि रखना। लोक व्यवहार में मिथ्याशास्त्रों में, मिथ्यातत्त्वों में-मिथ्या देवताओं में अयथार्थ (मिथ्या) श्रद्धा नहीं करना।

५ **उपगूहन** (उपबृंहण):—मार्दवादि भावों से आत्म गुणों का विकास करना और अन्योंके दोषोंका आविष्कार नहीं करना।

६ **स्थितिकरण** :—कामक्रोधादि के कारण न्याय मार्ग से विचलित होने पर युक्तिपूर्वक स्वयं को और पर को स्थिर करना।

७ **वात्सल्यः**—मोक्ष कारण अहिंसा में और साधर्मी बंधुओं में वात्सल्य भाव रखना।

८ प्रभावनाः— रत्नत्रय प्रकाश द्वारा स्वात्मा को प्रभावित करना और दानादि द्वारा अन्यों को प्रभावित करना।

सम्यग्ज्ञानाधिकार (श्लोक ३१-३६)

दर्शन (श्रद्धा) गुण की सम्यग्दर्शनरूप पर्याय होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप होता है। इन दोनों गुणों का पर्यायान्तर एक एक समय में होता है फिर भी दीप प्रकाशकी तरह सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य हो जाता है। दोनोंमें लक्षण भेद है, पृथगाराधन इष्ट ही है, कोई बाधक नहीं। सम्यग्ज्ञान की आराधना करते समय आम्नाय-शास्त्र परंपरा, युक्ति और अनुयोगों की निर्दोषता को दृष्टि में लेना आवश्यक होता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण—सत् और अनेकान्त तत्त्वों में वह संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से पूर्णतया रहित आत्मस्वरूप ही है (श्लोक ३५)। सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं (श्लोक ३६)। उनका स्वरूप मननीय है। यद्यपि स्वतंत्र श्लोकों में इसका वर्णन नहीं है फिर भी टीका में जो आया उसका संक्षेप इस प्रकार है।

१. **व्यंजनाचार**—भावश्रुत का कलेवर जो द्रव्यश्रुत (शास्त्र-सूत्र-गाथा आदि) के उच्चारण या लेखन की निर्दोषता रखना।

२. **अर्थाचार**—शब्द-पद आदि का यथास्थान समीचीन अर्थ ग्रहण करना।

३. **उभयाचार**—दोनों की (शब्द और अर्थ की) सावधानता रखना।

४. **कालाचार**—शास्त्रोक्त समय में (संधिकाल छोडकर) अध्ययनादि करना।

५. **विनयाचार**—अध्ययनादि के समय निरहंकार भावपूर्वक नम्रता का होना।

६. **उपधानाचार**— अधीत विषय धारणा सहित स्थायी रखना।

७. **बहुमानाचार**— ज्ञान, शास्त्र आदि सम्बन्धी तथा गुरु सम्बन्धी आदरभाव रखना।

८. **अनिह्नवाचार**—ज्ञान-शास्त्र-गुरु आदि का अपलाप नहीं करना।

सम्यक्चारित्राधिकार

दर्शन मोह का अभाव और सम्यग्ज्ञान का लाभ होने पर स्थिर चित्तता पूर्व सम्यक्चारित्र का आलंबन उपादेय है यही क्रम है। वह निरपेक्ष रूप होता है।

हिंसा अहिंसा के विचार-विवेक (कुछ सूत्र वाक्य सूक्तियाँ)

संपूर्ण सावद्य योग का परिहार चारित्र है वह विशद अर्थात निर्मल वैराग्यपूर्ण एवं आत्मस्वरूप है (श्लोक-३९)

संपूर्ण रूप से संपूर्ण पापों से अलिप्तता होने से यति स्वयं समयसाररूप होता है और गृहस्थ एकदेशविरत और उपासक के रूप होता है।

आत्मपरिणाम के घातक होने से असत्य भाषणादि जितने भी पाप हैं वे केवल शिष्यों को हिंसा का स्वरूप स्पष्ट हो इसी हेतु से बतलाए हैं।

कषाय प्रवृत्तिपूर्वक प्राणों का घात होना द्रव्य हिंसा है। रागादि विकारों की उत्पत्ति भाव हिंसा है और उत्पत्ति न होना अहिंसा है। (श्लोक ४४)

यदि रागादिकों का आवेश नहीं है और आचरण सावधान है फिर भी यदि योगायोग से प्राण व्यपरोपण होता है तो वह हिंसा नहीं है। (श्लोक ४५)

प्रत्युत जीव घात हो या न हो यदि रागादि है तो वहां हिंसा अवश्य है। (श्लोक ४६)

कषाय वश जीवात्मा अवश्यहि आत्मघाती है। अतएव प्रमत्त योग ही हिंसा है। (श्लोक ४७-४८)

अतिसूक्ष्म हिंसा का भी आधार परवस्तु नहीं है फिर भी हिंसा के आयतों का त्याग परिणाम विशुद्धि के लिए उपादेय है, इस प्रकार द्रव्यभावों का सुमेल है। इस संधि के दृष्टिपथ में न लेनेवाला बहिरात्मा है, क्रिया में आलसी और चारित्र परिणामों का घाती है। इन विवेक सूत्रों के आशय को समझनेवालों को ही निम्नलिखित विकल्पों से निवृत्ति सहज ही होती है।

१. हिंसा न करते हुए भी एक व्यक्ति हिंसा फल का भोक्ता होता है और दूसरे किसी एक के द्वारा हिंसा होते हुए भी वह हिंसा का फलभागी नहीं होता है। (श्लोक ५१)

२. किसी एक को थोडी हिंसा महान् फलदायी होती है, दूसरे किसी एक को द्वारा घटित महा–हिंसा भी अल्प फलदायी होती है। (श्लोक ५२)

३. सहयोगियों के द्वारा एक समय में की गयी हिंसा जहा एक को मंद फल देती है वहां वही हिंसा दूसरों को तीव्र फल देती है। (श्लोक ५३)

४. परिणामों के कारण कभी हिंसा का फल पहले प्राप्त होता है कभी हिंसा के क्षण में ही, कभी बाद में और कभी हिंसा पूरी होने के पहले ही फल प्राप्त होता है। (श्लोक ५४)

५. कभी हिंसा करनेवाला एक होता है और फल भोक्ता अनेक होते हैं। प्रत्युत हिंसा करनेवाले अनेक और फल भोक्ता एक होता है। (श्लोक ५५)

६. किसी एक को हिंसा फलकाल में एकमात्र हिंसा पाप को फलदायी होती है और दुसरे को वही हिंसा अहिंसा का अधिक मात्रा में फल देती है। (श्लोक ५६)

७. किसी एक की प्रवृत्ति बाह्य में जो अहिंसा (प्रतीत) होती है वह अन्त में हिंसा के फल स्वरूप सिद्ध होती है और किसी जीव की हिंसा भी अन्ततोगत्वा अहिंसा के फलस्वरूप से फलती है। (श्लोक ५७)

सारांश—१. हिंस्य = (जिसकी हिंसा की जाती है) द्रव्यभावरूप प्राण। २. हिंसक = (कषायी घातक जीव) ३. हिंसा = (प्राणों का घात) ४. हिंसा फल = (पापों का संचय) इन चार अवयवों का वास्तविकरूप से विचार करके ही हिंसा का वास्तविक त्याग हो सकता है।

इस प्रकार सामान्यरूप से हिंसा अहिंसा का वर्णन करने के अवांतर विशेषरूप से मद्यादिकों के त्याग का विधान करते समय किया गया कार्यकारण भावों का वर्णन भी सातिशय मूलग्राही हुआ है। जैसे—

मद्यत्याग विधान—मदिरा चित्त को मोहित करती है। मोहितचित्त व्यक्ति को वस्तु धर्म का विस्मरण होता है। और धर्म को विस्मृत करनेवाला जीव निःशंक रूपसे हिंसाचरण करता है। मद्य रसज जीवों की योनिभूत है, मद्यपान में उनकी हिंसा होना अनिवार्य है। साथ ही अभिमान–भय–कामक्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति मद्यपान से अविनाभावी है जो विकार स्वयं हिंसारूप है। इसी प्रकार मांस भक्षणादि का वर्णन मननीय ही है और मधु भक्षण में भी भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा अवश्यंभावी है। यह शास्त्रों में पापों के नव प्रकार से (मन-वचन-काय–कृत–कारित–अनुमोदना से) होनेवाले त्यागको **औत्सर्गिक त्याग** (सर्व देश त्याग–जो मुनियों को होता है) और श्रावक को प्रतिमादिकों में होनेवाले त्याग को **आपवादिक त्याग** कहा है। श्राबक अवस्था में यद्यपि स्थावर हिंसासे अलिप्त रहना अशक्य प्राय है तथापि संकल्पपूर्वक त्रस हिंसाका तो त्याग उसे होना ही चाहिये साथ में व्यर्थ स्थावर हिंसा के त्यागसे भी स्वयं को सावधान एवं अलिप्त रखना आवश्यक ही होता है।

संसार में अज्ञान और कषायों की बहुतायतता होने से व्यवहार में ही नहीं परंतु अन्यान्य जैनेतर शास्त्रों में भी अज्ञानवश हिंसा का विधान आया है, आश्चर्य यह है की उसे धर्म बतलाया है। वह सामान्य लोगों को चक्कर में डालता है; जिसके कुछ उदाहरण दृष्टांत रूप में (श्लोक ७९ से श्लोक ९० तक) आये हैं। जो मुमुक्षुओं को मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त है उन्हें उपलक्षण के रूपमें ही समझना चाहिए। और संकल्पी हिंसा से स्वयं को बचाना चाहिए। जैसे—

१. धर्म के लिए हिंसा करना दोषास्पद नहीं है।

२. देवताओं को बली चढाना चाहिए क्योंकि धर्म देवताओं से ही उत्पन्न होता है।

३. पूज्य व्यक्ति गुरु आदिकों के निमित्त प्राणिघात में दोष नहीं है।

४. बहुत से छोटे छोटे जीवों को मारने के ऐवज में किसी एक बडे का घात करना अच्छा है।

५. किसी एक घातजीव की हत्या करने से बहुत से प्राणियों की रक्षा होती अतः हिंसक प्राणि का घात करना चाहिए।

६. यदि ये हिंस्र–सिंहादि जीवित रहेंगे तो इनसे हिंसा होगी और उन्हें बहुत पाप निर्माण होगा अतः दया भावसे इनको ही मारना अच्छा है।

७. दुःखी दुःख से विमुक्त होंगे अतः दुःखीयों को मारना अच्छा है।

८. सुखीयों को सुखभोग करते समय ही मारना चाहिए क्यों की सुखमग्न अवस्था में मारने से आगामी भवमें वे सुखी ही होंगे।

९. धर्म की इच्छा करनेवाले शिष्य ने धर्म प्राप्ति के हेतु अपने गुरुदेव की हत्या करना चाहिए।

१०. धनलोलुपी गुरु के चक्कर में आकर खारपटिकों की मान्यता के अनुसार मृत्यु को स्वीकार कर धर्म मानना।

११. समागत अतिथि के लिए बहुमान की भावना से अपना निजी मांस का दान करना।

ये ऐसे विकल्प हैं जो सामान्य सारासार विचार से भी परे हैं। परंतु कम ज्यादा मात्रा में इस प्रकार के अन्यान्य विकल्पों का भूत आज भी पढे हुए और अनपढ दोनों के सिरपर सवार है। ऐसे विकल्पों के चक्कर में नहीं पडना चाहिए। इसलिए आचार्य श्री ने जगह जगह पर जो संकेत किए हैं वे निस्संशय डूबती हुई जीवन नौका के लिए दीपस्तंभ के समान है।

जैसे अभेद दृष्टि में विशुद्धता चारित्र है, उसी प्रकार विशुद्धता का अभाव पाप है। वही पाप असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि अनेकरूप दिखाई देता जो अभेद दृष्टि में 'हिंसा' ही होता है इस आशय को जगह जगह बतलाया गया है। भेद–अभेद वर्णन परस्पर सम्मुख होकर हुआ है।

हिंसा वर्णन सापेक्ष विस्तृत इसीलिए किया गया है जिससे पापों की आत्मा सुस्पष्ट हो हिंसा पाप का केन्द्र है। असत्यादि हिंसा के पर्याय है यह भी स्पष्ट हो जाय।

असत्य के चार भेद—(१) सत् को अर्थात विद्यमान् को असत् कहना जैसे देवदत्त होनेपर भी यहाँपर नहीं है कहना (२) अविद्यमान वस्तु को भिन्न रूप से कहना जैसे यहां घट है (न होने पर भी) (३) अपने स्वरूप से विद्यमान वस्तु को 'वह है' इस रूप से कहना जैसे गाय को 'घोडा' कहना (४) **गर्हित**—सावद्य और अप्रिय भाषा प्रयोग भी असत्य है। जहां जहां प्रमत्त योग है उन सब भाषा प्रयोगों में असत्य ही समझना चाहिए। समीचीन व्यवहार में भी सफलता के लिए जिन भाषा–प्रयोगों का त्याग आवश्यक होता है उनका विधान श्लोक ९६-९७-९८ में अवश्य ही देखना चाहिए। श्रावक अवस्था में (भोगोपभोग के लिए साधन स्वरूप पाप को छोडने में अशक्य होता है ऐसी अवस्था में यावत् शक्य असत्य का भी सदा के लिए त्याग होना चाहिए यह विधान मार्ग दर्शक है।

चोरी के त्याग कथन में भी प्रमत्तयोग विशेषण अनुस्यूत है, अर्थ (धन) पुरुषों का बहिश्चर प्राण होने से परद्रव्य–हरण में प्राणों की हत्या समझना चाहिए। जहां चोरी वहां हिंसा अविभावरूप से होती है। परंतु बुद्धिपूर्वक प्रमत्तयोग का अभाव होने से कर्म–ग्रहण चोरी नहीं कही जाती आदि अंशों का वर्णन संक्षेप में आया है।

अब्रह्म स्वरूप वर्णन में द्रव्यहिंसा–भावहिंसा–कुशीलत्याग के क्रम का विधान चार श्लोकों में है। रागादि उत्पत्ति के आधीनता से कुशील में हिंसा अवश्यंभावी है यह भी बतलाया है।

परिग्रह प्रमाण व्रत का वर्णन (श्लोक १११ से १२८) तक आया है। यहाँ पर भी सूत्र रूप से महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोनों का अंकण है।

परिग्रह का लक्षण जो मूर्च्छा कहा वह मोहोदय निमित्तक ममत्व–परिणामरूप है। परिग्रहता की व्याप्ति मूर्च्छा के साथ है। बाह्य परिग्रह न होते हुए भी मूर्च्छाधीन परिग्रही है। ऐसा होने पर भी बाह्य वस्तू को मूर्च्छा की निमित्तता है ही। अकषायी जीवों को कर्म ग्रहण में मूर्च्छा संभव नहीं है। अभ्यंतर विभावरूप मिथ्यात्व वेदत्रय, हास्यादि छह विभाव और क्रोधादि चार कषाय इन चौदह को अंतरंग परिग्रह कहना जैन तत्त्वज्ञान की अपनी विशेषता है। बाह्य सचित्त और अचित्त पदार्थ मूर्च्छा के आधार या आयतन होने से उन्हें परिग्रह कहा है। मूर्च्छा–भाव हिंसा का ही पर्याय है। मूर्च्छा–परिणाम की अधिकता होने से ही हिरण के बच्चे की अपेक्षा चूहे खानेवाली बिल्ली निस्संशय अधिकतर हिंसक है। अंतरंग परिग्रह त्याग के क्रम का उल्लेख करते हुए अनंतानुबंधी कषाय चतुष्टयों को ये सम्यग्दर्शन रत्न के चुरानेवाले चोर हैं यह कहकर मिथ्यात्व के साथ उनका परित्याग पहले होने की आवश्यकता बतलायी। असंयम और परिग्रह का निकट संबंध है। अशेष परिग्रह त्याज्य ही है। यदि वह औत्सर्गिक अवस्था बन नहीं पाती तो शक्ति के अनुसार उसे कम करना चाहिए कारण विशेष यह है कि तत्त्व याने आत्मतत्त्व का स्वरूप स्वयं परद्रव्य से सर्वतंत्र स्वतंत्र और निवृत्तिरूप है।

रात्रि–भोजन परित्याग को कहीं कहीं पर छट्टा अणुव्रत भी कहा है अतः उसका वर्णन क्रमप्राप्त ही है। रागभाव (आसक्ति की) की अधिरता रात्रि भोजन में भी निमित्त है। स्थूल सूक्ष्म जीवों की हिंसा रात्रिभोजन में सुतरां अवश्य होने से द्रव्यहिंसा भी सुनिहित है। नियमपूर्वक रात्रिभोजन–परिहार जैनीयों की कुलक्रमागत आचार विशेषता सेंकडो वर्षों से रही। वर्तमान की शिथिलता शोचनीय आचार पतन को सूचित करती है। जीवनी के लिए जीवन दृष्टि की कितनी आवश्यकता है इसको भी सूचित करती है।

सप्तशीलों के संदर्भ में प्रत्येक व्रतों का वर्णन करते समय अहिंसा का परिपोष कैसे संभव है इसको यथास्थान दिग्दर्शित किया है।

दिग्व्रत और देशव्रत में मर्यादा के बाहिर पापत्याग होने से महाव्रतित्व का आरोप व्रत के आत्माको स्पष्ट करता है। अनर्थ दण्ड के पांच ही भेदों का स्वरूप संक्षिप्त होते हुए भी मूल में देखने लायक है।

शिक्षाव्रतों में सामायिक का अपना विशेष स्थान है। इष्टानिष्ट बुद्धि के परिहार को **'साम्य'** कहते हुए सामायिक को आत्मतत्व प्राप्ति का मूल कारण बतलाया है। दिनान्त और निशान्त में तथा अन्य समय में भी वह करणीय है। कुछ समय मात्र के लिए क्यों न हो पाप मात्र का त्याग होने से उपरिचरित महाव्रतित्व का उल्लेख व्रत की गुरुता बतलाता है। प्रोषधोपवास में उसी साम्य भाव के संस्कारों का दृढीकरण होता है साथ में नव भंगोंसे अहिंसाव्रत का सोलह प्रहर तक के लिए विशेष परिपोष बतलाया है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के लिए वस्तु तत्त्वका और अपनी शक्ति का परिज्ञान आवश्यक है। अनन्त कायिक वस्तु का परित्याग व्रतीयों को आवश्यक है। नवनीत जीवोत्पत्ति का योनीभूत होने से त्याज्य है। काल और वस्तु की मर्यादा से संतोष और संतोष से हिंसा त्याग स्वयं सधता है।

अतिथिसंविभाग में—स्वपरानुग्रह है, लोभ परिहार स्वानुग्रह है और हिंसा परिहार भी है। ज्ञानादिक सिद्धि में निमित्त होने से परानुग्रहता भी है। विधि–द्रव्य–दाता–पात्र विशेष का परिज्ञान जागृत विवेक से ही संभव है। नवधा भक्ति विधि विशेष है। फलानुपेक्षा, क्षमा, ऋजुता, प्रमोद होना, असूया का और विषद, अहंकार का अभाव होना ये सात गुण होना दाता की विशेषता है। रागादिकों की उत्पत्ति-कारकता नहीं होना द्रव्यकी विशेषता है। मुक्ति कारण गुणों की अभिव्यक्ति होने से अविरत सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक और मुनि जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्र विशेष है।

सल्लेखना—को कहीं कहीं १३ वा व्रत या व्रत मंदिर के कलश कहते है। प्रयत्न पूर्वक की गयी धर्म साधना धर्म धन है उसे साथ में ले जाने की प्रक्रिया सल्लेखना है। कषायों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यायों का उत्तरोत्तर अभाव होता जाय इसलिए सल्लेखना में इच्छा का अभाव होता ही है। स्थूल दृष्टियों ने मात्र देह दण्ड की प्रक्रिया को देखा और उसे आत्महत्या कहा यह तत्त्व विटंबना है। जो विचार विवेक-शून्यता को बतलाया है। सल्लेखना मूर्तिमान अहिंसारूप है और आत्महत्या कोरी हिंसा है।

अतिचारों का वर्णन १६ श्लोकों में (१८१ से १९६) आया है। अतिचार केवल उपलक्षण रूप होते हैं इस प्रकार संभवनीय दोषों से व्रतों को बचाना चाहिए।

मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन १४ श्लोक में (१९७ से २१०) संगृहित है। अनशन, अवमोदर्य, वृतिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये बाह्य तप है। विनय वैय्यावृत्त्य, प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग स्वाध्याय ध्यान ये आभ्यंतर तप है। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग इन छह को आवश्यक कहते हैं। तीन गुप्ति, पांच समितियों के पीछे 'सम्यक्' विशेषण वैशिष्ट्यपूर्ण है। दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजयों का वर्णन टीका और भाष्यों में जानने योग्य है।

साधक अवस्था में अंतर्मुख दृष्टि पूर्वक रत्नत्रय की भावना होती है। विशुद्धता और राग का या विचार और विकारों का नित्यप्रति द्वंद्व होता है ऐसी अवस्था में बंध जो भी होता है वह रागभाव से होता है वह रत्नत्रय का विपक्षी है। रत्नत्रय हर हिस्से में मोक्ष का ही उपायभूत है। योग और कषाय बंधन के कारण है रत्नत्रय न योगरूप है न कषायरूप, वह तो शुद्धस्वभावरूप ही है। शुद्ध आत्म निश्चिति: सम्यग्दर्शन है, शुद्ध आत्मस्वरूपज्ञान सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मा में स्थिरता ही चारित्र है इनसे बंध कैसे संभाव्य है? वह निर्वाण का–परमात्मपद का ही कारण है।

सम्यक्त्व की और विशिष्ट विशुद्धतारूप चारित्र की सत्ता में तीर्थंकर नामकर्म, आहारक शरीर नाम-कर्म तथा उपरिम ग्रैवेयकादि संबंधी देवायु का बंध वर्णन शास्त्रों में जो आया है वह विशुद्धता के साथ संलग्न योग और कषाय मूलक ही है। कषायों की विलक्षण मंदता को शुभोपयोग कहते हैं। वह पुण्यास्रव में हेतुभूत होता है आचार्यों की तत्त्व दृष्टि उसे (शुभोपयोगी) अपराध कहती है।

श्लोक २११ से २२२ इन १२ गाथाओं में आया हुआ सूक्ष्म तत्त्वविवेचन स्वयं स्वतंत्र ग्रंथ की योग्यता रखता है। दवाई की बोतल को लगी हुई प्रामाणिक कंपनी की प्रामाणिक मुहर की तरह आचार

संहिता को इस अमृत कुंभ को लगी हुई पूर्ण प्रामाणिकता की दिग्दर्शक जैन तत्त्व नीति की यह लोकवि-लक्षण मुद्रा है। विवेक से अमृतस्वरूप आचारसार का रसास्वाद यह अंतरात्मा का परम पुरुषार्थ है। इसीके द्वार से परमात्मपद की प्राप्ति है। जो नित्य निरूपलेप, स्वरूप में समवस्थित, उपघातविरहित, विशदतम, परमदरूप, कृतकृत्यकरूप, विश्वज्ञानरूप, परमानंदरूप शाश्वत अनुभूति स्वरूप है।

आचार्य अमृतचंद्र का तत्त्वविवेचन जैसे लोकविलक्षण अद्‌भुत युक्तियों से भरपूर हुआ है उसी तरह उनकी ग्रन्थ की प्रशस्ति भी अदृष्टपूर्व उठी हुई आत्मा की उच्चता की द्योतक है "नाना वर्णो से बने शब्दों से पदों की रचना हुई। पदों नें वाक्यों को बनाया। वाक्यों ने ही इस परमपवित्रतम शास्त्र को बनाया है इसमें हमारा कुछ नहीं है।"

गौरवशाली आचार्य अमृतचंद्र जैसों का आत्मा ही यह कह सकता है। शतशः प्रणाम हो ऐसे अन्तरात्मा को।

[पुरुषार्थसिद्धयुपाय—श्रीमद् रायचंद जैन शास्त्र माला—(सरल हिंदी भाषा टीकासहित) परमश्रुत प्रभावक मंडळ मु. अगास, पो. बोरीया व्हाया आनंद, गुजराथ मूल्य ३-२५] मूल हिंदी टीकाकार श्री पं. टोडरमलजी और श्री पं. दौलतरामजी (वर्तमान हिंदी संस्करण श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी)

पं. आशाधरजी और उनका सागारधर्मामृत

पू. श्री आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी

जैनसाहित्य में ' धर्मामृत ' ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है। एवं उसके रचयिता पं. आशाधरजी ने जैन साहित्यकारों में भी अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

पंडितवर्य आशाधरजी का जन्म वि. सं. १२३५ में हुआ। उनके जीवितकाल में लिखा गया अन्तिम उपलब्ध ग्रन्थ अनगारधर्मामृत की टीका वि. सं. १३०० की है। इसके बाद वे कितने दिन जीवित थे यह नहीं जाना जाता। उनका जन्म एक परंपराशुद्ध और राजमान्य बघेरवाल जातके उच्च कुल में हुआ था। इसलिए बालसरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगों ने उनका शिष्यत्व निःसंकोच स्वीकार किया। ग्रन्थकार मूल में मेवाड प्रान्त के धारानगर के वासी थे। शहाबुद्दीन घोरी के आक्रमण से त्रस्त होकर पुनः धर्मभावना के हेतु धारानगरी को छोडकर उसने नलकच्छपुर में वास किया। उस समय धारानगरी विद्या और संस्कृति का केन्द्र बनी हुई थी। वहां राजा भोज, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानों का सम्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदन की पारिजातमंजरी के अनुसार उस समय विशालधारानगरी में चौरासी चौराहे थे तथा वहां सब जगह से आये हुए विद्वानों की, कला-कोविदों की भीड लगी रहती थी। वहां ' शारदासदन ' नामक विस्तृत ख्यातीवाला विद्यापीठ था। पं. आशाधरजीने भी स्वयं उस नगरी में ही व्याकरण और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। उपजीविका के हेतु नाममात्र प्राप्त करके उन्होंने अपना शेष समस्त जीवित धर्मकार्यों में ही बिताया।

वे गृहस्थ होकर भी उनके जीवन में वैराग्य छाया हुआ था। संसार के शरीरभोगों के प्रति उदासीनताही धर्म का रहस्य प्राप्त करने में सहाय्यक बनी। धर्म के ज्ञाता होने से श्रमणों के प्रति तथा उनके धर्म के प्रति सहज अनुराग था। उनके सहस्र नाम में आये हुए

प्रभो भवांगभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किंचिदुन्मुखः।
अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः॥

इन प्रारंभिक श्लोकों से इसका पुरा पता मिलता है। उन्होंने सागारधर्मामृत के मंगलाचरण में ही प्रतिज्ञा के समय ' तद्धर्मरागिणां ' ऐसा सागारों का बडे गहजब का विशेषण देके अपने सूक्ष्म दूरगामी तत्त्वदृष्टि का ही परिचय दिया है।

पंडितजी संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के अच्छे अद्वितीय जानकार थे। उन्होंने जैन ग्रंथों के साथ अजैन ग्रन्थों का काव्य, अलंकार, न्याय, व्याकरणादिक का सखोल अध्ययन किया था। धर्मशास्त्र के साथ वैद्यक, योगशास्त्र आदि विविध विषयों पर उनका अधिकार जमा था। इसही कारण उनके ग्रन्थों में सर्वत्र यथास्थान सभी शास्त्रों के प्रचुर उद्धरण तथा सुभाषित देखने में आते है। अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रन्थोंपर वे टीका लिखने के लिए उद्यत हुए। मालवनरेश अर्जुनवर्मा, राजगुरु बालसरस्वती महाकवि मदन जैसे अजैनों ने भी उनकी विद्वत्ता का समादर करते हुए उनके निकट काव्यशास्त्र का अध्ययन किया। तथा विन्ध्यवर्मा के सन्धिविग्रहमंत्री कवीश विल्हण भी उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं।

उनके उपलब्ध साहित्य में (१) प्रमेयरत्नाकर, (२) भरतेश्वराभ्युदय, (३) राजीमती विप्रलंभ, (४) अध्यात्मरहस्य (योगाभ्यास का सुगम ग्रन्थ) (५) भगवती मूलाराधना टीका, (६) इष्टोपदेश टीका, (७) भुपालचतुर्विंशति टीका, (८) आराधनासार टीका, (९) अमरकोश टीका, (१०) काव्यालंकार टीका, (११) सहस्रनामस्तवन टीका, (१२) जिनयज्ञकल्प (सटीक) (१३) त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र सटीक, (१४) नित्य महोद्योत, (१५) रत्नत्रयविधान, (१६) अष्टांग हृदयद्योतिनी टीका आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनके ग्रन्थ के अवलोकन से जैन तत्वज्ञान पर उनका असाधारण प्रभुत्व का पता चलता है। प्रथमानुयोग की कथाभांडार का उनका अवगाह का पता अकेले धर्मामृत ग्रन्थ में जो दृष्टान्त उन्होंने सामने रखे उसपर से ही सहज ही लगता है। उनकी विद्वत्ता का गृहस्थजनों में ही नहीं बल्की मुनीजनों में भी समादर था। तत्कालीन पीठाधीश भट्टारकोंने तथा मुनियोंने भी उनके समीप अध्ययन करने में कोई संकोच नहीं किया। इतना ही नहीं उदयसेन मुनिने '**नयविश्वचक्षु**' तथा मदनकीर्ति यतिपतिने "**प्रज्ञापुंज**" कहकर अभिनंदित किया। उन्होंने वादीन्द्र विशालकीर्ति को न्यायशास्त्र तथा भट्टारक विनयचंद्र को धर्मशास्त्र पढाया था। इससे यह सिद्ध होता है की वे अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे। इसतरह विद्याकी अपेक्षा उनका स्थान ऊँचा होकर भी चारित्रधारी श्रेष्ठ श्रावक तथा मुनियों की प्रति उनकी श्रद्धा और आदर था।

उनके समस्त उपलब्ध साहित्य में उनका 'धर्मामृत' ग्रन्थ अष्टपैलु हिरा जैसा प्रकाशमान है। मुमुक्षु जीव श्रमण तथा श्रमणोपासक–दूसरे शब्दों में सागर और अनगार दो तरह से विभक्त है। उनके लिए यह ग्रंथ अमृत का भाजन है। अनगार धर्मामृत में अनगार मुनि के चर्या का सुविस्तृत वर्णन आता है जो कि मूलाचार के गहन अध्ययन पर आधारित होकर भी अपना एक खास स्थान रखता है। यही कारण है कि आज तक अनगार–धर्मामृत मुनियों के लिए भी एक प्रमाणित ग्रंथ माना जाता है। धर्मामृत के दूसरे भागों में गृहस्थों के लिए धर्म का उपदेश है। इस ग्रंथ पर उन्होंने अपनी '**भव्यकुमुदचन्द्रिका**' स्वोपज्ञ टीका लिखी है। अपने ग्रंथपर स्वयं ही टीका करने में उनका भाव उन्होंने सही प्रस्तुत किया है। टीका भी अपने ढंग की अनोखी और पांडित्यप्रचुर है तथा यत्रतत्र नाना उद्धरणों से परिपुष्ट है। मुनिसुव्रत काव्य में अर्हद्दास ने लिखा है—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम्।
त्यक्त्वा श्रान्ततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्॥

सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात् ।
पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥
मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशेः कुपथयाननिदानभूते ।
आशाधरोक्तिलसदंजनसम्प्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥

'कुमार्ग से भरे हुए संसाररूपी बन में जो एक श्रेष्ठ मार्ग था उसे छोडकर मैं बहुत काल तक भटकता रहा । अन्त में बहुत थककर किसी तरह काललब्धिवश अब **जिनवचनरूप क्षीरसागर से उद्धृत किये हुए धर्मामृत को (प्रस्तुत पंडितजी का ग्रन्थ का संदर्भ)** सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर अर्हन्त भगवान का दास होता हूं और उस भूले मार्ग को पाता हूं । मिथ्यात्वकर्मपटल से ढ़की हुई मेरी दोनों आंखें—जो कुमार्ग में ही जाती थी—**आशाधरजी के उक्तियों के विशिष्ट अंजन से स्वच्छ** हो गई । इसलिए अब मैं सत्पथ का आश्रय लेता हूं ।'

इसी तरह पुरुदेव चम्पू के अंत में आंखो के बदले अपने मन के लिए कहा है ।

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।

अर्थात् मिथ्यात्व के कीचड से गंदले हुए मेरे इस मानस में जो कि अब आशाधरकी सूक्तियों की निर्मली के प्रयोग से प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है । भव्यजन कण्ठाभरण में भी आशाधरजी की इसी तरह प्रशंसा की है कि, उनकी सूक्तिया भवभीरू गृहस्थों और मुनियों के लिए सहाय्यक हैं । ऐसी किंवदन्ती भी है कि उन के समीप ३०० त्यागी मुनी अध्ययन करते थे । उनकी विद्वत्ता का वर्णन क्या किया जाय ?

जो मानव दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर तथा चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने पर पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर हिंसादि पांचो पापों का सर्वथा त्याग करता है उसे मुनि या अनगार कहते हैं । तथा जों सम्यग्दृष्टि एकदेश पांच पापों का त्याग करता है वह श्रावक या सागार कहलाता है । इस श्रावक को मूल पाक्षिकाचार, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएं तथा अन्तिम सल्लेखना समाधि इन मूलगुण तथा उत्तर गुणों का सागारधर्मामृत में सुविस्तृत निरूपण किया गया है । कुल आठ अध्यायों में गृहस्थ के धर्म का निरूपण किया है ।

प्रथमोऽध्याय का सारांश

जिस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की विषमता से प्राकृतादि चार प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं और उन ज्वर के द्वारा आतुर प्राणि हिताहित विचार से शून्य होकर अपथ्य सेवी बन जाता है । उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा व्याप्त अज्ञानी जीव अज्ञान भाव के निमित्त से होनेवाली आहार–भय–मैथुन परिग्रह की अभिलाषा रूप चार संज्ञाओं के वशीभूत हुवा स्वानुभूति से पराङ्मुख होकर विषय सेवन को ही शांति का उपाय समझकर निरंतर रागद्वेष के कारण स्त्री आदि इष्ट तथा दुर्भोजनादि अनिष्ट विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं । प्रायः करके संसारी प्राणी अनादि काल से बीज अंकुर के समान अज्ञान के द्वारा

संततिरूप परम्परा से चली आई परिग्रह संज्ञा को अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, दासी, दास आदि परिग्रह में 'यह मेरा है' इस प्रकार के मूर्च्छात्मक परिणामों को छोडने के लिए असमर्थ है। कोई विरले प्राणी जन्मान्तर में प्राप्त हुए रत्नत्रय के प्रभाव से ही साम्राज्यादि विभूति को त्याज्य समझते हैं। तथा तत्त्वज्ञान पूर्वक देश संयम का पालन करते हुए उदासीन रूप से विषयों को भोगते हैं।

जिनका हृदय मिथ्यात्व से व्याप्त है वह जीव मानव तन को धारण करके भी पशु के समान है। और जिनका चित्त सम्यक्त्व रूपी रत्न से व्याप्त है वह पशु हो कर भी मानव है।

संसार के पदार्थों में आसक्ति होने का कारण मिथ्यात्व है। उसके गृहीत अगृहीत और संशय यह तीन भेद हैं। नेमिचन्द्र आचार्य ने मिथ्यात्व के एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व, विनय-मिथ्यात्व तथा संशयमिथ्यात्व ये पांच भेद कहे हैं। यह पांचों ही भेद पंडितवर्यने अपने तीनों भेदों में गर्भित किए हैं। दूसरों के उपदेश से ग्रहण किए गए अतत्त्वाभिनिवेशरूप गृहीतमिथ्यात्व, विपरीत, एकान्त तथा विनयमिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार का है। अनादि काल के मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाला अज्ञानभाव ही अज्ञान मिथ्यात्व वा अगृहीतमिथ्यात्व कहलाता है। सांशयिकमिथ्यात्व का स्वतंत्र भेद है ही इसलिए पांचोंही मिथ्यात्व इन तीनों भेदों में गर्भित हैं।

आसन्न भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व, शुद्धिभाक्, देशनादि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण हैं। उसमें कुछ कारण अन्तरंग है। कुछ बहिरंग। ग्रन्थकर्त्तानें इनका पांच लब्धि तथा करणानुयोग में ही कही गई करण लब्धि आदि सब का समावेश है।

इस कलि काल में समीचीन उपदेश देनेवाले गुरु भी दुर्लभ है। और उनके धर्मोपदेश को सुननेवाले भाव श्रावक भी दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की शोभा मूल गुण और उत्तर गुण के धारण करने से ही होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्ष की जड है जड के विना वृक्ष नहीं और पुष्पपत्ते बिना वृक्ष की शोभा नहीं। इसलिए मूल गुण और उत्तर गुणों का उल्लेख करना परमावश्यक है।

श्रावक का वर्णन करते समय कहा है कि सागार धर्म का धारी श्रावक के १४ विशेषण होना चाहिए। यह विशेषण और ग्रन्थों में देखने में नहीं मिलते है। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेवाला, गुण और गुरुओं की पूजा भक्ति करनेवाला, अच्छी वाणी बोलनेवाला, धर्म अर्थ और कामपुरुषार्थ को परस्पर विरोध रहित सेवन करनेवाला, रहने का स्थान तथा पत्नी धर्म में बाधा देनेवाला नहीं हो, युक्तिपूर्वक आहार विहार करनेवाला, सज्जन पुरुषों की संगति करनेवाला, बुद्धिमान, कृतज्ञ, इन्द्रियों को वश में करनेवाला, धर्म विधि को सुननेवाला, दयालु तथा पापसे डरनेवाला होना चाहिए जिस प्रकार जबतक खेत की शुद्धि नहीं की जाती तबतक समीचीन अन्कुरोत्पत्ति होती नहीं। उसी प्रकार खान पान संगति की शुद्धि विना परिणाम विशुद्धि नहीं होती। निर्मल सम्यग्दर्शन पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा मरण के अन्त में समाधि मरण करना यह श्रावक का पूर्ण धर्म है। उसमें भी श्रावक के अवश्य करने योग्य कार्य दान और पूजा है। दान और पूजा धन के विना हो नहीं सकती और धनोपार्जन हिंसा और आरंभ के विना नहीं है। हिंसा तथा आरंभजन्य पापों के नाश करने का साधन पक्ष चर्या और साधन है। मैं देवता मंत्र सिद्धि आदि किसी

भी कार्य में संकल्पी हिंसा नहीं मानकर निरपराधी जीवों की रक्षा करे तथा जहाँ तक हो सके वहाँ तक सापराधियों की भी रक्षा करे। संकल्पी हिंसा का त्याग करे तथा सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए तीर्थ-यात्रादि करे। गृहस्थावस्था में रहते हुए श्रावक को कीर्ति भी संपादन करना चाहिए।

पापभंजक दूसरों में न पाये जानेवाले असाधारण गुणों को विस्तृत करना ही कीर्ति संपादन का मार्ग है।

तृतीयोऽध्याय

प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम की तारतम्यता से देशविरति के दर्शनादि ग्यारह स्थान हैं। पाक्षिक अवस्था में अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसन का त्याग अभ्यासरूप वा अतिचारसहित था। परन्तु दर्शन प्रतिमा में अष्टमूलगुण और सप्त व्यसन निरतिचार होती है। इसलिए दार्शनिक श्रावक मिथ्यात्व अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी होता है। पाक्षिक श्रावक पानी छानकर पीता था परन्तु दार्शनिक श्रावक दो मुहूर्त के बाद पानी फिर छानेगा, दुप्पट कपडे से छानकर पीयेगा जिस कुये का पानी है उसी में जीवानी डालेगा। चर्म के बर्तन में रखी हुयी किसी वस्तु का प्रयोग नहीं करेगा। जिस वस्तु की मर्यादा निकल गई उसको भक्षण नहीं करेगा क्योंकि यह सब अष्ट मूल गुण के अतिचार हैं। यदि दर्शन प्रतिमा में दुर्लेश्या के कारण अष्टमूल गुण और सप्त व्यसन में सतत अतिचार लगता है तो वह नैष्ठिक न रहकर पाक्षिक हो जाता है। उसी प्रकार आगे की प्रतिमा में भी समझना चाहिये।

दार्शनिक श्रावक संकल्पी हिंसा का परित्याग करे। तथा उत्कृष्ट आरंभ भी नहीं करे। दार्शनिक श्रावक का कर्तव्य है कि विशेष आरंभ के कार्यों को स्वयं न करके जहां तक हो यत्नपूर्वक दूसरों से कराना चाहिये और व्यावहारिक शांति के लिये अपने सम्यक्त्व और व्रतों की रक्षा करते हुए लोकाचार को भी प्रामाणिक माने अर्थात् उसमें विसंवाद नहीं करना चाहिये। अपनी स्त्री को धर्म पुरुषार्थ में व्युत्पन्न बनाना चाहिये। क्योंकि स्त्री विरुद्ध तथा अज्ञानी रहेगी तो धर्म भ्रष्ट कर सकती है। यदि उसकी उपेक्षा की जावेगी तो वह वैर का कारण भी बन सकती है। इसलिये प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हुये स्त्री को धर्म में व्युत्पन्न करना चाहिये। उसी प्रकार कुलीन स्त्रियों को भी अपने पति के मनोनुकूल व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार क्षुधावेदना को दूर करने के लिये शरीर को स्थिर करने लिये परिमित आहार किया जाता है। उसी प्रकार शरीर और मन के ताप की शांति के लिये परिमित भोग भोगना चाहिये। क्योंकि जैसे अधिक भोजन करने से अजीर्णादि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार भोगों का अतिरेक करने से धर्म, अर्थ और काय का नाश होता है, अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। गृहस्थ वा मुनि धर्म की परिपाटी अक्षुण्ण बनी रहे इसलिए योग्य पुत्र की भी आवश्यकता है। इसलिए योग्य पुत्र की उत्पत्ति तथा संतान को धार्मिक करने का भी प्रयत्न करना चाहिये।

अतिचार रहित व्रतों को पालन करने से ही प्रतिमा होती है। जिस प्रकार शिला की बनी हुई प्रतिमा अचल रहती है उसी प्रकार अपने व्रतों में स्थिर रहना प्रतिमा कहलाती। अभ्यासरूप व्रतों का

पालन करना शील कहलाता है तथा निरतिचार पालन करना प्रतिमा कहलाती है, जैसे दूसरी प्रतिमा धारी के सामायिक आदि सात शील व्रत होते हैं वह सातिचार है वही निरतिचार सामायिक करनेवाले को सामायिक प्रतिमा कहलाती है।

व्रत की अपेक्षा रखकर व्रत के एकदेश भंग को अतिचार कहते हैं। वह अतिचार अज्ञान और प्रमाद से ही होते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक व्रत भंग किया जाता है तो अनाचार कहलाता है, अतिचार नहीं। शास्त्राम्नाय से सभी व्रतों के पांच पांच अतिचार कहे हैं परन्तु अतिचार पांच ही होते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। (परेऽप्यूह्यास्तथात्यया:) इस वाक्य से सिद्ध होता है जिन कारणों से व्रतों में मलीनता आती है वे सब अतिचार हैं। जिस प्रकार बिना हल जोती हुई खेती उत्कृष्ट फलप्रद नहीं होती उसी प्रकार सातिचार व्रत इष्ट फलप्रद नहीं होते है। प्रतिमाओं में अतिचार लगनेपर प्रतिमा वास्तव में प्रतिमा नहीं रहती है। ग्रन्थकार अष्ट मूल गुण आदि के अतिचारों का विवेचन इसी दृष्टिकोण से किया है जिस प्रकार इस ग्रन्थ में अष्ट मूल गुणों के अतिचारों का वर्णन है वैसा और ग्रन्थ में नहीं मिलेगा। इसका कारण है सर्वांगरूप से अज्ञान जनों को धर्म का स्वरूप बताना।

चतुर्थोऽध्याय

चौथे पांचवे और छटे अध्याय में व्रत प्रतिमा का वर्णन है। उनमें से चौथे अध्याय में तीन शल्य रहित व्रती होना चाहिये इसका वर्णन है क्योंकि शल्य सहित व्रती निंद्य है। श्रावको के पंचाणु व्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षा व्रत ये १२ उत्तर गुण कहलाते हैं।

चारित्रसार में रात्रि भोजन त्याग नामका छट्टा अणुव्रत अलग माना है परन्तु उसका आलोकित पान भोजन नाम की भावना में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये ग्रन्थकार उसको अहिंसा व्रतका पोषक माना है स्वतंत्र नहीं क्योंकि रात्रि भोजन के त्याग से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है। मूल गुणों की विशुद्धि होती है इसलिये रात्रि भोजन त्याग ग्रन्थकारने मूल गुण माना है। वा रात्रि भोजन त्याग को स्वतंत्र नहीं मानने का एक कारण यह भी है कि आचार्य परम्परा पांच व्रतों के मानने की है इसलिये भी इसे स्वतंत्र व्रत न मानकर उसका अहिंसा व्रत में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

जिस प्रकार ज्ञान जब स्थूल पदार्थों का विषय करता है। तब वह स्थूल ज्ञान कहलाता है परन्तु जब वहीं ज्ञान सूक्ष्म पदार्थों का विषय करता है तब वह विशाल ज्ञान कहलाता है उसी प्रकार स्थूल हिंसादि पांच पापों का त्याग करने से अणु व्रती और सूक्ष्म हिंसादि पांचों पापों का त्याग करने से महा व्रती कहलाता है।

गृहविरत तथा गृहरत के भेद से श्रावक के दो भेद हैं। गृहरत श्रावक अनारंभी संकल्पी हिंसा का त्याग करता है तथा आरंभजनित हिंसा की प्रति यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है। अर्थात् अहिंसाणुव्रतधारी गृहरत श्रावक के त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग रहता है परन्तु जिस

स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करना अशक्य है उसे छोड़कर शेष स्थावर जीवों के हिंसा का भी त्याग रहता है। क्योंकि मुक्ति का कारण केवल अहिंसा है। हिंसा अहिंसा का वर्णन मूलगामी है। देखिये,

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्त्वद्व्युच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः॥

जो सम्पूर्ण भोगोपभोग में उपयोगी पड़नेवाले असत्य वचन का त्याग नहीं कर सकता इसलिये भोगो-पभोग के उपयोग में आनेवाले वचनों को छोड़कर शेष सावद्य वचनों का त्याग करता है उसे सत्याणु-व्रती कहते हैं। सर्व साधारण के उपभोग में आनेवाले मिट्टी, जल आदि पदार्थों को छोड़कर अन्य सभी अदत्त पदार्थों का त्याग करता है। कोई वस्तु मार्ग आदि में पड़ी हुई मिले उसको भी अदत्त समझकर त्याग करता है। जो अपने कुटुम्बी नहीं है उनके मर जानेपर उसके धन के सम्बन्ध में राजकीय विवाद उपस्थित नहीं करता है। उसे अचौर्याणुव्रती कहते हैं। अथवा प्रमाद के वशीभूत होकर किसी की विना दिए तृण मात्र का भी ग्रहण करना वा उठाकर दूसरे को देना चोरी है।

अब्रह्म त्याज्य है ऐसा मानता हुवा भी जो सम्पूर्ण अब्रह्म के त्यागने में असमर्थ हैं वे स्वदार सन्तोष रूप ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं। ग्रन्थकारने स्वदार सन्तोष रूप ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण करते समय 'अन्य स्त्री प्रकटस्त्रियौ' इस पद से यह सूचित किया है कि नैष्ठिक अर्थात प्रतिमा धारी श्रावक के स्वदार सन्तोष व्रत होता है और अभ्यासोन्मुख व्रती के परदार त्याग नाम का व्रत होता है। इस प्रकार जो स्वस्त्री को छोड़कर सम्पूर्ण स्त्रियों से विरक्त होता है उसे ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं। चेतन, अचेतन, और मिश्र वस्तुओं में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को भाव परिग्रह कहते हैं। भाव परिग्रह को कृश करने के लिये चेतन अचेतन तथा मिश्र परिग्रह का भी त्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत है। परिग्रह का त्याग देश काल आत्मा आदि की अपेक्षा से विचार करके त्याग करना चाहिए। परिमित परिग्रह को भी यथा शक्ति कम करना चाहिये--क्योंकि परिग्रह अविश्वास जनक है लोभ वर्द्धक है, तथा आरंभ का उत्पादक है।

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः॥

पंचमोऽध्याय

इस अध्याय में तीन गुण व्रत और शिक्षा व्रत का वर्णन है। अणुव्रतों के उपकार करनेवाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। जिस प्रकार खेत की रक्षा वाड से होती है उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा गुणव्रत और शिक्षा व्रतों से होती है। इन सात शीलों से आत्मा में चारित्र गुण का विशेष विकास होता है। दिग्विरति के पालन करने से क्षेत्र विशेष की अपेक्षा सर्व पापों का त्याग होता है। अनर्थदंड त्यागव्रत के पालने से निरर्थ पापों के त्याग का लाभ होता है। भोगोपभोग की मर्यादा करने से योग्य भोगोपभोग के अतिरिक्त सर्व पापों का त्याग होता है।

श्रावक व्रत पालन करने वाले श्रावक को मुनिपद का इच्छुक होना चाहिये यह विशेषण दिया गया है उसकी एक देश पूर्ति दिग्व्रत पालन करने से होती है। पूज्य गृद्धपिच्छक के मतानुसार इस ग्रन्थ में भी दिग्व्रत, अनर्थदंड त्यागव्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत यह तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, अतिथि संविभागव्रत इन चारों को शिक्षाव्रत माना है। परन्तु स्वामी समन्तभद्र ने देशव्रत को गुणव्रत तथा भोगोपभोग परिमाण व्रत को शिक्षाव्रत माना है।

दिग्व्रत—यावज्जीव दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण करना।

अनर्थदंड त्यागव्रत—व्यर्थ के पापों का त्याग करना।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत—भोगोपभोग सामग्री का नियम करना।

सामायिक—आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर समता भाव धारण करना।

देशव्रत— दिग्व्रत में की हुई मर्यादा में दिन घटि का आदि का नियम करना।

प्रोषधोपवासव्रत—अष्टमी चतुर्दशी पर्व में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

अतिथिसंविभागव्रत—अपने लिये बनाये हुये भोजन में से साधुओं का हिस्सा रखना।

अनर्थदंड व्रत के प्रमादचर्या पापोपदेशादि पांच भेद है। भोगोपभोग परिमाणव्रत में ही १५ खर कर्मों का त्याग गर्भित है। बन में अग्नि लगाना, तालाब को शोषण करना इत्यादि पाप बहुल क्रूर कर्मों को खर कर्म कहते हैं। त्रसघात बहुस्थावर घात, प्रमादविषय, अनिष्ट और अनुपसेव्य इन पांच अभक्षों का वर्णन भी भोगोपभोग परिमाण व्रत में समाविष्ट किया है।

शिक्षाप्रधान व्रतों को शिक्षाव्रत कहते है।

जैसे देशावकाशिक व्रत में प्रातःकाल की सामायिक के अनंतर दिन भर के लिये जो क्षेत्र विशेष की अपेक्षा नियम विशेष किये जाते हैं उससे सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है।

सामायिक और प्रोषोधोपवास में भी कुछ काल तक समता भाव रहता है तथा अतिथि संविभागव्रत में भी सर्व परिग्रह त्यागी अतिथि का आदर्श सामने रहता है इसलिये इन व्रतों से भी सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है।

षष्ठ अध्याय

श्रावक की दिनचर्या का वर्णन

सब से प्रथम ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर नमस्कार मंत्र का जप करना चाहिये। तदनन्तर प्रातर्विधि से निवृत्त होकर श्रावक कर्तव्य है कि अपने गृहचैत्यालय में जिनेन्द्र देव की पूजा करके ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक नगरस्थ जिनमन्दिर जावे। वहाँ पर वीतराग प्रभु की पूजन करे तथा धर्मात्माओं को धार्मिक कार्यों में प्रोत्साहन दे, स्वतः स्वाध्याय करें और आपत्ति में फंसे हुये श्रावकों का उद्धार करे। मन्दिरजी आकर न्याय्य

वृत्ति से अर्थ पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न करे। उसके बाद घर में आकर मध्यान्ह संबन्धी पूजन करे तथा भोजन करने की तैयारी करते समय अपने लिये हुआ भोजन में से पहिले कुछ भोजन मुनियों को दूं- ऐसा विचार कर द्वारापेक्षण करे। अनन्तर पात्र लाभ होनेपर आहार देकर आश्रित और अनाश्रित जीवों के भरण पोषण-पूर्वक स्वयं भोजन करे। भोजनोपरांत विश्राम लेकर तत्त्वज्ञान संबन्धी चर्चा करे। सायंकाल में वन्दनादि कर्म करके रात्रि में योग्यकाल में स्वल्प निद्रा ले। श्रावक की भोजन करते समय यह भावना होनी चाहिये कि मैं मुनि कब होवूँगा-और रात्रि में निद्रा भंग होने पर बारह भावनाओं का तथा वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करे। तथा ऐसा विचार करे कि अहो मैंने अनादि काल से इस शरीर को ही आत्मा समझकर व्यर्थ संसार में परिभ्रमण किया। अब इस संसार का उच्छेद करने के लिये मैं प्रयत्न करता हूँ। रागद्वेष से कर्म-बन्ध, कर्मबन्ध से शरीर, शरीर से इन्द्रिया, इन्द्रियों से विषयभोगो और विषय सेवन से पुनः कर्मबन्ध इस अनादि मोह चक्र का मैं अवश्य नाश करूँगा। जो कामवासना ज्ञानियों के सहवास और तपस्या से भी नहीं जीति जा सकती है—उस कामवासना पर विजय केवल भेद ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। भेद विज्ञान के लिये जिन्हों ने राज्यपद का त्याग किया है वे ही मनुष्य धन्य हैं। इस गृहस्थाश्रम में फँसे हुये मुझे धिक्कार है। मेरे अन्तःकरण में स्त्री और वैराग्यरूपी स्त्री का द्वंद्व चल रहा है। उसमें न मालूम किस की जीत होगी। अहो इस समय इस स्त्री की ही जीत होगी क्योंकि यह मोह राजा की सेना है। यदि मैं स्त्री से विरक्त हो जावूँ तो परिगृह का त्याग बहुत सरल है। प्रतिक्षण आयु नष्ट हो रही है शरीर शिथिल हो रहा है इसलिये मैं इन दोनों में से किसी को भी अपने पुरुषार्थ सिद्धि में सहकारी नहीं मान सकता हूँ। विपत्तियों सहित भी जिन धर्मावलंबी होना अच्छा है। परन्तु जिन धर्म से रहित सम्पत्ति प्राप्त होना भी अच्छा नहीं है। मुझे वह सौभाग्य कब प्राप्त होगा जिस दिन मैं सम्पूर्ण संसार की वासनाओं का त्याग कर समता रस का पान करूँगा। वह शुभ दिन मुझे कब प्राप्त होगा जिस दिन मैं यति होकर समरस स्वादियों के मध्य बैठूंगा। अहो, मुझको वह निर्विकल्प ध्यान कब प्राप्त होगा कि मेरे शरीर को जंगली पशु काष्ठ समझकर अपने सरीर से खाज खुजायेगे। महा उपसर्ग सहन करनेवाले जिनदत्तादि श्रावकों को धन्य है जो घोरोपसर्ग होने पर भी अपने ध्यान से च्युत नहीं हुये। इस प्रकार दिनचर्या पालनेवाले श्रावक के कण्ठ में स्वर्गरूपी स्त्री मुक्तिरूपी स्त्री की ईर्षा से वरमाला डालती है।

सप्तमोऽध्याय

इस अध्याय में सामायिकादि नौ प्रतिमा के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

नौ प्रतिमा का स्वरूप तो सामान्य है परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा में कुछ विशेषता है।

इस ग्रन्थ में ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक तथा ऐलक इस प्रकार दो भेद किए हैं। क्षुल्लक पीछी नहीं रखे तो भी चलता है तथा खंड वस्त्र धारण करता है, छुरा या कैंची से बाल निकलवा सकता है।

क्षुल्लक के दो भेद भी हैं एक घर भिक्षा नियम तथा अनेक घर भिक्षा नियम ऐसे दो भेद हैं। एकघर भिक्षा नियमंवाला क्षुल्लक मुनियों के आहार लेने के अनन्तर आहार को निकलता है और अनेक

घरभिक्षा नियमवाला क्षुल्लक अनेक घरों से भिक्षा लाकर जहाँ प्रासुक पानी मिलता है वहाँ आहार ग्रहण करता है।

ऐलक एक लंगोटी, पीछी तथा कमंडलु रखता है, केशलोच करता है, हाथ में भोजन करता है। शास्त्र में इस को आर्य भी कहते हैं। परस्पर में यह सब 'इच्छामि' बोलते हैं।

जो पूर्व की दोनों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ साथ तीनों कालों में निरतिचार सामायिक करता है उसको सामायिक प्रतिमाधारी कहते हैं।

जो पूर्वकथित तीन प्रतिमाओं के साथ निरतिचार प्रोषधोपवास व्रत का पालन करता है उसको प्रोषध प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की चारों प्रतिमाओं के साथ सचित्त आहार आदिक का त्याग करता है उसको सचित्त त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की पांच प्रतिमाओं के साथ दिन में मैथुन सेवन का त्याग करता है उसको दिवामैथुन त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की छः प्रतिमाओं के स्त्रीमात्र का त्याग करता है उसको ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की सात प्रतिमाओं के साथ कृषि आदि आरंभ का त्याग करता है उसको आरंभत्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की आठ प्रतिमाओं के साथ परिग्रह का त्याग करता है उसको परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की नौ प्रतिमाओं के साथ अनुमति का त्याग करता है उसको अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। जो पूर्व की दस प्रतिमाओं के साथ उद्दिष्ट आहार का त्याग करता है उसको उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

साधारणतया संसार परिभ्रमण का विनाश करने के लिए दान देना, शील पालना, चतुष पर्व में उपवास करना और जिनेन्द्रदेव की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। गुरु तथा पंच परमेष्ठी की साक्षी-पूर्वक ग्रहण किए व्रतों को प्राण जाने पर भी भंग नहीं करना चाहिए क्योंकि प्राणनाश केवल मरण के समय दुःखकर है परन्तु व्रत का नाश भव भव में दुःखकर है।

जो सब प्रकार के इंद्रिय के सुखों में आशक्त न होकर विषयभोगों में संतोष धारण करके शीलवान होता है वह सकलसदाचारों में सिद्धपुरुष माना जाता है, इंद्रादिक के द्वारा पूजनीय होता है, शील और सन्तोष ही संसार का अनुपम भूषण है। जो मनुष्य सज्जन और स्वाभिमानी यतियों के द्वारा अंगीकार किये जानेवाले पापनाशक सन्तोष भाव को धारण करता है, ऐसे उत्तम पुरुष में विवेकरूपी सूर्य नष्ट नहीं होता है अज्ञान अन्धकारमय रात्री नहीं फैलती है। दयारूपी अमृत की नदी नहीं रुकती है। सन्तोषी मनुष्य के हृदय में दीनता रूपी ज्वर उत्पन्न नहीं होता है। धनसंपदाएँ विरक्तता को प्राप्त नहीं होती है और विपत्तियां सदैव उससे दूर रहती है। श्रावक अपने व्रतों को पूर्णतया पालन करने के लिए आध्यात्म शास्त्र आदि का अध्ययन करे। तथा बारह भावना और सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन करे। क्योंकि स्वाध्याय और भावनाओं के चिंतवन से आत्म कर्तव्य में उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। जो स्वाध्याय भावनाओं में आलस्य करते हैं उनका अपने कर्तव्य में उत्साह नहीं रह सकता है।

अष्टमोऽध्याय

श्रावक के १२ व्रत हैं। अन्त में सल्लेखना मरण करना ही व्रतों की सफलता है।

सम्यक्प्रकार शास्त्रोक्त विधि से कषाय और शरीर को कृष करना सल्लेखना है।

जिसका प्रतिकार करना अशक्य हो ऐसे बुढापा, रोग, दुर्भिक्ष, उपसर्ग आदि के आनेपर कषायों के साथ सम्पूर्ण आहारादि का त्याग करना धर्म के लिये शरीर छोड़ना समाधि मरण है।

श्रावक और मुनि दोनों ही सल्लेखना के पात्र हैं। जो श्रावक सल्लेखना करते हैं वे साधक कहलाते हैं। जब तक शरीर स्वस्थ रहे तब तक उसका अनुवर्त्तन करना चाहिये। परन्तु जब शरीर के प्रति अन्न का कोई उपयोग नहीं होता उस समय यह शरीर त्याज्य है। उपसर्ग के कारण तथा निमित्त ज्ञान से वा अनुमान से शरीर के नाश समझकर अभ्यस्त अपने व्रतों को सफल बनाने के लिये सल्लेखना करना चाहिये।

यदि मरण की एकदम सम्भावना हो तो उसी समय प्रायोपगमन करना चाहिये अर्थात् अन्त समय में समस्त आहार पानी का त्याग करना चाहिये।

सल्लेखना गण के मध्य में की जाती है। यदि पूर्वोपार्जित पाप कर्म का तीव्र उदय नहीं है तो सल्लेखना अवश्य होती है। दूर भव्य हो मुक्ति दूर हो तो भी समाधिमरण का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। क्योंकि शुभ भावों से मरकर स्वर्ग जाना अच्छा है, अशुभ भावों से पापोपार्जन कर नरक में जाना ठीक नहीं है। जीव के मरते समय जैसे परिणाम होते है वैसी ही गति होती है। इसलिये मरण समय का महान माहात्म्य है। यदि मरण समय में निर्विकल्प समाधि हो जाय तो मुक्ति पद की प्राप्ति होती है, अतः अन्त समय के सुधारने के लिये स्वयं सावधान रहना चाहिये। मुनि हो तो अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ में जाकर निर्यापकाचार्य के सुपूर्द होना चाहिये तथा वे आचार्य जैसे विधि बतावे वह विधि परिणाम विशुद्धि के लिये करना चाहिये।

समाधि मरण के इच्छुक साधक श्रावक वा मुनि को तीर्थ स्थान में वा निर्यापकाचार्य के समीप जाना चाहिये। यदि समाधि सिद्धि के लिये तीर्थ स्थान में वा निर्यापकाचार्य के समीप जाते समय रास्ते में मरण हो जाय तो भी साधक की समाधि भावना सिद्ध समझी जाती है। तीर्थ क्षेत्र में वा आचार्य के तलाश में जाने के समय प्रथम सब से क्षमा याचना तथा स्वतः सबको क्षमा करनी चाहिये। समाधि इच्छुक भव्य योग्य क्षेत्र काल में विशुद्धि रूपी अमृत से अभिषिक्त होकर पूर्व या उत्तर मुख करके समाधि के लिये तत्पर होना चाहिये।

जिनको देह के दोषों के कारण मुनिव्रत वर्जनीय है परन्तु समाधि के समय उन दोषों से सहित होने पर भी मुनि व्रत दिया जा सकता है। आर्यिका को भी समाधि के समय नग्न दीक्षा रूप उपचरित महाव्रत दे सकते हैं।

समाधिस्त की भावना

प्राणि का देह ही संसार है इसलिये देहाश्रित जो नग्नत्वादि लिंग है वह पर उसके विषय में आसक्ति न करे।

केवल परद्रव्य की आसक्ति से ही आत्मा अनादि काल से बन्ध को प्राप्त हुआ है। अतः मुमुक्षु को अपने शुद्ध चिदानन्द रूप आत्म-परिणति के अनुभव में ही अपना उपयोग लगाना चाहिये।

क्षपक पांच प्रकार शुद्धि और पांच विवेकपूर्व समाधि मरण करे पांच अतिचार न लगने दे। निर्यापकाचार्य क्षपक को विविध प्रकार के पक्वान समाधिस्थ मुनि को दिखावे। उनको देखकर कोई सब भोज्य पदार्थ से विरक्त होता है, कोई उनको देखकर कुछ छोड़कर किसी एक के भक्षण करने की इच्छा करता है। कोई एकाध पदार्थ में आसक्त होता है। उनमें से जो आसक्त होता है उसकी उस पदार्थ की तृष्णा को निर्यापकाचार्य सदुपदेश से दूर करते हैं।

निर्यापकाचार्य का सदुपदेश

अहो जितेन्द्रिय, परमार्थ शिरोमणि, क्या यह भोजनादि पुद्गल आत्मा के उपकारी है! क्या ऐसा कोई भी पुद्गल संसार में जिसका तूने भोग नहीं किया! यदि तू किसी भी पुद्गल में आसक्त होकर मरेगा तो सुस्वाद चिर्भट में आसक्त होकर मरनेवाले भिक्षुक के समान उसी पुद्गल में कीडा होकर जन्म लेगा। इस प्रकार निर्यापकाचार्य हितोपदेशरूपी मेघ वृष्टि से क्षपक को तृष्णारहित करके क्रम क्रम से कवलाहार का त्याग कराके दुग्धादि स्निग्ध पदार्थ को बढावे। तदन्तर उनका भी त्याग कराकर केवल जलमात्र शेष रखे। जब क्षप की जल में भी इच्छा न हो तो पानी का भी त्याग करावे तथा सब से क्षमा याचना करावे। समाधि सिद्ध करने के लिये उसकी वैयावृत्ति के लिये मुनियों को नियुक्त करे। तथा निरंतर उसका संबोधन करे। हे क्षपक तू इस समय वैयावृत्ति के लोभ से जीने की इच्छा मत कर। व्याधि से पीडित होकर मंरण की इच्छा मत कर, पूर्व में साथ खेलनेवाले मित्रों में अनुराग तथा पूर्व में भोगे हुये भोगों की याद मत कर। आगे भोगों की इच्छा मत कर। अपने परिणाम में मिथ्यारूपी शत्रु का प्रवेश मत होने दे। हिंसा असत्यादि पापों में मन को मत जाने दे। हे क्षपक जो महा पुरुषों मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत, देवकृत तथा अचेतन कृत घोरोपसर्ग आने पर भी समाधि से च्युत नहीं हुये उन गजकुमार, सुकुमाल, विद्युच्चर, शिवभूति आदि महापुरुषों का स्मरण कर। पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान कर-शरीर से ममत्व छोड़। जो मनुष्य णमोकार मंत्र का स्मरण करता हुवा प्राणत्याग करता है वह अष्टम भव में नियम से मोक्षपद प्राप्त करता है। सब व्रतों में समाधिमरण महान है। और सम्पूर्ण वस्तु की प्राप्ति हुई परन्तु समाधि मरण नहीं मिला-इसलिये सल्लेखनामरण में सावधान रहे।

मुनि को उत्तम सल्लेखना की आराधना से मुक्ति, मध्यम से इन्द्रादिक पदवी तथा जघन्य आराधना की सफलता से सात आठ भव में मुक्ति होती है। मरते समय निश्चय रत्नत्रय और निश्चय तपाराधना में तत्परता होनी चाहिये। श्रावक भी सल्लेखना के प्राप्त से अभ्युदय और परम्परा से मुक्तिपद भागी बनता है।

इस तरह आठ अध्यायों में श्रावक धर्म का निरूपण सुविस्तृत किया है। पहिले अध्याय में श्रावक की भूमिका, उसका स्वरूप आदि प्रास्ताविक निरूपण है। द्वितीय अध्याय में पाक्षिक श्रावक का, ३ से ७ अध्याय तक नैष्ठिक श्रावक का, और आठवें अध्याय में साधक श्रावक का वर्णन आया है। ३ से ७ वें अध्याय में ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है। उसमें तृतीय अध्याय में दर्शनप्रतिमा का, चौथे अध्याय में द्वितीय प्रतिमांतर्गत पांच अणुव्रतों का, पाचवें अध्याय में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों का, छट्टे अध्याय में श्रावक की दिनचर्या का, और सातवें अध्याय में शेष नवप्रतिमाओं का वर्णन आया है।

श्रावक के आचार का वर्णन प्रधान उद्देश होने से सहजहि व्यवहार नय की प्रधानता कर वर्णन है। श्रावक की कौनसी भूमिका में अन्तरंग परिणामों की क्या भूमिका होती है इसका करणानुयोग के अनुसार वर्णन भी पूर्णतः आगमानुकूल होने से करणानुयोग या द्रव्यानुयोग से कही विरोध दिखाई नहीं देता। सम्पूर्ण ग्रन्थ में परिणामों की अन्तरंग दशा का ज्ञान कराने को कभी नहीं चुके। ग्यारह प्रतिमाओं का अन्तरंगस्वरूप क्षयोपशम दशा में होनेवाले चारित्रमोह के सद्भाव में आंतरिक विशुद्धता की तरतमता तथा बहिरंग स्वरूप पांच पापों के क्रमवर्ती त्याग की तरतमता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ती की भूमिका, हिंसा–अहिंसा निरूपण, परिग्रह का स्वरूप आदि सर्वत्र करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के सूक्ष्म परिशीलन का प्रत्यय आता है।

ग्रन्थ चरणानुयोग का होने से अन्तरंग विशुद्धता के साथ जो बाह्य आचार या परिकर भूमिकानुसार होता है उसका वर्णन अवश्यंभावी है। वह बाह्य आचार उस भूमिका में कैसा उपयोगी कार्यकारी तथा फलप्रद होता है इसका प्रथमानुयोग के दृष्टान्त देकर शास्त्रशुद्ध समर्थन किया है। अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन पांच पाप तथा बारह व्रत के दृष्टान्त, तथा साधक के समाधिमरण के समय प्रोत्साहित करने के लिए नाना प्रथमानुयोगांतर्गत कथाओं के दृष्टान्त आने से विषय सर्व तरह के श्रोताओं के लिए सुगम और सुलभ बना है।

पंडितप्रवर के पहिले जितना चरणानुयोग का साहित्य था उसका तलस्पर्शी अवगाहन उन्होंने किया था। विविध आचार्यों और विद्वानों के मतभेदों का सामंजस्य स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया है। उनका कहना है "आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्" पूर्ववर्ती आचार्यों का जितना भी निरूपण है उसका दृष्टिकोण समझकर सुमेल बिठाने में विद्वत्ता है। इसलिए उन्होंने अपना स्वतंत्र मत तो कहींपर प्रतिपादित नहीं किया, परन्तु तमाम मतभेदों को उपस्थित करके उनकी विस्तृत चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह आंतरिक एकता अनुस्यूत है यह दिखलाया है। जैसे मूलगुणों के प्रकरण में आशाधरजी ने सब आचार्यों के मतानुसार वर्णन किया है। सबका समन्वय करने के लिए—

मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरति पंचाकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति क्वचिदष्ट मूलगुणाः॥ अध्याय २ श्लोक १८

इसमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आये हुये आठ मूलगुणों का अंतर्भाव है। जीवदया के रूप में स्थूल पांच पापों का त्याग स्वीकृत होता है। कहीं पर पंचफलविरति के स्थान में द्यूतत्याग का निर्देश है। जुआं में हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ सर्व पापों का प्रकर्ष होने से उसकी भी जीवदया के द्वारा स्वीकृति है। आजकल

चर्चा उमड पडी है और जिज्ञासुओं के मन में शंका है की दर्शनप्रतिमाधारी को केवल सम्यग्दर्शन निर्मल होना चाहिए, उसे बाजार का घी नहीं खाना मर्यादित वस्तु भक्षण करना कहा लिखा है? परंतु सागारधर्मामृत का तीसरा अध्याय पढने से प्रथम प्रतिमाधारी को किस वस्तु का त्याग होना चाहिये यह स्पष्ट होता है। उन्होंने मूलगुणों के अतिचारों का जो वर्णन किया वह उनकी विशेषता ही कहना चाहिए। इस प्रकार वह बाजार का घी मुरब्बा अचार तथा चलित वस्तु नहीं खा सकता। यदि खाता है तो अष्टमूलगुणों में दोष लगते है और जिसे अष्ट मूलगुण निरतिचार नहीं वह दर्शनप्रतिमाधारी नहीं हो सकता।

श्रावक का पाक्षिक का भी आचार और दिनचर्या निरूपण करते समय उनका सामाजिक दृष्टिकोण कितना सर्वस्पर्शी और मूलगामी था इसका भी पता चलता है।

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण। स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपुरास्तरजसः।
कथं स्युः सागारा श्रमणगणधर्माश्रमपदं। न यत्रार्हद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितम्॥

यहां श्रावक समाज के अंतर्मानस का कितना हृदयंगम दर्शन हुआ है। समाज में त्याग और त्यागियों के प्रति निष्ठा है। त्यागी साधुओं के विहार से धर्मभावना की परंपरा अविच्छिन्न चलती रहती है। इस कारण धर्म की परंपरा चालू रखने के लिए साधुओं की परंपरा भी अविच्छिन्न होना जरूरी है। इसलिए वे लिखते है—

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीञ् जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥ अध्याय २ श्लोक ७१

विश्वबंधु जिनधर्म की परंपरा चालू रखने के लिए अपत्य की तरह साधुओं की निर्मिति के लिए और उनमें गुणों का उत्कर्ष होने के लिए प्रयास करना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोण की यह गहराई! साधू परंपरा में भी कलि का प्रवेश होने से दोष का प्रादुर्भाव उन्हें दिखाई देता था। परंतु—

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिणाम्॥

जिन प्रतिमा की तरह इस कालीन मुनीओं में पूर्व भावलिंगी साधू की स्थापना करके उनकी पूजा करनी चाहिए, क्यों की अतिचर्चा करनेवाले को कौनसी श्रेयोप्राप्ति होगी। श्रावक के जिनमंदीर, जिनचैत्य, पाठशाला, मठ आदि निर्माण करना क्यों जरूरी है इसका वर्णन इसका साक्षी है।

आप संस्कृत भाषा के अधिकारी समर्थ विद्वान थे। आपकी टीका विद्वन्मान्य है आपके ग्रंथों में अन्य सुभाषित और उद्धरणों प्रचुरता से पाये जाते वैसे आपके श्लोकों में अनेक सुभाषित प्रचुरता से पाये जाते।

इन सब विशेषताओं के कारण उनका सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृत दोनों ग्रंथ आज तक सर्वमान्य और प्रमाणभूत माने जाते और माने जायेंगे।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की विशेषता

श्री महावीरस्वामी अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात और श्रुतकेवली की परम्परा समाप्त होने के बाद जब स्वामिकार्तिकेय नाम के महान् आचार्य हुए हैं। इनका स्वामिकुमार यह नाम भी प्रसिद्ध है। इन्हों ने आजन्म ब्रह्मचर्य धारण किया था। इन्हों ने—'**अनुप्रेक्षा**' नामक महान् ग्रन्थ रचा है।

कुन्दकुन्दादिक अनेक आचार्यों ने अनुप्रेक्षा विषय पर अनेक रचनाएँ कि है परन्तु इनका यह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ उपलब्ध सब अनुप्रेक्षा ग्रन्थों की अपेक्षा से बडा है।

महावीर जिनेश्वर के तीर्थ प्रवर्तन के काल में दारुण उपसर्ग सहकर ये विजयादिक पंचानुत्तर में से किसी एक अनुत्तर में इनकी उत्पत्ति हुई है। ऐसा उल्लेख राजवार्तिकादि ग्रन्थों में हैं।

ऋषिदास धन्य सु नक्षत्र-कार्तिकनन्दन शालिभद्र,
अभय, वारिषेण, चिलात पुत्रा इत्येते दश वर्धमान तीर्थे ॥
इत्येते दारुणानुपसर्गोन्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषु उत्पन्ना।
इत्यते मनुत्तरोपपादिक दश ॥ (राजवार्तिक, अ. १ ला, पृ. ५१)

भगवती आराधना में भी इनका उल्लेख आया है यथा—

रोहे उ यम्मि सत्तीए ह ओ कों चेण अग्गिदई दो बि।
तं वेयण मधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहं ॥१५४९॥
अग्गिदई दोवि अग्नि राजनाम्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेय संज्ञः।

रोहतक नाम के नगर में क्राच नामक राजा ने शक्तिशास्त्र का प्रहार कर कार्तिकेय मुनिराज को विद्ध किया। परन्तु उन्होंने वेदनाओं को सह लिया तथा साम्य परिणाम तत्पर होकर स्वर्ग में देव हुए। ये कार्तिकेय मुनिराज अग्निराजा के पुत्र थे, इनकी माता का नाम कृत्तिका था अतः इनको कार्तिक तथा कार्तिकेय और कुमार ऐसा नाम था।

श्रीशुभचन्द्रभट्टारक जो कि इस ग्रन्थ के टीकाकार हैं उन्हों ने इनके विषय में ऐसा उल्लेख किया है।

"स्वामि कार्तिकेय मुनिः क्रौञ्चराजकृतोपसर्ग सोढ्वासाम्यपरिणामेण समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः" इस ग्रन्थकार के विषय में इतना परिचय मिलता है जो कि पर्याप्त है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

अनुप्रेक्षा शब्द की व्याख्या इस प्रकार है–"अनु-पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणं अनित्यादि स्वरूपाणाम् इति अनुप्रेक्षा निज निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः ॥"

शरीर, धन, वैभव आदि पदार्थों के अनित्यादि स्वभावों का बार बार चिन्तन, मनन, स्मरण करना यह अनुप्रेक्षा शब्द का अर्थ है। अर्थात धनादि पदार्थ अनित्य है इनसे जीव का हित नहीं होता है इत्यादि रूपसे जो चिन्तन करना उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं भावना ऐसा भी इनका दूसरा नाम है। इनके बारह भेद है—

१. अध्रुव, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ दुर्लभ और १२ धर्म।

१. अध्रुवानुप्रेक्षा

जो–जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह चिरस्थायी नहीं है। जन्म मरण के साथ अविनाभावी है। पदार्थों में सतत परिणति होती ही है। परिणतिरहित पदार्थ दुनिया में कोई भी नहीं है। यदि जीव को तारुण्य प्राप्त हुआ तो भी वह अक्षय नहीं है। कालान्तर से वह जीव वृद्ध होकर कालवश होता है। धनधान्यादि लक्ष्मी मेघच्छाया के समान शीघ्र विनाश को प्राप्त होती है। पुण्योदय से ऐश्वर्य लाभ होता है परन्तु वह समाप्त होनेपर ऐश्वर्य नष्ट होता है। अनेक राज्यैश्वर्य नष्ट हुए हैं। सत्पुरुषों के मन में ऐश्वर्य नित्य नहीं रहेगा ऐसा विचार आता है तथा वे उसका उपयोग धर्म कार्य में करते हैं अर्थात वे जिनमंदिर, जिनप्रतिष्ठा, जिनबिम्ब तथा सुतीर्थ यात्रा में उसका व्यय करते हैं जो साधार्मिक बांधव हैं उनकी आपत्ति को दूर करके उनको प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए धन देकर धर्म में प्रवृत्त करते हैं, उनकी लक्ष्मी सफल होती है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती आदिकों की रत्नत्रय वृद्धि करने के लिए आहार औषधादि दान देने से आत्महित होता है तथा संपत्ति की प्राप्ति होना सफल होता है। इन्द्रियों के विषय विनश्वर है ऐसा निश्चय कर उनके ऊपर मोहित जो नहीं होता है वह सज्जन अपना कल्याण करता है। बालक जैसा स्तनपान करते समय अपना दूसरा हाथ माता के दूसरे स्तनपर रखता है वैसे मनुष्य जो उसको वैभव प्राप्त हुआ है उसका उपभोग लेते हुए भावी आत्महित के लिये धर्म कार्य में भी उसका अवश्य व्यय करे। धन में लुब्ध न होते हुए निर्मोह होकर उसका व्यय करने से भवान्तर में भी वह लक्ष्मी साथ आती है।

२. अशरणानुप्रेक्षा

मनुष्य शब्द की सिद्धि मनु धातु से हुई है। विचार करना विवेकयुक्त प्रवृत्ति करना यह मनु धातु का अर्थ है। संसार, शरीर, और भागों से विरत होकर सज्जन ऐसा विचार करते हैं "इस जगत् में इन्द्रादिक देव सामर्थ्यशाली होकर भी मृत्यु से अपना रक्षण करने में असमर्थ हैं। आयुष्य का क्षय होने से

प्राणी मरते हैं। जगत् में मनुष्य का रक्षण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से होता है। इसलिये परम श्रद्धा से रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये। जब जीव में क्षमा, विनय, निष्कपटता आदि धर्म उत्पन्न होते हैं तब वह जीव अपना रक्षण करने में समर्थ होता है। तीव्र क्रोधादि कषायों से भरा हुआ जीव स्वयं अपना घात करता है।

दंसणणाणचरित्तं सरणं सेवेहि परमसद्धाए।
अण्णं किं पि य सरणं संसारे संसरंताणं।।
अप्पाणं पि य सरणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण।।

इन गाथाओं का अभिप्राय ऊपर आया है।

३. संसारानुप्रेक्षा

यह जीव एक शरीर को ग्रहण करके उसको छोड देता है तदनंतर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। उसे भी छोडकर तीसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार इस जीव ने मिथ्यात्व कषाय वश होकर अनन्त देह धारण कर चतुर्गती में भ्रमण किया है। इसको संसार कहते हैं। इसी अभिप्राय को आचार्य दो गाथाओं में कहते हैं—

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स॥

पाप के उदय से जीव नरक में जन्म लेता है। वहां अनेक प्रकार के दुःख सहते हैं। नारकी जीवों में सतत क्रोध का उदय होता है जिससे वे अन्योन्य को आमरण व्यथित करते हैं। नरक से निकलकर जीव तिर्यंच पशु होता है। उस गति में भी उसको दुःख भोगने पडते हैं। क्रूर मनुष्य पशुओं को मारते हैं। हरिणादिक दीन पशुओं में जन्म होने पर सिंह व्याघ्रादिकों के वे भक्ष बनते हैं।

मनुष्य गति में जन्म लेने पर भी मातापिता के विरह से उनको कष्ट भोगना पडता है। याचना करना, उच्छिष्ट भक्षण करना, आदिक दुःखसमूह पापोदय से प्राप्त होते हैं। कोई मनुष्य—सम्यग्दर्शन, तथा व्रतों को धारण करता है, उत्तम क्षमादि धर्म धारण करता है, कुछ पापकर्म होने पर उसको कहकर अपनी निंदा करता है, गुरु के आगे अपने दोषों को कहता है, ऐसे सदाचार से उसको पुण्यबन्ध होता है तथा उसे सुख की प्राप्ति होती है तो भी उसको कभी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग हो जाता है। इस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं—

पुण्ण जुदस्स वि दीसइ इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुयभायेण॥

पुण्यवंत को भी इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग होते हैं ऐसा देखा जाता है। भरतचक्रवर्ती षट्खंड स्वामी होने से सगर्व हुआ था। परन्तु उसके छोटे भाईने उसे पराजित किया था। अर्थात मनुष्य गति में भी अनेक दुःख भोगने पडते हैं।

देवगति में भी दुःख प्राप्त होता है। महर्द्धिक देवों का ऐश्वर्य देख कर हीन देवों को मानसिक दुःख उत्पन्न होता है। ऐश्वर्य युक्त देवों को भी देवी के मरने से दुःख होता है। इस प्रकार संसार का स्वरूप जानकर सम्यग्दर्शन, व्रत, समिति, ध्यान आदि को में अपने आत्मा को तत्पर करना चाहिये तथा निजस्वरूप के चिन्तन में तत्पर होकर मोहका सर्वथा त्याग करने से जीवको संसार नष्ट होने से सिद्ध पदकी प्राप्ति होगी। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने इस गाथा में व्यक्त किया है—

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ॥

४. एकत्वानुप्रेक्षा

इस भाबना को एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। जिनका मन रागद्वेष मोहादिकों से रहित हुआ है तथा जिनके मन में वैराग्य वृद्धि हुई है ऐसे मुनिराज तथा ब्रम्हचारी आदि गृहत्यागी लोक इस अनुप्रेक्षा को अपनाते हैं।

एकत्व चिन्तन से आत्मस्वरूप का अनुभव उत्तरोत्तर जीवको अधिक मात्रा में आता है। जो कुछ भला बुरा कार्य यह जीव करता है उसका अनुभव सुख दुःखरूप उसे ही मिलता है। जीव अकेला ही जन्म लेकर अकेला ही मृत्युवश होता है। रोग शोकादिक अकेला ही भोगता है। जीव ने यदि पुण्य किया तो उसका फल सुख वह अकेला ही भोगता है। तथा यदि वह पाप करेगा तो नरक तिर्यगादि गति में वह दुःख को अकेला ही भोगेगा।

उत्तम क्षमादि धर्म ही अपना कल्याण करनेवाले स्वजन हैं वह धर्म ही देव लोक को प्राप्त कर देगा। यह जीव अपने शरीर से भी अपने को भिन्न समजता है तथा अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर सर्व मोह का त्यागी होता है तो कर्मक्षय करके वह मुक्ति श्री को वरता है।

५. अन्यत्वभावना

कर्म के उदय से जो देह मुझे प्राप्त हुआ है वह मुझसे भिन्न है। माता, पिता, पत्नी, पुत्र ये मुझसे भिन्न हैं। हाथी, घोडा, धन, रथ, घर ये पदार्थ चैतन्यस्वरूपी मुझसे भिन्न ही हैं। तो भी मोह से मैं उन पदार्थों में अनुरक्त हो रहा हूं यह खेद की बात है। मैं चेतन हूं और यह मेरा देह अचेतन है। चैतन्य मेरा लक्षण है, देह उससे भिन्न है। यह जानकर मैं अपने स्वरूप में यदि रहूंगा तो मुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

कर्म, शरीर और मोह से जिनराज यद्यपि भिन्न हैं तथापि वे अपने केवल ज्ञान से भिन्न नहीं है वे अभिन्न हैं।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा

यह छट्ठी भावना है। यह देह मनुज शरीर अपवित्र पदार्थों से उत्पन्न हुई है। यह असंख्य कृमियों से भरी है। यह दुर्गन्ध तथा मलमूत्र का घर है। ऐसा हे आत्मन् तू इसका स्वरूप जानकर इससे विरक्त होकर आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

जो पुत्र, स्त्री आदिकों के देह से तथा स्वदेह से भी विरक्त है जो अपने शुद्ध चिद्रूप में लीन है उसकी देहविषयक अशुचित्व भावना सच्ची है ऐसा समझना योग्य है। उपर्युक्त अभिप्राय की गाथा यह है—

जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥ ८७ ॥

७. आस्रवानुप्रेक्षा

संसारी जीव में मोह के उदय से नानाविध सुखदुःख आदिक देनेवाले स्वभावों को धारण करनेवाले कर्मों का आगमन मन, वचन और शरीर के आश्रय से होता है। उसे आस्रव कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—जीव के प्रदेशों में जो कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। इस योग के मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग–शरीरयोग ऐसे तीन भेद हैं। यह चंचलता मोह कर्म के उदय से होती है तथा मोह के अभाव में भी होती है। इन योगों को ही आस्रव कहते हैं।

शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन तथा शरीर से युक्त जो जीव की शक्ति आत्मप्रदेशों में कर्मों का आगमन होने के लिए कारण होती है उसे योग कहते हैं। ये योग आस्रव के कारण है। कारण में कार्यों का उपचार करने से कारण रूप योग को भी आस्रव कहा है। संसारी जीव के सर्व आत्म प्रदेशों में रहनेवाली तथा कर्मों को ग्रहण करनेवाली जो शक्ति उसे भावयोग कहते हैं। इस भावयोग से जीव के प्रदेशों में मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणाओं के निमित्त से चंचलता उत्पन्न होती है उन्हें मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहते हैं ये योग तरह वे सयोगकेवली गुणस्थान तक रहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान से सूक्ष्म लोभ नामक दसवे गुणस्थान तक मोह कर्म के साथ योग रहते हैं इस लिये इन गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक भी कर्म का आगमन होता है परन्तु इस से कर्मबंध नहीं होता है। आये हुए कर्म एक समय तक रहकर निकल जाते हैं यहां जो कर्म का आगमन होता है उसे इर्यापथ आस्रव कहते हैं। इन तीन गुणस्थानों में बिना फल दिये ही निकल जाता है। इन तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय या सांपरायिक आस्रव के कारण नहीं रहते हैं। चौदहवे अयोग केवली गुणस्थान में योग भी नहीं रहते हैं। अतः यहां आस्रव तथा बंध ही होने से अयोग केवली जीव मुक्त होते हैं।

जीव में कर्म के उदय से पुण्य तथा पाप कर्म आता है। मंद कषाय से जीव के परिणाम स्वच्छ होते हैं तथा तीव्र कषायों से अस्वच्छ होते हैं। मित्र हो अथवा शत्रु हो सब जीवों के साथ प्रेम की प्रवृत्ति जो रखता है प्रेम युक्त भाषण जो करता है। गुणग्राहकता जिसमें रहती है वह जीव मंद-कषायी है। जिसमें द्वेषादिक है गुण ग्राहकता नहीं है, मिथ्यात्वादिक का त्याग नहीं करते हैं वे तीव्र कषायी हैं। उनमें सतत कर्मास्रव होते हैं।

जो त्याज्य वस्तुओं का विचारपूर्वक त्याग करता है तथा सुविचार के अनुसार जो कार्य करता है, क्षमादिकों को धारण करके समताभाव में जो लीन होते हैं, जो राग द्वेष के त्यागी हैं वे आस्रव भावना के विचार होने से उन्हें सुमति या कीर्ति की प्राप्ति होती है।

८. संवरानुप्रेक्षा

जीव के प्रदेशों में अर्थात आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमादादिक कारणों से कर्म आते थे परन्तु अब आत्मा सम्यग्दर्शन, अणुव्रत, महाव्रतादिकों को धारण करने लगा इस से मिथ्यात्वादिक आस्रवों का अभाव हुआ अर्थात मिथ्यात्वादिकों के प्रतिस्पर्द्धि सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा महाव्रतादिकरूप संवर आत्मा में प्रकट हुआ। कषाय क्रोध, मान माया लोभों को जीतने से आत्मा में उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचादिक दशधर्मरूप संवर प्रकट हुआ है। योग का निरोध करने से मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, कायगुप्तिरूप संवर हुआ। अर्थात गुप्ति, समिति, दशधर्म, परिषह विजय-भूख तृषादिकों की बाधा सहना तथा सामायिक, च्छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि आदिक चारित्र जो कि उत्कृष्ट संवर कारण उत्पन्न हुए हैं। इन संवर कारणों से अपूर्व शांति उत्पन्न हुई तथा कर्म आने के मनोवचनकायादि प्रवृत्तिरूप किवाडे बंद हो जाने से कर्मों का आगमन बंद हुआ तथा रागद्वेषादिकों का अभाव होने से सत्‌चित्‌आनंदरूप आत्मा हुअी, अब वह पंचेन्द्रिय विषयरूप जालमेंस छूट गई। अब उसका दीर्घ काल तक संसार में घुमना बंद हुआ यही अभिप्राय आगे की गाथा में व्यक्त हुआ है—

जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरई।
मणहरविसयेहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥१०१॥

९. निर्जरानुप्रेक्षा

बद्ध कर्म उदय में आकर अपना फल देकर आत्मा से अलग हो रहा है और आत्मा गर्व रहित, निदान रहित हुआ है। तपस्वी हुआ है। हर्ष विषादादि से अत्यंत दूर हुआ है। अर्थात् बंधा हुआ कर्म उदय में आकर अपना सुख दुःखादिक दे रहा है तो भी आत्मा अपनी शांत वृत्तीसे तिलमात्र ही सरकता नहीं है और कर्म प्रतिक्षण में झड रहा है।

नया कर्म आत्मा में आना बिलकुल बंद हुआ है ऐसी अवस्था में जो कर्म निर्जरा होती है उसे अविप्तका निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा आत्मा के रत्नत्रय गुणोंकी उत्तरोत्तर प्रकर्षता होने पर होती है

और यह निर्जरा मोक्षकी कारण होती है। ऐसी निर्जरा चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होती है। और अयोगि जिनकी अवस्था प्राप्त होने तक होती है। यह निर्जरा अन्तिम अवस्था को प्राप्त करती हुई जीव को मोक्ष प्रदान करती है। जिससे आत्मा पूर्ण शुद्ध बनकर अक्षय निर्मलता धारण करती है। जो चतुर्गति में घुमने-वाले प्राणियों को होती है वह निर्जरा सविपाक निर्जरा है, वह बंध सहित है।

जिन साधुओं ने रागद्वेषों का त्याग किया है, जिनको समस्त सुख का सतत स्वाद आरहा है, जिनको आत्म चिन्तन से आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे साधुओं की निर्जरा परम श्रेष्ठ है।

जो समसुक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥

१०. लोकानुप्रेक्षा

इस अनुप्रेक्षा का चिन्तन मुनिराज किस प्रकार से करते हैं उसका निरूपण संक्षेप से ऐसा है— जगत् को लोक कहते हैं। इसमें एक चेतन तत्त्व तथा दूसरा अचेतन तत्त्व है। जीव को चेतन तत्त्व अर्थात अन्तस्तत्त्व तथा अचेतन तत्त्व को बहिस्तत्त्व जडतत्त्व कहते हैं। जडतत्त्व के धर्म, अधर्म, आकाश, काल, तथा पुद्गल ऐसे पांच भेद हैं। जीवतत्त्व के साथ तत्त्व के छह भेद होते हैं। आकाश नामक तत्त्व महान तथा अनन्तानन्त प्रदेशयुक्त है। इससे बडा कोई भी नहीं है। इस तत्त्व के बहु सध्यमें—जीवों के साथ धर्माधर्मादि पांच तत्त्व रहते हैं। जितने आकाश में ये पांच तत्त्व रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। तथा वह असंख्यात प्रदेशवाला है। आकाश के साथ ये छह द्रव्य परिणमनशील हैं। अतः इनको सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य कहना योग्य नहीं हैं। द्रव्यों की अपेक्षा से ये सर्व ही पदार्थ अपने स्वरूप को कभी भी नहीं छोडते हैं अतः ये नित्य हैं और अपने चेतन तथा अचेतन स्वभाव को न छोडते हुए भी नरनारकादि अवस्थाओं को धारण करते हैं अतः ये पदार्थ कथंचित अनित्य हैं। इनसे उत्पत्ति तथा विनाश होते हुए भी अपने स्वभावों को ये तत्त्व नहीं छोडते हैं। अपनी अपनी पर्यायों से परिणत होते हैं।

यहां जीव तत्त्व के विषय में विचार करना है। लोक धातुका अर्थ देखना अवलोकन करना है। अर्थात जिसमें जीवादिक सर्व पदार्थ दिखते हैं उसे लोक कहते हैं। इस लोक के अग्रभाग में ज्ञानावरणादि संपूर्ण कर्मों से रहित अनन्त ज्ञानादि गुण पूर्ण शुद्ध जीव विराजमान हुए हैं तथा वे अनन्तानन्त हैं।

जीवों के संसारी तथा मुक्त ऐसे दो भेद हैं। कर्मोंका नाश कर जो अत्यन्त शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए हैं वे जीव मुक्त सिद्ध हैं।

संसारी जीव चार गतियों में भ्रमण करते हैं। नर, नारक, पशु तथा देव अवस्थाओं को धारण करते हैं। ये अवस्थायें अनादि काल से कर्म संबंध होने से उन्हें प्राप्त हुई हैं। इस कर्म संबन्ध से चारों गतियों में वे सुखदुःखों को भोगते हुए भ्रमण करते हैं। पशुगति के जीव एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं। नरक गति के जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं परन्तु अतिशय दुःखी होते हैं। पुण्य से देव गति में जीव

सुखी होते हैं। पाप पुण्य दोनों के उदय से मानवता प्राप्त होती है। संसारी जीव को जो छोटा बडा शरीर प्राप्त होगा उसके अनुसार वह अपने प्रदेश संकुचित या विस्तृत करके उसमें रहता है, शरीर नाम कर्म से उसको स्वभाव प्राप्त हुआ है। जब जीव को केवल ज्ञान प्राप्त होता है तब वह सर्व त्रैलोक्य को तथा त्रिकालवर्ती वस्तुओं को उनके गुणपर्यायों के साथ जानता है अतः जीव को ज्ञान की दृष्टी से लोकालोक व्यापक कहना योग्य है।

ज्ञान गुण है तथा जीव गुणी है। वह ज्ञान जीव से सर्वथा यदि भिन्न होता तो जीव गुणी तथा ज्ञान गुण है ऐसा जो गुणगुणि संबंध माना जाता है वह नष्ट हो जाता, अतः आत्मा से ज्ञान सर्वथा भिन्न नहीं है। जीव तथा उसका ज्ञान अन्योन्य से कालत्रय में भी नहीं होते। उनको अन्योन्य से भिन्न करना शक्य नहीं है।

जीव कर्ता है वह काललब्धि से संसार तथा मोक्ष को प्राप्त करता है। जीव भोक्ता है क्यों कि पाप और पुण्य का फल सुख दुःखों को भोगता है। तीव्र कषाय परिणत जीव पापी होता है। और कषायों को शान्त करनेवाला जीव पुण्यवान होता है। रत्नत्रय युक्त जीव उत्तमतार्थ है। वह रत्नत्रय रूप दिव्य नौका से संसार समुद्र में से उत्तीर्ण होता है।

लोकाकाश में जीव के समान पुद्गलादिक पांच पदार्थ हैं तो भी जीव की मुख्यता है। अन्य पदार्थ अचेतन होने से वे अपना स्वरूप नहीं जानते। जीव मात्र स्वपर पदार्थ का ज्ञाता है अतः वह लोक का विचार करके तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से ध्यानादिक से कर्मक्षय कर लोक के अग्रभाग में अशरीर सिद्ध परमात्मा होकर सदा विराजमान होता है। अतः इस लोकानुप्रेक्षा के चिन्तन की आवश्यकता है।

एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो।
सो खविय कम्मपुंजं तस्सेव सिहामणी होदि॥

ज्याचे कषाय शान्त झाले आहेत व त्यामुळे जो शुद्धबुद्ध रूपाने परिणत झाला आहे अर्थात लोक स्वभाव जाणून ज्ञानावरणादि कर्मांचा पुंज ज्याने नष्ट केला आहे तो त्रैलोक्याचा शिखामणि होतो. अर्थात लोक स्वभावाच्या ध्यानाने द्रव्यकर्म, भावकर्म आणि नोकर्म यांच्या समूहाचा नाश करितो व त्रैलोक्याच्या शिखरावर तनुवात वलयाच्या मध्ये चूडामणि प्रमाणे होतो. अर्थात सम्यक्त्वादि आठ गुणांनी युक्त सिद्ध परमेष्ठी होतो.

११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

इस जीवको बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति होना दुर्लभ, अतिशय कठिण है ऐसा चिन्तन करना-भावना करना उसे बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्मग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन आत्मगुण रत्नत्रय कहे जाते हैं। रत्न जैसा अमूल्य होता है वैसे ये सम्यग्दर्शनादिक अमूल्य कष्ट से प्राप्त होते हैं।

सम्यग्दर्शन जीवादिक सप्त तत्त्वोंपर श्रद्धा करना यह निःशंकित, निष्काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा आदिक आठ अंगोसहित प्राप्त होना दुर्लभ है। इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। और 'स्वात्म-

श्रद्धानरूपं निश्चयसम्यग्दर्शनम्' अपने आत्मा पर वह ज्ञान दर्शन सुखरूप शुद्ध बनने की पात्रता रखना है ऐसी श्रद्धा रखना उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

ज्ञानं द्वादशाङ्गपरिज्ञानं स्वात्मस्वरूपं वेदनं निश्चयज्ञानं च।

द्वादशांगोंका आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्गादि अंगों का ज्ञान होना तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना, आत्मस्वरूप को जानना उसे निश्चय ज्ञान कहते हैं।

'चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणं, सामायिकादि पंचभेदं पुनः स्वात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयचारित्रं च।'

असत्य, चोरी आदि पातकों से निवृत्त होना व्यवहार चारित्र है। तथा इसके सामायिक, छेदोपस्थापनादिक पांच भेद हैं। आत्मानुभव वन में लीन होना निश्चय चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होना क्यों दुर्लभ है इसका विचार किया जाता है—

जीवका निगोदादि अवस्थाओं में भ्रमण

जीव का निगोद में अनन्तकाल तक वास्तव्य हुआ है। निगोदी जीव की आयु श्वास के अठारह भाग होती है इतनी आयु समाप्त होने पर बार बार उसी अवस्था को जीव ने अनन्तानन्त अतीत काल में अनुभूत की है। अर्थात अनन्तानन्त निगोदावस्थाओं का इस जीव ने अनुभव किया है।

निगोदावस्था से निकल कर पृथ्वीकायादि पंच स्थावर कार्य की अवस्थायें इस जीव ने धारण की थी और उनमें भी इसने असंख्यात वर्षों का काल बिताया है। इस पंच स्थावर कायिक के बादर स्थावर कायिक तथा सूक्ष्म स्थावर कायिक जीव ऐसे दो भेद हैं, और इन अवस्था में भी इस जीव ने असंख्यात वर्षों का काल बिताया है। इस जीव को द्वीन्द्रियादि विकलत्रय अवस्था चिंतामणि रत्नके समान दुर्लभ हुई थी। इन विकल त्रयावस्थाओं में भी इस जीव ने अनेक पूर्व कोटि वर्षोंतक भ्रमण किया है।

तदनन्तर असंज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त हुई थी इस अवस्था में अपना और परका स्वरूप इसे मालूम होता नहीं। कदाचित संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था भी प्राप्त हुई तो यदि सिंहादि क्रूर पशुओं की प्राप्त हुई तो उसे अशुभकर्म बंध होने से मरणोत्तर दीर्घ काल तक नरक दुःख सहन करने पडते हैं।

जहां लोगों का हमेशा आना जाना होता है ऐसे स्थान पर अपना रत्न गिर जाने पर उसकी प्राप्ति होना नितरां दुर्लभ है वैसे मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है। उसकी प्राप्ति होने पर भी यदि मिथ्यात्व अवस्था में अनेक पाप कार्य उससे किये गये तो फिर नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करना पडता है।

आर्यखण्ड में तथा उच्च कुल में भी जन्म प्राप्त होकर मूकादि अवस्था प्राप्त होने से आत्महित नहीं हो सकता। निरोगता, दीर्घायुष्य, अव्यङ्गतादि प्राप्त होकर भी शीलव्रत पालन, साधुसंगति आदिक प्राप्त होना दुर्लभ है।

सुदैव से रत्नत्रय प्राप्त होनेपर भी कषाय की तीव्रता से वह रत्नत्रय नष्ट होकर पुनः उसकी प्राप्ति होना समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति समान दुर्लभ है।

संयम प्राप्ति से देवपद प्राप्त हुआ तो भी वहां सम्यक्त्व प्राप्ति ही होती है संयम, तप आदिक की प्राप्ति होती ही नहीं।

अतः मनुष्य जन्म प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। मनुष्य गती में रत्नत्रय पालन हो सकता है। वह मिलने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र का पालन कर आत्महित करना चाहिये। तभी मानव भव पाना सफल होता है। स्वामि कार्तिकेय इस विषय में ऐसा कहते हैं—

इय सव्वदुलहदुलहं दंसण णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र अर्थात रत्नत्रय अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा समझकर इनका अत्यंत आदरपूर्वक धारण करो।

१२. धर्मानुप्रेक्षा

निर्दोष सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने धर्म का स्वरूप कहा है। असर्वज्ञ से सर्व प्राणियों का हित करनेवाले सत्य धर्म का स्वरूप कहना शक्य नहीं है। इन्द्रिय ज्ञान स्थूल होता है उससे वस्तु का सत्य स्वरूप कहना शक्य नहीं है। जिनके क्षुधादि दोष नष्ट हुए हैं, राग द्वेषादिक नष्ट हुए हैं, ज्ञान को ढकनेवाले ज्ञानावरणादिक नष्ट हुए हैं। ऐसे जिनेश्वर अनन्त ज्ञान धनी सर्वज्ञ हुए अतः उन्होंने परिग्रहोंपर आसक्त हुए गृहस्थों को तथा निष्परिग्रही मुनिओं को अलग अलग धर्म कहा है। गृहस्थों के लिये उन्होंने बारह प्रकार का धर्म कहा है और मुनियों के लिये उन्होंने दश प्रकार का धर्म कहा है।

गृहस्थधर्म के बारा भेद इस प्रकार हैं

१. पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन—जीवादिक तत्व तथा जिनेश्वर, जिनशास्त्र और निष्परिग्रही जैन साधु इनके ऊपर श्रद्धा रखना यह गृहस्थ धर्म का प्रथम भेद है। तीन मूढता, आठ प्रकार का गर्व, छह आनायतन और शंका, कांक्षादिक आठ दोष इनसे रहित सम्यग्दर्शन धारण करना, यह अविरति सम्यग्दृष्टि का पहिला गृहस्थ धर्म है। इसके अनन्तर व्रति गृहस्थों के लिये धर्म के प्रकार उन्हों ने कहे है वे इस प्रकार—

२. मद्य, मांस, मधु का दोषरहितत्याग, पंच उदुंबर फलों का त्याग—जिनमें त्रसजीव उत्पन्न होते हैं ऐसे फल सेवन का त्याग, यह दुसरा भेद, जुगार आदि सप्त व्यसनों का त्याग, तथा कंदमूल पत्रशाक भक्षण त्याग इसका दुसरे गृहस्थ धर्म के भेद में अन्तर्भाव है।

३. पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ऐसे बारा व्रतों का पालन करना यह तीसरा भेद।

४. त्रिकाल सामायिक करना।

५. अष्टमी, चतुर्दशी चार पर्व तिथियों के दिन प्रोषधोपवास करना।

६. प्रासुक आहार लेना अर्थात सचित्‌जल, सचित्त फल, सचित्त धान्यादिकों का त्याग यह छट्ठा गृहस्थ धर्म है।

७. रात्रि भोजन त्याग तथा दिन में मैथुन सेवन त्याग यह सप्तम गृहस्थ धर्म है।

८. देवांगना, मनुष्य, स्त्री, पशुस्त्री तथा काष्टपाषाणादिक से निर्मित अचेतन स्त्री प्रतिमा इस प्रकार से चार प्रकार की स्त्रियों का मन वचन काय से नऊ प्रकार से त्याग करना अर्थात ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन करना यह आठवा धर्म हैं।

९. कृषिकर्म, व्यापार आदि गृहस्थयोग्य आरंभ को त्यागना यह नौवा गृहस्थ धर्म है।

१०. गृहस्थ योग्य ऐसे खेत, घर, धनधान्यादिक दश प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना यह दसवा गृहस्थ धर्म है।

११. गृहनिर्माण, विवाह करना, द्रव्योपार्जन करना आदि कार्यों में संमति प्रदान नहीं करना यह ग्यारहवा गृहीधर्म है।

१२. उद्दिष्टाहार का त्याग करना तथा उसके लिये कोई शयनासनादिक देगा तो उसका त्याग करना इस प्रकार संक्षेप से गृहस्थ धर्मों का वर्णन किया है।

इस प्रकार से गृहस्थ धर्म का आचरण करके इस धर्म के या तो शिखर ऐसे क्षुल्लक पद तथा आर्य पद जब गृहस्थ धारण करता है, तब वह मुनि के समान केशलोच करता है, पाणिपात्र में आहार लेता है, पिच्छि को धारण करता है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म का वर्णन स्वामि कार्तिकेय महाराज ने किया है।

मुनि के दस प्रकार है—अर्थात क्षमादि दशधर्म मुनिधर्म है।

१. उत्तम क्षमा—देव, मनुष्य और पशुओं ने घोरोपसर्ग करने पर भी मुनि अपने चित्त को क्रोध से कलुषित नहीं करते हैं। यह उनका उत्तम क्षमा धर्म है।

२. उत्तम मार्दव—जो ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं, जो उत्तम श्रुत ज्ञान के धारक हैं, जो उत्तम तपस्वी हैं तथा गर्व से दूर हैं ऐसे गर्वादिकों का जो विनय करते हैं उनका यह मार्दव धर्म प्रशंसनीय है।

३. उत्तम आर्जव धर्म—जो साधु मन में कपट धारण नहीं करते हैं, मुख से कपट भाषण नहीं बोलते हैं। अपने से उत्पन्न हुए दोष गुरू के आगे नहीं छिपाते हुए कहते हैं उनका उत्तम आर्जव धर्म है।

४. उत्तम शौचधर्म—जो साधु सन्तोष रूप जल से तीव्र लोभ रूपी मल को धो डालते हैं तथा भोजन में जिनको लम्पटता नहीं हैं वे साधु उत्तम शौच धर्म के धारक हैं।

५. उत्तम सत्य धर्म—जो साधु सदैव जिन वचन ही बोलते हैं, जैन सिद्धान्त प्रतिपादक वचन ही बोलते हैं, पूजा प्रभावना के लिये भी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे साधु सत्यवादी हैं। सत्य भाषण में सर्व गुणों का संचय रहता है।

६. उत्तम संयम धर्म—गमन करना, बैठना, कुछ वस्तु जमीन पर से लेना अथवा रखना आदि कार्य जीव रक्षण का हेतु रखकर ही मुनिजन करते हैं। तृण का पत्ता भी वे नहीं तोडते हैं। वे अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में रखते हैं। स्थावर तथा त्रस जीवों का रक्षण करते हैं।

७. उत्तम तपोधर्म—इहलोक में तथा परलोक में मुझे सुख मिले ऐसे हेतु के बिना वे तप करते हैं। रागद्वेषरहित होकर समता भाव से नाना प्रकार के तप करते हैं। माया, मिथ्यात्व, निदानवश तप नहीं करते हैं।

८. उत्तम त्याग—जो साधु रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरणों का त्याग करते हैं, मिष्ट भोजन का त्याग करते हैं, रागद्वेषवर्धक वसति का त्याग करते हैं, ऐसे साधु का यह त्याग आत्महित का हेतु होता है।

९. उत्तम आकिंचन्य धर्म—मानसन्मान की आशा छोडकर बाह्याभ्यन्तर चेतन अचेतन परिग्रहों का त्याग साधु करते हैं। यह साधु शरीरपर निःस्पृह होते हैं। निर्मम होने से उनकी कर्म निर्जरा अधिक होती है। शिष्योंपर भी निर्मम होने से आत्मानुभव का स्वाद उनको प्राप्त होता है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य—ये जैन साधु चार प्रकार के स्त्रियों के त्यागी होते हैं। उनके रूप का अवलोकन नहीं करते हैं। कामकथादिकों के वे त्यागी होते हैं। तरुण स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से उनका मन विद्ध नहीं होने से वे ही वास्तविक शूर हैं।

वे साधु पंचमहाव्रतो के पालक होते हैं, पुण्यप्राप्ति के लिये वे उत्तमक्षमादि धर्म धारण नहीं करते हैं। क्योंकि पुण्य भी संसारवर्धक है।

वे साधु बाह्याभ्यंतर तपश्चरणों से तत्पर रहते हैं। आर्त तथा रौद्र ध्यान छोडकर धर्म ध्यान में लीन रहते हैं।

सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ गुणों को पालते हुए वे सम्यक्त्व में अतिशय दृढ रहते हैं। यतियों के समता, स्तुतिवंदनादि षट्कर्म जो कि आवश्यक हैं उनका आचरण आलस्य रहित होकर करते हैं।

इस प्रकार स्वामि कार्तिकेयाचार्य ने 'धर्मानुप्रेक्षा में' गृहस्थ धर्म तथा मुनिधर्म का वर्णन किया। अंतिम दो गाथा में उन्होंने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह इस प्रकार है—

बारसअणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं मोक्खं ॥ ४८८ ॥
तिहुवणपहाणस्वामिं कुमारकाले वि तविय तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं ॥ ४८९ ॥

जिनागम के अनुसार मैंने बारा भावनाओंका वर्णन किया है इसको जो पढेगा, श्रवण करेगा तथा मनन करेगा उसको शाश्वत सुख–मुक्तिसुख मिलेगा ॥ ४९० ॥ जो त्रैलोक्य के स्वामी हैं, जिन्होंने कुमार काल में भी तपश्चरण किया ऐसे वासुपूज्य, मल्लीनाथ, नेमी–पार्श्व सन्मति–महावीर इन पांच तीर्थंकरों की मैं नित्य स्तुति करता हूं। ॥ ४९१ ॥ इस प्रकार अंतिम मंगल स्तुति कर ग्रंथ समाप्त किया है।

आचार्य श्रीमान् नेमिचन्द्र व बृहद्द्रव्यसंग्रह

पं. नरेंद्रकुमार जयवंतसा भिसीकर जैन (न्यायतीर्थ)

१. ग्रन्थ नाम निर्देश

यह '**बृहद्द्रव्यसंग्रह**' ग्रन्थ द्रव्यानुयोग का एक अनुपम ग्रन्थ है। आचार्यदेव ने प्रथम १ से २६ गाथा तक लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। बाद में विशेष वर्णन करने की इंच्छा से बृहद्द्रव्यसंग्रह रचा। इसकी मूल गाथाएँ ५८ हैं।

२. ग्रन्थकर्ता परिचय

इस ग्रन्थ के मूल गाथा कर्ता आचार्य भगवान् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं। इनका विशेष परिचय संस्कृत–भुजबलि चरित्र के अनुसार इस प्रकार है—

द्रविड देश में मधुरा (मदुरा) नामक नगरी थी। उसके राजा राजमल्ल, तथा मन्त्री 'चामुंडराय' थे। उनसे किसीने कहा कि उत्तर दिशा में एक पोदनपुर नगर है। वहां श्री भरतचक्रवर्ती द्वारा स्थापित कायोत्सर्ग श्री बाहुबली का प्रतिबिंब है। जो कि वर्तमान में 'गोम्मटदेव' इस नाम से प्रसिद्ध है।

श्री चामुंडराय ने जब तक श्री बाहुबली के प्रतिबिंब का दर्शन न होगा तब तक दूध नहीं पीऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर बाहुबली के दर्शनार्थ आचार्य नेमिचन्द्र के साथ श्री चामुंडराय ने प्रस्थान किया। बीच में किसी पर्वत पर जिनमंदिर का दर्शन कर वहां निवास किया। रात्रि में कूष्मांडी देव ने स्वप्न में आकर कहा कि इसी पर्वत में रावण द्वारा स्थापित श्री बाहुबली का प्रतिबिंब है। धनुष्य में सुवर्ण का बाण चढाकर पर्वत का भेदन करने पर प्रकट होगा।

श्री चामुंडराय ने उसी प्रकार किया और वहां से श्री बाहुबली का २० धनुष्य प्रमाण प्रतिबिंब प्रकट हुआ। उन्होंने भगवान् का अभिषेक कर भक्तिभाव से पूजन किया, अपने को धन्य समझा।

इस कथानक से आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती का जीवन काल शक सं. ६०० विक्रम संवत ७३५ इसवी सन ६७९ था यह सिद्ध होता है। इनके रचित अन्य ग्रन्थ गोम्मटसार आदि हैं।

श्री नेमिचन्द्र आचार्य नंदीसंघ देशीयगण के प्रमुख आचार्य थे। उनके गुरु अभयनंदी, वीरनंदी, इंद्रनंदी, कनकनंदी ये चार महान् आचार्य थे।

तत्कालीन राजा राजमल्ल, चामुंडराय, राजा भोज उनके शिष्य थे।

मालव देश के 'धारा' नामक नगरी में '**राजा भोज**' राज्य करता था। उसके राज्यमंडल में राजा **श्रीपाल** का भांडागार अधिकारी '**सोम**' नामक राजश्रेष्ठी रहता था। उसके नियोमवश श्री मुनिसुव्रत भगवान के जिन मंदिर में आचार्य नेमिचंद्र ने इस ग्रन्थ की रचना की।

३. ग्रन्थ विषय--परिचय

इस ग्रन्थ के प्रामुख्य से तीन अधिकार हैं।

१. प्रथम अधिकार में—(गाथा १ से २७ तक) जीव द्रव्य का ९ अधिकारों में संक्षिप्त वर्णन करके पुद्गल द्रव्यादि पांच अजीव द्रव्यों का, पांच अस्तिकायों का वर्णन है।

२. द्वितीय अधिकार में—(गाथा २८ ते ३८ तक) जीव–अजीव आदि ७ तत्त्व और ९ पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

३. तृतीय अधिकार में—(गाथा ३९ से ५८ तक) व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप बतलाकर मोक्षसिद्धि के लिये ध्यान की आवश्यकता बतलाकर ध्यान करनेवाला कौन हो सकता है, ध्यान किन मंत्रों से करना चाहिये, ध्यान किस का करना चाहिये, ध्यान सिद्धि का उपाय क्या है इसका विशद विवरण किया है। अन्त में अन्तिम निवेदन कर ग्रन्थ की समाप्ति की है।

४. ग्रंथ की कथनशैली

ग्रन्थकारने प्रत्येक विषय का वर्णन इस ग्रन्थ में अनेकांत पद्धति से उभय नयों द्वारा किया है।

व्यवहार नय से वर्तमान में जीव की कर्मोदय निमित्तवश क्या–क्या अवस्था होती है, जीव कितने प्रकार से व्यवहार में जाना जाता है उसका वर्णन किया है। इस व्यवहार नय का मुख्य अभिप्राय यह है कि यह व्यवहार नय से जो जीव का गुणस्थान–मार्गणास्थान–जीव समास रूप से कथन किया है वह वर्तमान में जीव की क्या–क्या अवस्था हो रही है इसका सामान्य जनों को ज्ञान होने के लिये व्यवहार भाषा से यह जीव का वर्णन किया है ऐसा अभिप्राय समझना। यह व्यवहार कथन जीव के स्वभाव का स्वरूप का कथन नहीं है, उसके बहिरंग बाह्यरूप का कथन है। उसके विना व्यवहारी जनों को जीव का बोध कराने का दूसरा उपाय नहीं है इसलिये व्यवहार नय से व्यवहारी जन भाषा से जीव का कथन किया गया है।

जिस प्रकार व्यवहार में व्यवहार चलन के लिये प्रयोजनवश 'घीका घडा' ऐसा शब्द प्रयोग करना पडता है और व्यवहारी जन समझ लेते हैं कि घडा घीका नहीं है। घडा तो मिट्टी का ही है। घडे में घी रखा है। इसलिये व्यवहार में उपचार से 'घी का घडा' बोला जाता है। बोलने में 'घी का घडा' ऐसा शब्द प्रयोग बोल कर भी उसका ठीक अभिप्राय सब बालगोपाल समझ लेते हैं।

उसी प्रकार आचार्यदेव ने जीव का बोध कराने के लिये गुणस्थान–मार्गणास्थान–जीवसमास भेद से यद्यपि जीव का कथन व्यवहारनय से किया है तो भीं वह केवल उपचार ही समझना। कथनमात्र उसका

प्रयोजन समझना। उनके शब्द प्रयोग से वह जीव का परमार्थ स्वरूप नहीं समझना। यह व्यवहारनय का निश्चयनयानुकूल एक ही अभिप्राय होने से दोनों नयों में परस्पर विरोध नहीं है।

दोनों नयों का अभिप्राय समझ कर दोनों नयों का यथार्थ अर्थ समझनाही दोनों नयों का सम्यग्ज्ञान है। वह अनेकांत प्रमाण जैनशासन है।

दोनों नयों को एक कोटि में रखकर दोनों नयों को परमार्थ समझना, व्यवहारनय से जो कहा उसको भी जीव का परमार्थ स्वरूप समझना, और निश्चयनय से जो कहा वह भी वस्तु का परमार्थ स्वरूप है, इस प्रकार दोनों नयों को परमार्थ समझना यह सम्यक् अनेकांत नहीं है। वह अनेकांताभास है।

वस्तु का परमार्थ स्वरूप एकही होता है। यद्यपि वस्तु के अंग दो होते हैं। (१) अंतरंग, (२) बहिरंग तथापि दोनों वस्तु के परमार्थ स्वरूप नहीं है। जो वस्तु का अंतरंग स्वरूप होता है वही वस्तु का ध्रुव स्वरूप होने से परमार्थ है।

जो वस्तु का बहिरंग रूप होता है वह वस्तु ने तावत्काल धारण किया हुआ उसका रूप है, उसका ध्रुव स्वरूप नहीं है। वह उसका विभावरूप है। उस विभावरूप से जीव का कथन किया इसलिये उस विभाव को वस्तु का परमार्थ स्वरूप नहीं समझना। कहने और समझने में अंतर है।

घडे को घी का कहने में विरोध नहीं है। लेकिन जैसा कहा वैसा यदि उसको घी का ही समझे तो उसको घी का घडा कहां भी मिलना असंभव है।

'व्यवहारः वक्तव्यः न तु परमार्थेन अनुसर्तव्यः।'

व्यवहार यह केवल वक्तव्यमात्र है, वह स्वयं परमार्थ नहीं है। लेकिन परमार्थ का सूचक होने से वक्तव्यमात्र है। व्यवहार आश्रय करने के लिये योग्य नहीं है। केवल निश्चयनय ही आश्रय करने योग्य है। क्योंकि निश्चयनय परमार्थ भूतार्थ है। वस्तु का जो मूल परमार्थ ध्रुव स्वरूप है उसको निश्चयनय बतलाता है।

यद्यपि दोनों नय वस्तु का स्वरूप और विरूप समझने में साधक है। समझने के बाद वस्तुस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव करते समय दोनों नयों का पक्षपात छूट जाता है तथापि जिस प्रकार व्यवहारनय के विषय की—उपाधि की—विकार की वस्तु स्वरूप में नास्ति है उस प्रकार निश्चयनय के विषय की नास्ति नहीं है। केवल निश्चयनय का पक्षपात छूटता है। तथापि निश्चयनय के विषय का अवलंबन नहीं छूटता। क्योंकि निश्चयनय का अवलंबन विषय ध्रुवस्वभाव है। उसके अवलंबन विना निर्विकल्प अनुभूति नहीं होती है।

सारांश निश्चय और व्यवहार का यथार्थ अभिप्राय जानना ही सम्यक्ज्ञान है। निश्चयनय का जो कथन है वही वस्तु का परमार्थ ध्रुव स्वरूप है उसका अवलंबन उपादेय है। तथा व्यवहारनय का जो कथन है वह वस्तु का बहिरंग पर्याय का कथन है वह परमार्थस्वरूप नहीं है ऐसा जो समीचीन ज्ञान यही दोनों नयों का सम्यक्ज्ञान है।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। सामान्य-विशेष–उभयधर्मात्मक है। १ सामान्य अंश, २ विशेष अंश।

१. सामान्य अंश—वस्तु का अन्तरंग परमार्थस्वरूप होता है। वह अपरिणमनशील, ध्रुव, एक-रूप, नित्य शुद्ध होता है। इसीको स्वभावगुण–लक्षण कहते हैं। सामान्य अंश यह पारिणामिकभाव रूप होता है। उसका अवलंबन लेकर ही पर्याय में वस्तु का परिणमन स्वभाव–निर्मल परिणमन सुरू होता है। यही सब अध्यात्म ग्रन्थों का सार संक्षेप है।

निश्चयनय का विषय यह ध्रुव सामान्य अंश है। यद्यपि सामान्य यह एक वस्तु का अंश है तथापि वह विशेष की तरह अंशरूप नहीं है। अंशज्ञानरूप नहीं है। अंशी के वस्तु के पूर्ण ज्ञानरूप है। व्यापक है। यह सामान्य अंश नित्य विद्यमान रहता है। शुद्ध होता है। उस शुद्ध का आश्रय लेने से शुद्ध पर्याय प्रकट होती है।

२. विशेष अंश—वस्तु का तावत्काल धारण किया हुआ बाह्य रूप है। क्षणिक है, परिणमन-शील है। अनेक रूप होता है। उसके दो भेद हैं १ स्वभावविशेष, २ विभावविशेष।

१ वस्तु का जो परिणमन वस्तु के ध्रुव सामान्य स्वभाव के आश्रय से होता है वह स्वभाव परिणमन शुद्ध परिणमन है।

२ जो परिणमन ध्रुवसामान्य का भान न होने से अनादि परम्परागत बाह्य विकार का अवलंबन लेने से प्रगट होता है वह विभाव–अशुद्ध परिणमन है।

इस अशुद्धपरिणमन में केवल विकार ही नहीं है। क्योंकि विकार तो अवस्तु है। उसका मूल वस्तु नहीं है। अनादि विकार ही उसका मूल है। विकार से ही विकार आता है। विकार का आश्रय लेने से विकार आता है। तथापि उस विकार के साथ वस्तु का ध्रुवसामान्य अंश विद्यमान रहता है इसलिए उसको अशुद्ध कहते हैं। मिश्रण में दो अंश होते हैं। अन्तरंग में ध्रुव सामान्य अंश और बहिरंग पर्याय में अशुद्ध विकार अंश रहता है। इसलिए अशुद्ध परिणमन रहते हुए भी जीव अपने में नित्य ध्रुव विद्यमान रहने वाले शुद्ध सामान्य अंश का योग्य काललब्धिवश अपने नियत पुरुषार्थबल से भाव करे, अनुभव लेवे तो उसका अशुद्ध परिणमन बंद होकर, मिटकर, सर्वथा नष्ट होकर, शुद्ध परिणमन शुरू होता है।

रागादि विकाररूप अशुद्धता वास्तव में जीव के अज्ञान का, मिथ्या कल्पना का कल्पनाजाल है। भ्रम है। अवस्तु है। वस्तुभूत नहीं है। वह विकार मूलवस्तुस्वभाव में नहीं और वस्तु के निर्मल परिणमन में भी उसका सर्वथा अभाव है। सर्वथा नास्ति है। केवल अंतराल में वह अपना क्षणिक संयोगीरूप बतला कर जीव को भ्रम में डालता है।

जीव उसको वस्तु न होकर भी अज्ञान से वस्तु समझता है। उसके पीछे लगता है। उसमें अपना सारा जीवन बरबाद करता है तो भी उसको होश नहीं हैं। वह मूर्छित होकर उसीमें मस्त होकर नींद लेता है।

उसको आचार्य देव जागृत कर समझाते हैं, हे आत्मन्, जिसमें तू रम रहा है वह तेरा स्थान नहीं है। वह वस्तु नहीं है। वह अवस्तु है। चित्रपट पर दीखनेवाले चित्र के समान भ्रम रूप है। तेरा पद तो तेरे अंतरंग वस्तु में है। वह ध्रुव शाश्वत है। उसका अवलंबन लेनेपर तुझे शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी।

यही सब शास्त्रकारों का सारसंक्षेप है वे यद्यपि भिन्न भिन्न नयभाषा में शास्त्र में वर्णन करते हैं तथापि सब शास्त्रकारों का अभिप्राय एक ही है।

विकार यह विकार ही है। विकार जीव का स्वरूप नहीं है। विकार का जीव से तादात्म्य नहीं है। विकार को भिन्न, परवस्तु समझ कर अपनी ध्रुव वस्तु जो ज्ञानस्वभाव उसका आश्रय लेना ही मोक्षमार्ग है। वही जीव का सच्चा धर्म है।

जहां व्यवहारशास्त्र में विकार जीव का ही है ऐसा कहा है वहां आचार्य का अभिप्राय जीव का स्वभाव कहने का नहीं है। अज्ञानी विकार को पर का अपराध मानकर, मेरा अपराध नहीं है ऐसा मानकर यथेच्छ विकार में रममाण होता है उसके लिये व्यवहारी जन को व्यवहारी भाषा में समझाने के लिये व्यवहार नय से विकार को आत्मा का कहा है।

लेकिन वहां भी वह आत्मा का अपराध ही कहा है। उसको स्वभाव या परमार्थ वस्तु नहीं कहा है। विकार परके, कर्म के उदय के कारण नहीं आता है। यह जीव अज्ञान से स्वयं अपने अपराध से राग से तन्मय होता है, उस समय कर्म का उदय अवश्य रहता है लेकिन अपने रागपरिणमन का कार्यकारण भाव कर्म के उदय के साथ लगाना यह उपचार-व्यवहारनय कथन है। वास्तव में कर्मोदय के साथ उसका कार्यकारण भाव नहीं है। उसका कारण जीव का स्वयं अपराध है। इस अभिप्राय से व्यवहारशास्त्र में रागविकार जीव का ही है ऐसा व्यवहारनय से कहा है।

इस प्रकार वस्तु में प्रामुख्यता से २ अंश और उसके भेदरूप से ३ अंश विवक्षित होते हैं। इसलिये उनको कथन करनेवाले नय भी प्रामुख्यता से ३ ही हैं। १ सामान्य अंश, २ स्वभाव विशेष अंश, ३ विभाव विशेषांश।

१. सामान्य अंश—को कथन करना **निश्चयनय** का विषय है। जीव इस संसार अवस्था में भी विद्यमान अपने ध्रुव, नित्यशुद्ध सामान्य अंश का पारिणामिक भाव का आश्रय लेकर पर्याय में शुद्ध परिणमन कर सकता है। यह निश्चयनय का अभिप्राय है। जीव का केवल ज्ञान स्वभाव त्रिकालवर्ती ध्रुव है।

२. स्वभाव पर्यायविशेष— सामान्य अंश के आश्रय से जो निर्मल परिणमन होता है वह स्वभावपर्याय विशेष है। वह सद्भूत **व्यवहारनय** का विषय है।

पर्याय का कथन होने से व्यवहार है। वह पर्याय शुद्धपर्याय है, उसका द्रव्य के साथ तादात्म्य है, उसकी द्रव्य में अस्ति है इसलिये उसको सद्भूत कहते हैं। जैसे जीव का केवल ज्ञानस्वभाव पर्याय ध्रुव केवल ज्ञानस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। क्षायिकभाव स्वभाव पर्याय विशेष है।

३. विभाव पर्यायविशेष— ध्रुवस्वभाव का भान न होने से अनादि परम्परागत विकारभाव का आश्रय लेकर जो स्वभाव–विरुद्ध विकाररूप परिणमन होता है उसको विभावविशेष कहते हैं। वह जीव का अपराध होने से उसको जीव का कहना यह **असद्भूतव्यवहारनय का** विषय है।

पर्याय का आश्रय होने से व्यवहार और वह विकार वस्तुभूत नहीं है, वस्तु का परमार्थस्वरूप नहीं है। असद्भूत अभूतार्थ है। मोक्षमार्ग के लिए वह प्रयोजनभूत नहीं है। बिना माबाप का यह व्यभिचारी-भाव है, स्वाभाविकभाव नहीं है इसलिए असद्भूत है।

जैसे औदयिकभाव, रागादिविकारभाव जीव के स्वभाव न होकर विभाव होने से उनको जीव के कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है।

सब शास्त्रों में जो कथन आता है वह सब इन तीन नयों में अन्तर्भूत है। अन्य जो भी नयभेद कहे गए हैं वे सब इन्हींके भेद–प्रभेद हैं।

५. प्रथम अध्याय संक्षिप्त वर्णन

इस बृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा वस्तु का वर्णन करते समय प्रामुख्य से तीन नयों की विवक्षा अभिप्रेत की गई है।

१. वस्तु का जो स्वभावकथन वह **निश्चयनय से** किया है।

२. वस्तु का जो अशुद्धभाव वह द्रव्य का अशुद्ध परिणमन होने से उसको **अशुद्ध निश्चयनय** कहा है।

३. वस्तु के अन्यद्रव्याश्रय से जो उपचार कथन है उसको **व्यवहारनय** अथवा उपचारनय कहा है।

(१) जीव का वर्णन करते समय ९ अधिकारों में जीव का वर्णन करते समय व्यवहारनय से जो बाह्य दश प्राणों को धारण करता है वह जीव है। निश्चयनय से जो सहज सिद्ध शुद्ध चेतन प्राण को धारण करता है वह जीव है।

(२) व्यवहारनय से ८ प्रकार ज्ञानोपयोग ४ प्रकार दर्शनोपयोग जीव का सामान्य लक्षण है। निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान–दर्शन उपयोग जीव का लक्षण है।

(३) निश्चयनय से वर्णादिक से रहित होने से जीव अमूर्त है। व्यवहारनय से कर्म के साथ बद्ध होने से जीव मूर्तिक है।

४. व्यवहारनय से जीव ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव-कर्मों का कर्ता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान भाव का कर्ता है।

५. व्यवहारनय से पुद्गल कर्मोदयका फल सुखदुःख का भोक्ता है। निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य भाव का भोक्ता है।

६. व्यवहारनय से जीव अपने अपने शरीर प्रमाण छोटा बडा है। निश्चयनय से सब जीव असंख्यात प्रदेशी समान है।

७. व्यवहारनय से जीव संसारी है, १४ मार्गणा, १४ गुण स्थान १४ जीव समास इनसे युक्त है। शुद्धनय से निश्चयनय से सर्व जीवमात्र शुद्ध ही है।

८. निश्चयनय से सब बंधों से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव है। व्यवहारनय से संसारी जीव विग्रह गति में विदिशा को छोडकर चारों दिशाओं के ओर और नीचे ऊपर श्रेणी के अनुरूप गमन करता है।

९. निश्चयनय से मुक्त जीव शुद्ध चैतन्य मात्र है। स्वतःसिद्ध सिद्ध है, व्यवहारनय से कर्मों से मुक्त है, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित है, चरम देह से किंचित् न्यून आकार है। लोकाग्रस्थित है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है।

पांच अजीव द्रव्य वर्णन

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ५ अजीव द्रव्य है। इनमें से पुद्गलद्रव्य मूर्त है। शेष द्रव्य अमूर्त है। शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत, आतप ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। गतिमान् जीव पुद्गलों को गमन करने में सर्व साधारण बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य है।

स्थितिमान् जीव पुद्गलों को स्थिर होने में सर्वसाधारण बाह्य निमित्त अधर्म द्रव्य है।

सब द्रव्यों को अवगाह देने में बाह्य निमित्त आकाश द्रव्य है। सब द्रव्यों को अपने अपने पर्याय रूप से परिणमन करने में बाह्य निमित्त काल द्रव्य है।

धर्मादिक द्रव्य जितने आकाश के भाग में रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके आगे चारों ओर अनंत अलोकाकाश है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु इस प्रकार असंख्यात कालाणु द्रव्य है। धर्म-अधर्म-आकाश एक एक अखंड द्रव्य है। जीव अनंतानंत है। पुद्गल परमाणु इनसे भी अनन्त पट है।

काल को छोडकर पांच द्रव्यों को अस्तिकाय–बहुप्रदेशी द्रव्य कहते हैं। काल एकप्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

धर्म–अधर्म प्रत्येक जीव इनके प्रत्येक के लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। पुद्गल परमाणु वास्तव में निश्चयनय से एकप्रदेशी हैं। परंतु जितने परमाणु का स्कंध होता है वह संख्यात–असंख्यात अनंतप्रदेशी उपचार से कहा जाता है। इसलिये बहुप्रदेशी है।

६. द्वितीय अधिकार संक्षिप्त वर्णन

इस अधिकार में जीव–अजीवादि ७ तत्त्वों का तथा पुण्य–पाप मिलाकर ९ पदार्थों का वर्णन किया है। वास्तव में तत्त्व ७ जीव और अजीव द्रव्य के संयोगविशेष से उत्पन्न होनेवाले संयोगी रूप है। इसलिये इनका

वर्णन द्रव्य भाव रूपसे किया गया है। जो जीव द्रव्य का विभाव परिणमन है उसको भावतत्त्व रूपसे संबोधित किया है। जो कर्म का परिणमन है वह द्रव्यतत्त्व रूपसे संबोधित किया है।

जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावनय से निर्मल है तथापि जपापुष्पादि के उपाधि से लाल-नील आदि रंगरूप से परिणत दिखता है।

उसी प्रकार जीव यद्यपि निश्चयनय से द्रव्यरूप से सहजशुद्ध चिदानंद एकस्वभाव है तथापि अनादि कर्मबंध पर्यायनय से भावरूप से रागादि विकाररूप परिणमता है। यद्यपि भावरूप से पर्याय से रागादि पर पर्यायरूप परिणमता है तथापि द्रव्यरूप से अपना शुद्ध स्वरूप छोडता नहीं-उस रागादि से तादात्म्य होता नहीं। वे रागादिभाव द्रव्य के स्वभाव में प्रवेश करते नहीं। विकाररूप परिणमने पर भी जीव अपना ध्रुव स्वभाव कायम रखता है। नित्य विद्यमान उस शुद्ध ध्रुव स्वभाव के अवलंबन से वह अशुद्ध परिणमन को नष्ट कर शुद्ध परिणमन में तादात्म्य हो सकता है।

यहां पर रागादि उपाधि को ही प्रामुख्यता से भाव अजीवतत्व कहा है। उस उपाधि का कारण रागादिकभाव ही है उनको आस्रव और बन्धतत्त्व कहा है। इसलिए अजीव-आस्रव बन्ध तत्त्व उपाधिरूप होने से, संसार दुःख का कारण होने से हेय है।

शुद्ध चैतन्यभाव को जीव कहा है। उसके आश्रय से संवर-निर्जरा-मोक्ष साधकतत्त्व है। उनको उपादेय कहा है।

इन सात तत्त्वों का हेय-उपादेयरूप से जो समीचीन श्रद्धान उसको सम्यग्दर्शन कहा है।

अथवा ये ७ तत्त्व एकही जीव के ७ बाह्य स्वभाव-विभावरूप है।

उनको ७ रूप मानना यह अतत्त्वश्रद्धान है।

उन सात तत्त्वों में ध्रुवस्वभावरूप से रहनेवाला जो पारिणामिक भावरूप कारणपरमात्मतत्त्व-शुद्धजीव-तत्त्व उसीको एकरूप समझना यह ७ तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान है।

१. **भावास्रव**—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते हैं उनको भावास्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन परिणामों से नवीन कर्मों का आस्रव होता है।

२. **द्रव्यास्रव**—भावास्रव के निमित्त से कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

१. **भावबंध**—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म बंधते हैं वह भावबंध है।

२. **द्रव्यबंध**—भावबंध के निमित्त से जो आत्मप्रदेश और कर्मपरमाणु इनका परस्पर बंध होता है वह द्रव्यबंध है।

१. **भावसंवर**—आत्मा के जिन परिणामों से नवीन कर्म का आस्रव रुकता है। सम्यग्दर्शन सहित व्रत, समिति, गुप्ति, धर्मअनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र इन परिणामों से नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है। उन परिणामों को भावसंवर कहते हैं।

२. **द्रव्यसंवर**—भावसंवर के निमित्त से नवीन कर्मों का आस्रव बंद होना वह द्रव्यसंवर है।

१. **भावनिर्जरा**—आत्मा के जिन परिणामों से पूर्वबद्ध कर्म फल न देते हुए निकल जाते हैं उन परिणामों को भावनिर्जरा कहते हैं।

२. **द्रव्यनिर्जरा**—भावनिर्जरा के निमित्त से जो पूर्वबद्ध कर्मफल न देते हुए झरना वह द्रव्यनिर्जरा है।

१. **भावमोक्ष**—आत्मा के जिन परिणामों के आश्रय से सब कर्मों का क्षय होता है उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं।

२. **द्रव्यमोक्ष**—भावमोक्ष के निमित्त से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना द्रव्यमोक्ष है।

सात तत्त्वों में पुण्य-पाप का आस्रव-बंधतत्त्व में अंतर्भाव किया है। उनका विशेष वर्णन करने के लिये उनको अलग वर्णन करके ९ पदार्थ कहे गये हैं।

१. भाव पुण्य–भाव पाप–जीव के जो शुभ अशुभ भाव उनको भावपुण्य भाव पाप कहते है।

२. द्रव्य पुण्य पाप—भाव पुण्य पापके निमित्त से जो पुण्य पाप रूप द्रव्य कर्म आते हैं वह द्रव्य पुण्य-पाप तत्त्व है।

१. द्रव्य पुण्य प्रकृति साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, पुण्य प्रकृति है।

२. द्रव्य पाप प्रकृति—असाता वेदनीय, अशुभायु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा ४ घातिकर्मों की प्रकृति ये सब पाप प्रकृति है।

इस अधिकार में संस्कृत टीका में संसार भावना में पंच परावर्तन का स्वरूप तथा लोकानुप्रेक्षा में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का विशेष वर्णन संग्रहरूप से किया है। विषय कषाय प्रवृत्तिरूप अशुभोपयोग भाव से पापकर्मों का आस्रव होता है इसलिये उनको तो सर्वथा हेय कहा है। देव-शास्त्र-गुरु भक्तिरूप शुभ उपयोग भाव, यद्यपि अशुभ भोग से बचने के निमित्त तावत्काल अवलंबन करने योग्य कहे हैं तथापि ज्ञानी वह शुभ उपयोग पुण्य बंधका ही कारण मानता है। मोक्ष का कारण नहीं मानता है। मोक्ष का कारण शुद्ध उपयोग को ही मान कर उसीको आत्म स्वभाव मानता है। भावना शुद्धोपयोग की ही करता है। उसीको उपादेय मानता है। उसमें स्थिर होने में असमर्थ होने से तावत्काल उसको शुभ भाव आता है। लेकिन् उस शुभ भाव से पुण्यफल की प्राप्ति हो ऐसा निदान नहीं करता है। शुभ भाव से प्राप्त जो पुण्यफल उसमें आसक्त नहीं होता। भेद ज्ञान बल के सामर्थ्य से वह योग्य काललब्धि आने पर संपूर्ण शुभ अशुभ योग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग के बल से मोक्ष को प्राप्त करता है।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तीव्र निदान बांधने से पुण्यफल को भोगकर रावणादिक की तरह नरक में जाते हैं।

७. तृतीय अधिकार का संक्षिप्त वर्णन

इस अधिकार में तीर्थप्रवृत्ति निमित्त के प्रयोजन से अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग प्रवृत्तिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन कर, निश्चय से संपूर्ण क्रिया निवृत्तिरूप निश्चय रत्नत्रय यही मोक्ष का साक्षात

मार्ग है ऐसा बतलाया है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र यह आत्मा का स्वभाव है। इनसे युक्त आत्मा ही साक्षात् मोक्षमार्ग है और आत्मा ही साक्षात् मोक्षस्वरूप है। जो सिद्ध अवस्था में अनंतज्ञानादि गुणस्वरूप से आत्मा प्रगट होता है उतना ही स्वत: सिद्ध मूल आत्मतत्त्व है। शेष जो उपाधि आगन्तुक थी वह सर्वथा नष्ट हो गई। जो मूल ध्रुव आत्मतत्त्व था वही शेष रह गया इसलिये आत्मा ही साक्षात् सिद्ध है। आत्मा के आश्रय से ही मोक्ष होता है। इसलिये मोक्षमार्ग भी आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शन सहित व्रत–चारित्ररूप जो भी शुभ प्रवृत्ति मार्ग है वह सब आत्मसिद्धि के अभिप्राय से निश्चय मोक्षमार्ग की बडी भावना से युक्त होने से व्यवहार मार्ग को भी परंपरा से मोक्षमार्ग कहा है।

वास्तव में व्रत–चारित्ररूप शुभ प्रवृत्ति साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो पुण्यबंध का ही कारण है परंतु उसमें पुण्यफल की स्वर्गसुख की इच्छा न होने से वह पुण्यक्रिया निदानपूर्वक न होने से अंत में उस शुभक्रिया प्रवृत्ति से भी निवृत्त होकर आत्मा में अविचल स्थिरवृत्ति होता है। उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति संपूर्ण क्रिया निवृत्ति से ही निश्चय मोक्षमार्ग से ही होती है, शुभ प्रवृत्ति-रूप व्यवहार मार्ग से नहीं इसको सम्यक् अनेकांत कहते हैं। दोनों से मोक्षप्राप्ति मानना व्यभिचारी मिथ्या अनेकांत है। अनेकांताभास है।

संपूर्ण क्रिया से निवृत्त होकर आत्मा में स्थिरवृत्ति रखना यही निश्चय सम्यक्चारित्र है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। वही साक्षात् मोक्ष है। अभेद नय से मोक्ष मार्ग और मोक्ष, कारण और कार्य एक अभेद आत्मा ही है।

विवक्षावश प्रयोजन से उसका कथन व्यवहार नय से दो प्रकार से या तीन प्रकार से विविध रूप से किया जाता है। तथापि निश्चय से मार्ग एक ही होता है।

मोक्षमार्ग की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन कही है। गुणस्थान ४ से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का प्रारंभ शुरू होता है।

गुणस्थान ४ में यद्यपि शुभ प्रवृत्ति या अशुभ निवृत्ति रूप व्रत–चारित्र उपयोग रूप से न होने से उसको अविरत कहा है तथापि संपूर्ण क्रिया निवृत्ति रूप शुद्धोपयोग की भावना निरन्तर जागृत रहती है इसलिये वहां भी भावना रूप लब्धिरूप स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन का अविनाभावि होने से अवश्य रहता है इसलिये मोक्षमार्ग का वास्तविक प्रारंभ गुणस्थान ४ से ही होता है। तथापि उपयोगरूप स्वरूपा-चरण चारित्ररूप शुद्धोपयोग मुख्यता से साक्षात् श्रेणी चढने को उन्मुख सातिशय अप्रमत्त से निश्चय मोक्षमार्ग कहा जाता है। केवल नय विवक्षा भेद है। वह विवाद पक्ष का विषय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का वर्णन करते समय बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का चरित्र वर्णन किया है वह प्राथमिक अवस्था में खास पठन करना आवश्यक है।

(दृष्टान्तेन स्थिरा मतिः) दृष्टान्त, चरित्र पठन–पाठन करने से धर्म में बुद्धि स्थिर–दृढ होती है। सम्यग्दर्शन होने पर ही जो दुरभिनिवेश पूर्वक ज्ञान और चारित्र मिथ्या या वही दुरभिनिवेश रहित होने से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहा जाता है। ज्ञान–दर्शन–चारित्र इन तीनों की एकता–अविनाभाव युगपत् रहता है। वे तीनों यदि मिथ्या दर्शन से सहित हो तो तीनों मिथ्या हैं और यदि सम्यग्दर्शन से सहित हो तो तीनों सम्यक् हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव ने भी अष्टपाहुड में चारित्र के दो भेद किये हैं। १ सम्यक्त्वचरण, २ चारित्रचरण।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी शुद्धोपयोग के दो भेद किये हैं। १ भावनारूप, २ उपयोगरूप।

१. भावनारूप शुद्धोपयोग ही सम्यक्त्वचरण चारित्र या लब्धिरूप स्वरूपाचरण चारित्र सम्यक्त्व का अविनाभावि होने से गुणस्थान ४ से शुरू होता है इसलिये निश्चय मोक्ष मार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही होता है।

उपयोगरूप शुद्धोपयोगरूप निश्चय चारित्र का प्रारंभ गुणस्थान ७ से होकर पूर्णता गुणस्थान १४ के अंत समय में होती है। गुणस्थान १४ के अंत समय की रत्नत्रय की पूर्णता व्यवहार से कारण मोक्षमार्ग कहलाती है और उत्तर समय की सिद्ध अवस्था मोक्षकार्य कहलाती है। पूर्वपर्याय उपादान और उत्तर पर्याय उपादेय होने से पूर्वोत्तर समय में कार्य–कारणभाव भेददृष्टि से व्यवहारनय से कहा जाता है। वास्तव में अभेद दृष्टि से निश्चय से कार्य–कारण एक ही समय में होते हैं।

न्यायशास्त्र में ' कार्योत्पादः क्षयो हेतोः '

कारण का क्षय ही कार्य का उत्पाद है। कारण का क्षय ही कार्य का कारण है वही कार्य है। कार्य–कारण अभेद होने से एक समय में ही होते हैं।

ज्ञान के दृढ निर्णय को ही श्रद्धा या सम्यग्दर्शन कहते हैं। ज्ञान की ज्ञान में वृत्ति, आत्मा का आत्मा में रमण ही चारित्र है। इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा ही मोक्षमार्ग है और आत्मा ही साक्षात् मोक्ष है।

रत्नत्रय धर्म की सिद्धि या आत्मा की सिद्धि ध्यान से होती है। ध्यान की सिद्धि के लिये ध्याता कैसा होना चाहिये, ध्यान किस प्रकार से करना चाहिये, और ध्यान किसका करना चाहिये इसका विवरण इस ग्रंथ में किया है। ध्यान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये ध्यान का अभ्यास करने की प्रेरणा की है।

१. ध्याता का लक्षण—ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त की स्थिरता आवश्यक है। चित्त की स्थिरता के लिए चित्त की अस्थिरता का कारण जो राग, द्वेष, मोह उसका त्याग आवश्यक है। वही ध्याता ध्यान की सिद्धि कर सकता है।

२. ध्यान के प्रकार—ध्यान के ४ प्रकार हैं।

१ आर्तध्यान, २ रौद्रध्यान, ३ धर्मध्यान, ४ शुक्लध्यान।

उनमें से पहले दो ध्यान संसार बन्धन का कारण होने से हेय हैं। धर्मध्यान–शुक्लध्यान मोक्ष का कारण होने से उपादेय हैं।

ध्यान का प्रबन्धक राग–द्वेष–मोह है।

प्रश्न—राग–द्वेष–मोह किसका कार्य है। क्या जीव का कार्य है? या कर्म का कार्य हैं?

उत्तर—राग, द्वेष, मोह न केवल जीव वस्तु का कार्य है, तथा न केवल कर्मरूप पुद्गल वस्तु का कार्य है। किंतु दोनों के संयोग का यह कार्य है।

१. एकदेश शुद्ध निश्चयनय से राग पर भाव है, अनात्मभाव है। कर्म के आश्रय से होता है। इसलिए उसको कर्मजनित कहा जाता है।

२. अशुद्ध निश्चयनय से वह आत्मा का ही अपराध है इसलिए वह आत्मजनित कहा जाता है।

३. शुद्ध निश्चयनय से राग न आत्मा का कार्य है, न कर्म का भी कार्य है। वह स्वयं मूल वस्तु से उत्पन्न न होने से अवस्तुभूत हे और अवस्तुभूत राग का ही वह कार्य होने से अवस्तुभूत है। तथापि रागी जीव उसको वस्तुभूत मानकर उनसे मोहित होता है। राग–द्वेष–मोह से दुर्ध्यान, आर्तरौद्रध्यान होते हैं अतएव वह हेय है।

राग, द्वेष, मोह का अभावरूप धर्म–शुक्लध्यान उपादेय है।

३. ध्यान के मंत्र—पंच परमेष्ठीवाचक–णमोकार मंत्र, या बीजाक्षरी ॐ कार रूप ह्रींकार रूप एकाक्षरी मंत्र से लेकर अनेक प्रकार के मंत्रों का शास्त्र में विधान किया है। उन मंत्रों से ध्यान करना चाहिए।

४. ध्यान किसका करना—निश्चयनय से ध्यान करने योग्य आत्मा ही है। आत्मा के ध्यान से ही आत्मसिद्धि होती है। तथापि आत्मा के प्रतिबिंब अरिहंत सिद्ध परमात्मा है। तथा आत्मा के साधक आचार्य–उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं। इसलिये प्राथमिक अवस्था में पंचमपरमेष्ठी के ध्यान का ही उपदेश दिया गया है। ध्यान का अंतिम साध्य आत्मसिद्धि है इसलिये आत्मगुणों का ध्यान, आत्मस्वभाव की चर्चा, आत्मा के ४७ शक्ति तत्त्वों का अभ्यास–पठन–पाठन–मनन, चिंतवन, अनुभवन ये सब ध्यान करने के विषय हैं।

५. ध्यान का फल—ध्यान के सिद्धि के लिये शरीर की चेष्टा (क्रिया व्यवहार) करना बंद करो, बचन की क्रिया अन्तर्जल्प–बहिर्जल्प बंद करो, मन की चेष्टा बंद करो, सब संकल्प विकल्पों का त्याग करो। जिससे आत्मा आत्मा में स्थिर वृत्ति धारण करे। आत्मा का आत्मा में रमण होना ही सच्चा ध्यान है और वही ध्यान का फल है।

सम्यग्दर्शन सहित व्रत, तप करनेवाला, निरंतर श्रुताभ्यास करनेवाला आत्मा ही ध्यानरथ पर आरूढ हो सकता है इसलिये ध्यान की सिद्धि के लिये व्रतों को धारण करो, तप का पालन करो, शास्त्र का स्वाध्याय करो ।

इस प्रकार अंतिम निवेदन कर अपना अल्पश्रुताभ्यास की लघुता बतला कर यदि इस ग्रंथ में प्रमाद-वश कुछ दोष रहे हो तो श्रुतपूर्ण ज्ञानी जन उनको दूर करके उनका संशोधन करे ।

ऐसी प्रार्थना कर ग्रंथ समाप्त किया है ।

आर्हत्-धर्म एवं श्रमण-संस्कृति

मुनि विद्यानन्द

वर्तमान विश्व में विविध धर्म प्रचलित हैं और उनमें विविध रूपता है। प्राचीन काल में तीर्थंकर आदिनाथ [वृषभदेव] के समय में भी उनके श्रमण मुनि बनने के बाद ३६३ मत-धर्मों का उल्लेख पाया जाता है। इससे पूर्व जब यहाँ भोगभूमि थी किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय और वर्ण का प्रचलन नहीं था। इससे पूर्व भूतकालीन २४ तीर्थंकरों ने धर्म प्रचार किया[1]। यह परम्परा अनादिकालीन रही और तत्-तत् समय में तत्कालीन तीर्थंकरों से प्रवाहित होती रही। तीर्थंकरों द्वारा प्रवाहित यह धर्म आर्हत्-धर्म कहलाया जाता रहा। क्योंकि अनादिकाल से सम्भूत सभी तीर्थंकर 'अर्हन्त' हुए और इस पद की प्राप्ति के पश्चात् ही इस धर्म का उपदेश दिया। अर्हन्तों द्वारा उपदिष्ट और अर्हन्तावस्था की उपलब्धि करानेवाला होने से यह धर्म 'आर्हत-धर्म' कहलाया।

शब्द-शास्त्र [व्याकरण] के अनुसार अर्हत्, अर्हन् और अरहंत शब्दों की व्युत्पत्ति = 'अर्ह' धातु से 'अर्हः प्रशंसायाम्' सूत्र से शतृ प्रत्यय होने से हुई है। जब इसमें 'उगिदचां नुम् सर्वनाम स्थाने धातोः' से नुम् हुआ तब अर्हन्त—अरहंत बना। अरहंत अवस्था संसार में सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह अवस्था सिद्ध अवस्था से पूर्व की अवस्था है और मुक्ति का द्वार है। अरहंत शब्द का अस्तित्व वैदिक, सनातन और बौद्ध साहित्यों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। लोक मान्यता के अनुसार यदि वेदों का साहित्य प्राचीनतम माना जाता है, तो उस प्राचीनतम साहित्य में भी अर्हत् शब्द का उल्लेख पाया जाता है। इस मान्यतानुसार भी आर्हत् धर्म प्राचीनतम सिद्ध है। हम यहाँ कुछ उद्धरण उपस्थित कर रहे हैं, जिन से पाठकों को सहज जानकारी हो सकेगी।

[१] '**अर्हन्** बिमर्षि सायकानि, धन्वा**र्हन्निष्कं** यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं, न वा ओ जीयोरुद्रत्वदन्यदस्ति ॥'

ऋग्वेद २।३३।१०

---

१. 'पणमहु चउवीसजिणे तित्थयरे तत्थ भरहखेत्तम्मि।
भव्वाणं भवरुक्खं छिंदंते णाणपरसूहिं ॥'

—तिलोयपण्णत्ती ४।५१४

—भरतक्षेत्र संबंधी चौबीस जिन तीर्थंकरों को मैं वन्दन करता हूँ। ये तीर्थंकर अपने ज्ञानरूपी फरसे से भव्यों के संसार रूप वृक्ष को काटते हैं।

[२] '**अर्हन्ता** चित्पुरोदधेंऽशेव देवावर्वते ।'
—ऋग्वेद ६।८६।५

[३] '**अर्हताम**नुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन ।'
—महाभारत, शान्तिपर्व २२६।१५

[४] '**आर्हत** ।'—वायुपुराण १०४।१६

[५] '**आर्हत** ।'—योगवासिष्ठ ९६।५०

[६] 'देवोऽ**र्हन**परमेश्वरः ।'—योगशास्त्र २।४; '**अर्हतां** देवः ।'
—वाराहमिहिर संहिता ४५।५८

[७] '**अर्हन्नि**त्यथ जैनशासनरताः ।'—हनुमन्नाटक १।३

[८] 'स्या**दर्हन्** जिनपूज्ययोः ।'—शाश्वतकोष ६४१

[९] 'यत्था**रहन्तो** विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ।'—धम्मपद ९८।९

[१०] '**अरहतानं** ।'—खंडगिरि उदयगिरि अभिलेख, ईसापूर्व द्वितीय शती । (जैन)

उक्त सभी उद्धरण जैनेतर सामग्री में उपलब्ध हैं । एतावता अर्हन्तों की प्राचीनता सहज सिद्ध है । धम्मपद के उल्लेख से तो यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ भी अरहंत विहार करते हैं वहां की भूमि रमणीय हो जाती है—जैसा कि जैन शास्त्रों में वर्णन आता है—'षट् ऋतु के फूल फले अपार ।'—आदि केवल ज्ञान और अरहन्त पद सहभावी हैं । क्यों कि चार घातियां [ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय] कर्मों के अस्तित्वाभाव में केवलज्ञान होता है और केवलज्ञानी में अरहन्त व्यपदेश होता है । अरहन्त परमेष्ठी [परमपद में स्थित] कहलाते हैं—इनका आत्मा स्वगुणों के पूर्ण विकास को पा लेता है । इनके उपदेश से जन–जन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है और इनका उपदेश ही वास्तविक धर्म [संसार दुख से छुडानेवाला] होता है । अतः अविनाशी पद–मोक्ष में पहुँचाने में समर्थ धर्म '**आर्हत–धर्म**' कहलाने की श्रेणी में आता है । संसारी जीवों के कल्याण की दृष्टि से अरहन्त पद सर्वोपकारी है । अतः आर्हत धर्म संबंधी अनादि मूल मंत्र में अरहंतों का स्मरण [नमन] प्रथम किया गया है । इस धर्म का मूल मंत्र परमेष्ठी वाचक कहलाता है । और सर्व पापों के नाश करने में वह समर्थ है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है[1] । मंत्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं = अरहंतों को नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं = सिद्धों को नमस्कार हो
णमो आइरियाणं = आचार्यों को नमस्कार हो

१. 'एसो पंच णमायारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं हवइ मंगलं ॥'—मूलाचार ७ । १८

णमो उवज्झायाणं	= उपाध्यायों को नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	= लोक में सर्व साधुओं [श्रमण मुनियों] को नमस्कार हो।

प्रकारान्तर से यदि विशेष विवेचन किया जाय तो जैसे यह मूल मंत्र नमस्कारात्मक है वैसे ही आर्हत धर्म का प्रतिपादक भी है। उक्त पांचों परमेष्ठी का स्वरूप समझना, आर्हत धर्म के सिद्धान्तों को समझना है। और इसीलिये हम कह सकते हैं उक्त मूल मंत्र 'श्रमण संस्कृति' का आधार और 'श्रमण संस्कृति' मूल मंत्र का आधार है। चूँकि एक अनादि सिद्ध है, प्राचीन सिद्ध है तो दूसरा भी अनादि और प्राचीन सिद्ध है। अब हम उक्त अनादि मंत्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराकर श्रमण-संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे। श्रमण संस्कृति के भी उल्लेख अन्य ग्रन्थों में वैसे ही मिलते हैं जैसे कि 'अरहंत' पद के मिलते हैं।

णमोकार मंत्र का वास्तविक स्वरूप

आर्हत दर्शन में छह द्रव्य माने गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। स्थूल रीति से इन्हें जीव और अजीव इन दो भेदों में भी गर्भित कर सकते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वभावतः शुद्ध है। पर, जीव और पुद्गल वैभाविक परिणति से अशुद्ध परिणमन भी कर रहे हैं। जबतक अशुद्ध परिणमन रहता है जीव द्रव्य भी संसारी नाम पाता है–उसकी पूज्यता नहीं होती। शुद्धता प्राप्त करने के लिये जीव को कर्मों से पृथक् होना पड़ता है। जब यह जीव कर्मों से पृथक् होने का उपक्रम करके ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय कर्मों से अपने को पृथक् कर लेता है तब ये केवलज्ञानी और पूज्य हो जाता है और इसे अरहंत संज्ञा की प्राप्ति हो जाती है। अरहंत की निष्पत्ति 'अर्ह' धातु से होती है जिसका भाव पूजावाचक अर्थात् पूज्य होने से है।

णमो अरहन्ताणं—लोक में अरहन्त के प्रचलित तीन रूप मिलते हैं यथा—णमो अरहंताणं, णमो अरिहंताण और णमो अरुहंताणं। अनेक विद्वानों ने इन पर विचार किया है और भिन्न भिन्न विचार भी प्रकट किये हैं—अरहंताणं पद 'अर्हः प्रशंसायां' सूत्र से शतृ प्रत्यय होने पर अर्हत बना। और 'उगिदचां नुम् सर्व स्थाने धातोः' से नुम् होने पर अर्हनृत् बना। 'स्वररहितं व्यंजनं नास्ति' नियम के अनुसार अरहंत वना। और पूज्य अर्थ में यही पद शुद्ध है। अन्य पदों का व्यवहार कालान्तर में शब्द-शास्त्र पर ऊहापोह होने के पश्चात् विभिन्न अर्थों के सन्निवेश में होने लगा। वास्तव में धातु के मूल अर्थ 'पूज्यता' की दृष्टि से णमो अरहंताणं ही ठीक है और ऐसा ही बोलना चाहिये। यद्यपि लोक में इस पद को अरिहंत रूप में उच्चारण करने की प्रथा [अरि-कर्मशत्रु को 'हन्त'–नाशकर्ता के भाव में] पड़ चली है और शब्दार्थ विचारने पर उचित सी आभासित होती है। पर जहां तक मूल और मंत्र की अनादि परम्परा की बात है—ऐसा अर्थ किन्ही प्राचीन ग्रन्थों में देखने में नहीं आता। सभी स्थानों पर 'अर्ह'

पूजार्थक धातु से ही इसका संबंध जोड़ा गया है[1]। हिंसार्थक हन् धातु से नहीं जोड़ा गया। फिर आर्हत्-दर्शन तो 'अहिंसा परमोधर्मः' का परमपोषक है; साथ में परकर्तृत्व अभाव भी तो है। अरहंत परमेष्ठी कर्म का हनन न करके स्व को स्व में प्रकट करते हैं और कर्म स्वयं ही अकिंचित्कर हो जाते हैं और इसीसे अरहंत पूज्यपना प्राप्त करते हैं। अतः णमो अरहंताणं ही उपयुक्त जँचता है।

णमो सिद्धाणं—'सिद्ध' शब्द 'षिध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ गति है। संप्रसारण में 'सिध्' धातु से निष्ठा सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ और 'झलां जशोऽन्ते' 'झलां जशझशि' सूत्रों से त् को ध् व द् होकर सिद्ध पद बना। सिद्ध से तात्पर्य है जो आत्ममार्ग को सिद्ध कर चुके—संसार परिभ्रमण से सदा के लिये मुक्त हो गये। सिद्धों के स्वरूप का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है—

'अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥'—नेमिचन्द्र चक्रवर्ती

जो अष्टविध कर्म से रहित, शान्त, निरंजन, नित्य, अष्टगुणसहित, कृतकृत्य और लोकाग्रवासी हैं वे सिद्ध हैं सिद्धभक्ति में लिखा है—

'असरीरा जीवघना उवजुत्ता दंसणेय णाणेय।
सायारमणायारा लक्खणमेयं तु सिद्धाणं॥'—सिद्धभक्ति[2]

कर्ममल और तज्जन्य पाँच शरीरों का अभाव होने से वे सिद्ध शरीर रहित हैं। स्वजीव द्रव्य में परमरूप होने से अन्य किसी पदार्थ द्वारा उत्पादित विकार भाव से समाविष्ट नहीं हैं और अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान से पूर्ण हैं। अन्तिम शरीराकार आत्मप्रदेश होने से साकार और वास्तव में निराकार [पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों से भिन्नजातीय] हैं।

णमो आइरियाणं—आइरियाणं पद में 'आ' उपसर्ग है जो समन्तात् अथवा पूर्णतया अर्थ में आता है। 'आ' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'चर' धातु से योग्य अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय होकर 'आ + चर + य' बना। 'क् ग् च् त् द् य् व् वां प्रायो लुक्' से च का लोप हुआ 'यस्यरि' से 'रकार' को 'रिकार' हुआ। 'इ सप्तादौ' से अ को इ होने पर 'आइरिय' रूप बना। नमस्कारार्थ में 'आणं' चतुर्थी विभक्ति होने पर आइरियाणं बना। आचार्य [आइरिय] का अर्थ है—आचारण में चलाने योग्य, आचारशास्त्र के अधिकारी। इनके ३६ गुण होते हैं[3]—१२ तप, ६ आवश्यक, ५ आचार, १० धर्म, ३ गुप्ति।

---

१. स्वर्गावतरण जन्माभिषेक परिनिष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्ति परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवसुरमानव-प्राप्तपूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद योग्यत्वादरहन्तः।'— (धवला)

२. 'सम्मत्तणाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणाहुंति सिद्धाणं॥'

१. द्वादशधा तपोभेदा आवश्यकाः परे हि षट्।
पंचाचारा दशधर्मास्तिस्रः शुद्धाश्च गुप्तयः॥
आचार्याणां गुणाः प्रोक्ताः षट्त्रिंशच्छिवदायकः॥ श्रा० त्रै० १२।४६

णमो उवज्झायाणं—'उप' उपसर्ग समीप अर्थ का द्योतक है और 'इङ्' धातु अध्ययनार्थ है। इङ् धातु सदा 'अधि' उपसर्ग के साथ आती है। 'उप+अधि+इ' ऐसी स्थिति में 'घञ्' प्रत्यय हुआ और वृद्धि, दीर्घ, यण् और आय् होने पर 'उपाध्याय' बना। 'पोवः' सूत्र से पकार को वकार, 'ह्रस्वः संयोगे' से वकार को ह्रस्व होने पर 'उवध्याय' बना। 'ध्यस्यज्झः' सूत्र से 'ध्य' को 'ज्झः' आदेश होने पर 'उवज्झाय' बना और चतुर्थ्यन्त होने से ''उवज्झायाणं' बोलने में आया। उपाध्याय मुनि संघस्थ अन्य मुनियों को अध्यापन कराते हैं।

णमो लोए सव्वसाहूणं—'साध्नोति स्वार्थमनपेक्ष्य परकार्यमिति साधुः' अथवा 'साध्नोति निजस्य आत्मनः परेषां भव्यजन्तूनां मुक्तिरूपं कार्यमिति साधुः।' जो स्वार्थ की अपेक्षा न करके पर कार्य को सिद्ध करते हैं या निज आत्मा और अन्य भव्यजीवों के मुक्तिरूप कार्य को सिद्ध करते हैं वे साधु होते हैं। संस्कृत में सर्व शब्द समस्त अर्थ का बोधक होता है। प्राकृत में 'सर्वत्र लवरामचन्द्रे शेषाणां द्वित्वचानादौ' सूत्र से रकार का लोप और वकार को द्वित्व होने से 'सव्व' बन जाता है। सिद्धि अर्थ में 'साध' धातु से 'उण्' प्रत्यय होने पर 'साधु' रूप बनता है। साधु शब्द से लोक में अनेकों अर्थ ग्रहण किये जाने लगे हैं परन्तु वास्तव में यह शब्द श्रमण मुनियों के लिये ही है। 'र व ख थ ध मां हः' सूत्र से धकार को हकार हो जाता है। सामान्यतः इस पद में आचार्य और उपाध्यायों का ग्रहण भी हो जाता है परन्तु उन दोनों पदों को विशेषापेक्षया पृथक् कहा गया है। स्नातक, निर्ग्रन्थ, पुलाक, बकुश और कुशील ये सभी भेद साधुओं के हैं और इन सब का ग्रहण करने के लिये प्रकृत मूल मंत्र में 'सव्व' पद का ग्रहण किया गया है। उक्त प्रकार मूलमंत्र का संक्षिप्त विवेचन है।

उक्त मंत्र आर्हत्-धर्म के दिग्दर्शन में मूलभूत है। इसके विशेष-विस्तृत अध्ययन से आर्हत्-धर्म के सिद्धान्तों पर पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। आत्मा-संबंधी समस्त गुणों, कर्तव्यों और चरमावस्था के दिग्दर्शन कराने में समर्थ होने से उक्त मंत्र आत्मेतर अन्य द्रव्यों के प्रकाश में भी समर्थ है। उपाध्याय परमेष्ठी के द्वार से जहां तत्त्वों की शिक्षा का बोध होता है, वहां सभी तत्त्वों का विवेचन भी गर्भित हो जाता है। एतावता मूलमंत्र आर्हत् धर्म का प्रतीक है, इसका मनन, चिन्तवन परमपद को दिलानेवाला है और इसी विचारधारा से प्रवाहित श्रमण-संस्कृति है। और मूलमंत्र की भाँति वह भी अनादि-निधन है।

'श्रमण' शब्द के विषय में लिखा है कि—'श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।'—दशवैकालिक-सूत्र, अर्थात् जो श्रम करे वह श्रमण कहलाता है और श्रम का भाव है तपस्या करना। भारत में श्रमण परम्परा प्राचीनतम—वस्तुस्वरूप के साथ से चली आ रही है। इस परम्परा के दर्शन अनेकों रूपों से किये जा सकते हैं। यथा—

णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो॥

—आचार्य कुन्दकुन्द मूलाचार १०।११४

श्रमणों का अस्तित्व नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चारों निक्षेपों की अपेक्षा को लिये हुए हैं। 'श्रमण' और 'मुनि' दोनों शब्दों की परस्पर में साम्यता है। जैसे 'श्रम' शब्द प्रकृत प्रसंग में आध्यात्मिकता से संबंधित है वैसे ही मुनि शब्द भी आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है। कहा भी है—'मान्यत्वादाप्त-विधानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः'—यशस्तिलक ८।४४। अर्थात् आप्तविद्या [आगम] में वृद्ध और मान्य होने से महान पुरुषों ने इसे मुनि संज्ञा दी है। 'मननात् मुनिः' ऐसा भी कहा जाता है अर्थात् जो तत्त्वों का—आत्मा का मनन करें वे मुनि हैं।

'श्रम' शब्द तीन रूपों में ग्रहण किया जाता है—श्रम, परिश्रम और आश्रम। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं—'एकतः श्रमः श्रमः।' 'परितः श्रमः परिश्रमः।' और 'आ समन्तात् श्रमः आश्रमः।' एक ओर अर्थात् शरीर से किया गया श्रम 'श्रम' कहलाता है। दो ओर अर्थात् शरीर और मन से किया गया श्रम 'परिश्रम' कहलाता है। और तीनों ओर से अर्थात् मन-वचन-काय से किया गया श्रम 'आश्रम' कहलाता है। उक्त प्रसंग से श्रमण और आश्रम की पारस्परिक घनिष्टता विदित होती है क्यों कि श्रमण मुनि मन-वचन-काय तीनों की एकरूपता पूर्वक ध्यान का अभ्यास करते हैं। वास्तव में श्रमणमुनियों के ही आश्रम अध्यात्म से सम्बन्ध रखते रहे हैं। शेष आश्रम तो श्रम और परिश्रम तक ही सीमित हैं। यही कारण है कि श्रमणधर्म को अन्य आश्रमों का जनक बतलाया गया।[1]

श्रमण परम्परा का उल्लेख प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलता है। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्ति-सागर महाराज भी इसी श्रमण परम्परा के मुनि थे। उन्होंने इस युग में श्रमण धर्म को मूर्तरूप देने में प्राथमिक मंगल कार्य किया है। आज के श्रमणमुनि उन्हीं की परम्परा से उद्बुद्ध हुए हैं; जो आर्हत् धर्म और श्रमण संस्कृति के साक्षात्-प्रतीक रूप हैं। 'ठाणाङ्ग सुत्त' में श्रमण मुनियों की अनेक वृत्तियों का वर्णन है। वहाँ लिखा है श्रमणमुनियों की वृत्ति उरग, गिरि, ज्वलन, सागर, आकाशतल, तरुगण, भ्रमर, मृग, धरणी, जलरुह, रवि और पवन सम होती है।[2] इसका विस्तृत व्याख्यान फिर कभी किया जायगा, लेख विस्तृत होने के कारण यहाँ संकोच ही श्रेष्ठ है।

'श्रमण' शब्द का अस्तित्व वेद-पुराण-व्याकरण-उपनिषद्-भागवत आदि अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। इतना ही नहीं इस शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न भाषाओं में भी हुआ है। श्रमण-संस्कृति प्राचीन भारत में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्याप्त थी यह तो निर्विवाद सिद्ध है और ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि इस श्रमण धर्म के शास्ता तीर्थंकर तिब्बत तक भी गए हैं, अंग, वंग, कलिंग आदि तो

---

१. 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।'—
—वासुदेवशरण अग्रवाल [जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका से उद्धृत] पृ. १३

२. 'उरग-गिरि-जलन-सागर, नहतल तरुगण समो अजो होइ।
भमर मिय धरणिजलरुह रवि पवणसमो अ सो समणो ॥'—ठाणांग सुत्त ५

इस देश के अंग हैं ही। भारत का प्रचलित नामकरण भी इसी संस्कृति के अनुयायी चक्रवर्ती भरत से हुआ इस प्रकार श्रमण-संस्कृति का महत्ता बहुत बढ़ी चढ़ी और आदर्श रही है।

[कुछ भाषाओं में श्रमण शब्द के रूप]

१.	प्राकृत भाषा में	'समण'
२.	मागधी	'शमण'
३.	संस्कृत	'श्रमण' ['कुमारः श्रमणादिभिः'[1] पाणिनि २।१।७०]
४.	अपभ्रंश	'सवणु'
५.	कन्नड	'श्रवण'
६.	यूनानी	'सरमनाई'
७.	चीनी	'श्रमणेरस'
८.	तमिल	'अमण'

[कुछ ग्रन्थों में श्रमण शब्द]

१. 'तृदिला अतृदिलासो अद्रयो **श्रमणा** अशृथिता अमृत्यवः।'—ऋग्वेद १०।९४।११
२. 'यत्र लोका न लोकाः........**श्रमणो** न श्रमणस्तापसो........।'—ब्रह्मोपनिषद्
३. 'वातरशना[2] ह वा ऋषयः....**श्रमणा** ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।'—तैत्तिरीयोपनिषद्, आरण्यक २।७
४. '**श्रमणोऽ**श्रमणस्तापतोऽतापसो........।' —बृहदारण्यक ४।३।२२
५. '**श्रमणः** परिवाट्-यत्कर्मनिमित्तो भवति स........।' —शांकरभाष्य
६. 'वातरशना ह वा ऋषयः **श्रमणा**........।' —तैत्तिरीय आरण्यक २, प्र० ७, अनु० १-२
७. 'वातरशनाख्या ऋषयः **श्रमणास्त**पस्विनः........।'—सायण टीका
८. 'आत्मारामाः समदृशः प्रायशः **श्रमणा** जनाः।'—श्रीमद्भागवत १२।३।१८-१९
९. 'वातरशनानां **श्रमणा**नामृषीणामूर्ध्वमंथिनाम् ....।'—श्रीमद्भागवत ५।३।२०

इस प्रकार श्रमण संस्कृति और आर्हत्-धर्म प्राचीनतम सिद्ध होते हैं। यह संस्कृति हिमालय में भी व्याप्त रही। युग के आदि मनु नाभि और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का इस प्रदेश से भी घनिष्ट संबंध रहा ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। हिन्दू ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में लिखा है—नाभि मनु और रानी मरुदेवी ने यहीं से कल्याणपद [तपस्या द्वारा] प्राप्त किया। तथाहि

---

१. 'कुमार : श्रमणादिना'—शब्दार्णवचंद्रिका; 'कुमारः श्रमणादिभिः'—जैनेन्द्र व्याकरण १।३।६५
२. वातरशना य ऋषयः **श्रमणा** ऊर्ध्वमन्थिनः। —श्रीमद्भागवत ११।६।४७

'विदितानुरागमापौर प्रकृति जनपदो राजा**नाभि**रात्मजं समयसेतु रक्षायामभिषिच्य......सह**मरुदेव्या** विशालायां[1] प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन......महिमानमवाप।'—श्रीमद्भागवत ५।४।५

गतवर्ष जब हमने हिमालय में विहार किया तब भी ऐसे बहुत से तथ्य समक्ष आए जिनसे इस प्रदेश में श्रमण–संस्कृति की पुष्टि मिली। श्रीनगर–गढवाल में जैन–संस्कृति की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि हुई। और ऐसा भी विदित हुआ कि इस प्रदेश क धनुपुर पट्टी आदि स्थानों पर जैनों और श्रमण–संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव रहा। खोज की आवश्यकता है।

---

१. 'विशालायां बदरिकाश्रमे।'—श्रीधर टीका, काशी
'विशाल फलदा प्रोक्ता विशाला।'

DHANAÑJAYA AND HIS DVISANDHĀNA

Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur

Two distinguished authors, of the name Dhanañjaya, are well known in Sanskrit literature. One is the author of the *Daśarūpaka*[1] and the other, the author of the *Dvisandhāna-kāvya (DS)*, also called *Rāghavapāṇḍavīya (RP)*.[2] Traditionally, the latter is also the author of two more works, one a Sanskrit lexicon, *Nāmamāla* or *Dhanañjaya-nighaṇṭu*,[3] and the second, a hymn in Sanskrit, *Viṣāpahāra-stotra*,[4] in praise of the Jina, possibly Ṛṣabha. Lately a good deal of fresh evidence has come to light; and it is necessary to take stock of the evidence regarding the *DS* and the age of Dhanañjaya. This, the present article attempts to do.

Dhanañjaya and his *DS* have attracted the attention of eminent Sanskrit scholars since almost the ninteties of the last century. K. B. Pathak, while editing the Terdāl Inscription,[5] added a casual note that Śrutakīrti Traividya, mentioned in that record, is identical with Śrutakīrti Traividyadeva referred to by Pampa according to whom he was the author of *RP* in the *gata-pratyāgata* style. He identified Dhanañjaya with Śrutakīrti and assigned him to *c.* 1123 A. D. He repeated this view rather elaborately in a subsequent paper also.[6] R. G. Bhandarkar noticed two Mss. of *DS*.[7] Accepting Dhanañjaya as the anthor of the *Nāmamālā* as well, he pointed out that *DS* is quoted in Vardhamāna's *Gaṇaratnamahodadhi* (A. D. 1141). Presuming that the *RP* of Kavirāja was possibly imitated by Dhanañjaya, he put both of them between A. D. 996–1141, Dhanañjaya being considerably younger than Kavirāja. E. V. Vira

1. Nirṇaya Sāgara Press Edition, Bombay, Śaka 1819.

2. Nirnaya Sāgara Press, (*Kāvyamālā*. No. 49), Bombay, 1895. A new edition will be soon published by the Bhāratīya Jñānapīṭha, Varanasi.

3. Bhāratiya Jñānapiṭha, Benares, 1950.

4. Edn. *Kāvyamālā* No. 7, N. S. Press, Bombay, 1926.

5. *Indian Antiquary*, 14 (1885), 14–26.

6. *The Journal of the BBRAS*, 21 (1904) 1–3.

7. *Report on the Search of Skt. Mss. in the Bombay Presidency during the years 1884–85, 1885–86, and 1886–87*, Bombay, 1894.

Raghavacharya[8] reached the conclusion that Dhanañjaya, the author of the *Nāmamālā* and *DS,* flourished about 750 to 800 A. D., later than Kavirāja whom he assigns to 650–725 A. D. A. Venkatasubbiah studiously refuted K. B. Pathak and reached the following conclusions.[9] This Dhanañjaya is identical with Hemasena (*c.* 985) mentioned in the Śravaṇa Beḷgoḷ Inscription No. 54 (67) where he is called Vidyā–Dhanañjaya. In his opinion, it is not unlikely that this Hemasena is the author of the *RP* or the *DS–Kāvya,* and that it was written some time during A. D. 916–1000. He puts Kavirāja and his *RP* somewhere between A. D. 1236–1307, as against Pathak who assigned him to A. D. 1182–97. Most of the histories of Sanskrit literature have quietly adopted this date for Dhanañjaya.

Among the three works attributed to Dhanañjaya, the *Viṣāpahāra-stotra* is a devotional hymn in praise of Jina, presumably Vṛṣabha, in 40 Sanskrit verses (39 *Upajāti* and the last *Puṣpitāgrā).* It is composed in lucid language with catching concepts. The last verse mentions the name of the author by *śleṣa* :

वितरति विहिता यथाकथंचि–
ज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः ।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्
दिशति सुखानि यशो धनं जयं च ॥४०॥

A Sanskrit commentary on it is available in the Jaina Maṭha at Moodabidri (S. Kanara).

The hymn gets its title possibly from the first word in verse No. 14; and a legend has come to be associated with this hymn that a recitation of it is an antidote against poison. Some of the ideas from it, which are quite traditional in their spirit, as noted by Pt. Premi,[10] seem to have been adopted by Jinasena in his *Ādipurāṇa* and by Somadeva in his *Yaśastilaka.*

The *Nāmamālā,* also called, in some of its manuscripts, *Dhanañjaya-nighaṇṭu,* is a Sanskrit lexicon of synonyms. There is also an *Anekārthanāmamālā* attributed to him. The follwing verses occur at the end of his *Nāmamālā* :

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विःसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २०१ ॥
कवेर्धनञ्जयस्येयं सत्कवीनां शिरोमणेः ।
प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां हि शतद्वयम् ॥ २०२ ॥

8. *Journal of the Andhra Historical Research Society,* (Rajahamundry), 2. ii (1927) 181–84.

9. *JBBRAS* (New Series 3, i-ii (1927) 134 f.

10. *Jaina Sāhitya aur Itihāsa,* pp. 109 f., Bombay, 1956.

ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल-
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम् ।
अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधिध्वानोपदेशादहो
फूत्कुर्वन्ति धनञ्जयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥ २०३ ॥

In some manuscripts[11] the following two verses are found added after, perhaps, No. 201, *Pramāṇam* etc. :

जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्मृतः ।
कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥
कवयः कपयश्चेति बहुत्वं दूरमागतम् ।
विनिवृत्तं चिरादेतत् कलौ जाते धनञ्जये ॥

It is interesting to note that the first verse, with the third *pāda* slightly different (*Vyāse jāte kavī ceti*), is attributed to Kālidāsa by Jalhaṇa in his *Sūktimuktāvalī.*[12] it could not have been composed by Kālidāsa, because it contains a reference to Daṇḍin.

Dhanañjaya, as noted above, ranks his poetic abilities with those of Akalaṅka in Pramāṇaśāstra and of Pūjyapāda in grammar: a veritable triad of gems, two of them his outstanding predecessors. These verses leave, no doubt, that the author of the *DS* and of the *Nāmamālā* is one and the same. It seems quite natural that a poet with a thorough mastery over the ocean of Sanskrit vocabulary could easily compose a *dvisandhāna* poem.

Dhanañjaya does not give any auto-biographical details. Nemicandra, in his commentary on the *DS,*[13] 118–146 states that Dhanañjaya was the son of Vāsudeva and Srīdevi and pupil of Daśaratha.

It is necessary to put together references to Dhanañjaya and his works so that some broad limits can be put to his date. Dhanañjaya and his works have received sufficient praise; and his poem was so distinguished that he came to be called Dvisandhāna-kavi. The term *dvisandhāna* seems to be as old as Daṇḍin (*c.* 7th century A. D.); and Bhoja's observations quoted below clearly indicate that Daṇḍin also, like Dhanañjaya, had a *Dvisandhāna-prabandha* to his credit, though it has not come down to us. Possibly, it was Daṇḍin's third work besides the *Kāvyādarśa* and the *Daśakumāracarita.*

11. See the paper of Vira Raghavacharya mentioned above.

12. Edn., *GOS,* No. 82, Baroda, 1938, p. 45.

13. Nemicandra's commentary is included in the Jñānapīṭha edition which would be published soon.

Vardhamāna (A. D. 1141) quotes *DS* (of Dhanañjaya) 4.6.,9.51., 18.22, in his *Gaṇaratna-mahodadhi* 435, 409 and 97 of Eggeling's edition.

Bhoja (middle of the 11th century A. D.), while discussing the *Ubhayālaṅkāra,* gives the valuable information that Daṇḍin wrote a *Dvisandhāna-prabandha* on the stories of the *Rāmāyaṇa* and *Bhārata.*[14] *Cf.,*

तृतीयस्य यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धौ रामायणमहाभारतार्थावनुबध्नाति (?)

For our purpose what is significant is that Bhoja mentions Dhanañjaya and his *DS* along with Daṇḍin and his *DS*-Prabhandha.

Prabhācandra (11th century A. D.) refers in his *Prameyakamalamārtaṇḍa* to the *DS* thus :[15]

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तद्विशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेर-श्रुतकाव्यादिवत् । तन्न वेदार्थप्रतिपत्तावतीन्द्रियार्थदर्शिना किञ्चित्प्रयोजनमित्यप्यसारम् । लौकिकवैदिकपदाना-मकत्वेऽप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेरन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः । न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नि-यमस्तेषामप्यनेकप्रवृत्तेर्द्विसन्धानादिवत् ।

Vādirāja, in his *Parśvanāthacarita,*[16] composed in A. D. 1025, refers to Dhanañjaya and his skill in more than one *sandhāna:*

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः ।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रिया कथम् ।। १.२६ ।।

Durgasiṁha (*c.* 1025 A. D.), the author of the Kannaḍa *Pañcatantra,*[17] refers to the *RP* of Dhanañjaya in these words :

अनुपमकविव्रजं जीयेने राघवपांडवीयमं पेळ्दु यशो-
वनिताधीश्वरनादं धनञ्जयं वाग्वधूपियं केवळने ।। ७ ।।

Dr. B. S. Kulkarni, Dharwar, informs me that the palm-leaf manuscript of the *Pañcatantra* from Arrah does not contain all those verses referring to the earlier poets.

Scholars are divided in their opinions whether there was only one Nāgavarmā or there were two at different times (A. D. *c.* 1090 and *c.* 1145), with some or the other works assigned to them. We get the following verse in his *Chandombudhi,*[18] a work in Kannaḍa on metrics :

14. V. Raghavan, *Bhoja's Śṛṅgāraprakāśa,* (Madras, 1963), p. 406.
15 Ed., N. S. Press, (Bombay, 1912), p. 116, lines 1 ff.; Bombay 1941, p. 402.
16. Ed. Māṇikachandra D. J., Granthamātā, No. 4, Bombay, 1926.
17. Mysore, 1898.
18. R. Narasimhacharya, Karṇāṭaka Kavicarite, (Bangalore, 1961), pp. 53 ff., 154 ff.

जितबाणं हरियंतध:कृतमयूरं तारकारातियं-
ततिमाघं शिशिरांत्यदंते सुरपप्रोच्चंडकोदंडदं- ।
ते तिरोभूतगुणाढ्यनब्जवनदंताविर्भवदंडि भा-
रतदंतात्तधनञ्जयैकविभवं वाग्गुंफदोळ् नाकिगं ॥

Dhanañjaya is mentioned here among earlier poets. Narsimhacharya thinks that this is a reference to the author of *DS*, but A. Venkatasubbiah opines that the author of the *Dasarūpaka* is intended.

Jalhaṇa (*c.* 1257 A. D.) in his *Sūktimuktāvali*[19] puts in the mouth of Rājaśekhara (*c.* 900 A. D.), the following verse about Dhanañjaya:

द्विःसंधाने निपुणतां स तां चक्रे धनञ्जयः ।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥ ७ ॥

This splitting of the name of the author into *dhanam* and *jaya* is quite in tune with what the author himself has done in his works.

As already pointed out by Dr. H. L. Jain,[20] Vīrasena quotes a verse useful for explaining the term *iti*, and it is the same as No. 39 of the *Nāmamālā* of Dhanañjaya.

The above references enable us to fix the limits for the age of Dhanañjaya. He must have flourished between Akalaṅka (7th–8th century A. D.) and Vīrasena who completed his *Dhavalā* in A. D. 816. Dhanañjaya may, therefore, be assigned to *c.* 800. In any case, he could not be later than Bhoja (11th century A. D.) who specifically mentions him and his *DS*.

The *DS* of Dhanañjaya has 18 cantos, comprising of 1105 verses composed in various metrical forms, his favourite forms being *Upajāti, Vasantatilakā, Śālinī, Svāgatā* etc. The benedictory verses in the beginning remembers (Muni-) Suvrata or Nemi, and then Sarasvatī. The story of both Rāma and the Pāṇḍavas is covered in this work, usually taking recourse to *śleṣa* (double entendre). It is a characteristic so usual with Digambara Jaina authors that the tale is said to be narrated by Gautama to King Śreṇika. The author lays more stress on dignified descriptions than on the narration of events. Most of the verses are embellished with figures of speech, and they are duly noted by the commentator. In the last canto (especially, verse No. 43 onwards) the author has illustrated many of the *Sabdālaṅkāras,* a trait common with Bhāravi, Māgha and other poets. The verse No. 143 is an illustration of *sarva-gata-pratyāgata.*

Presuming that the colophons found at the end of the cantos (but not at the end of cantos 1, 2, 16 and 18) belong to the author himself, it is clear that he gives himself the name Dhanañjaya, or Kavi, or Dvisandhāna-kavi and calls his poem *Dvisañdhāna*

---

19. Ed., *GOS*, No. 82. Baroda, 1938, p. 46.
20. Ṣaṭkhaṇḍāgama with Dhavalā. vol. I. (Amraoti, 1939), Introduction, p. 62; Ibid., vol. VI, p. 14.

-kāvya, or the *Rāghava-Pāṇḍavīya* - (a second name, *apara-nāma*) Mahākāvya. At the close of every canto, in the last verse, he mentions his name Dhanañjaya, by *śleṣa*, as in the *Viṣāpahāra-stotra;* this is already imitated by Rājaśekhara in the verse put in his mouth by Jalhaṇa.

The title *Dvisandhāna* indicates the pattern of composition in which each verse is susceptible to two interpretations, and the appellation *Rāghava-Pāṇḍavīya* connotes the contents of the poem *viz.*, that it deals with the tales of Rāma and the Pāṇḍavas simultaneously. The cycle of tales connected with these two are so much an inseparable part of Indian cultural heritage that any poet who wants to pick up two topics at one and the same time, would easily turn to them, especially because independent epics dealing with them and giving plenty of details and contexts for alternative selection and presentation are available in large numbers. The title *Rāghava-Pāṇḍavīya* is sufficiently popular. Beside Dhanañjaya, it has been chosen by poets like Kavirāja, Śrutakīrti etc.; and there are also similar titles, e. g, *Raghava-Yādavīya*, *Rāghava-Pāṇḍava*, *Yādavīya*, etc. With Dhanañjaya, however, the primary title for his kāvya is *Dvisandhāna;* and and he, after Daṇḍin, seems to be the pioneer of this type; the *Rāgdava-Pāṇḍavīya* is only a secondary title.

It is interesting to compare the poems of Dhanañjaya and Kavirāja.[21] Dhanañjaya's kāvya has an alternative name *RP* which is the sole title of Kavirāja's poem. Dhanañjaya has eighteen cantos with 1105 verses, while Kavirāja has thirteen with 664 verses. Dhanañjaya mentions his own name by *śleṣa* (thus marking his kāvya '*Dhanañjayāṅka*'), while Kavirāja mentions the name of his patron Kāmadeva in the last verse of each canto: in fact the latter's poem is '*Kāmadevāṅka*'. A detailed comparison of the contents of these two poems is a desideratum. On a cursory reading one feels that there is not much striking similarity between them. Dhanaṃjaya has more of descriptions, while Kavirāja narrates the details of his tale successfully inspite of the handicap of *śleṣa* (see 1. 54, 69, etc.). So far as *śleṣa* is concerned, Kavirāja shows more skill and mastery over vocabulary. Dhanañjaya's poem is complimented as a 'monument of poetic excellence': undoubtedly, he shows a good deal of learning, especially of the *nītiśāstra*; and some of his *arthāntaranyāsas* are really profound and striking. As contrasted with Kavirāja's style, which is lucid and delightful, (*cf.* 2.11-13), Dhanañjaya writes rather heavy Sanskrit which often needs some effort to understand. In his descriptions, there are very few verses of *double entendre* which are the normal feature of Kavirāja's composition. As far as we have seen, there is very little between these two poems as to suggest that one is an imitation of the other.

There is one more poet, Śrutakīrti Traividya, who wrote a *Rāghava-Pāṇḍavīya-kāvya* of the *gatapratyāgata* pattern, a matter of curiosity and wonder among the

---

21. Edn. N. S. Press, Bombay, 1897, with the commentary of *Śaśadhara*, *Kāvyamālā*, No. 62.

learned, as mentioned by Nāgacandra or Abhinava Pampa in his *Rāmacandra-carita-Purāṇa,*[22] in Kannaḍa, also known as *Pampa-Rāmāyaṇa* (1.24-25):

आँवां वादिकथात्रयप्रवणदाँळ् विद्वज्जनं मँच्चँ वि-
द्यावष्टंभमनप्पु परवादिक्षोणिभृत्पक्षमं ।
देवेन्द्रं कडितंददिँदं कडिदं स्याद्वादविद्यास्त्रदिं
त्रैविद्यश्रुतकीर्ति दिव्यमुनिवोल् विख्यातियं ताळ्दिदं ॥२४॥

श्रुतकीर्तित्रैविद्य-
व्रति राघवपांडवीयमं विबुधचम-
त्कृतियेनिसि गतप्रत्या-
गतदिं पेळ्दमळ्कीर्तियं प्रकटिसिदं ॥२५॥

These two verses are quoted in an inscription at Śravaṇa Beḷgoḷ No. 40 (64), of A. D. 1163.[23] This Śrutakīrti Traividya is mentioned in the Terdāḷ inscription of 1123 A. D.

ततु परवादीभपंचाननर सधर्म्मरु । श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रतिपर् षट्तर्क्ककर्क्कशरु परवादिप्रतिभाप्रदी-पपवनर् जितदोषर् नेगळ्दरखिलभुवनांतरदोळु ॥

King Goṅka sent for Māghanandi Saiddhāntika (the preceptor of Nimba Sāmanta) of Kollagiri or Kolhapur, and the latter's colleagues were Kanakanandi Paṇḍitadeva and Śrutakīrti Traividya. In another inscription of A. D. 1135, from Kolhapur, Śrutakīrti Traividya is referred to as the Ācārya of the Rūpanārāyaṅa Basadi of Kolhapur :[24]

शकवर्षद सासिरदय्वत्तेंटनेय राक्षससंवत्सरद कार्तिकबहुलपंचमि सोमवारदंदु श्रीमूलसंघदेसीयगण-पुस्तक गच्छद कोल्लापुरद श्रीरूपनारायणबसदियाचार्यरप्प श्रीश्रुतकीर्तित्रैविद्यदेवर् कालं कर्चि etc.

Nāgacandra calls him a *vrati* and so also the Terdāḷ inscription; *i. e.*, he was a *vratin* in 1123, but by 1135 A. D. he had reached the status of an *Ācārya.* Expert opinion puts Nāgacandra near about A. D. 1100.[25] This means that Śrutakīrti's age ranges from *c.* 1100 to 1150 A. D., approximately. So far no manuscript of his *RP* has come to light.

K. B. Pathak was the first to postulate the identity of Dhanañjaya and Śrutakīrti from the latter's having composed the *Rāghavapāṇḍavīya.* Rightly enough, R. G. Bhandarkar hesitated to accept this identity. But somehow the date proposed for Dhanañjaya based on this identity attained currency.

---

22. A Ms. is being used, but the text is available in printed form.
23. *Epigraphia Carnatica,* Vol. II, Śravaṇa Beḷgoḷ Inscriptions.
24. *Epigraphia Indica,* Vol. 19, p. 30.
25. R. Narasimhacharya, *Karṇāṭaka Kavicarite,* vol. I, (Bangalore 1961), pp. 110 f.

Dhanañjaya and his *DS* or *RP* have to be distinguished from Śrutakīrti and his *RP*. First, Dhanañjaya was a householder, while Śrutakrīti, a *vratin* and later an *Ācārya*. Secondly, neither Dhanañjaya nor the sources which mention Śrutakīrti give any evidence to suppose that the two names stand for the same poet. Thirdly, a verse from Dhanañjaya's *Nāmamālā* is quoted by Vīrasena (A. D. 816); and his *DS*, specifically mentioning the name Dhanañjaya, is referred to by Bhoja (*c.* 1010–62 A. D.), while the period of Śrutakīrti ranges from 1100 to 1150 A. D. Lastly, if the *DS* of Dhanañjaya is already famous to be ranked with the work of Daṇḍin and to be referred to by Bhoja (middle of the 11th century), it cannot be the same work as that of Śrutakīrti who was an *Ācārya* in 1135 A. D. So this identification has no basis; and therefore, *the date, based on this identity proposed for Dhanañjaya, namely 1123–40 A. D., has to be given up.*

E. V. Vira Raghavacharya's suggestion of the date for Dhanañjaya (*c.* 750–800) is nearer the point, but it is not known why he puts Kavirāja earlier than Dhanañjaya when Kavirāja specifically refers to Muñja of Dhārā (973–95 A. D.).

Prof. Venkatasubbiah's thesis, *viz.*, that Dhanañjaya, the author of *DS*, is identical with Hemasena because the later is mentioned as Vidyā–Dhanañjaya in the Sravaṇa-Beḷgoḷ Inscription, cannot be accepted. Vādirāja is mentioning in his poem earlier authors and teachers and not necessarily his pontifical predecessors. That Dhanañjaya therefore, was a pontifical predecessor of Vādirāja and identical with Hemasana is not justified. First, Dhanañjaya was a householder. He has not at all mentioned his ascetic line, nor does he speak about his ascetic predecessors; he cannot, therefore, be a pontifical predecessor of Vādirāja. Secondly, nowhere in his works, has Dhanañjaya given his name as Hemasena. Lastly, it is very doubtful whether Vidyā–Dhanañjaya is a proper name, for it could be read as well *vidyā dhanaṁ jaya-padaṁ viśadaṁ dadhāno.* It is also possible that Dhanañjaya here means Arjuna; so Hemasena is Vidyā–Dhanañjaya. If at all Vidyā–Dhanañjaya is a proper name, then, it means that it only distinguishes Hemasena from some other Dhanañjaya who flourished earlier.

Ganitasar-Sangraha of Mahaviracharya

Prof. **B. B. Bagi**, Dharwar

Aryabhata the elder (c. 510 A. D.), Brahmagupta (c. 628 A. D.), Mahaviracharya (c. 850 A. D.) and Bhaskaracharya (c. 1150 A. D.) are the most eminent mathematicians of ancient India.

Mahaviracharya, the author of the Ganitasara Samgraha, lived in a period well-known, in the history of South India, for its prosperity, political stability and academic fertility. He was a contemporary and enjoyed the patronge of Nripatunga or Amoghavarsha (815-877 A. D.) of the Rashtrakuta dynasty. Nripatunga was ruling at Manyakheta but his kingdom extended far northwards. His capital was a centre of learning. He was not only a mightly ruler, but also a patron of poets and himself a man of literary aptitude and attainments. A Kannada work, Kavirajamaraga, on poetics is attributed to him. He was a great devotee of Jinasena (the author of Adipurana and Parsvabhyudaya) whose ascetic practices and literary gifts must have captivated his mind. He soon became a pious Jaina and renounced the kingdom in preference to religious life as mentioned by him in his Sanskrit work, the Prasnottara-ratnamala and as graphically described by his contemporayy Mahaviracharya in his Ganitasara Samgraha.

Mahaviracharya combines the discipline of seasoned mathematician with the warm and vivid imagination of a creative poet. He skilfully summarizes all the known mathematics of his time into a perfect text-book which was used for centuries in the whole of Southern India. He states rules clearly and precisely. He simplifies and sharpens many processes. He generalises many a theorem shedding light on new aspects by apt illustrations. Ganitasara-Samgraha is a veritable treasury of problems many of which are characterised by mathematical subtlety, poetic beauty and delicate hint of refined humour, qualities so rare in a mathematical text book. It is difficult to decide, in a textbook what is old and what is the original contribution of the author.

Here is a brief survey of the contents of the book :

Chapter I opens with the salutation to Lord Mahavira, the twentyfourth Tirthankara of the Jainas, who by his knowledge of the science of the numbers illuminates the three worlds. This is followed by a warm and handsome tribute of gratitude paid to his royal patron Amoghavarsha. After this, comes the most enthusiastic and unique panegyric ever bestowed on the science of Mathematics. Then we have measures

used, names of operations and numerals. Rules governing the use of negative numbers are correctly stated: those regarding the use of zero may be stated in modern notation thus :

$$a \pm o = a; \qquad a \times o = o; \qquad a \div o = a.$$

The last part is obviously wrong. As regards the square root of a negative number, the author observes that since squares of positive and negative numbers are positive, square root of a negative number cannot exist. Considering the limitations of his time, Mahaviracharya could not have reached a more sensible conclusion. We may note, in this context, the necessary extension of the concept of number which assimilates square roots of negative numbers into the number system, was achieved as late as in 1797 by C. Wessel a Norwegian Surveyor (Bell's "The Development of Mathematics" Page 177).

Chapter II deals, in respect of integers, with operations of multiplication, division, squaring and its inverse, cubing and its inverse, arithmetic and geometric series.

Problem II. 17. In this problem, put down in order (from the unit's place upwards) 1, 1, 0, 1, 1, 0, 1 and 1, which (figures so placed) give the measure of a number and (then) if this number is multiplied by 91, there results that necklace which is worthy of a prince. The 'Necklace' referred to, may be displayed thus :

11011011 × 91 = 1002002001.

Two more 'garlands worthy of a prince' are : (II. 11, 15) :

333333666667 × 33 = 11000011000011;

and 752207 × 73 = 11,111,111.

Chapters III and IV are devoted to elementary operations with fractions. Mahaviracharya has paid considerable attension to the problem of expression of a unit fraction as the sum of unit fraction. This problem has interested mathematicians from remote antiquity (Ahmes Papyrus, 1650 B. C.). Here are three relevant problems (II 75, 77, 78) set in modern notation.

$$(1) \quad 1 = \tfrac{1}{2} + \tfrac{1}{3} + \frac{1}{3^2} + \cdots\cdots + \frac{1}{3^{n-2}} + \frac{1}{3^{n-2}.3}$$

$$(2) \quad 1 = \frac{1}{2.3.\frac{1}{2}} + \frac{1}{3.4.\frac{1}{2}} + \cdots\cdots + \frac{1}{(2n-1)2n.\frac{1}{2}} + \frac{1}{2n.\frac{1}{2}}$$

$$(3) \quad \frac{1}{n} = \frac{a}{n\,(n+a_1)} + \frac{a_2}{(n+a_1)\,(n+a_1+a_2)} + \cdots\cdots$$

$$+ \frac{a_{r-1}}{(n+a^1+a_2+\ldots\ldots+a_{r-2})\,(n+a_1+a_2+a_{r-1})}$$

$$+ \frac{a_r}{a_r\,(n+a_1+a_2+\ldots\ldots a_r)}$$

Problem IV. 4 : One third or a herd of elephants and three times the square root of the remaining part (of the herd) were seen on the mountain slope; and in a lake was seen a male elephant along with three female elephants. How many were the elephants there ?

Here is a sample of monkish humour :

Chapter V treats 'Rule of three' and its generalised forms.

Chapter VI. Having created the arithmetical apparatus in the earlier chapters in this long chapter, Mahaviracharya applies it to solving many problems which one encounters in life such as money lending, number of combinations of given things, indeterminate equations of first degree etc.

Problem (VI. 128) : In relation to twelve (numerically equal) heaps of pomgranates which having been put together and combined with five of those (same fruits) were distributed equally among 19 travellers. Give out the numerical measure of (any) one heap.

Problem (VI. 218) : The number of combinations of n different things taken r at a time is.

$$\frac{n(n-1)(n-2)\cdots\cdots(n-r+1)}{1.2.3.\dots\dots r} \text{ or } \frac{n!}{r!\,(n-r)!}$$

It is interesting to note that this general formula was discovered in Europe as late as in 1634 by Herigone (Smith's History of Mathematics, Vol II). We may also recall here that the number 7 which occurs in Saptabhangi provides a simple example in the theory of permutations and combinations. A layman can verify that he can form seven and onlv seven different combinations of three distinct objects. Jainas have been using mathematics freely in their sacred literature from very remote antiquity. The above example supports this fact.

Problem (VI. 220) : O friend, tell me quickly how many varieties there may be, owing to variation in combination of a single-string necklace made up of diamonds, supphires, emeralds, corals and pearls ?

Problem (VI. 287) : What is that quantity which when divided by 7, (then) multiplied by 3, (then) squared, (then) increased by 5, (then) divided by 3/5, (then) halved and then reduced to its square root, happens to be 59.

Note the sheer devilry of it :

In chapters VII and VIII problems on measuration are treated. Some of the formulas used are noted here :

(1) The Pythagorean formula for the sides of a right-angled triangle is $a^2 = b^2 + c^2$ where a is the hypotenuse.

(2) Area of $\triangle$ ABC is

$\sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)}$ where $2s = a + b + c$.

(3) The area and the diagonals of a quadrilateral ABCD are :

$\sqrt{(s-a)(s-b)(s-c)(s-d)}$ where $2s = a + b + c + d$:

$\sqrt{\frac{(ac+bd)\ (ab+cd)}{ad+bc}}$ $\sqrt{\frac{(ac+bd)\ (ad+bc)}{ab+cd}}$.

It is unfortunate that both Mahaviracharya and his predecessor Brahmagupta made the common mistake of not mentioning the fact that these formulas hold for cyclic quadrilaterals only.

(4) $\pi = 3$ or $\sqrt{10}$

(5) The circumference of an ellipse whose major and minor axes are of lengths 2a and 2b is $\sqrt{24 b^2 + 16 a^2}$ which redues to $2 \pi a \sqrt{1 - \frac{3}{8} e^2}$ where e is the eccentricity. It is difficult to imagine, how Mahaviracharya could attain such a close apprximation without the help of the powerful tools available to us.

[By the Courtesy of Jain Sanskrati Sanrakshak Sangh, Sholapur.]

महाराष्ट्र के जैन शिलालेख

डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, भोपाल

पुरातन जैन मुनि-परम्परा का बीसवीं शताब्दी में पुनरुद्धार एक आश्चर्यकारी घटना थी। इसका जैन समाज के चारित्रिक उत्थान पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इस महत्कार्य के प्रेरणा स्रोत परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागरजी के पुण्यदर्शन का सौभाग्य मुझे १९५४ में म्हसवड ग्राम में प्राप्त हुआ था। उनकी स्मृति में ज्ञान प्रसार का कार्य प्रारम्भ कर फलटन की जिनवाणी जिर्णोद्धार संस्था वास्तविक प्रशंसा की अधिकारी सिद्ध हुई है। इसके रौप्य महोत्सव का वृत्त परम प्रसन्नता का विषय है। इस अवसर पर स्वर्गस्थ आचार्य श्री के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में महाराष्ट्र के कुछ जैन शिलालेखों का विवरण यहां दे रहा हूँ।

महाराष्ट्र के निश्चित इतिहास का प्रारम्भ ईसवी सन के प्रारम्भ के पूर्व पहली शताब्दी में सातवाहन राजवंश के साथ होता है। जैन कथाग्रन्थों में पादलिप्त, कालक आदि आचार्यों का सातवाहन राजाओं से सम्पर्क रहा था ऐसी कथाएं मिलती हैं। इन में सत्य का अंश कितना है यह अभी अभी तक अनिश्चित था। तीन वर्ष पूर्व पूना के निकट पाला ग्राम के समीपस्थ बन में एक गुहा में प्राप्त शिलालेख से अब यह प्रमाणित हो गया है कि सातवाहन युग में महाराष्ट्र में जैन श्रमणों का अस्तित्व था। इस लेख में पंच नमस्कार मंत्र की पहली पंक्ति अंकित है तथा गुहा और जलकुंड के निर्माण के प्रेरक आचार्य इन्द्ररक्षित का नाम भी है। महाराष्ट्र के जैन लेखों में यह सबसे पुरातन है।

सातवाहनों के बाद के वाकाटक और उनके बाद के चालुक्य राजवंश के समय के जैन लेख महाराष्ट्र में अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। कर्णाटक में चालुक्यों के समय के कई लेख अवश्य मिलते हैं। तदनन्तर इस प्रदेश में राष्ट्रकूट राजवंश का अधिकार रहा। इस वंश के कई जैन लेख कर्णाटक, गुजरात, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र इन चारों प्रान्तों में मिले हैं। महाराष्ट्र में प्राप्त लेखों में नासिक के पास वजीरखेड में प्राप्त दो ताम्रपत्रलेख महत्त्वपूर्ण हैं। सन ९१५ में राष्ट्रकूट सम्राट इन्द्रराज ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जैन आचार्य वर्धमान को अमोघ वसति और उरिअम्म वसति नामक जिन मन्दिरों की देखभाल के लिए कुछ गांव दान दिये थे ऐसा इन ताम्रशासनों में वर्णन है। इनमें से अमोघ वसति नाम से यह भी अनुमान होता है कि इन्द्रराज के प्रपितामह सम्राट अमोघवर्ष की प्रेरणा से वह जिन मन्दिर बनवाया गया होगा। इसी समय के आसपास अर्थात नौवीं-दसवीं शताब्दी के कुछ संक्षिप्त शिलालेख एलोरा के जैन गुहाओं में मिले हैं। इनमें नागनन्दि और दीपनन्दि इन आचार्यों के तथा उनके कुछ शिष्यों के नाम हैं। यहां का एक लेख राष्ट्रकूट-राज्यकाल के बाद का अर्थात तेरहवीं शताब्दी का है, इसमें गुहामन्दिर के निर्माता

के रूप में चक्रेश्वर नामक सज्जन की प्रशंसा मिलती है। राष्ट्रकूट राज्यकाल के अन्तिम समय में कर्णाटक में श्रवण बेलगुल की विन्ध्यगिरि पहाड़ी पर भगवान् गोम्मटेश्वर की महामूर्ति की स्थापना हुई जिसका संक्षिप्त उल्लेख 'श्रीचामुण्ड राजे करवियले' इस मराठी वाक्य में वहां अंकित है। यह मराठी के प्राचीनतम शिलालेखों में से एक है।

राष्ट्रकूटों के बाद कल्याण के चालुक्यों का महाराष्ट्र पर अधिकार रहा। इस वंश के सम्राट भुवनैकमल्ल के समय का सन १०७१ का एक लेख नान्देड के पास तडखेल ग्राम में मिला है जिसके अनुसार सेनापति कालिमय्य तथा नागवर्मा ने निगलंक जिनालय नामक मन्दिर को भूमि, उद्यान आदि अर्पण किये थे। इसी वंश के सम्राट त्रिभुवनमल्ल के समय का सन १०७८ का एक लेख सोलापुर के समीप अक्कलकोट में मिला है, इसमें भी एक जैन मठ के लिए भूमि आदि के दान का वर्णन है।

चालुक्यों के प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार वंश के राजा भोज के सामन्त यशोवर्मन् द्वारा कल्कलेश्वर के जिनमन्दिर को कुछ दान दिया गया था जिसका वर्णन बम्बई के समीप कल्याण में प्राप्त एक ताम्रशासन में मिलता है।

चालुक्यों के सामन्त शिलाहार वंश के राजा गण्डरादित्य द्वारा उसके सामन्त नोलम्ब को सन ११९५ में दो ग्रामों का अधिकार सौंपा गया था ऐसा कोल्हापुर के एक लेख से मालूम होता है। इसमें नोलम्ब को सम्यक्त्व-रत्नाकर तथा पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद ये विशेषण दिये हैं जिस से ज्ञात होता है कि वह जैन था। कोल्हापुर में ही प्राप्त एक अन्य लेख सन ११३५ का है। इसमें राजा गण्डरादित्य के सामन्त निम्बदेव द्वारा एक जिनमन्दिर के निर्माण का तथा वीरबलंज लोगों के संघ द्वारा आचार्य श्रुतकीर्ति को कुछ दान दिये जाने का वर्णन है। कोल्हापुर के सुप्रसिद्ध महालक्ष्मी मन्दिर में प्राप्त एक लेख में भी सामन्त निम्बदेव के जिनमन्दिर निर्माण का तथा आचार्य माघनन्दि का वर्णन मिलता है।

यादव वंश के राजा सेउणचन्द्र का एक लेख सन ११४२ का है। यह नासिक के पास अंजनेरी के गुहामन्दिर में प्राप्त हुआ है। चन्द्रप्रभ मन्दिर के लिए दिये गये कुछ दानों का इसमें वर्णन है। धूलिया के समीप मुलतानपुर में सन ११५४ के आसपास का एक लेख मिला है। इसमें पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य विजयकीर्ति का नाम अंकित हैं। अकोला के समीप पातूर से प्राप्त दो लेख सन ११८८ के हैं। ये इस समय नागपुर संग्रहालय में हैं। इनमें धर्मसेन, माणिकसेन आदि आचार्यों के नाम मिलते हैं। अकोला जिले में ही शिरपुर के जिनमन्दिर के द्वारपर एक लेख है जिस की तिथि कुछ अस्पष्ट है। बारहवीं-तेरहवीं सदी के इस लेख में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर का उल्लेख प्राप्त होता है।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त में महाराष्ट्र में मुस्लिम शासन स्थापित हुआ। इसके बाद के अधिकांश लेख मूर्तियों के पादपीठों पर तथा आचार्यों की समाधियों पर पाये जाते हैं। इनकी संख्या काफी अधिक है। महाराष्ट्र में जिनमन्दिरों की संख्या दो सौ से अधिक है तथा प्रत्येक मन्दिर में कुछ न कुछ मूर्तिलेख

अवश्य उपलब्ध होते हैं। नागपुर, कारंजा आदि स्थानों के ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं किन्तु अधिकांश स्थानों के लेख अभी अप्रकाशित हैं। इन लेखों से मध्ययुग में इस प्रदेश में विद्यमान आचार्यों और श्रावकों के विषय में बहुमूल्य सूचनाएं मिलती हैं। इनका इतिहास की दृष्टि से अध्ययन करने का प्रारम्भिक प्रयत्न हम ने भट्टारक सम्प्रदाय नामक ग्रन्थ में किया था। इस कार्य को आगे बढाना तथा महाराष्ट्र के समस्त मूर्तिलेखों का संकलन करना उपयोगी सिद्ध होगा।

इस लेख में वर्णित शिलालेख माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई (अब वाराणसी) द्वारा प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह में देखे जा सकते हैं। इसके चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं तथा पांचवे भाग का मुद्रण चल रहा है।

जैन कानून (Jain Law)

श्री. वालचंद पदमसी कोठारी, ॲड्व्होकेट, गुलबर्गा (म्हैसूर स्टेट)

प्रास्ताविक कथन

जैन धर्म स्वतन्त्र और अतिप्राचीन धर्म है। जैन धर्म, तत्त्वज्ञान, आचार और विचार पुरातन काल से चले आरहे हैं। उसी तौरपर 'जैन–लॉ' भी एक स्वतन्त्र सिद्धांत Jurisprudence है। जैनीयों के प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् (श्रीऋषभनाथ) के ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत चक्रवर्ती (Emperor) ने जैन कानून को बनाया था, और जैन कानून उपासकाध्ययन ग्रन्थ का एक विभाग था। लेकिन उपासकाध्ययन ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नहीं हो पाया।

उपासकाध्ययन के आधार से लिखी हुई कुछ पुस्तकें, वर्तमान काल में प्राप्त हुई है। उनके नाम– १ भद्रबाहु संहिता, २ वर्धमान नीति, ३ अर्हन्नीति, ४ इंद्रनंदीजिन–संहिता, ५ त्रिवर्णाचार, ६ श्री आदिपुराण।

ग्रन्थों का परिचय

१. **श्रीभद्रबाहु संहिता की** रचना श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली ने की थी। यह ग्रन्थ लगभग २४०० वर्ष पहले लिखा गया था। लेकिन यह ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं है। करीब ८०० वर्ष होने के बाद मौजुदा भद्रबाहु संहिता की रचना की जाना पाया जाता है। लेकिन इस ग्रन्थ का संकलन किसने किया मालूम नहीं हुआ।

२. **अर्हन्नीति और ३ वर्धमाननीति** को श्री हेमचंद्राचार्य ने संकलित किया ऐसा मालूम होता है।

वर्धमाननीति का संपादन श्री अमितगति आचार्य ने लगभग स. १०११ इ. में किया था। राजा भुंज के समय में श्री अमितगति आचार्य हुए थे। श्री भद्रबाहु संहिता और वर्धमाननीति के कुछ श्लोकों में समानता पायी जाती है।

४. **इंद्रनन्दी जिनसंहिता**—इसके रचयिता श्री वसुनन्दी इंद्रनन्दी स्वामी हैं। उपासकाध्ययन के आधार पर ये ग्रन्थ लिखे गए हैं।

५. **त्रिवर्णाचार**—स. १६११ इ. में श्री भट्टारक सोमसेन ने इसकी रचना की है।

६. **श्री आदिनाथ पुराण**—भगवत् जिनसेनाचार्य ने इ. स. ९०० शताब्दि में इस पुराण को लिखा है। वर्तमान काल में ये ग्रंथ उपलब्ध हैं, परन्तु इनमें से किसी में भी संपूर्ण जैन कानून का वर्णन नहीं मिलता। फिर भी कानून की कुछ आवश्यक बातों का इन ग्रंथों से पता चलता है।

१. ब्रिटिश अमल के काल में जैन लॉ की अवस्था

भारत में बिटिश शासन होने के बाद न्यायालय (civil courts) स्थापन हुये।

विरासत का कायदा (Succession Rights)

विभक्तपना (Partition)

दत्तक विधान (Adoption) और विधवा स्त्री का पति के जायदाद पर अधिकार (Widows' rights over her Husband's estate) वगैरह।

इन कानुन के बारे में जब जैन लोगों के मुकद्दमात कोर्ट में पेश होते थे तो शुरू में जैनीयों ने अपने जैन लॉ को न्यायालयों में पेश करने का विरोध किया। इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि न्याय करनेवाले (Judges) न्यायाधीशों ने यह निर्णय कर लिया कि जैनीयों का कोई स्वतंत्र जैन कानून नहीं है। परंतु न्यायालयों का इसमें कुछ अपराध नहीं। अगर जैन समाज जागृत रह कर अपना कानून अदालत में पेश करते तो उसकी मान्यता भी हो सकती थी। इस विषय में हिंदुओं ने बुद्धिमानी से काम लिया। और हिंदु लॉ के बारे में जो कुछ हिंदु शास्त्र थे अदालत में पेश किये और उनके आधारपर न्यायालयों में फैसले भी होते रहे।

उसी तौरपर मुस्लिम मौलवी और काजी मुस्लीम लॉ को (Mohammedan law) कोर्ट में पेश करते गये और विरासत वगैरे मामलत में मुस्लिम लॉ के अनुसार फैसले होते गये।

२. जैन लॉ का संकलन

श्री जुगमंदरलालजी जैन बॅरिस्टर ने (जो इंदोर हायकोर्ट के चीफ जज्ज भी थे) प्रथम बार इस दुरवस्था को देख कर जैन लॉ नाम का एक ग्रंथ तय्यार किया। जिसको १९१६ इ. में प्रकाशित कराया। लेकिन श्री जुगमन्दरलालजी को पर्याप्त अवकाश न मिलने से यह ग्रंथ भी अपूर्ण रूप रहा।

इसके पश्चात् स १९२१ इ. में जब डॉ. गौर का हिंदु कोड (Hindu code) प्रकाशित हुआ उसमें जैनीयों को धर्म–विमुख हिंदु (Hindu) लिखा।

इस हिंदु कोड के कारण जैन समाज में हलचल मची। इसका विरोध करने के लिये 'जैन लॉ कमिटी' कायम हुई लेकिन दूर देशांतर से सदस्य वक्तपर एकत्रित न हो सके इसलिये यह जैन लॉ कमिटी भी अपने उद्देशों को पुरा न कर सकी।

ऐसी दुरवस्था हो गई। श्रीमान चंपतरायजी जैन बॅरिस्टर ने जैन लॉ का संकलन करके स. १९२६ इ. में इस पुस्तक को लंडन में प्रकाशित किया और भारत में वापिस लौटने के बाद 'जैन कानून' के नाम से स. १९२८ इ. में हिंदी में प्रकाशित किया।

'जैन लॉ' इस उद्देश से तय्यार किया गया कि जैन लॉ फिर स्वतंत्रतापूर्वक एक बार प्रकाश में आकर कार्य में परिणत हो सके, और जैन लोग अपने हि कानून के पाबंद रहकर अपने धर्म का समुचित पालन कर सके।

'जैन के' मित्र संपादक श्री मूलचंदजी कापडिया ने इस हिंदी जैन कानून को पुनरपि स. १९६९ इ. में सुरत से प्रकाशित किया है।

'जैन लॉ' की नीति (system) एक ऐसे दृष्टिकोन पर निर्भर है जिसमें किसी दूसरी रीतिक्रम (system) के प्रवेश कर देने से सामाजिक विचार और आचार की स्वतंत्रता का नाश हो जाता है और जैन धर्म के पालन में शिथिलता पैदा होती है।

जैन लॉ को, हिंदु लॉ या मुस्लिम लॉ को जो श्रेणी (Status) प्राप्त हुआी है वैसी श्रेणी प्राप्त नहीं हो सकी।

जब कोई रीतिरिवाज (customs and usage) हिंदु लॉ से भिन्न होना जैन लोग बयान करें तो उसको साबित करने का उत्तरदायित्व जैनियों पर ही रखा जाता है। लेकिन यह बहुत कठिन काम हो गया है।

कानून के जाननेवाले जानते हैं कि किसी विशेष रिवाज को प्रमाणित करना बहुत प्रयत्नसाध्य कार्य है। सैंकडो साक्षी और उदाहरणों द्वारा इसको साबित करने की आवश्यकता होती है। जो छोटे मुकद्दमेवालों की हैसीयत के बाहर होता है।

इतना कष्ट लेने के बाद भी, न्याय मिलेंगा ऐसा विश्वास नहीं रहता।

इस प्रकार और भी हानियां है। वे उसी समय दूर हो सकेंगी जब जैन लॉ पर अदालत में अमल होता रहेगा।

३. जैन धर्मप्रणालि और हिंदु धर्मप्रणालि में कुछ भिन्नताएँ

(१) जगत् को (विश्व को) जैन अनादि मानते हैं; यह जगत् ईश्वर निर्मित है ऐसा हिंदु मानते हैं।

(२) जैन तीर्थंकरों की–[परमात्मा पद को प्राप्त होनेवाले महापुरुषों की] मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापन करके जैन उनकी पूजा करते हैं। लेकिन हिंदु परंपरा से प्रयत्नसाध्य परमात्मपद की कल्पना नहीं है।

जैन मत में देवताओं को भोग लगाना और देवता अपनी इच्छा तृप्ति करें ऐसी प्रार्थना करना मिथ्यात्व माना जाता है, लेकिन हिंदु मत में देवताओं को प्रसन्न करना, उनसे अर्थ प्राप्ति की सिद्धि कल्पना है।

(३) हिंदु वेद को मानते हैं; जैनी वेद को नहीं मानते।

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का पालन करना इसको धर्म कहा गया है।

चार घातीया कर्म का नाश होने के बाद केवलज्ञान प्राप्त होता है उसी अवस्था को अरिहंत कहते हैं। ऐसे केवलज्ञानीयों ने जिन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है उन पर अटल श्रद्धा रखना इसे सम्यग् दर्शन कहते है। यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान चार प्रकारों में पाया जाता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को पालन करने से गृहस्थ का सम्यक् चारित्र होता है।

४. किसी बच्चे को दत्तक लेना केवल व्यावहारिक दृष्टि से (In a Secular way) जैन मानते हैं।

पारलौकिक सुख के प्राप्ति की इच्छा से जैन दत्तक को नहीं लेते। जैन मतानुसार पुत्र के होने न होने से कोई मनुष्य पुण्य पाप का भागीदार नहीं बनता। तीर्थंकर पुत्र न होते हुये भी मुक्त स्थिति को प्राप्त हुये है। और बहुत से मनुष्य पुत्रवान होते हुये भी अपने कर्मानुसार नरक गति को प्राप्त हुए हैं। हिंदु धर्म में दत्तक लेना एक धर्मविधि है। पारलौकिक सुख प्राप्त करने के हेतु से हिंदु धर्म में दत्तक लेना अवश्य समझते हैं।

५. **स्त्रियों के अधिकार**—पति से प्राप्त हुये जायदाद पर जैन लॉ के अनुसार पूरे होते हैं परन्तु हिंदु लॉ के अनुसार स्त्रियों को सिर्फ जीवन पर्यंत (Life estate) का अधिकार होता है।

६. हिंदु लॉ में एकत्र कुटुंब और अविभाजित एस्टेट (Joint family & Joint property) की प्रशंसा की गई है लेकिन जैन लॉ में उसका निषेध न करते हुए विभक्त दशा का आग्रह किया गया है ताकि धर्म की वृद्धि हो।

भारत स्वतंत्र होते के बाद हिंदु लॉ के विरासत और दत्तक सम्बन्धी मान्यता में बहुत फरक हो गया है।

१. हिंदु विरासत का कायदा स. १९५६ (Hindu Succession Act 1956) अमल में आया है। बुद्ध, जैन और सीख धर्मी लोक भी इस कानून के पाबंद किये गये हैं। इस कानून के दफा १४ के लिहाज से किसी हिंदु स्त्री के कब्जे में जो कुछ जायदाद आई हो उस जायदाद की वह स्त्री पूर्ण मालिक बन जाती है।

२. हिंदु दत्तक और भरण पोषण का कायदा १९५६ (Hindu Adoption & Maintenance Act 1956) पास हुआ है इस कानून के दफे ११ के लिहाज से दत्तहोम का

करना जरुरी नहीं बतलाया गया, और दफा १२ के लिहाज से दत्तक पुत्र दत्तक माता-पिता की इस्टेट में उनकी हयाती में कोई हक्क प्राप्त नहीं कर सकता। सिर्फ रिश्ते के लिहाज से दत्तक पुत्र समझा जाता है। इन दोनों नये कानून में जैन लॉ की मान्यताओं को अंशतः स्वीकार किया है।

५. जैनीयों के बारे में न्यायालयों के कुछ महत्त्व के फैसले

(१) ऑल इंडिया रिपोर्टर १९६२ सुप्रीम कोर्ट पान १९४३ (A. I. R. 1962 S. C. 1943)

मुन्नालाल बनाम राजकुमार वगैरह—

इस मुकद्दमे के दोनों पार्टी जैन थे। जायदाद के विभक्त करने का (Partition suit) दावा था। एकत्र कुटुंब के विधवा स्त्री ने दत्तक लिया था। उस विधवा ने दत्तक लेने के लिए अपने पति की आज्ञा भी (permission) नहीं ली थी। कुटुंब के अन्य लोगों ने इसका विरोध किया था। तहत की कोर्ट ने जिसको दत्तक लिया था उसको मंजुर किया और वही फैसला हायकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट से बहाल रखा गया। विभाजन की प्राथमिक डिक्री (preliminery) विधवा के हक्क में हुई थी। लेकिन प्रत्यक्ष बटवारे (Actual position) के पहिले ही विधवा का स्वर्गवास हुआ तो भी विधवा का वारस पुत्र उस विभाजन में अपना हिस्सा पा सकता है ऐसा सुप्रीम कोर्ट ने फैसला किया।

(२) ऑल इंडिया रिपोर्टर सन १९६८ कलकत्ता ७४ (A. I. R. 1961 Cal. 74)

कमीश्नर वेल्थ टॅक्स प. बंगाल बनाम चंपाकुमारी सिंधी—

इस मुकद्दमे में कलकत्ता हायकोर्ट ने फैसला किया कि जैन वेदों को नहीं मानते। हिंदुओं के क्रिया कांड को जैन नहीं स्वीकार करते। हिंदुओं से धर्म-विमुख हिंदु (Hindu) जैनियों को मानना सही नहीं है।

जैन हिंदु नहीं है इस वजह से—

हिंदु शादी का कायदा १९५५ (Hindu marriage Act 1955) और हिंदु विरासत का कायदा १९५६ (Hindu succession Act 1956) जैनीयों को यह कानून लगाया गया है। इससे मालूम होता है कि हिंदु से जैन अलाहिदा हैं।

इस मुकदमे में हिंदु एकत्र कुटुंब के समान जैन एकत्र कुटुंब पद्धति नहीं है ऐसा तय किया गया है।

अंतिम निवेदन

न्यायालयीन फैसलों के अनुसार जैन धर्म स्वतंत्र है और हिंदुधर्म भी एक स्वतंत्र धर्म है; परंतु जैनीयों को हिंदु धर्म से विमुख समझना सही नहीं है। जैनीयों का तत्त्वज्ञान और उसके श्रद्धान के अनुसार जो जैन समाज रचना है ऐसी समाज व्यवस्था जैन धर्मप्रणाली के अनुसार कायम रह सके ऐसा प्रयत्न करना हर जैनीका कर्तव्य है और इसी ध्येय पूर्ति के लिये जैन लॉ पर अमल हो सके ऐसा समुचित प्रयत्न होना जरूरी है।

कर्नाटक जैन साहित्याची प्राचीन परंपरा

श्री विद्यावाचस्पति पं. वर्धमान पा. शास्त्री विद्यालंकार

कर्नाटक प्रांतातील प्राचीन विद्वानांनी जैन संस्कृती व साहित्य यांच्या रक्षणार्थ सतत योगदान व प्रयत्न केले आहेत. आजही पुरातत्त्व, साहित्य, स्थापत्य आदि प्रांतांमध्ये जैन लोक विपुल प्रमाणामध्ये आहेत. त्यांच्या दर्शनाने समस्त जग आश्चर्यकित होते.

भगवान् बाहुबलीची विशालकाय मूर्ती, बेलूर येथील कलामय सोमनाथ मंदिर, हळेबीड येथील दर्शनीय शांतिनाथ देवालय, मूडबिद्री येथील नवरत्न निर्मित प्रतिमा आणि त्रिभुवनतिलक चूडामणी बसदि आदि आजही या प्रांताची प्रेक्षणीय स्थळेच नव्हे तर या प्रांताचे वैशिष्ट्य व्यक्त करतात. जैन साहित्याचा प्रसार आणि संरक्षण करण्याचे श्रेय बव्हंशाने या प्रांताला दिले पाहिजे. कारण, षट्खंडागम सदृश सिद्धांत ग्रंथाची सुरक्षा, केवळ या प्रांतातील श्रद्धावान् बांधवांच्या कृपेने होऊ शकली. हा एक स्वतंत्र विषय आहे. या लेखाचा विषय फक्त कर्नाटक जैन साहित्याच्या परंपरेचा परामर्श घेणे हा आहे.

कर्नाटक जैन साहित्याची परंपरा

कर्नाटक साहित्य परंपरेचा संबंध फार प्राचीन कालाशी जोडता येईल. भगवान् आदिप्रभूची कन्या ब्राह्मीने कन्नड लिपीची निर्मिती केली, हे कथन प्राचीन परंपरेपासून येत आहे. परंतु आज ऐतिहासिक दृष्टीने या साहित्याची परंपरा किती प्राचीन आहे याचा विचार करावयाचा आहे. अनेक ग्रंथांच्या अवलोकनाने हे ज्ञात झाले आहे की प्राचीन आचार्ययुगात कर्नाटक ग्रंथकर्त्यांचे अस्तित्व होते आणि कर्नाटक साहित्यनिर्मितीचे सर्वप्रथम श्रेय जैन ग्रंथकर्त्यांनाच मिळालेले आहे. या विषयात आजच्या साहित्य जगामध्ये कोणताही मतभेद नाही. केवळ प्राचीनतेबद्दलच नव्हे, तर विषयप्रतिपादन, सरस शैली आदि विषयींही आज कर्नाटक जैन साहित्यालाच प्रथम स्थान द्यावे लागेल, म्हणून आज अनेक विद्यापीठांच्या अभ्यासक्रमात जैन साहित्यग्रंथच नियुक्त आहेत आणि जैनेतर विद्वानांनी या जैन साहित्याची मुक्तकंठाने प्रशंसा केली आहे. या दृष्टीने कर्नाटक जैन साहित्यपरंपरा फार प्राचीन आणि महत्त्वाची आहे हे निर्विवाद सिद्ध होते.

प्राचीन काळात या साहित्यसेवी कवींना राजाश्रय मिळाला होता. गंग, पल्लव, राष्ट्रकूट, होयसळ, आदि राजवंशांच्या कारकिर्दीत या कवींना विशेष प्रोत्साहन मिळाले. या कवींद्वारा या राजेलोकांना राज्यशकट निर्वेधपणे चालविण्यासाठी बळ मिळाले होते, हे विविध प्रसंगांतील घटनांनी सिद्ध झाले आहे.

राष्ट्रकूट शासक नृपतुंग नवव्या शतकात होवून गेला. त्याने कविराज मार्गाची रचना केली. कविराज मार्ग हा कर्नाटक साहित्याच्या दर्शनाकरिता दर्पणाप्रमाणे आहे. या ग्रंथाच्या अध्ययनाने असे अनुमान करता येईल की नृपतुंगाच्या पूर्वीही कर्नाटक साहित्याची रचना झाली आहे. त्याच्या पूर्वी जुनी कन्नड म्हणजे जिला हळे कन्नड म्हणतात, तीतून ग्रंथांची रचना होत असे. कविराज मार्गामध्ये नृपतुंगाने काही हळे कन्नड काव्यप्रकारांचा उल्लेख केला आहे. त्याशिवाय ग्रंथकाराने काही प्राचीन कवींचाही निर्देश केला आहे.

श्रीविजय, कविपरमेश्वर, पंडितचंद्र आदि कवींचे ग्रंथकर्त्याने स्मरण केले आहे. महाकवि पंपनेही समंतभद्र, कवि परमेष्ठी, पूज्यपाद आदींचे स्मरण केले आहे.

समंतभद्र आणि पूज्यपाद यांचा काळ फार प्राचीन आहे. या आचार्यांची जन्मभूमि आणि कर्मभूमि कर्नाटकच आहे. म्हणून अनुमान करू शकतो की या आचार्यांनीही कर्नाटक भाषेत काही रचना केल्या असतील. परंतु सध्या काही उपलब्ध नाही. पूज्यपादांच्या अनेक ग्रंथांची कर्नाटक टीका उपलब्ध आहे. समंतभद्र यांच्या ग्रंथावरील जुन्या कन्नडमधील टीका मिळाली आहे. म्हणून त्या काळातही कर्नाटक साहि-त्याची सृष्टी होती या अनुमानाला फार प्रबळ जागा आहे.

नृपतुंगाने उल्लेखिलेल्या श्रीविजयनेही काही कर्नाटक ग्रंथांची रचना केली असावी. काही उत्तरे-कडील ग्रंथांतही काही ठिकाणी यांचा उल्लेख मिळतो.

या श्रीविजयाबरोबरच कवीश्वर किंवा कवि परमेष्ठीचा उल्लेख येतो. तेही एक प्राचीनतम कवि आहेत असे निस्संशय प्रतिपादन करता येईल. या कवीची रचना महापुराणकार भगवज्जिनसेन आणि गुणभद्रांच्याही आधी अस्तित्वात असावी असे सांगता येईल. कारण भगवज्जिनसेनांनीही आपल्या आदि-पुराणामध्ये यांचा आदराने उल्लेख केला आहे.

सः पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ।।

आदिपुराण पर्व, १, श्लोक ६०

याचप्रमाणे उत्तरपुराणामध्येही आचार्य गुणभद्र यांनी वरील कवि परमेश्वरांचा उल्लेख केला आहे. या उल्लेखामुळे हा निष्कर्ष काढता येईल की जिनसेन आणि गुणभद्रांच्या आधीच त्रिषष्टि शलाका पुरुषांचे चरित्र कवि परमेष्ठीकडून रचले गेले होते. आणि तो ग्रंथ कर्नाटक भाषेतील होता. कदाचित् तो ग्रंथ संक्षिप्त असेल, परंतु भगवज्जिनसेनादिकांनी त्याचा विस्तार केला असावा.

या सर्वांचा उल्लेख करण्याचा आमचा मुख्य हेतु हा की कर्नाटक जैन साहित्याची परंपरा फार प्राचीन आहे. जिनसेन गुणभद्रांच्या युगाच्या आधी कितीतरी शतकापूर्वीपासून कर्नाटक ग्रंथांची रचना होत आली आहे. यासंबंधीचे उल्लेख उत्तर काळातील ग्रंथांत आढळतात. त्यापूर्वीचे अनेक शिलालेखही उपलब्ध

होतात. इकडच्या तिकडच्या या प्राचीन ग्रंथांचे नामोल्लेख मिळतात. दुर्दैव हे की ते ग्रंथ मात्र आज उपलब्ध होत नाहीत. काळाच्या उदरात गडप झाले आहेत. यासंबंधी आम्ही फक्त दिग्दर्शनच केले आहे. विशेष विस्तार केल्यास स्वतंत्र ग्रंथच तयार होईल.

जैन कवींनी कर्नाटक भाषेत गद्यकाव्य आणि पद्यकाव्यांची रचना केली आहे. आदिकवि पंप याने चंपूकाव्यानेच आपल्या साहित्यकलेचा श्रीगणेश केला आहे. चंपूकाव्यामध्ये गद्य आणि पद्याचे मिश्रण असते, वाचकांना वाचतांना कंटाळा येत नाही. विभिन्न प्रतिपादन, विभिन्न रसास्वादन, आदि या चंपूकाव्यामध्ये अनुभवात येत असल्यामुळे साहित्यभोग्यांना विशेष आनंदच येत असतो.

पंप महाकवि

महाकवीने क्रि. शक ९४१ मध्ये आदिपुराण आणि पंप–भारताची रचना केली आहे. सदर रचना चंपू काव्यामध्ये आहे. चंपू काव्याचा पंपकविच आद्यजनक होता असे सांगता येईल. पंपाच्या या चंपू काव्याला कर्नाटक साहित्यात विशेष महत्त्वाचे स्थान आहे.

पंप मूळचा वैदिक ब्राह्मण, अर्थात् त्याचे पूर्वज वैदिक होते. परंतु त्याचे वडील अभिराम हे जैनधर्माच्या महत्तेने प्रभावित होऊन जैन बनले. म्हणून पंपाच्या जीवनावर जैनधर्माचे संस्कार बिंबले हे साहजिकच आहे.

सर्वप्रथम महाकवीने आदिपुराणाची रचना केली आहे. आदिपुराणाची रचना मुख्यत: भगवज्जिनसेन आचार्यविरचित आदिपुराणाची कथावस्तु समोर ठेवून कवीने केली आहे. तथापि त्याची शैली स्वतंत्र आहे. मूल संस्कृत महापुराणामध्ये आचार्यांनी केवळ कथासाहित्याची निर्मिती केली नाही, तर वेळप्रसंगी धर्मबोध, आचार व तत्त्वप्रतिपादनाचीही दृष्टि ठेवली आहे. त्याप्रमाणे पंप महाकवीने आपल्या ग्रंथात साहित्य आणि धर्मबोध, या उद्देशांना साधले आहे. आदिपुराणामध्ये भगवान् आदिप्रभूचे चरित्र मोठ्या सरस शैलीने चित्रित केले आहे. भोग आणि योगाची सुंदर तुलना करीत कवीने ग्रंथात सर्वत्र भोगविरक्तीचा उपदेश दिला आहे.

पंपाची दुसरी रचना पंपभारत आहे. याचा विषय भारत महाकाव्य आहे. तत्कालीन राजा प्रभु अरिकेसरीला अर्जुन मानून त्याची ठिकठिकाणी प्रशंसा केली आहे. अर्जुनाबरोबर आपल्या राजाची तुलना करण्याच्या तंद्रीत असता कोठे कोठे कथावस्तूमध्ये किंचित् फरकही कवीला करावा लागला आहे. तरीही काव्याची महत्ता काही कमी झालेली नाही. या काव्यामध्ये कवीचे काव्यनैपुण्य उठून दिसते. हा कवि कर्नाटकातील आद्य साहित्यकार म्हणून संबोधला जातो. जैन जैनेतर सर्व साहित्यक्षेत्रामध्ये पंपाच्या साहित्याला फार उच्चस्तरीय आदराचे स्थान आहे. म्हणूनच प्राय: नंतरच्या ग्रंथकारांनी पंपाचे स्मरण आदराने केले आहे. त्यानंतरच्या कवि नागचंद्रांनी रामायणाची रचना करून स्वतःचा अभिनव पंप म्हणून उल्लेख केला आहे. यावरूनही पंपाचे ज्येष्ठ व्यक्तित्व कळून येण्यासारखे आहे.

कवि पोन्न

महाकवि पंपानंतर पोन्न नावाचा कवी झाला. इतिहासज्ञ विद्वानांच्या मते याचा काळ इ. स. ९५० मानला जातो. यानेही पंपाप्रमाणे दोन धार्मिक आणि एक लौकिक अशा ग्रंथांची रचना केली आहे. या कवीच्या रचनेमध्ये मुख्यतः शांतिनाथ पुराणाचा उल्लेख करता येईल. यात पंचमचक्रवर्ती भगवान् शांतिनाथ तीर्थंकराचे चरित्र अत्यंत सरस शैलीने वर्णित आहे. या कवीचा दुसरा लौकिक ग्रंथ भुवनैक रामाभ्युदय आहे. तो उपलब्ध नाही. याशिवाय जिनाक्षरमाला नामक स्तोत्रग्रंथाचीही या कवीने रचना केली आहे. याचेही कर्नाटक साहित्यक्षेत्रात उच्चतर स्थान आहे. यास कवि-चक्रवर्ती, उभयभाषा--कवि-चक्रवर्ती, आदि पदव्या होत्या. नंतरच्या कवींनी याचे समादरपूर्वक स्मरण केले आहे.

कवि रन्न

पोन्नानंतर महाकवि रन्नाचा नामोल्लेख करणे उचित आहे. तो इ. स. ९९३ मध्ये झाला. हा जैन वैश्य होता. मुधोळ येथे सामान्य कासार कुलात उत्पन्न होऊनही संस्कृत आणि कन्नड भाषेमध्ये गंभीर पांडित्य मिळविले होते. या कवीने अनेक सुंदर ग्रंथांची रचना करून कर्नाटक साहित्याची कीर्ती जगभर पसरविली होती. साहित्यजगावर महान् उपकार केले होते. याच्या काही रचना उपलब्ध आहेत. अजित-पुराण हे याचे सुंदर कलापूर्ण साहित्य आहे. या ग्रंथाची महत्ता जाणून त्या वेळच्या राणी अत्तिमब्बे यांनी या ग्रंथाच्या एक हजार प्रती ताडपत्रावर लिहून घेऊन वितरण केल्या आहेत. यावरून तिचे साहित्यप्रेम आणि रन्न-साहित्याची उच्चता सहज कळून येईल. याचे परशुरामचरित, चक्रेश्वर पुराण आदि ग्रंथ उपलब्ध नाहीत. हाही कवी कर्नाटक साहित्यातील कविशिरोमणी आहे. पंप, रन्न आणि पोन्न हे कविरत्नत्रय म्हणून कर्नाटक साहित्यक्षेत्रात प्रसिद्ध आहेत. यावरूनही यांची महत्ता कळून येईल.

कवि चामुंडराय

याच वेळचा एक कवि चामुंडराय हा इ. स. ९६१ ते ९९४ पर्यंत गंगवाडीचे राजा मारसिंह राचमल्लचा सेनापति होता. याने चामुंडराय पुराणाची रचना केली आहे. हा चतुर्विंशती तीर्थंकरांचे वर्णन करणारा गद्य ग्रंथ आहे. कदाचित् शुद्ध गद्य ग्रंथाची निर्मिती करण्याची प्रथा या कवीनेच पाडली असावी. याप्रमाणे शिवकोटीनेही वड्डाराधने नावाच्या गद्य ग्रंथाची रचना केली आहे.

काही अन्य कविगण

यानंतर जवळ जवळ अकराव्या शतकात धर्मामृताचा कर्ता कवि नयसेन, लीलावती प्रबंधाचा कर्ता नेमिचंद्र, कब्बिगर काव्य निर्माता अंडय्या यांचा उल्लेख करता येईल. या कवींनी धर्मोपदेश देण्याच्या निमित्ताने विविध प्रमेये निवडून ग्रंथ निर्माण केला आहे. कथासाहित्याच्या रूपाने अहिंसादि धर्मांचे पोषण या ग्रंथामुळे होते. याच काळात इतर अनेक कवि होवून गेले. त्यांनी आपल्या जीवनातील पुण्यमय काळाला चतुर्विंशती तीर्थंकरांचे चरित्रनिर्मितीमध्ये घालविला. त्यांपैकी काही कवींचा नामोल्लेख मात्र येथे आम्ही

करतो. परिचय दिल्यास लेख वाढेल. त्यातील उल्लेखनीय कवि खालील प्रमाणे आहेत. नेमिनाथ पुराणाचा कर्ता कवि कर्णपार्य (११४०), चंद्रप्रभ पुराणाचा कर्ता अग्गलदेव (११८९), वर्धमान चरित्राचा कर्ता कवि आचण्णा (११९५), पुष्पदंत पुराणाचा निर्माता कवि गुणवर्म (१२३५), शांतीश्वर पुराणाचा रचयिता कवि कमलभव (१२३५), नेमिनाथ पुराणाचा रचयिता कवि महाबल (१२५४), धर्मनाथ पुराणाचा कर्ता मधुर कवि (१३८५) यांचा खास उल्लेख करता येईल. या सर्वांच्या रचना महत्त्वपूर्ण आहेत.

कविचक्रवर्ती जन्न

इ. स. ११७० ते १२३५ पर्यंत जन्न महाकवी होवून गेला. त्यांनी आपल्या कृतीने कर्नाटक साहित्यामध्ये मोठी भर घातली आहे. जन्न महाकवी विरचित यशोधरचरित प्रसिद्ध आहे. त्यात काव्य-माधुर्याबरोबर कवीने रचनाकौशल्य व्यक्त केले आहे.

या ग्रंथाचे प्रमेय यशस्तिलक चंपू महाकाव्य हे आहे. राजा यशोधराच्या रहस्यमय जीवनाचे चित्रण करून जीवदयाष्टमी कथेचा सूत्रपात या काव्याने केला आहे. संस्कृत साहित्यामध्ये सोमदेवाच्या यशस्तिलकाला जे स्थान आहे तेच स्थान कर्नाटक साहित्यामध्ये जन्नाच्या यशोधरचरिताला आहे. हा कवि कविचक्रवर्ती उपाधीने विभूषित होता.

याच वेळी हस्तिमल्ल झाला. तो उभयभाषाचक्रवर्ती होता. त्याने गद्यमय आदिपुराणाची रचना केली होती. हा कवि १२९० मध्ये होवून गेला. या कवीचे काही संस्कृत ग्रंथही आहेत.

अभिनव पंप कवि नागचंद्र

बाराव्या शतकात नागचंद्र नावाचा विद्वान् कवि होवून गेला. त्याने रामायणाची रचना केली आहे. त्याची ही रचना फार सुंदर आहे. त्याने स्वतःला अभिनव पंप या नावाने संबोधित केले आहे. या कवीने विजयपुरात मल्लिनाथ भगवंताच्या जिनालयाची निर्मिती करविली आणि त्याच्या स्मरणार्थ मल्लिनाथ पुराणाची रचना केली असावी.

यानंतर १४ व्या शतकात भास्कर कवीने जीवंधरचरित काव्याची रचना भामिनी षट्पदी छंदामध्ये सुंदर शैलीने केली आहे. कवि बोम्मरस यांनी सनत्कुमार चरित्र आणि जीवंधर चरित्राची रचना केली याचाही उल्लेख करणे जरूर आहे.

तसेच १६ व्या शतकाच्या प्रारंभी मंगरस कवीने सम्यक्त्व-कौमुदी, जयनृप काव्य, नेमिजिनेश संगति, श्रीपाल चरित्र, प्रभंजन चरित्र आणि सूप शास्त्र आदि ग्रंथांची रचना केली आहे. याचप्रमाणे साळ्व कवीने भारत आणि कवि दोड्डय्याने चंद्रप्रभ चरित्र याचे निर्माण याच काळात केले आहे.

महाकवि रत्नाकर वर्णी

यानंतर महाकवि रत्नाकर वर्णी यांचा उल्लेख मोठ्या आदराने साहित्यजगात करावा लागेल. त्यांनी भरतेश वैभव नामक मोठ्या आध्यात्मिक सरस ग्रंथाची रचना केली आहे. यात सुमारे १०००० सांगत्य

श्लोक आहेत. कवीचे वर्णनचातुर्य, पदलालित्य, भोगयोगाचे प्रभावक वर्णन आदि उल्लेखनीय आहे. या ग्रंथाला कवीने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय आणि अर्ककीर्तिविजयच्या नावाने विभक्त करून पंचकल्याणाचे रूप दिले आहे. याचा काळ इ. स. १५५७ चा आहे. या महाकाव्यात आदिप्रभूचा पुत्र भरतेश्वरास आपला कथानायक निवडून त्याच्या दिनचर्येचे वृत्त अत्यंत आकर्षक शैलीने वर्णिले आहे. हे महाकाव्य म्हणजे आध्यात्मिक सरस कथा आहे. या ग्रंथाचा समग्र हिंदी अनुवाद या लेखाच्या लेखकाने केला आहे आणि अनेक आवृत्या निघाल्या आहेत. या सरस काव्याचा मराठी, गुजराती अनुवादही झाला आहे. इंग्रजी अनुवादही होत आहे. भारत सरकारने या ग्रंथास भारतीय गौरव ग्रंथाच्या रूपाने स्वीकृत केला आहे. यावरून या ग्रंथाची महत्ता सहज कळून येईल.

या महाकवीने या बृहद्ग्रंथाशिवाय रत्नाकर शतक, अपराजित शतक आणि त्रिलोक शतक नामक शतकत्रय ग्रंथांची रचना करून आध्यात्मिक जगावर मोठा उपकार केला आहे. त्याचप्रमाणे सुमारे २००० चे ही वर आध्यात्मिक पदांची रचना या कवीने केली आहे.

सांगत्य युगातील अन्य कवि

यानंतर सांगत्य छंदामध्ये अनेक कवींनी ग्रंथरचना केली आहे. बाहुबली कवीने (१५६०) नागकुमार चरिते, पायण्ण व्रतीने (१६०६) सम्यक्त्व कौमुदी, पंचवात (१६१४) भुजबलि चरिते, चंद्रभ कवीने (१६४६) कारकल गोम्मटेश चरिते, धरणी पंडितने (१६५०) विज्जणराय चरिते, नेमि पंडिताने (१६५०) सुविचार चरित्र, चिदानंद कवीने (१६८०) मुनिवंशाभ्युदय काव्य, पद्मनाभ पंडिताने (१६८०) जिनदत्तराय चरिते, पायण कवीने (१७५०) रामचंद्र चरिते, अनंत कवीने (१७८०) श्रवण बेळ्गुळ गोम्मटेश चरिते, धरणी पंडिताने वरांगचरित्र, जिनभारत, चंद्रसागर वर्णीने (१८१०) रामायण या ग्रंथाची रचना केली आहे. याच सुमारास चारू पंडिताने भव्यजन चिंतामणि आणि देवचंद्र कवीने राजाबली कथाकोष नामक ऐतिहासिक ग्रंथांची रचना केली आहे.

पंप महाकवीच्या युगाला चंपूयुग म्हणता येईल तर रत्नाकर वर्णीच्या युगाला सांगत्य युग म्हणता येईल. हे दोघेही महाकवी निस्संदेह युगपुरुष आहेत.

विभिन्न विषयांतील कर्नाटक साहित्य

नृपतुंगविरचित कविराजमार्ग हा लक्षण ग्रंथ आहे. यात कवींना राजमार्गच दाखविला आहे. त्याचप्रमाणे नागवर्माचे छंदोदधि नामक ग्रंथात छंदविषयक आणि दुसरे नागवर्माच्या भाषाभूषणामध्ये व्याकरण-विषयक प्रतिपादन आहे. काव्यावलोकन (काव्यालंकार), वस्तुकोष (कोष), भट्टाकलंकाचे शब्दानुशासन (व्याकरण), केशीराजचे शब्दमणिदर्पण, साळ्व विरचित रसरत्नाकर, देवोत्तम रचित नानार्थ रत्नाकर (कोष), शृंगार कवीचे कर्नाटक संजीवन, (कोष) आदि ग्रंथ आपआपल्या विषयाचे समीचीन ज्ञान देणारे आहेत. यावरून कर्नाटक साहित्यकारांच्या विविध विभागाच्या सेवा व्यक्त होतात.

याचप्रमाणे वैद्यक, ज्योतिष आणि सामुद्रिकादि विषयांवरही कर्नाटकातील कवींनी ग्रंथरचना केली आहे. यांतील अनेक ग्रंथ उपलब्ध नाहीत. काही उपलब्ध आहेत. कल्याणकारक वैद्यक (सोमनाथ), हस्त्यायुर्वेद (शिवमारदेव), बालग्रहचिकित्सा (देवेंद्रमुनि), मदनतिलक (चंद्रराज), स्मरतंत्र (जन्न) आदि ग्रंथही उल्लेखनीय आहेत. याशिवाय ध्यानसारसमुच्चय आदि योगविषयक ग्रंथांची रचनाही झाली आहे.

याचप्रमाणे ज्योतिषासंबंधी ग्रंथांमध्ये श्रीधराचार्य विरचित जातकतिलक (१०४९), चाउण्डरायाचे लोकोपकारक (सामुद्रिक), जगबंधुनंदनचे सूप शास्त्र, राजादित्याचे गणितशास्त्र, अर्हद्दास कवीचे शकुनशास्त्र आदि ग्रंथांचाही उल्लेख येथे नमूद करणे जरूर आहे. अनेक ग्रंथकारांची नावे येथे स्थलाभावी आम्ही व्यक्त करू शकलो नाही. एवढयावरूनच या भाषेतील ग्रंथसंपत्तीची कल्पना येईल.

उपसंहार

यावरून स्पष्ट होते की कर्नाटक प्रांतीय प्राचीन जैन कवींनी फार प्राचीन काळापासूनच साहित्य-परंपरेची जोपासना केली आहे आणि साहित्याच्या माध्यमाने जगाच्या विविध अंगांची सेवा केली आहे. पुष्कळसे साहित्य नष्टभ्रष्ट झाले, विकृत झाले. उरलेले साहित्यही अल्पप्रमाणात नाही. कोणत्याही समाजास अभिमान वाटावा, आणि साहित्यिक समाजाने आदराने स्मरण करावे या प्रमाणात आज कर्नाटक जैन साहित्य उपलब्ध आहे. ही परंपरा कर्नाटक जैन कवींनी निर्माण केली आहे. खरोखर जैन समाजासाठी ही अभि-मानाची गोष्ट मानली जाईल. परंतु या पावन परंपरेचे रक्षण करण्याची जबाबदारी आजच्या पिढीवर आहे. ती पार पाडण्यास आपण समर्थ ठरलो तर भूषणावह आहे. नाही तर फक्त पूर्वजांचे नाव घेऊन जगणाऱ्या पुरुषार्थहीन संततीचेच स्थान आमचे आहे. आम्ही त्या परंपरेकरिता काय करीत आहोत ?

प्रकाशनाची आवश्यकता

या भाषेतील उत्तम साहित्याचा अनुवाद होऊन इतर भाषेमध्ये प्रकाशित होणे जरूर आहे. त्यामुळे वाचक वर्गास विशेष लाभ होईल. इकडे समाजामधील श्रीमंत वर्गाचे लक्ष्य जाणे जरूर आहे. इत्यलम् !

तत्त्वसार

श्री क्षु. दयासागरजी

एक महान आध्यात्मिक ग्रंथ

मंगलमय वस्तुओं में सर्वोत्कृष्ट वस्तु जगत में कौनसी है कि जिसके अवलंब से आत्मा का सदा के लिए ही कल्याण हो ? यह समस्या विश्व के मनुष्यों के सामने अनादि काल से उपस्थित है और उपस्थित रहेगी। किन्तु विचारशील पुरुषों ने इस समस्या को सुलझाया है। उसका प्रयोग भी किया है तथा सुयोग्य फल भी प्राप्त किया है। फिर भी यह समस्या जगत में सदा ही बनी क्यों रहे ? इसका उत्तर संभवत: यह है कि जगत के अनंत जीवोंमें से अत्यंत विरले ही पुरुष उन महापुरुषों की वाणी की तरफ ध्यान देते हैं; महान ग्रंथ 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है।

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ॥
विरला भावहि तच्चं, विरलाणं धारणा होहि ॥२७९॥

अर्थात विरले ही जीव तत्त्व को सुनते हैं; सुनने पर भी विरले ही तत्त्वत: तत्त्व को जानते हैं; जानने पर भी विरले ही महाभाग उसकी भावना करते हैं और सब विरले ही श्रेष्ठात्माओं को उसकी धारणा होती है। एक तरह से जगत के दुखों का कारण इस गाथा में ठीक ठीक कहा है। इस अनादि–अनंत विश्व में जीव जन्म लेते हैं—बडे होते हैं आजीविकार्थ यत्न करते हैं एक परिवार बनाते हैं—कुछ बाल–बच्चों को जन्म देते हैं—वृद्ध होते हैं—एक दिन मर जाते हैं। क्या यही यथार्थ जीवन है ? पशु–पक्षी–कृमि–कीटकादि भी आहार-भय-मैथुन–परिग्रह इन चार संज्ञाओं की कमें ही अपनी गाडी चलाते हैं। तो फिर यथार्थ जीवन कौनसा है ? ऐसी तत्त्व जिज्ञासा तो कमसे–कम उत्पन्न हुए विना कल्याण का सत्य प्रारंभ असंभव है। हम स्वयं स्वयं ही के बारे में कितनाही कम जानते हैं। एक आंग्ल चिंतक ने कहा है—

"How little do we know that which we are।"

अर्थात हम कितना कम जानते हैं जो कि हम स्वयं ही है। मैं वास्तव में कौन हूँ ? यहाँ मैं कहाँ से आया ? मेरा सत्य स्वरूप क्या ? मेरा सर्वोच्च कर्तव्य क्या ? मृत्यु के बाद क्या है ? आदि प्रश्नों के जिज्ञासा की महाज्वाला अंतर में प्रज्वलित नहीं होती तबतक कल्याणपथ का स्पर्श तक नहीं होता। जिस महान् ग्रन्थ का नीचे किंचित् परिचय प्राप्त कराना है वह 'तत्त्वसार' ग्रन्थ तो बहुत महान् है। प्रारंभिक

जीवों के लिए पुराण पुरुषों के अनेकों महान् चरित्र अर्थात् प्रथमानुयोग के उत्तमोत्तम ग्रन्थ, द्रव्यसंग्रह, छहढाला, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, इष्टोपदेश, समाधितंत्रादि ग्रन्थ जिज्ञासा–शमन–योग्य हो सकेंगे। आवश्यक प्रारंभिक जिज्ञासा शमन के पश्चात आगे बढने के लिए उत्सुक जनों के परमावश्यक है।' आगे बढनेवाले श्रेष्ठ जनों के लिए प्रकृत 'तत्त्वसार' ग्रन्थ महान् आध्यात्मिक पथ–प्रदर्शक और अखंड तथा अनंत शुद्ध चिदानंद की उपलब्धि का रहस्योद्घाटक एक महान् ग्रन्थ है इसमें कोई सन्देह नहीं। जीवन्मुक्त बन जाने की सच्ची इच्छा करनेवाले महात्मा इस 'तत्त्वसार' ग्रन्थ के वास्तव मनन से जीवनमुक्त बन सकेंगे आगे चलकर पूर्ण मुक्त भी बन सकेंगे।

ग्रंथ–परिचय

ग्रंथ नाम—ग्रंथ का नाम ग्रंथकार ने स्वयं ही 'तत्त्वसार' (सुतत्त्वसार ?) प्रकट किया है। ग्रंथ का साद्यन्त रसास्वाद लेने पर ग्रंथ का नाम बिल्कुल अन्वर्थक प्रतीत होता है। एक विचारणीय वात है कि मंगलाचरण की प्रथम गाथा में ही ग्रंथकार ने "सुतच्चसारं पवोच्छामि।" ऐसा लिखा है अर्थात सुतत्त्वसार को कहता हूँ ऐसा अपना अभिप्राय व्यक्त किया है। अत: ग्रंथनाम 'तत्त्वसार' न होकर ग्रंथकार के ही शब्दों में 'सुतत्त्वसार' होना चाहिए। ब्र. शीतलप्रसादजी ने अपनी टीका में 'सु' विशेषण को 'तत्त्वसार' शब्द का विशेषण न मान कर 'कहता हूँ' इस क्रिया का विशेषण मान कर अर्थ किया है अर्थात 'सु पवोच्छामि' याने 'उत्कृष्ट रूपेन कहता हूँ'। ग्रंथकार ने पूरे ग्रंथ में ग्रंथ नाम का दो बार उल्लेख किया है। सर्वप्रथम मंगलाचरण गाथा में और सर्वान्त में उपसंहारस्वरूप गाथा में। हाँ विशेष यह है कि प्रथम गाथा में 'सुतच्चसारं' शब्द है और अंतिम गाथा में मात्र 'तच्चसारं' शव्द है। वैसे 'तत्त्वसार' नाम अधिक रूढ है ही। प्रकृत लेख में 'तत्त्वसार' इस बहुरूढ नाम का ही उपयोग किया गया है।

'तत्त्वसार' यह सामासिक पद है। इसमें दो शब्द हैं, (१) तत्त्व और (२) सार। दोनों शब्दों के समास से तत्त्व + सार = तत्त्वसार यह शब्द बना है। 'तत्त्व' यह शब्द तत् + त्व इन दो पदों के संयोग से बना हुआ है। 'तत्' याने 'वह'–अर्थात वस्तु और 'त्व' प्रत्यय का अर्थ है भाव। इस प्रकार 'तत्त्व' वस्तु का स्वभाव ऐसा अर्थ व्यक्त होता है। तत्त्व शब्द की निरुक्ति 'तस्य भावस्तत्त्वम्' इस तरह की गई है अर्थात 'तस्य' उसका 'भाव:' अर्थात सो 'तत्त्वम्' तत्त्व है। प्रतिपाद्य विषय जो भी होगा उसका भाव उस नामवाले तत्त्व के अन्तर्गत आवेगा। जैसे—यदि प्रतिपाद्य विषय 'संवर' है तो संवर के बारे में जो विचार या वर्णन होगा सो सब 'संवर' नामक तत्त्व के अन्तर्गत होगा। दूसरा शब्द है 'सार' सार शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं यथा शुद्ध, मर्म, महत्त्वपूर्ण, तात्पर्य, आदि। प्रकृत में मर्म अथवा शुद्ध ये अर्थ मुख्यरूपेण ग्रहण किये जा सकते हैं। तत्त्वसार शब्द से तत्त्वों का मर्म या तत्त्वों का निचोड अथवा शुद्ध तत्त्व यह अर्थ होता है। मौलिक ग्रंथ में वास्तव में तत्त्वों का निचोड, मार्मिक तत्त्व रहस्योद्घाटन है। अध्यात्म रसिकों के संमुख शुद्ध तत्त्व का यथार्थ चित्रण है, जिस से ग्रंथ के लिए 'तत्त्वसार' यह नाम गौरवशाली नाम यथार्थ है।

ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय

तत्त्व के स्वगत तत्त्व और पर–गत तत्त्व इस तरह दो भेद किये जाने पर भी ग्रंथकार का मुख्य दृष्टिकोण इस ग्रंथ में स्व–गत तत्त्व का विवेचन करना यही रहा है। स्व–गत तत्त्व के भी दो भेद सविकल्प और अविकल्प इस प्रकार किये गये हैं। उनमें भी अविकल्प स्व–गत तत्त्व का ही प्रधानतया वर्णन करने का ग्रंथकार का दृष्टिकोण या उद्देश रहा है और उस अविकल्प स्व–गत तत्त्व की प्राप्ति के लिये निर्ग्रन्थपद धारण करने की प्रेरणा की गयी है। सारांश, अविकल्प स्व–गत तत्त्व का यहां विस्तार से परिचय है और तत्प्राप्त्यर्थ निर्ग्रन्थ पद धारण करने के अर्थ प्रेरणा भी है। स्व–गत तत्त्व की अविकल्प दशा को ही समाधि, योग, ब्राह्मीदशा आदि नामों से कहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह एक रहस्य ग्रंथ है और इसमें समाधि का, योग का, ब्राह्मीदशा का रहस्य प्रगट किया है। ऐसे रहस्यों का उद्घाटन पात्र व्यक्तियों के लिए ही होता है। जो निर्ग्रन्थ पदधारणोत्सुक है या जो निर्ग्रन्थ मुनि बन चुके हैं किन्तु अविकल्प स्व–गत तत्त्व के आनंदरसास्वाद से अभी वंचित हैं उनके लिये यह ग्रन्थ महान मार्ग प्रदर्शक है।

सर्वप्रथम मंगलाचरण–गाथा में वंदन एक सिद्ध भगवान को नहीं अपितु अनेक सिद्धों को किया है। इससे दो बातें सिद्ध हो जाती हैं। पहली बात यह कि यह अध्यात्म प्रधान महान् ग्रंथ होने से यहाँ पूर्ण आदर्श रूप जो सिद्ध भगवान उन्हीं को वंदन करना समुचित है। दूसरी बात यह कि एकेश्वरवादी अन्यान्य लोग एक ही ईश्वर मानते हैं वैसी कल्पना जैन दर्शन में नहीं है। जैन दर्शन में हर एक सुपात्र भव्यात्मा यथार्थ व निर्दोष पुरुषार्थ से आत्मसिद्धि कर सिद्धपद–परमात्मपद प्राप्त कर सकता है। मुक्ति का द्वार सबके लिए खुला हुआ है। अतः परमात्मा या सिद्ध एक नहीं अनेकों होने से सिद्धों को वंदन किया है। मंगलाचरण में ही सिद्धों ने सिद्धि किस उपाय से प्राप्त की यह बताने के लिए गाथा के पूर्वार्द्ध में बताया है कि उन्होंने ध्यान की अग्नि में अष्ट कर्मों को दग्ध कर निर्मल सुविशुद्ध आत्मस्वभाव को प्राप्त किया अर्थात् सिद्धपद प्राप्ति का उपाय है ध्यान। इससे एक दृष्टि से ग्रंथकार ने यह भी सूचित किया है कि यह 'तत्त्वसार' ग्रंथ ध्यान ग्रंथ है। पूरे ग्रंथ में ध्यान का ही प्रमुखता से वर्णन आया हुआ होने से इस ग्रंथ को ध्यान ग्रंथ–A Book of meditation या योग रहस्यशास्त्र Mysterious science of Yoga कह सकते हैं। जैन धर्म में जैसे विश्वश्रेष्ठ धर्म में जो कुछ मौलिक ध्यानग्रंथ या योगग्रंथ हैं उनमें इस ग्रंथ का स्थान भी उच्च श्रेणी में है।

संक्षेप :—प्रथम गाथा के बाद पूर्वाचार्यों ने तत्त्वों के बहुत भेद भी कहे हैं किन्तु यहाँ स्व-गत तत्त्व और पर-गत तत्त्व अर्थात निजआत्मा और पंचपरमेष्ठी इस तरह तत्त्व के दो ही भेद हैं। पर-गत तत्त्व जो पंच परमेष्ठी उनकी भक्ति बहुपुण्य बंध का हेतु है और परंपरा से वह मोक्षका कारण भी है।

स्व-गत तत्त्वके 'सविकल्प' और 'अविकल्प' इस तरह दो भेद हैं। सविकल्प स्व-गत तत्त्व आस्रव से सहित है और अविकल्प स्व-गत तत्त्व आस्रव से रहित है इसका स्पष्टीकरण है। इस ग्रंथ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है आस्रव रहित अविकल्प स्व-गत तत्त्व। वह अविकल्प स्व-गत तत्त्व क्या है और कैसा है इसका बहुत सुंदरता से वर्णन है जो कि मार्मिक है। आठवी गाथा में उसके नामांतर बताए हैं। तत्त्वों में

सारभूत तत्त्व जो अविकल्प स्व-गत तत्त्व ही है और वही मोक्ष का साक्षात् कारण है। उसकी प्राप्ति के लिए कौनसी महत्त्व की शर्त को पूरा करना परमावश्यक है इस बात को स्पष्ट किया है। दसवी व ग्यारहवीं गाथाओं में उस शर्त का लक्षणादि बताते हुये स्पष्टीकरण किया गया है। गाथा बारहवीं और उसके आगे की गाथा तेरहवीं ये दो गाथाएँ बडी ही मर्मभरी हैं। कोरे नियतिवाद से काम नहीं चलता। बाह्य चारित्र द्रव्य-चारित्रं की-क्रियाकलाप की अपनी विशेषता है। जो जीव व्यवहारं चारित्र को तो अंगीकार करना नहीं चाहते और शुद्धोपयोग की तो प्राप्ति नहीं वे बुरी हालत में फसकर अपना अकल्याण ही कर लेते हैं। मोह कब कम होगा यह बताते हुये कहा है कि जब काललब्ध्यादि निकट होंगे तब मोहादि की मात्रा कम हो जायगी। फिर भी अगली गाथा में कहा है कि पंगु-अपाहिज आदमी का जैसे मेरू पर्वत के शिखरपर चढने की इच्छा करते बैठना व्यर्थ है वैसे ही बिना पुरुषार्थ के, बिना ध्यानादि सामायिक व्रतादि के कर्मक्षयरूप आत्मसिद्धि असंभव है। तात्पर्य बिना समीचीन पुरुषार्थ के काललब्धि आदिका कोई अर्थ नहीं है। अतः मुक्त होने के लिए पुरुषार्थ की ही प्रमुखता है, अनिवार्य आवश्यकता है। इस पंचम काल में ध्यान नहीं है ऐसा मिथ्या राग अलापने वालों को जोरदार उत्तर दिया है। ये गाथाएँ विख्यात भी हैं जिनमें वर्तमान में ध्यान का सद्भाव व तदर्थ प्रेरणा है।

यहाँ से आगे अर्थात् गाथा १७ से गाथा ६५ तक ध्यान करने की विधि, ध्यान की गूढ प्रक्रियाएँ, ध्यानार्थ आवश्यक सामग्री, ध्यान के साधक-बाधक कारणादि का विविध प्रकारों से, दृष्टांतों आदि द्वारा वर्णन किया है। यहाँ संक्षेप से इतनाही कहा जा सकेगा कि यह वर्णन अत्यंत महत्त्वपूर्ण व गम्भीर है। भव्यों को प्रत्यक्ष सूक्ष्म स्वाध्याय से उससे महान् लाभ उठाना चाहिए। इसमें कई गाथाएँ गूढ हैं जिन्हें इस ग्रन्थ में प्रकट किया गया है। और परमानन्द प्राप्ति कब होती है यह बताया है। गाथा ६६ व ६७ में जीवन्मुक्त परमात्मा व पूर्ण मुक्त परमात्मा का वर्णन है। गाथा ६८ से ७१ तक सिद्ध पद के बारे में विशेष वर्णन है। गाथा ७२ वी में मंगलाचरण के समान अंत में पुनश्च सिद्धवन्दना की गयी है। ७३ वीं गाथा में स्व-गत, पर-गत तत्त्व की महत्ता को प्रकट कर वे चिरकाल जयवंत रहे यह मंगल भाव अभिव्यक्त किया है। ७४ वीं अंतिम गाथा में मंगलाशीर्वाद अभिव्यंजित किया है कि जो जीव इस तत्त्वसार की भावना करता है वह सम्यग्दृष्टि महात्मा शाश्वत सुख को प्राप्त होता है। ग्रंथकार का इस ग्रंथ में प्रधानोद्देश था अविकल्प स्व-गत तत्त्व की प्राप्ति ही तीन लोक में तीन काल में सारभूत होने से तत्प्राप्ति का उपाय जो गूढ ध्यानमर्म उसे बताना और तदर्थ निर्ग्रंथ पदधारण की प्रेरणा करना। ग्रंथ के स्वाध्याय से स्पष्ट पता चल जाता है कि ग्रंथकार ने अपने उद्देशपूर्ति के लिए पर्याप्त सम्यक् प्रयत्न किया है और उसमें बहुत अच्छी सफलता भी संपादन की है।

ग्रंथ की विशेषताएं

इस ग्रंथ में मात्र तत्त्व ही नहीं प्रत्युत तत्त्वों का सार बताया है और यही मंगलाचरण गाथागत नाम का स्वीकार करें (सुतत्त्वसार) तो कहना पडेगा कि इस ग्रंथ में केवल साधारण रूपसे ही तत्त्वों का सार नहीं बताया है अपितु सुष्ठु रूपेण तत्त्वों का सार बताया है। यह इस ग्रंथ की पहली विशेषता है।

साधारण रूप से ' प्रतिपाद्य विषय का भाव सो तत्त्व ' ' तस्य भावः तत्वम् '। इस निरुक्ति के अनुसार किसी भी प्रतिपाद्य विषय का भाव तत्त्व कहला सकता है । इस दृष्टि से जगत की कोई भी चीज, कोई भी बात तत्त्व कहला सकती है और तब तो अनंतों प्रतिपाद्य विषय होंगे, अनंतों तत्त्व बन सकेंगे । किन्तु जैन दर्शन में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जो बातें हैं केवल उन्हीं को ' तत्त्व ' के अन्तर्गत स्वीकार किया है । मोक्ष प्राप्ति के दृष्टि से जिन बातों का सम्यग्ज्ञान परमावश्यक है ऐसी बातें सात हैं जो ' सप्त तत्त्व ' नाम से सुविख्यात हैं । श्रीमदुमास्वामी का ' तत्त्वार्थसूत्र ' प्रसिद्ध ग्रंथ इन्हीं सप्त तत्त्वों को सांगोपांग वर्णन करनेवाला है एवं अन्यान्य अनेकों जैनाचार्यों के ग्रंथ सप्त तत्त्वों के प्रतिपादनस्वरूप हैं । उन सप्त तत्त्वों के नाम हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष । यह सप्त तत्त्व-परिपाटी जैन जगत में सुपरिचित है । किन्तु ' तत्त्वसार ' ग्रंथ में तत्त्व विभाजन अद्भुत नवीन किया है । आचार्य देव ने तत्त्वों को दो विभागों में विभाजित किया है । (१) स्व-गत तत्त्व और (२) पर-गत तत्त्व । यह स्व-गत तत्त्व में निजआत्मा लिया गया है । अब परगत तत्त्व के विषय में तर्क हो सकता है कि निज आत्मा के अतिरिक्त शेष समस्त आत्माएं या समस्त परद्रव्य आते होंगे । किन्तु यहाँ भी आचार्यवर का विशेष दृष्टिकोण है । परगत तत्त्व में समस्त परमात्माएँ या परद्रव्य न लेकर पूर्ण शुद्धात्म प्राप्ति की दृष्टि से प्रयोजनभूत-आराध्यस्वरूप जो परम पद में स्थित पंचपरमेष्ठी अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु उनका ग्रहण किया है । सारांश स्वगत तत्त्व में निजात्मा और पर-गत तत्त्व में पंचपरमेष्ठी ऐसा तत्त्वों का विभाजन यह ग्रंथ की दूसरी विशेषता है ।

स्व-गत तत्त्व और पर-गत तत्त्व इन दो प्रकार के तत्त्वों में से इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय विशेषता स्व-गत तत्त्व है, पर-गत तत्त्व नहीं । ग्रंथ में कुल चौहत्तर गाथाएँ है जिनमें मात्र एक ही गाथा पर-गत तत्त्व के अर्थात् पंचपरमेष्ठी के संबंध में आयी है । अतः स्व-गत तत्त्व का विवेचन अर्थात निज आत्म तत्त्व का सारभूत विवेचन है यह इसकी तीसरी विशेषता है ।

हेयोपादेय का विचार श्रद्धान व चारित्र इन दो दृष्टियों से करना योग्य है । अशुभ शुभ (अर्थात् पाप व पुण्य) ये दोनों शुद्धात्म प्राप्ति के लिए श्रद्धान की अपेक्षा हेय है, और शुद्ध (शुभाशुभरहित, पाप पुण्यरहित आत्मदशा) सर्वथा उपादेय है । किन्तु पुण्य या शुभ ? चारित्र की अपेक्षा शुभाचार या पुण्यक्रिया न सर्वथा हेय है और न सर्वथा उपादेय है, प्रत्युत कथंचित् हेय है और कथंचित् उपादेय है । शुद्धात्मस्वरूप परमणता जिस काल में नहीं है उस काल में अशुभ से या पाप से बचने के लिए शुभ या पुण्य उपादेय है । षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनिराज तक की शुभ या पुण्य का अवलंब चारित्र की अपेक्षा बना रहता है । ग्रंथकार ने पंचपरमेष्ठी की भक्ति को बहु पुण्य का कारण और परम्परा से मोक्ष प्राप्ति का भी कारण बताया है । अतः पुण्य का संक्षेप में श्रेष्ठ जनयोग्य संतुलित और निर्दोष विवेचन यह इस ग्रंथ की चौथी विशेषता है ।

जो पंचपरमेष्ठी की भक्ति से भली भाँति परिचित हैं ऐसे जनों को निर्ग्रन्थ पद धारण करना परमावश्यक है । मुख्यतया निज-तत्त्व की प्राप्ति के लिए निर्विकल्प निजतत्त्व का सुपरिचय प्राप्त कर

उसमें रमणकर शुद्ध चिदानन्द लाभ करना चाहिए। इस दृष्टि से पंच–परमेष्ठी की भक्ति में सुपरिपक्व बने पात्र आत्माओं को निर्ग्रंथ पद के लिए प्रेरणा करना अविकल्प निज–तत्त्वोपलब्धि का रहस्य बता देना यह ग्रन्थ की पाँचवी विशेषता है।

ग्रन्थ का रचना कौशल्य, भावगांभीर्य और आध्यात्मिक सौंदर्य भी अत्यंत अवलोकनीय है। गम्भीर दृष्टि से देखने पर समस्त चौहत्तर गाथाओं में पूर्ण सुसंगति और सुसूत्रता का सुन्दर प्रवाह दृष्टिगत होता है। जिससे आचार्यवर का रचना चातुर्य गुण प्रकट होता है। यह इस ग्रन्थ की छठी विशेषता है। प्रसादगुणयुक्त सीधि–सादी–सरल गाथाएँ, अध्यात्म रस से ओतप्रोत माधुर्य गुण से अलंकृत भाषा और पुरुषार्थ की प्रेरणादि करते समय प्रकट हुआ ओज गुण आदि साहित्य के भी उचित गुण इस रचना में शोभायमान हैं यह भी विशेषता है। इस प्रकार इस महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ की कुछ प्रमुख विशेषताओं का विहंगमावलोकन किया।

ग्रंथकार–परिचय

इस महान् आध्यात्मिक ग्रंथ के रचयिता हैं अध्यात्म मर्म के महान् आचार्य श्रीमद् देवसेनाचार्य। आपके जन्मस्थान का वर्णन नहीं मिलता किन्तु आपके रचित 'दर्शनसार' ग्रंथ के अंत में वह ग्रंथ 'धारा' (मालवा) नगरी के भ. पार्श्वनाथ मंदिर में रचित हुआ ऐसा उल्लेख होने से वहीं कहीं आसपास में आपका जन्मस्थान हो सकता है। किन्तु साधुजन भ्रमणशील होने से वहाँ के वास्तव्य में ग्रंथ रचा होगा यह भी कह सकते हैं। अतः जन्मस्थान के निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं। लेकिन अनेकों बातों पर से आप दक्षिण भारत निवासी होंगे यों प्रतीत होता है। काल विक्रम की १० वीं शताब्दि है यह 'दर्शनसार' ग्रंथ से सिद्ध है।

'दर्शनसार' ग्रंथ से आप के गुरु श्री विमलसेन थे यह भी स्पष्ट सिद्ध है।

'दर्शनसार' ग्रंथ के जैनाभास खंडन से आप 'मूलसंघ' के आचार्य थे यह प्रतीत होता है। भ. कुंदकुंद स्वामि की महिमा को आपने दर्शनसार की ४३ वी गाथा में गाया है जिससे आप कुंदकुंदाम्नाय के थे ऐसा स्पष्ट होता है।

आप बहुश्रुत थे। आपकी सारी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। (१) दर्शनसार (२) भाव संग्रह (३) आलाप पद्धति (४) नयचक्र (५) आराधनासार (६) तत्त्वसार आदि रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'ज्ञानसार' व 'धर्मसंग्रह' नाम के ग्रंथों का भी आपके नाम पर उल्लेख मिलता है किन्तु ये ग्रंथ अभी अनुपलब्ध हैं।

तात्पर्य आचार्यवर्य श्रीमद्देवसेनाचार्य मूलसंघीय, कुंदकुंदाम्नायी, श्रीविमलसेन गुरु के शिष्य, बहु-दर्शन परिचित, न्याय के गंभीर विद्वान, कर्मसिद्धांत के सूक्ष्म ज्ञानी, सफल विपुल ग्रंथ निर्माणक महान ग्रंथकार व जैनाचार्य थे।

उपसंहार

यह ग्रंथकार श्रीमद्देवसेनाचार्य देव का अति संक्षेप में परिचय है। माणिकचंद दिगंबर जैन ग्रथमाला के ग्रंथों से तथा सोलापुर के मराठी ग्रंथादि से इस प्रबंधार्थ सामग्री, सहायता ली गयी है एतदर्थ उनका उल्लेख उचित ही है। छद्मस्थ त्रुटियों के लिए लेखक क्षंतव्य है। अनंत काल तक अखंड आनंदोपलब्धि चाटनेवाले जिज्ञासु और पौरुषपात्र भव्य जीवों को मूल ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए। देहग्रहण, देहत्यजन के महादुःखकारी अनादि दुष्ट चक्र से मुक्त होकर शाश्वत सुखी होना चाहिए यही मंगल दृढ भावना है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्री ब्र. विद्युल्लताबेन शहा, एम्. ए., बी. एड्.
श्राविकासंस्थानगर, सोलापूर २

जिन जिन महात्माओं ने आदर्श श्रावक बनने का संकल्प किया, उन सभी जीवों ने अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए इस छोटे से ग्रन्थ का अभ्यास कर उसके प्रत्येक शब्द का भाव आत्मसात् किया। आदर्श श्रावक के शुद्ध निर्मल जीवन का सच्चा प्रतिबिंब ही यह 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ का दूसरा नाम है 'उपासकाध्ययन'। श्रावकरत्नत्रय धर्म का उपासक होता है। उसे इस ग्रन्थ का अभ्यास आवश्यक है। जिनवाणी जिन द्वादश अंगों में गूंथी गई उन बारह अंगों में इस उपासकाध्ययन का स्थान है। वही उसका उगमस्थान है। चरणानुयोग के अति प्राचीन ग्रन्थ की रचना भावी तीर्थंकर, परमऋद्धिधारी स्याद्वादकेसरी, महादिगम्बर साधु श्री समन्तभद्र आचार्य ने सिर्फ डेढसौ श्लोकों में की है। इस ग्रन्थ के उजाले में श्रावकों की आचारशुद्धि खिल उठती है, परिणामों का सुगंध चारों ओर महक उठता है और सहज गत्या मुनिमार्ग प्राप्त कर सकते हैं। साध्य स्वरूप मुनिधर्म की प्राप्ति का श्रावक धर्म प्रधान साधन है। और उसीका इस ग्रन्थ में उल्लेख है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' इस सालंकृत नामही में इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय समा गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये ही तीन सच्चे अलंकार जीवन को सजानेवाले हैं। आचार्य श्री ने इन्हीं तीन रत्नों को एक करण्डे में रख धरोहर के रूप में भाग्यवन्तों के हाथों सौंप दिया है। महातपस्वी साधु का दिया हुआ यह प्रासुक दान प्रसन्न अन्तःकरण से श्रावक ग्रहण करें।

वर्ण्य विषय

रत्नकरण्ड श्रावकाचार यह एक सूत्रमय ग्रन्थ है। "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" इस सूत्र में शेष डेढसौ श्लोक–पुष्पों को गूंथकर भाविकों की इच्छाओं को पुलकित करनेवाला सुन्दर हार बनाया गया है। 'धर्म' इस दो वर्णवाले शब्द में ही दुःखों से छुडाकर समीचीन शाश्वत सुखस्थान में रखनेवाला, कर्मकलंक को पूर्णतया हटानेवाला यदि कोई धर्म है तो वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक आत्मस्वरूप रत्नत्रय धर्म ही है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न हैं। आचार्य श्रीने 'धर्मान्' इस प्रकार बहुवचनान्त प्रयोग न कर 'धर्मम्' इस प्रकार एक वचनान्त शब्द का प्रयोग क्यों किया ?

सुखप्राप्ति का, मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता में है; न कि भिन्नता में। आचार्य श्री उमास्वामि ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारंभ में 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः'। इस सूत्र में 'मार्गः' एकवचन रखकर जिस तरह दोनों की एकता मोक्षमार्ग है इस प्रकार किया है। उसी तरह 'धर्म' इस एक वचनात्मक शब्दप्रयोग द्वारा मुक्तिमार्ग एक ही है अनेक नहीं है यह सूचित किया है।

उपर कहे गये श्लोक के पूर्वार्ध में जिस तरह धर्म का सारभूत स्वरूप कहा गया है, उसी तरह उत्तरार्ध में अधर्म का स्वरूप कहा गया है—'यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः'। धर्मस्वरूप विरुद्ध मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र यह संसारचक्र की परंपरा को बढानेवाला अधर्म है।

ग्रंथ का विस्तार अत्यल्प होते हुए भी वर्ण्य विषय के बारे में कहीं भी संदिग्धता नहीं है। थोडे शब्दों में जटिल प्रश्नों का निश्चित निर्णय हो जाता है। जो भी कुछ कहा गया है, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव इन दोषों से मुक्त हितकारक सत्य हि कहा गया है। अतएव इस ग्रंथ को सूत्ररूप ग्रंथ कहने में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। सूत्र का लक्षण ऐसा ही होता है—

'अल्पाक्षरं संदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥' (जयधवल)

इस ग्रंथ में उपासक के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का वर्णन अभिप्रेत है। सर्वप्रथम प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन, द्वितीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का और शेष अध्यायों में सम्यक्चारित्र का (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का) अर्थात बारह व्रतों का प्रतिमाओं का और सल्लेखना का विवेचन है। यह ग्रंथ चरणानुयोग का होने से पुरुषार्थपूर्वक आचार की प्रधानता से लिखा गया है। इसलिए रत्नत्रय का विवेचन यहाँ पर द्रव्यानुयोग की दृष्टि से न होकर सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के निमित्तभूत और सम्यग्दर्शन के साथ साथ रहनेवाले बाह्य आचार की दृष्टि से हीं सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। अर्थात आशय स्पष्ट है की व्यवहारनय की प्रधानता से ही ग्रंथ की रचना है। फिर भी समीचीन व्यवहार का यथार्थ दर्शन करते हुए 'श्रद्धानं परमार्थानाम्' (श्लोकांक ४) 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' इ. (श्लोक ४७) आदि पदों के प्रयोग से निश्चय के यथार्थभाव का स्पष्टतया उल्लेख बराबर यथास्थान आया ही है इसलिए सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार से किया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

सच्चे आप्त–देव, शास्त्र और गुरुओं के तीन मूढता तथा आठ प्रकार के गर्वों से रहित और आठ अंगों से सहित निर्मल श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञान और चारित्र का आधार सम्यग्दर्शन होने के कारण इस लक्षणात्मक श्लोक में आये हुए हर एक शब्द का स्पष्टीकरण आगे के प्रथमाध्याय के श्लोकों में किया है।

आप्त—सच्चा हितोपदेशक, यह मधुर ध्वनि निकालनेवाले मृदंग की तरह निरपेक्ष वृत्तिवाला होता है। दीपस्तंभ की तरह वचन सन्मार्ग को दिखानेवाले होते हैं। उन्हीं के वचनों को **आगम** या शास्त्र कहा जाता है। ऐसे आप्त और आगम को बनानेवाले सद्‌गुरुहि होते हैं। उन्हें यहां तपोभृत् कहा है। वे पंचेंद्रियों के विषयों से पराङ्मुख होकर ध्यान और तपमें लीन होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। सम्यग्दर्शन रूप धर्म की धारणा तभी होती है जब कि ऐसे आप्त, आगम और गुरुओं पर निर्मल श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। श्रद्धा के ये स्थान आदर्श स्वरूप हुआ करते हैं। उसी आदर्श में अपने अनन्त गणात्मक आत्मस्वरूपका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अतएव उनके विषय में अन्यथा श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए। उनकी वास्तविकता को पहचान कर तदनुकूल श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा में अपने मोहभाव और प्रमाद के कारण कोई दोष नहीं लगने देना चाहिए। इसलिए निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन अंगों का पूर्णतया पालन करना चाहिए। उसमें कहीं भी न्यूनता रह जावेगी तो न्यून अक्षरवाले मंत्र की तरह दर्शन इष्ट फलदायक नहीं होता।

गर्व–अहंकार आठ विषयों के आधार से उत्पन्न होता है और वह सम्यग्दर्शन को नष्ट कर देता है। अतः ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, तप, ऋद्धि, शक्ति और शरीरसौष्ठव इनके आधार से अपने को बडा मानकर दूसरों को तुच्छ न समझे। धार्मिक व्यक्ति ही धर्म का आधार हुआ करता है। कहा भी है कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धार्मिक व्यक्ति को छोड धर्म नाम की कोई अलग से स्वतंत्र वस्तु नहीं है। इसीलिए वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अन्य साधर्मी का अपमान नहीं करता।

इन आठ प्रकार के अभिमानों का त्याग क्यों होना चाहिए इसका वर्णन निम्न श्लोक में किया है।

यदि पाप निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यत्सम्पदा किं प्रयोजनम्॥

पाप कर्म के आश्रव को रोकनेवाली वीतरागता और विज्ञानता की संपत्ति होने पर ऐहिक संपत्ति से लाभ ही क्या है? और अगर पाप कर्म के आश्रव का ही कारण है तो भी उस ऐहिक संपत्ति से लाभ क्या? इस तरह इन ऐहिक धनादिक का अभिमान वृथा हि है। इसलिए सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इनको हर प्रयत्न से छोडे हुए हैं।

सम्यग्दृष्टि की अलौकिक महिमा का वर्णन करते समय इहलोक तथा परलोक में किस तरह की सुख संपदा उसके चरणों पर झुकती है इसका प्रमाणभूत वर्णन इस अध्याय का समारोप करते हुए किया गया है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की महत्ता

सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। वह उसकी स्वाभाविक अवस्था है और वह चारों ही गतियों में देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक पर्याय में प्रगट हो सकती है। अत्यंत हीन-पापी माना जानेवाला चांडाल

जीव भी उस रत्न को पा सकता है और उसके प्रभाव से वह भस्माच्छादित अग्नि की तरह भीतर से तेजःपुंज ही रहता है।

सम्यग्दर्शन स्वयं एक मंत्र स्वरूप है। उसके प्रभाव से कुत्ता जैसा क्षुद्र जीव भी श्रेष्ठ देव बन जाता है। और अधर्म के कारण देव भी कुत्ते की पर्याय धारण करने को बाध्य हो जाता है। यही बात 'श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्' इस श्लोक में कहीं गई है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन की महिमा बताने के लिये कुछ दृष्टान्त दिये गये हैं जिनसे उसकी प्रमुखता सिद्ध हो जाती है।

'दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते'

नौका होने पर भी नाविक—कर्णधार न हो तो समुद्रपार होना असंभव होता है। ठीक इसी तरह समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन ही कर्णधार है। 'बीजा भावे तरोरिव' बीज के अभाव में वनस्पती की उत्पत्ति नहीं होती, उसी तरह सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञानादि वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

सम्यग्दर्शन को घातने वाले मोह की ग्रन्थी अन्तरंग से अगर दूर नहीं हुई तो बाह्यतः परमेष्ठी की पंक्ती पर आरूढ साधु का कुछ भी महत्व नहीं रहता है उसकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, जिसके परिणामों में दर्शन मोह की भाव ग्रन्थी नहीं है, श्रेष्ठ माना गया है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, दुष्कुलजन्म आदि अवस्था नहीं प्राप्त करता।

मिथ्यादृष्टि जीव भी सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व और पारिभाजकता प्राप्त कर सकता है, परंतु वह सुरेंद्रत्व चक्रवर्तित्व, तीर्थंकरत्व पदों को नहीं पा सकता। इन पदों को सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है। इस तरह पहले अध्याय में धर्म के प्रधान अंगभूत सम्यग्दर्शन का वर्णन सांगोपांग रूप से किया गया है।

ज्ञानाधिकार

जीव मात्र का सामान्य तथा निर्दोष लक्षण चैतन्य है। ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों चैतन्य ही की विशिष्ट अवस्था में हैं। ज्ञान ही उसका मूलभूत स्वभाव है। जब वह ज्ञान वस्तुतत्व को संशयादि दोषों से रहित यथावत् जानता है तब वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि ज्ञान की उभय दशा में ज्ञानत्व है, लेकिन सम्यग्दर्शन के साथ जो ज्ञान होता है वही ज्ञान धर्म (मोक्षमार्गभूत) होता है। 'सम्यग्ज्ञान' इस शब्द से कही जानेवाली वस्तु भावश्रुत है। जब यह भावश्रुत शब्द के माध्यम से प्रगट होता है तब उसे द्रव्यश्रुत या 'आगम' कहते हैं। परिणामतः आगम भी उपचार से सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आगम के अंगभूत चारों अनुयोगों में सम्यग्ज्ञान दीपक का प्रकाश पाया जाता है। सारांश जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनाधिकता से रहित, वास्तविक रूप को प्रगट करता है वही सम्यग्ज्ञान है। उसमें संशय के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है। वह आगम चार अनुयोगों में विभक्त है।

प्रथमानुयोग

तीर्थंकरादि पुण्य पुरुषों के पवित्र चरित्रों का और पुरुषार्थों का कथन करनेवाले पुराणस्वरूप सभी ग्रन्थों को प्रथमानुयोग कहते हैं। ये ग्रन्थ बोधि और समाधि की प्राप्ति के लिए उदाहरण के रूप में मार्ग-दर्शक होते हैं।

करणानुयोग

लोकालोक का विभाग, युगपरिवर्तन, चतुर्गति का स्वरूप इ. विषयों को इसमें कही गई है। इन्हें जानकर जीव कुमार्ग से विमुख बन सन्मार्ग की ओर झुकता है।

चरणानुयोग

गृहस्थ और साधुओं के आचार मार्ग, उसकी उत्पत्ति, बुद्धि और सुरक्षा आदि के सम्यक्उपाय आदि का निर्दोष वर्णन इसमें किया गया है।

द्रव्यानुयोग

श्रुतज्ञान मंदिर में संपूर्ण चराचर वस्तुस्वरूप पर प्रकाश फैलानेवाला यह दीपस्तंभ है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्यपाप इनसे संबंधित जीव तत्त्व का वास्तविक स्वरूप इसमें दिखाया गया है। इस तरह केवल सम्यग्ज्ञान का पांच श्लोकों के द्वारा इस अध्याय में बीजरूप से वर्णन यथावत् किया है। विश्वव्यापी भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इसमें सुनिहित है।

चारित्राधिकार

रागद्वेष से पूर्णतया निवृत्त होना यह चारित्र का उद्देश है। चारित्र वह विशुद्धता है जहां आत्मा की आत्मा में प्रवृत्ति होती है। यह चारित्र का सर्वोच्च बिंदु है। क्रमशः यह प्रवृत्ति साध्य होती है। जिन जिन आचारों से चारित्र के उस ध्येय बिंदु के समीप पहुंच होती है उस आचार का अगले तीन अध्यायों में वर्णन है। प्रथमतः चारित्र का स्वरूप और वर्णन किया है। मोह का अभाव होने पर और पत्थर की लकीर की तरह चिरकाल स्थिति रखनेवाले अनंतानुबंधी उसके सकल तथा विकल चारित्ररूप भेदों का निर्देश कर के कषायों का उदय भाव होने पर ग्यारह प्रतिमा और सल्लेखना इनका विस्तार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लाभ होता है। और रागद्वेष की तीव्रता घटती जाती है। रेखातुल्य कषायों के अभाव में (विशिष्ट) रागद्वेष की निवृत्ति होती है। हिंसादिक पांच पाप प्रवृत्तियां नष्ट होने लगती हैं। यही व्यवहार चारित्र है। यह चारित्र स्वामी भेद की अपेक्षा से दो तरह का है। सकल चारित्र महाव्रतीयों को होता है जो सर्व प्रकार से पंच पापों के त्यागी होते हैं। विकल चारित्र सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को होते हैं जो पांच स्थूल पापों को छोडते हैं। इस अध्याय में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह व्रतों का तथा हर एक में लगनेवाले पांच पांच अतिचार दोषों का स्वरूप समझाया गया है। गृहस्थ जीवन का

आचार करते समय अपनी व्रतनिष्ठा स्थिर रहे, उसमें किसी तरह की शिथिलता न आवे यह उदात्त हेतु रक्खा गया है। व्यवसाय करते समय जिस तरह पाई पाई के हानी लाभ का खयाल रक्खा जाता है, ठीक उसी तरह व्यवहार आचार करते समय उसमें छोटे मोटे दोष न लग जावे यही अतिचार त्याग का हेतु है। यदि प्रमाद वश कोई दोष लग भी गया तो प्रतिक्रमणादि द्वारा मिटाने का उपाय भी कहा है।

अन्यत्र मद्य, मांस, मधु और पंच उदुंबर फलों का त्याग करने से अष्ट मूल गुण धारी श्रावक कहा गया है। इस ग्रंथ में मूल गुणधारी श्रावक बनने के लिए 'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्' पांच अणुव्रत पालन के साथ मद्य, मांस, मधुका त्याग आवश्यक कहा है। दोनों प्रकार की वर्णन शैलीका मूलभूत उद्देश हिंसादि पंच पापों से अलिप्त रहने ही का है। इसी तरह शिक्षाव्रतों में अतिथि संविभाग व्रत के स्थान पर वैय्यावृत्य का उल्लेख किया है।

प्राथमिक श्रावकों में अर्हद्भक्ति निर्माण हो, व्रतों के परिपालन की रुचि बढे एतदर्थ अर्हद्भक्ति के फलका तथा आठ अंग, पांच व्रत तथा पांच पापोंमें प्रसिद्ध प्रथमानुयोगोंके समेत चरित्र नायकों का उल्लेख किया है।

संसार की कोई भी अवस्था दुःखमुक्त नहीं है। उससे छुटकारा पानेके लिए रागद्वेष का त्याग करना पडता है। रागद्वेष का त्याग करना यही तो व्रतिक अवस्था है। अतएव तीसरे अध्याय में व्रतों का वर्णन किया है। मरण समय में होनेवाला दुःख सबसे बडा दुःख है। उस समय रागद्वेष से अलग रहकर व्रतादिकों में परिणाम स्थिर रखना अत्यंत कठिन हो जाता है। शारीरिक ममत्व का अनादि संस्कार भेदविज्ञान पूर्वक व्रत पालना कारण दूर हो जाता है। मरण समय के लेश्या पर अगले जन्म की अवस्था अवलंबित है। अतएव चतुर्थ परिच्छेद में आचार्यश्री ने सल्लेखना का वर्णन किया है। सल्लेखना का अर्थ है कषायत्याग के साथ साथ शरीर विधिपूर्वक छुटे। यदि कषायों का, रागद्वेषादिकों का त्याग न हुआ तो उसे दुर्मरणही कहा है। वह सल्लेखना स्वीकारने का योग्य काल, उसकी त्यागका क्रम तथा उसका फल इन विषयों का वर्णन विशेषतासे लिए हुए है।

जीवित अवस्था का यह अन्तिम सार होने से उसमें कोई सूक्ष्मसा दोष भी न रह जावे, अतः सल्लेखना के अतिचारों को भी दिखाया है। सल्लेखना का फल मोक्षप्राप्ति है अतः अखंड अविनाशी सुखस्वरूप मोक्ष का भी वर्णन किया है। धर्म का और सल्लेखना का आनुषङ्गिक फल स्वर्गप्राप्ति है।

अंतके पांचवे अध्यायमें श्रावक के ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन बताया है। संयम में क्रमशः वृद्धि बरती जाती है। ऐसे संयमी श्रावक को चेलोपसृष्ट मुनि की श्रेणी प्राप्त हो जाती है।

श्रावक का अंतिम स्थान ग्यारहवीं प्रतिमा–उद्दिष्ट त्याग है। उनका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन् उत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥

इसी तरह निवृत्ति मार्गपर आरोहण करते समय सम्यग्दृष्टि श्रावक की ज्ञाता स्वरूप अंतरंग भूमिका बताई

है। ऐसी व्यवस्था में वह पापाचरण ही को अपना शत्रु मानता है। रत्नत्रयरूप आत्मपरिणति ही सच्चा बन्धु है।

श्रावकों के लिए (उपासकों के लिए) आचार विषयक ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थ के रूप में रत्नकरण्ड की निःसंशय ऊँची है और प्रमाणभूत है।

उपसंहार—आचार्यश्री समंतभद्र ने जिस कालखण्ड में यह ग्रन्थ लिखा वह दार्शनिकों के विवाद का काल था (भिन्न भिन्न दार्शनिक अपने अपने मतका समर्थन बडे जोर से कर रहे थे। ऐसे बिकट समय में सर्वसाधारण जीव भी धर्म का सच्चा स्वरूप जाने, धार्मिक समाज का विघटन न हो यह)। विद्वज्जन अपने कथन का समर्थन इन्हीं श्लोकों को मूलभूत आधार मानकर करते आये हैं। इसपर श्री आचार्य प्रभाचन्द्र ने संस्कृत टीका लिखी है, पं. सदासुखजी ने हिंदी भाषा में विस्तृत टीका लिखकर सामान्य जनता में उसे प्रसारित किया है, इसी हिंदी टीका का ब्र. श्री जीवराजजी गौतमचंद दोशी ने अनुवाद कर मराठी अनुवाद करके आम जनता को स्वाध्याय का सुवर्ण क्षण उपलब्ध कर दिया है। उस ही का स्वाध्याय करके यह लघुकाय प्रबन्ध लिखा है। प्रबन्ध पढकर सामान्य जनता मूल ग्रन्थ के स्वाध्याय की ओर और प्रवृत्त हो ऐसी आशा है। इत्यलम्।

ॐ

समाधिशतक-एक दिव्य दृष्टि

पद्मश्री पं. सुमतिबाई शहा, संचालिका, श्राविका विद्यापीठ, सोलापूर

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्त्ववित् ॥

जैनेन्द्रप्रक्रियायां गुणनन्दी ।

पार्श्वभूमि

जैन-साहित्य में दर्शन-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। वहां अध्यात्म को विशद करनेवाले ग्रन्थों की कोई कमी नहीं है। आत्म दर्शियों ने परम-तत्व के चिन्तन द्वारा बहुत ही सरस एवं सुंदर विचारों का प्रतिपादन किया है। इस अध्यात्म-विषयक ग्रन्थों में जब मैं सोचती हूं तब मेरा ध्यान आ० पूज्यपाद द्वारा रचित समाधि तन्त्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। मुझे इस बात का गौरव प्रतीत होता है कि समाधि-शतक इस ग्रन्थ ने जनसाधारण के लिए अपनी सरल एवं हृदयग्राहिणी शैली द्वारा आत्मरस की जो सरिता प्रवाहित की है, गत कई वर्षों के इस महान ग्रन्थ के रसास्वादन के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर आयी हूं कि इस आकार से लघु एवं विचारों से महान यह ग्रन्थ अध्यात्म-प्रेमियों को एक नवीन एवं दिव्य दृष्टि प्रदान करने में बडा उपयोगी है। इस लेख के माध्यम से वह तथ्य मैं प्रस्तुत करना चाहती हूं। अध्यात्म तो जीवन का नवनीत है, जिसे प्राप्त करना जीवन का महत्तम साध्य है।

आचार्य पूज्यपाद का कृतित्व

आचार्य पूज्यपाद एक प्रभावशाली, विद्वान, युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनका जीवन एक साहित्य-कार का जीवन था। जहां उन्होंने सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्र-व्याकरण जैसे महान् प्रमाणभूत ग्रन्थों का निर्माण किया है, वहां उन्होंने इष्टोपदेश, समाधितंत्र जैसे श्रेष्ठ अध्यात्म ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। ऐसा माना जाता है कि समाधि-शतक की रचना ग्रन्थकार के जीवन की अन्तिम कृति है। साहित्य के सर्व क्षेत्रों में प्रविष्ट होने के अनन्तर ग्रन्थकार का धवल यश यदि किसी ग्रन्थ ने विखेर दिया हो तो वह ग्रन्थ समाधि-शतक ही हो सकता है। भाषा एवं विचार की मधुरिमा से स्वाध्याय में अनुरक्त के मन में हमेशा ही अध्यात्म की शहनाई गुञ्जने लगती है। वह आत्मदर्शी रसिक प्रफुल्लित कमलिनी से निःसृत पराग के प्रवाह भ्रमर के समान आत्मानंद में विभोर हो जाता है, तल्लीन हो जाता है।

भारतीय सभी विचारकों ने आत्मा को एक गूढ तथा जटिल तत्त्व माना है। अतः आत्म-ज्ञानी रसिक के लिए यह विचारणीय बात बन जाती है, आत्म-तत्त्व का निरूपण करने में कितनी सरल एवं सरस पद्धति का अवलम्बन किया है। इस दृष्टि से समाधितन्त्र की निर्मिती सुन्दरता एवं सरलता से परिपुष्ट है।

इस ग्रन्थ के निरन्तर अध्ययन एवं स्वाध्याय द्वारा मुझे इसमें इस विशेषता का अनुभव हुआ है कि पूज्य आचार्यजी ने संसारी दुःखी मानव की चिरन्तन, नित्य एवं चैतन्यरूप अध्यात्म तत्त्व की ओर आकृष्ट करने के लिए प्रथमतः **भेद-विज्ञान** का निरूपण किया है। भेदविज्ञान ही नहीं भ्रम का निरास करके आत्म-ज्ञान की निर्मिती में समर्थ है। शास्त्र के अध्ययन से अन्तरंग आत्मरस के प्रति-जागृति अवश्य होती है। इस ग्रन्थ में आचार्यजी ने आत्मा की उन्नति की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया है। वह अतीव सुन्दर, मधुर एवं प्रसादमय है। अतः शाश्वत आनंद एवं शान्ति का उद्गम माना जाता है।

आत्म-विचार

आचार्य पूज्यपाद ने आत्मा का विवेचन यहां बडी रोचकता से किया है। मोक्ष-मार्ग के कथन में बडे उपयोगी दृष्टान्त की योजना की है। वह इस प्रकार है—

बहिरात्मा—'मोक्ष-मार्ग' में जिस तत्व का कथन किया है उसे बहिरात्मा यथार्थ रूप से नहीं जानता। दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय में वह जीव में अजीव की तथा अजीव में जीव की कल्पना करता है। दुःख देनेवाले राग-द्वेषादि विभावों को वह सुखदायी समझता है। बहिरात्मा आत्म-तत्त्व से परावृत्त होकर कैसे संसार की गर्ता में पडता है इसका तर्कबद्ध वर्णन आ० पूज्यपाद ने इस ग्रंथ में किया है। बहिरात्मा की दृष्टि मुखी होती है। मनुष्य का शरीर प्राप्त करने पर वह अपनी आत्मा को मनुष्य मानता है, तिर्यंच गति में यदि जन्म हुआ तो स्वयं को तिर्यञ्च मानता है, परन्तु इस बात को नहीं जानता है कि ये कर्मोपाधि से होते हैं। स्वभाव दृष्टि से आत्मा का इन अवस्थाओं का कोई भी संबंध नहीं। आगे चल कर आचार्य कहते हैं कि वह अपने शरीर के साथ स्त्री-पुत्र मित्रादिक के शरीर से अपना संबंध जोडता है। इस लिए वह उनको उपकारक मानता है, उनकी रक्षा का प्रयास करता है। उनकी वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता है, यह मूढात्मा इनमें व्यर्थ ही निजत्व की बुद्धि होने से आकुलित होता है। वह शरीर को ही आत्मा मानता है इस लिए जबतक इस देह में आत्मबुद्धि नहीं छुटती तब तक निराकुल निजानन्द रस का आस्वाद नहीं होता। संयोग-वियोग में हर्ष विषाद करता है व संसार बढाता है। संसार दुःख का मूल कारण यह देहबुद्धि ही है। कहा है कि—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिर्व्यापृतेन्द्रिया॥

आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना हो तो आचार्यजी ने मानव की व्यावहारिक भूमिका का विचार कर यह सूचित करने का प्रयत्न किया है कि बाह्य जल्प का त्याग कर अन्तरंग जल्प को भी पूर्ण छोडना चाहिए।

यहां आचार्यजी ने समाधि या योग शब्द प्रयोग किया गया है। योग का अर्थ है कि जहां अन्तरंग जल्प को हटाकर उपयोग की आत्मा में एकाग्रता का संपादन किया जाता है। ऐसा योग ही परमात्मा का प्रकाशक है अर्थात इन्द्रिय प्रवृत्ति से हट कर निजस्वरूप में लीन होना व शुद्धरूप का साक्षात्कार करना ही समाधि है—

एष योगः सभासेन प्रदीपः परमात्मनः।

आचार्यजी ने इस बातका विवेचन बडे पद्धति से किया है। हम जहाँ बात करते हैं, वह इन्द्रियों के माध्यम से। जो जानने वाला है वह दिखाई नहीं देता तथा जो रूप दिखाई देता है वह चेतनारहित होने से कुछ भी नहीं जान सकता है अतः मैं किससे बात करूँ? यह समझना भी हमारी मूर्खता है कि हम किसी को आत्मतत्व समझाने का प्रयत्न करते है या किसी के द्वारा स्वयं समझने का प्रयास करते हैं। यह तो उन्मत्त पुरुष जैसा व्यवहार कहा गया है।

अतः जब तक इस जीव को शुद्ध चैतन्य रूप अपने निज-स्वरूप की प्राप्ती नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ निद्रा में पडा हुआ सोता रहता है। परन्तु जब अज्ञानभावरूप निद्रा का नाश होता है तब शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है।

समाधि की प्राप्ती

समता ही समाधि का प्रमुख स्रोत है। आत्मज्ञानी विचार करता है कि शत्रु मित्र की कल्पना परिचित व्यक्ति में ही होती है। आत्मस्वरूप को न देखनेवाला यह अज्ञानी जीव न मेरा शत्रु है, न मित्र है, तथा प्रबुद्ध प्राणी न मेरा शत्रु है न मित्र। इसलिए इसका विचार कर 'सो-हं'—अनन्तज्ञान रूप परमात्मा ही मैं हूँ, इस संस्कार की दृढता से ही चैतन्य की स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरता से समत्व प्राप्त होता है। आत्मा की शरीर से भिन्नता की अनुभूति निर्वाण पद की आधारशिला है।

मुक्ति का मार्ग

आचार्यजी ने मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो सुगम उपाय बताए हैं वे वास्तविक हमें स्वच्छ दृष्टि प्रदान करने में समर्थ हैं। मनरूपी जलाशय में अनेक राग-द्वेषादि तरंग उठते हैं, जिस वस्तु का स्वरूप स्वच्छ नहीं दिखाई देता है, सविकल्प वृत्ति के द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं होता। वास्तव में निर्विकल्प अंतःतत्त्व ही आत्मतत्त्व है।

अनुभूति में मान-अपमान के विकल्प वहां नहीं होते, अतः इन्द्रियों के संयोग से निर्माण होनेवाले विकल्प ज्ञानी को छोडना चाहिए।

भेद विज्ञान आवश्यक

शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को यह विश्व विश्वास करने लायक लगता है। वह उसे ही सुन्दर मानता है। परन्तु आत्मदृष्टि सम्यग्दृष्टि को यह जगत स्त्रीपुरुषादि पर पदार्थों में विश्वास उत्पन्न नहीं होता, इसलिए.उसकी आसक्ति उन में नहीं होती।

अनासक्त अन्तरात्मा यह विचार करता है कि जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हूं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, परंतु इन्द्रियों का संयमित स्वरूप है। अविद्यारूप इस भौतिक अवडम्बर को त्याग कर वह विद्यामय ज्ञान–ज्योति में प्रविष्ट होता है। मूढात्मा व प्रबुद्धात्मा के प्रवृत्ति में बडा अन्तर होता है। मूढात्मा बाह्य पदार्थों में रत होता है। प्रबुद्धात्मा इन्द्रिय व्यापार को हटाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है। वस्त्र फटा तो आत्मा को वह वैसा नहीं मानता अथवा वस्त्र जीर्ण हुआ या नष्ट हुआ तो आत्मा को वैसा नहीं मानता है। निस्पन्दात्मा, वीतरागी वह शान्ति–सुख का अनुभव करता है। अतएव जिसके चित्त में अचल आत्मस्वरूप की धारणा है उसे मुक्ति प्राप्त होती है। आचार्यजी का यहां तक कथन है कि जो लोक व्यवहार में सोता है वह आत्मा के विषय में जागता है—अनुभव करता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्मा के विषय में सोता है। इस प्रकार आत्मजागृति ही वास्तविक जागृति है। जटाधारी तपस्वी होकर शरीराश्रित होने से वह संसार की वृद्धि करता है। बाह्य वेष से मुक्ति प्राप्ति होती है यह मानना हठ है। जहां त्याग की आवश्यकता है वहां भोग की कल्पना कैसे की जा सकती है—अतएव द्वेषबुद्धि उत्पन्न होती है।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्रमोहिनः॥

अतएव अभिन्न आत्मा की उपासना श्रेष्ठ है। अन्तरात्मा को प्राप्त कर ही एकमेव आत्ममय परमतत्व प्राप्त हो जाना है। वह उपादेय है। भगवान् परमात्मा शक्ति रूप से वास्तव में अपने स्वरूप में विद्यमान है, उसे बाहर अन्वेषण करने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्तरात्मा उसे खोजकर बहिरात्मता छोडकर उसकी उपासना द्वारा भगवान् परमात्मा को प्राप्त करता है। परमात्मतत्त्व उपास्य, ग्राह्य है, आराध्य है तथा अन्तरात्मतत्त्व उपासक साधक है। वहिरात्मता तो हेय, त्याज्य है।

निष्कर्ष : दिव्यदृष्टि की प्राप्ति

इस प्रकार मैंने इस ग्रन्थ का गत कई वर्षो से आलोढ़न–मनन–चिन्तन किया व तदुपरान्त मैंने यह अनुभव प्राप्त किया है कि संसारी दुःखी मानव को आत्मा का स्वरूप प्राप्त करना हो तो उसे भेद–विज्ञान की आवश्यकता है। तदनन्तर ही आत्मा में आत्मा लीन कर परमात्मा की अवस्था प्राप्त होती है। आत्म–स्वरूप को कैसे प्राप्त हो यह ग्रन्थकार ने अतीव सरल सरस पद्धति से प्रतिपादित किया है। इस दृष्टि से समाधिशतक एक ऐसी महान कलापूर्ण (अध्यात्म–कला) रचना है जहां आचार्य प्रवर ने अध्यात्म जैसे गूढ एवं गंभीर विषय को बडी रोचकता से प्रतिपादित किया है। आत्मदृष्टि की प्राप्ति करना ही नई ज्योति प्रदान करना है। यह दिव्य दृष्टि प्रदान करने में समाधिशतक इस महान अध्यात्म ग्रन्थ का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है। यह बात स्वानुभाव से ही प्रतीत हो सकती है।

आयुर्वेद जगत् में जैनाचार्यों का कार्य

श्री. विद्यावाचस्पति पं. वर्धमान पा. शास्त्री, सोलापूर

जिस प्रकार न्याय, व्याकरण, सिद्धांत साहित्य में जैनाचार्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियां उपलब्ध हैं, उसी प्रकार आयुर्वेद, ज्योतिष आदि विषयों में भी उनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। अनेक रचनाएँ अप्राप्य हैं, जो उपलब्ध हैं उनका भी समुचित समुद्धार नहीं हो सका। इसमें एक कारण यह भी हो सकता है कि वैद्यक एवं ज्योतिष विषय कभी-कभी लोगों को उपयोग में आनेवाले हैं, दैनन्दिन जीवन के उपयोगी नहीं हैं, ऐसी धारणा भी लोगों की होसकती है, परंतु यह समुचित नहीं है। स्वास्थ्य के अभाव में मनुष्यजीवन बेकार है। प्रतिकूलता के सद्भाव से सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। यहां पर हमें केवल आयुर्वेद के सम्बन्धी ही विचार करना है। आयुर्वेद जगत् में जैनाचार्यों ने क्या कार्य किया है? और उसकी महत्ता व आवश्यकता कितनी है? उनके प्रकाशन की कितनी आवश्यकता है इन बातों का विचार हम संक्षेप से करेंगे।

आयुर्वेद भी अंग-निर्गत है।

जिस प्रकार न्याय, दर्शन व सिद्धांतों की परंपरा में प्रामाणिकता है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की परंपरा में भी प्रामाणिकता है। यह कोई कपोलकल्पित शास्त्र नहीं है, अपितु भगवान् की दिव्य ध्वनि से निर्गत अंगपूर्व शास्त्रों की परंपरा से ही श्रुति व स्मृति के रूप में इसका प्रवाह चालू है, अतः प्रामाणिक है। जैनागम में प्रामाणिकता स्वरुचि-विरचितत्व में नहीं है, अपितु सर्वज्ञ प्रतिपादित होने से है। सर्वज्ञ परमेष्ठी के मुख से जो दिव्यध्वनि निकलती है उसे श्रुतज्ञान-सागर के धारक गणधर परमेष्ठी आचारांग आदि बारह भेदों में विभक्त कर निरूपण करते हैं, उनमें से बारहवें अंग के चौदह उत्तर भेद हैं, उन चौदह पूर्व के भेदों में प्राणावाय नामक एक भेद है, इस प्राणावाय पूर्व का लक्षण करते हुए आचार्य लिखते हैं कि—

"कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः
प्राणापानविभागोवि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्।"

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष, व चिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, पृथ्वी आदि पंचभूतों की क्रिया, जहरीले जानवर, व उनकी चिकित्साक्रम आदि एवं प्राणापान का विभाग भी जिसमें विस्तार के साथ वर्णित है उसे 'प्राणावाय पूर्व' कहते हैं, इस प्राणावाय पूर्व के आधार से ही जैनाचार्यों ने आयुर्वेद शास्त्र की रचना की है। इस विषय को कल्याणकारक के रचयिता महर्षि उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ में स्पष्ट किया है, वह इस प्रकार है—

सर्वार्धाधिक मागधीय विलसद्भाषाविशेषोज्वल-
प्राणावाय महागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः ।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुर्गुणैः सद्भासि सौख्यास्पदम्
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवा नित्येष भेदस्तयोः ॥ अ. २५, श्लोक ५४

इसका भाव यह है कि सर्वार्ध मागधी भाषा से सुशोभित गंभीर प्राणावाय शास्त्र से संक्षिप्त संग्रह कर संस्कृत में उग्रादित्य गुरु ने इस ग्रंथ की रचना की है, उन दोनों में संस्कृत और मागधी भाषा का भेद है, अन्य कोई भेद नहीं है। इसलिए जैनाचार्यों ने किसी भी भाषा में आयुर्वेद शास्त्र की रचना की हो उसमें प्रामाणिकता की दृष्टि में समानता है, प्रमेय की दृष्टि में भी कोई अंतर नहीं है, अंतर केवल भाषा का है। भाषा के भेद से कृति की प्रामाणिकता में कोई अंतर नहीं पडता है। अतः यह आयुर्वेद शास्त्र द्वादशांग का ही एक अंग है, अंग-निर्गत होने से सर्वतः प्रमाण है।

आयुर्वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

आयुर्वेद शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में भी जैनाचार्यों की स्वतंत्र कल्पना है, और उसका इतिहास भी परंपरागत है। आयुर्वेद शास्त्रकार जैनाचार्यों ने सबसे पहिले अपने ग्रंथ में भगवान् वृषभदेव को नमस्कार किया है, तदनंतर लिखते हैं कि—

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना ।
सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम् ।
सप्रश्रयाः त्रिकरणोरुत्कृत प्रणामाः ।
प्रप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः ॥

श्री वृषभदेव के समवशरण में भरतेश्वर आदि महा पुरुषों ने पहुंचकर विनय के साथ वंदना करते हुए प्रश्न किया कि भगवन् ! पहिले भोगभूमि के समय में मानव कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। वहां के सुख का अनुभव कर बाद स्वर्ग में पहुंच कर वहां भी खूब सुख भोगते थे, वहां से मनुष्य भव को पाकर पुण्य कर्म के बल से अपने इष्ट संपदा व स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन् ! अब तो कर्मभूमि की स्थिति आगई है, जो चरम शरीरी है, उपपाद जन्म के धारक है, उनको तो अब भी अपमरण नहीं है, परंतु ऐसे भी बहुत से मानव पैदा होते हैं जिनकी आयु दीर्घ नहीं होती, उनके शरीर में वात पित्त कफादि का उद्रेक होता रहता है, उनके द्वारा कभी उष्ण व शीत काल में मिथ्या आहार विहार का सेवन किया जाता है, इसलिए वे अनेक प्रकार के रोगोंसे पीडित होते हैं, और कभी कभी अपमृत्यु के भी भागी होते हैं। इसलिए हे स्वामिन् ! उनकी स्वास्थ्य रक्षा का उपाय अवश्य बतावें, आप ही शरणागतों के रक्षक हैं। इस प्रकार भरतेश्वर के द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान् आदि प्रभु ने अपने दिव्यध्वनि के द्वारा पुरुष का लक्षण, शरीर शरीर का भेद, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा और कालभेद का बिस्तार से वर्णन किया, एवं तदनंतर गणधरों ने भी उसकी विस्तार से व्याख्या की, उसीके आधार पर उत्तर काल के आचार्यों ने आयुर्वेद ग्रंथों की रचना की।

इस विवेचन को लिखने का प्रयोजन यह है कि यह आयुर्वेद शास्त्र कोई लौकिक कामचलाऊ शास्त्र नहीं है। अपितु प्रमाणभूत आगम है। उसी दृष्टि से समादर पूर्वक उसका अध्ययन कर प्रयोग करना चाहिये। इस आगम से स्वपर कल्याण की साधना होती है, अतएव उपोदय है।

आयुर्वेद क्या है?

आयुर्वेद शास्त्र को वैद्य–शास्त्र भी कहते हैं, केवल ज्ञान को विद्या कहते हैं। केवल ज्ञान से उत्पन्न शास्त्र को वैद्य शास्त्र कहते हैं, इस प्रकार वैद्य शास्त्र की निरुक्ति है।

सर्वज्ञ तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट आयु संबंधी वेद को आयुर्वेद कहते हैं, इसके द्वारा मनुष्य को आयुसंबंधी समस्त विषय मालूम होते हैं, या उन विषयों को ज्ञात करने के लिए यह वेद के समान है, अतः इसे आयुर्वेद कहना सार्थक है।

आयुर्वेद का उद्देश अथवा प्रयोजन

जैनाचार्यों के जप, तप, संयमादि से बचे हुए समय को वे लोकोपकार करने के लिए उपयोग करते हैं। इसलिए लोकोपकार करने के उद्देश से ही इस शास्त्र की रचना होती है। इस आयुर्वेद शास्त्र–निर्माण के दो प्रयोजन हैं, एक तो स्वस्थ पुरुषों का स्वास्थ्य रक्षण व अस्वस्थ रोगियों का रोगमोक्षण, इस शास्त्र का उद्देश है।

स्वास्थ के विना कोई भी धर्म कार्य को भी करने में पूरा समर्थ हीं हो सकता है। चारित्र पालन, संयम ग्रहण आदि सभी स्वास्थ्यपर अवलंबित है। आयुर्वेद शास्त्रों का पारमार्थिक प्रयोजन सब से अधिक उल्लेखनीय है, आत्मचिंतन भी स्वस्थता के साथ होता है इसे भूलना नहीं चाहिये।

आयुर्वेद जगत् में जैनाचार्यों का कार्य

जैनाचार्यों ने जिस प्रकार अन्य सिद्धान्त, दर्शन शास्त्र आदि विभागों में ग्रन्थ रचना की है उसी प्रकार उनके द्वारा विरचित वैद्यक शास्त्र भी सुप्रसिद्ध है, परन्तु खेद है कि अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, हो सकता है कहीं प्राचीन ग्रन्थ भांडारों में दीमक के भक्ष्य बन रहे हो, संशोधन की आवश्यकता है। किन आचार्यों ने किन ग्रन्थों की रचना कि है इसे हम प्रकाशित वैद्यक ग्रन्थ के आधार से जान सकते हैं। अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हो जाए तो और भी अधिक प्रकाश इस सम्बन्ध में पड सकता है।

शकवर्ष ८ वें शतमान के प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ के कर्ता उग्रादित्याचार्य का कल्याणकारक ग्रन्थ प्रकाशित हुवा है। उसके ग्रन्थ में आयुर्वेद ग्रन्थों के रचयिता पूर्वाचार्यों का उल्लेख मिलता है।

उन्होंने एक जगह लिखा है कि—

शालाक्यं पूज्यपादं प्रकटितमधिकं शल्यतन्त्रं च पात्र
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।

कार्ये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनींद्रैः ॥

अ. २०, श्लोक ८५

पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्यतन्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की है, पात्र–स्वामी ने शल्यतन्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की है, प्रसिद्ध आचार्य सिद्धसेन ने विष व उग्र ग्रहों के शमन विधि का निरूपण किया है, दशरथ गुरु व मेघनाथ सूरि ने बाल रोगों की चिकित्सा सम्वन्धी ग्रन्थों का प्ररूपण किया है। सिंहनाद आचार्य ने शरीर बलवर्धक प्रयोगों का प्रतिपादन किया है, इनमें आचार्य पूज्यपाद व पात्र–स्वामीने शल्यतंत्र के संबंधी विस्तृत प्रकाश डाला प्रतीत होता है, शल्यतंत्र जो आज के युग में प्रगति को प्राप्त ऑपरेशन (Surgery) चिकित्सा है, अर्थात शस्त्रचिकित्सा है, कहीं कहीं संग्रह के रूप में वे प्रकरण उपलब्ध होते हैं, पात्रस्वामी, सिद्धसेन, मेघनाद, दशरथसूरि और सिंहनाद के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, अन्वेषण व अनुसंधान की आवश्यकता है।

महर्षि समंतभद्र ने भी वैद्यक विभाग में ग्रंथों की रचना की है, इस संबंध का उल्लेख कल्याणकारक में निम्न प्रकार है।

अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः
प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या
कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥ अ. २०, श्लोक ८६

आचार्य समंतभद्र ने अष्टांग आयुर्वेद नामक विस्तृत व गंभीर विवेचनात्मक ग्रंथ की रचना की है, उसीका अनुकरण कर मैंने इस कल्याण कारक को संक्षेप के साथ संपूर्ण विषयों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि उग्रादित्याचार्य के समय समंतभद्र का वह ग्रंथ अवश्य विद्यमान था। काश कितने महत्व का वह ग्रंथ होगा, हम बडे अभागी हैं कि उक्त ग्रंथ का दर्शन भी नहीं कर सके।

आचार्य समंतभद्र

आचार्य समंतभद्र का समय तीसरा शतमान माना जाता है, महर्षि पूज्यपाद के पहिले समंतभद्र हुए हैं, उनकी सर्वतोमुखी विद्वत्ता का वर्णन करना शब्दशक्ति के अतीत है। उनके द्वारा निर्मित सिद्धांत, न्याय के ग्रंथ जिस प्रकार गंभीर हैं उसी प्रकार वैद्यक ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण है। उनके द्वारा 'सिद्धांत-रसायन कल्प' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गई थी, वह ग्रंथ १८००० श्लोक परिमाण था, यद्यपि वह ग्रंथ आज समग्र उपलब्ध नहीं है तथापि यत्रतत्र उस ग्रंथ के बिखरे हुए श्लोक उपलब्ध होते हैं, जिनको भी संग्रह करने पर दो तीन हजार श्लोक सहज एकत्रित हो सकते हैं। अहिंसा प्रधान धर्म के उपासक होने से वैद्यक ग्रंथ में भी उन्होंने अहिंसात्मक प्रयोगों का ही प्रतिपादन किया है। औषधि–निर्माण में सिद्धांत असमर्थित विषयों को ग्रहण नहीं किया है, यह जैनाचार्यों के ग्रंथ की

विशेषता रही है। इसके अलावा अपने ग्रंथ में उन्होंने जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग व संकेत किया है, इसलिए ग्रंथ का अर्थ करते समय जैन सिद्धांत की प्रक्रिया को ठीक तरह से समझने की अत्यंत आवश्यकता है।* उदाहरण के लिए समंतभद्र के ग्रंथ में रत्नत्रयौषध का उल्लेख आता है। इसका अर्थ सामान्य वैद्य यही कर सकता है कि वज्रादि तीन रत्नों के द्वारा निर्मित औषध या भस्म। परंतु वैसा नहीं है। जैन सिद्धांत में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को रत्नत्रय के नाम से कहा है। वे जिस प्रकार मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र रूपी त्रिदोषों का नाश करते हैं, उसी प्रकार रस, गंधक व पाषाण, इन धातुत्रयों के अमृतीकरण से सिद्ध होनेवाला रसायन वात, पित्त व कफरूपी त्रिदोषों को दूर करता है। अतः इस औषध का नाम रत्नत्रयौषध है।

इसी प्रकार औषध निर्माण के प्रमाण में भी जैन मत के संकेतानुसार ही संख्याओं का निर्देश आप ने किया है। उदाहरण के लिए रससिंदूर निर्माण करने के लिए कहा गया है कि—

'सूतं केशरिगंधकं मृगनवासारद्दमम्'

इस वाक्य का अर्थ जैन सिद्धांत के ज्ञाता ही ठीक तरह से कर सकता है। जैन तीर्थंकरों के भिन्न भिन्न चिन्ह हैं, उन चिन्हों के संकेत से उस चिन्हांकित तीर्थंकरों की संख्या का यहां ग्रहण किया है। ऊपर के वाक्य में सूतं केसरि–अर्थात रस केसरी के प्रमाण में लो, अर्थात् केसरी नाम सिंह का है, सिंह चोबीसवें महावीर भगवान् का चिन्ह है। अर्थात केसरी से २४ संख्या लेनी चाहिए, गंधक मृग अर्थात हरिण जिस का चिन्ह है ऐसे सोलहवे शांतिनाथ का संकेत करता है, गंधक १६ भाग, इसी प्रकार अर्थ लेना चाहिये। समंतभद्र के ग्रंथों में इसी प्रकार के सांकेतिक अर्थ मिलेंगे, यह उनके ग्रंथ की एक विशेषता है।

उनके हर कल्पों के प्रयोग में भी जैन प्रायोगिक शब्दों का दर्शन हमें मिल सकेगा। जैन वैद्यक ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ को समझने के लिए जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र वैद्यक कोषों की भी रचना की है। उपलब्ध कोषों में आचार्य अमृतनंदि का कोष महत्त्वपूर्ण है, परन्तु वह अपूर्ण है, शायद आयु का अवसान होने से यह कृति अधूरी रह गई हो। वनस्पतियों के नाम को भी अनेक स्थानों में हम जैन पारिभाषिक शब्दों में ही देखेंगे। इस प्रकार समंतभद्र आचार्य ने आयुर्वेद विज्ञान का भी विपुल रूप से उत्थान किया है, उनके द्वारा विरचित एक विषवैद्यक ग्रन्थ हमने बंगलोर के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् विद्वान् श्री शशिकांत जैन के पास देखा था, जो सुन्दर ताडपत्र पर अंकित था। उसके अनेक प्रयोगों को क्रियात्मक रूप में प्रयोग कर श्री जैन ने सफलता प्राप्त की है, उनके कथन के अनुसार यह अद्भुत व अभूतपूर्व ग्रन्थ है। समंतभद्र के समग्र ग्रन्थों की प्राप्ति होने पर न मालूम किस प्रकार के सफल प्रयोग सामने आवेंगे? वह दिन समाज के लिए भाग्य का होगा।

समंतभद्र के पूर्ववर्ती ग्रन्थकार

परंपरा से वैद्यग्रन्थों की निर्मिति अति प्राचीन काल से चली आ रही है, इस में कोई संदेह नहीं है। इसलिए समंतभद्र ने अपने स्थान को सूचित करते हुए भल्लातकादि में जिन मुनि समंतभद्र

का निवास का अर्थात् भटकल के पास होन्नावर तालुका में यह गेरसप्पा स्थान है। वहां पर उनका पीठ था, इसलिए उनका निवास वहां कहा गया है। अपने ग्रन्थ में 'रसेंद्रं जैनागमसूत्रबद्धं' यह कहकर समंतभद्र ने अपने ग्रन्थ को पूर्व ग्रन्थों के सूत्रों का अनुकरण सिद्ध किया है, इससे समंतभद्र के पहिले भी जैन वैद्यक ग्रन्थों के निर्माता हुए हैं। और वे भटकल जिल्हा के होन्नावर के पास हाडुहल्ली (संस्कृत में संगीतपुर) के रहनेवाले थे, वहां पर उन्होंने अनेक वैद्यक ग्रन्थों की रचना की है। समंतभद्र को भी इसी कारण से वैद्यक ग्रन्थ निर्मिति की प्रेरणा मिली होगी।

पुष्पायुर्वेद

जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म होने से महाव्रतधारी मुनियों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि औषध निर्माण के कार्य में किसी भी जीव का घात न हो, किसी को भी पीडा नहीं पहुंचनी चाहिये, एकेंद्रिय प्राणियों का भी बुद्धिपुरस्सर घात न हो इस का भी ध्यान रखा गया है। अतः पुष्पायुर्वेद ग्रन्थ का निर्माण किया गया।

आयुर्वेद ग्रंथकारोंने जिस प्रकार वनस्पतियों को अपने ग्रंथों में स्थान दिया उसी प्रकार पुष्पायुर्वेद में केवल परागरहित पुष्पों को स्थान मिला है। पुष्पायुर्वेद में १८ हजार जाति के केवल पुष्पों के उपयोग से ही औषधि निर्माण की प्रक्रिया बताई गई है, यह पुष्पायुर्वेद इस्वी सन् पूर्व ३ रें शतक की रचना है, प्राचीन कन्नड लिपी है जो बडी कठिनता से बांचने में आती है। इतिहास संशोधकों के लिए यह जैसी अनूठी चीज है, उसी प्रकार आयुर्वेद जगत् के लिए अपूर्व वस्तु है। इस दिशा में जैनाचार्यों के सिवाय किसीने भी कार्य नहीं किया है, यह आज हम निस्संदिग्ध रूप में कह सकते हैं।

समंतभद्र गेरसप्पा में रहते थे, आज भी वह ज्वालामालिनी देवी का प्रसिद्ध सातिशय स्थान है, विशालचतुर्मुख मंदिर है, जंगल में यत्र तत्र मूर्तियां बिखरी पडी हैं। दर्शनीय स्थान है, दंतकथा के आधार पर इस स्थान में एक रसकूप है जो कि सिद्धरस का है। कलियुग में धर्मसंकट उपस्थित होने पर इस रसकूप का उपयोग हो सकता है, ऐसा कहा गया है। उस रसकूप के स्थान को देखने के लिए सिद्ध सर्वांजन का प्रयोग करना चाहिए, उस सर्वांजन के निर्माण की विधि पुष्पायुर्वेद में है। इस अंजन में प्रमुख पुष्प उस प्रांत के जंगल में प्राप्त होते हैं यह भी कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि महर्षि समंतभद्र के पहिले भी आयुर्वेद के निर्माता अनेक ग्रंथकार हुए हैं। परंतु आज उनकी कृतियों का अन्वेषण व अनुसंधान करने की महती आवश्यकता है। संशोधन, अन्वेषण व अनुसंधान विभाग का निर्माण कर कई विद्वानों से इस कार्य को कराने की आवश्यकता है।

महर्षि पूज्यपाद

आचार्य समंतभद्र के बाद इस विषय में कदम बढानेवाले महर्षि पूज्यपाद का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। अनंतर के महर्षियों ने भी पूज्यपाद का नाम बडी पूज्यता के साथ लिया है। इस दिशा में पूज्यपाद के कार्य भी उल्लेखनीय हैं।

महर्षि पूज्यपाद भी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने व्याकरण शास्त्र की रचना की है, सिद्धांत ग्रंथ की वृत्ति लिखी है। उसी प्रकार आयुर्वेद विषय में भी उनका प्रभुत्व था। उत्तर ग्रंथकारों ने पूज्यपाद की कृतियों का उल्लेख कर उनकी बडी प्रशंसा की है। आचार्य शुभचंद्र ने पूज्यपाद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जिनके वचन या ग्रंथ मन, वचन व काय के कलंक को दूर करते हैं उस पूज्यपाद को हम नमस्कार करते हैं। मन, वचन, काय के कलंक को दूर करने के अभिप्राय को कन्नड कवि पार्श्व पंडित ने अपने ग्रंथ में स्पष्ट किया है।

"सकलोर्वी नुत पूज्यपाद मुनिपं तां पेळ्द्र कल्याणद्राकारक दिं देहद दोषमं वितन वाचा दोषमं शब्दसाधक जैनेंद्रदिती जगज्जनद-मिथ्या-दोषमं तत्त्वबोधक तत्त्वार्थदवृत्तियिंदे कलेदं कारूण्य दुग्धार्णवम् ॥"

सर्व लोक के द्वारा पूज्य श्री पूज्यपाद ने कल्याणकारक वैद्यक ग्रंथ से देह के विकार को, वचन के दोष को जैनेंद्र व्याकरण से, एवं चित्त के मिथ्यात्व दोष को तत्त्वबोधक तत्त्वार्थ की वृत्ति सर्वार्थसिद्धि से दूर किया। इस प्रकार पूज्यपाद के द्वारा भी कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। परंतु समग्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है, त्रोटक प्रकरण कहीं कहीं उपलब्ध होते हैं।

संपूर्ण ग्रंथ की उपलब्धि न होने पर भी यह निस्संदेह कह सकते हैं कि पूज्यपाद का आयुर्वेद शास्त्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण व प्रामाणिक था। क्यों कि उत्तर काल के अनेक वैद्यक ग्रंथकारों ने पूज्यपाद के ग्रंथ का आश्रय लेकर अपने ग्रंथ की रचना की। कन्नड, तेलगू, तामिल आदि विभिन्न भाषा के ग्रंथकारों ने भी पूज्यपाद की कृति को आधार बनाकर 'श्रीपूज्यपादोदितं,' 'पूज्यपादने भाषितं' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पूज्यपाद के द्वारा प्रतिपादित प्रयोग नितरां प्रामाणिक है, ऐसा उस समय माना जाता होगा। इसलिए वे पूज्यपाद का नाम लेने में अपना गौरव समझते होंगे।

पूज्यपाद के द्वारा रचित ग्रंथ के कुछ भाग जो उपलब्ध होते हैं, उनका भी संग्रह किया जावे तो कई हजार श्लोक प्रमाण संग्रहित हो सकते हैं। इसके लिए अनेक भाषाओं में प्रकाशित वैद्यक ग्रंथ एवं अप्रकाशित कुछ संग्रहों के अवलोकन की आवश्यकता है।

पूज्यपाद ने कल्याणकारक व शालाक्य तन्त्र के अलावा वैद्यामृतं नामक वैद्यक ग्रंथ का भी निर्माण किया था, शायद यह ग्रंथ कन्नड भाषा में होगा। पूज्यपाद के उत्तरकालवर्ती गोम्मटदेव मुनि ने उक्त वैद्यामृत का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। इसलिए पूज्यपादाचार्य की कृतियों की प्रतियां अनेक भाषाओं में होंगी, इसमें भी कोई शंका नहीं है।

इस दृष्टि से आयुर्वेद जगत् में पूज्यपाद आचार्य ने भी बहुत बडा योगदान दिया है। वे इस विभाग के चमकते हुए सूर्य सिद्ध हुए हैं। उनकी उपकृति के लिए जैन समाज चिरऋणी रहेगा।

पूज्यपाद के बाद के वैद्यक ग्रंथकार

पूज्यपाद के बाद गोम्मटदेव मुनि नामक ग्रंथकर्ता हुए हैं। इन्होंने आयुर्वेद विषयक मेरुतन्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की है। अपने ग्रंथ में उन्होंने प्रत्येक परिच्छेद के अंत में आचार्य पूज्यपाद का आदर के साथ स्मरण किया है।

सिद्ध नागार्जुन

कहा जाता है कि यह पूज्यपाद के भानजे थे। इन्होंने नागार्जुन कल्प, नागार्जुन कक्षपुट आदि वैद्यक ग्रंथों का निर्माण किया था। इसके अलावा इन्होंने 'वज्रखेचर घुटिका' नाम की सुवर्ण बनाने की मणि तयार की थी। यह मणि अनर्घ्य व बहुमूल्य साध्य थी, इसलिए इस मणि की सिद्धि के लिए राजासे सहायता की अपेक्षा की। राजाने पूछा कि सिद्ध न होने पर क्या होगा? तब नागार्जुन ने धैर्य के साथ कहा कि यदि मणि सिद्ध नहीं हुई तो मेरी दोनों आखों को निकलवा दीजियेगा, राजाने मंजूर कर विपुल धनराशि इसके लिए दी और कई महिनों की अवधी दी। करीब बारह महिनों बाद यह रत्न सिद्ध हुआ। गुटिका के रूपमें स्थित उस मणिपर नागार्जुन ने अपने नामकी मुद्रा लगाई और उन मणियों को नदी के पानी से धो रहे थे कि हाथ से फिसलकर नदी में तीनों मणियां गिरी, मछलीने निगलली, वह मछली एक वेश्या के हाथ पडी, चीरने पर ये तीनों रत्न मिले। हर्षित होकर वह वेश्या अपने दिवानखाने के झूलेपर ले जाकर उन रत्नों को रखा तो झूलेकी लोह शृंखला सुवर्ण की बन गई। इधर राजा ने प्रतिज्ञा के अनुसार नागार्जुन की आंखें निकलवाई। नागार्जुन अंधे होकर अब देशांतर चले गये। उधर वेश्या ने रोज लोहे को सोना बनाना प्रारंभ किया। पर्वतप्राय सुवर्ण से वह क्या करती? अनकों अन्नछत्रादिकों को निर्माण कर करोडों मुद्राओंका व्यय किया, रत्नों पर नागार्जुनका नाम देखकर, उन अन्नसत्रों का नाम भी नागार्जुन अन्नसत्र रखा गया। नागार्जुन विहार करते करते जब वहां आये तो उन्हों ने नागार्जुन अन्नसत्र को सुनकर इस नाम का कारण क्या है यह पूछा। सारी बातें वेश्या से मालुम होगई। पुनश्च उन रत्नों को वेश्या से प्राप्त किया, उसीके प्रभाव से गई हुई नेत्रों को पुनः प्राप्त किया। राजसभा में पहुंचकर उन मणियों के चमत्कार को पुनः बताया।

यह सब लिखने का प्रयोजन यह है कि आयुर्वेद के प्रयोगों में अपरिमित महत्त्व है। उसके लिए सतत अध्यवसाय की आवश्यकता है।

उग्रादित्याचार्य

पूज्यपाद के अनन्तर आयुर्वेद ग्रंथकार जो हुए हैं उनमें श्री महर्षि उग्रादित्याचार्य का नाम बहुत आदर के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने कल्याणकारक नामक महत्त्वपूर्ण वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ करीब ५००० श्लोक प्रमाण से युक्त है। जैनाचार्य परम्परा के अनुसार ही इसमें भी किसी भी औषध प्रयोग में मद्य, मांस, मधु का प्रयोग नहीं किया गया है। इस ग्रंथ मं पच्चीस परिच्छेद हैं। पच्चीस

परिच्छेदों में विभक्त ग्रंथ में विभिन्न रोग, प्राप्ति, निदान, पूर्वरूप, चिकित्सा आदि का सुन्दर क्रम से वर्णन किया गया है। हजारों रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में है। भिन्न भिन्न अधिकारों का विभाग कर विषयवर्णन किया गया है ८ वें शतमान के माने हुए आयुर्वेद के उग्रादित्याचार्य के द्वारा निर्मित इस ग्रंथ की जैनेतर विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। वैद्यपंचानन पं. गुणे शास्त्री ने रस ग्रंथ पर विस्तृत प्रस्तावना लिखकर इस ग्रंथ का परमादर किया है।

आयुर्वेद संबंधी विषयों से परिपुष्ट महत्त्वपूर्ण कृति जो उपलब्ध हुई है वह कल्याणकारक है, जैनाचार्य उग्रादित्य के द्वारा विरचित है, जो राष्ट्रकूट राज्य के राजा अमोघवर्ष प्रथम और चालुक्य नरेश कलिविष्णुवर्धन पंचम के समकालीन थे। ग्रंथ का प्रारंभ आयुर्वेद तत्त्व के प्रतिपादन के साथ हुआ है, जो दो विभागों से विभक्त है, एक रोगप्रतिकार–दूसरा चिकित्सा प्रयोग। अंत के परिशिष्ट में एक लंबा परिसंवाद संस्कृत गद्य में दिया गया है जिसमें मांसाशन वगैरे की निस्सारता व अनावश्यकता को बताया गया है। यह भी कहा गया है कि यह परिसंवाद ग्रंथकार के द्वारा राजा अमोघवर्ष के दरबार में सेकडों विद्वान व वैद्यों की उपस्थिति में सिद्ध किया गया था।

इतना लिखने के बाद उग्रादित्याचार्य के विषय में या उनके ग्रंथ के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता है ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता, उनके द्वारा विरचित ग्रंथ से ही विशेष प्रकाश पड सकता है।

इसी प्रकार मल्लिषेण सूरि ने अपने विद्यानुशासन आदि मंत्र शास्त्रों में भी आयुर्वेद चिकित्सा का निरूपण किया है। मंत्र शास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र का बहुत निकट संबंध था। इसलिए भैरव पद्मावती कल्प, ज्वालामालिनी कल्प आदि मंत्र शास्त्रों में भी यत्र तत्र आयुर्वेद के प्रयोगों का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद विद्वान् को अपने शास्त्र में प्रवीण होने के लिए मंत्र, तंत्र, शकुन, निमित्त आदि शास्त्रों का भी अध्ययन करना चाहिये, रोगीयों की रोग परीक्षा के लिए सर्व दृष्टि से प्राप्त ज्ञान सफल सहायक हो सकता है, इसे नहीं भूलना चाहिये, अतः पूर्वाचार्यों ने आयुर्वेद के साथ अन्य ग्रंथ में का भी अध्ययन मनन किया है।

महर्षि उग्रादित्याचार्य ने सुश्रुताचार्य को स्याद्वादी के नाम से उल्लेख किया है, सुश्रुत ग्रंथ में जो चिकित्सा क्रम बताया गया है उसमें प्रायः सभी प्रयोग जैन प्रक्रिया से मिलते जुलते हैं, इसलिए उन्हें ग्रंथकार ने स्याद्वादी के नाम से उल्लेख किया हों, या यह भी हो सकता है कि सुश्रुताचार्य जैनाचार्य हों, पूज्यपाद के शल्यतंत्र का अनुकरण कर उन्हों ने ग्रंथरचना की हो, यह सब सूक्ष्म अनुसंधान करने पर ज्ञात हो सकते हैं। तथापि यह निस्संदिग्ध कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों का इस शास्त्र पर अद्वितीय अधिकार था एवं उनकी कृतियों का इस जगत् के अन्य ग्रंथ निर्माताओं के ग्रंथों में भी अमिट प्रभाव था। उस प्रभाव से ये ग्रंथकार अपने को बचा नहीं सकते थे।

कन्नड भाषा के जैन वैद्यक ग्रंथकर्ता

जिस प्रकार संस्कृत में वैद्यक ग्रन्थों की रचना अपने बहुमूल्य समय को निकालकर जैनाचार्यों ने की है उसी प्रकार अन्यान्य भाषाओं में भी वैद्यक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। तेलगू और तामिल भाषा

में भी जैन वैद्यक ग्रन्थों की रचना हुई है। केरळ की मलेयाली भाषा में भी वहां के विद्वानों ने वैद्यक ग्रन्थों की रचना की है। मलेयाल में आयुर्वेद के रस, रसायन, तैलादि का बहुत प्रचार है, तैलाभ्यंग की प्रक्रिया से कायाकल्प का प्रयोग आज के विद्वान भी वहां पर करते हैं, यह भुलाना नहीं चाहिये। वैद्यक और ज्योतिष दोनों विद्याओं का संगोपन मलेयाल में बहुत सावधानी के साथ किया गया है। इसके अलावा कन्नड ग्रन्थकारों ने भी वैद्यक और ज्योतिष सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है उनमें कई स्वतंत्र ग्रन्थ एवं कई तो संस्कृत ग्रन्थों के टीकात्मक ग्रन्थ हैं। उनका भी समुचित संशोधन, समुद्धार नहीं हो सका है। इस ओर समाज के चिंतकों को ध्यान देना चाहिये।

पूज्यपाद का कल्याणकारक कन्नड में

जगद्दल सोमनाथ कवि ने पूज्यपादाचार्य विरचित कल्याणकारक ग्रन्थ का कर्नाटक भाषा में भाषांतर किया है। यह ग्रन्थ भी बहुत महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडशज्वर निरूपण आदि अष्टांगों से युक्त है, यह ग्रन्थ कन्नड भाषा के उपलब्ध वैद्यक ग्रन्थों में सब से प्राचीन है। इस ग्रन्थ में सोमनाथ कवि ने पूज्यपाद का बहुत आदर के साथ उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है।

सुकरं तानेने पूज्यपाद मुनिगल मुंपेलद कल्याणका
रंकमवाहट सिद्धसार चरका सुत्कृष्टमं सद्गुणा
धिकमं वर्जित मद्य मांस मधुवं कर्णाटदिं लोकर
क्षकमा चित्र मदागे चित्र कवि सोमं पेल्द निंतल्तियिं ॥

यह काव्य भी सुन्दर है, प्रत्येक चरण के द्वितीयाक्षर में ककार को साधा गया है। ग्रंथकार ने स्पष्ट किया है कि आचार्य पूज्यपाद ने पहिले जो कल्याणकारक की रचना की है, जो वाग्भट, चरक आदि आयुर्वेद ग्रंथों से उत्कृष्ट है, जिस में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग वर्जित किया है, ऐसे लोकरक्षक, उत्तम ग्रंथ को मैंने कर्नाटक भाषा के विविध छन्दों में अत्यंत प्रेम के साथ निर्माण किया है, यह उपर्युक्त श्लोक का भाव है, इससे स्पष्ट है वाग्भट चरकादि ग्रंथ भी कवि सोमनाथ के समय विद्यमान थे।

इसी प्रकार कीर्तिवर्म ने गोवैद्य, मंगराज ने खगेंद्रमणिदर्पण नामक विष वैद्य, अभिनव चन्द्र ने हयशास्त्र नामक हयवैद्य (अश्वपरीक्षा व चिकित्सा), देवेंद्रमुनि ने बालग्रह चिकित्सा, अमृतनन्दि ने वैद्यक निघंटु आदि ग्रंथों की रचना कर इस विभाग की अपूर्व सेवा की है। इसी प्रकार जगदेव महामंत्रवादि श्रीधरदेव ने २४ अधिकारों से युक्त वैद्यामृत ग्रंथ की रचना की है। साथ ही साळव कवि के द्वारा विरचित रसरत्नाकर और वैद्य सांगत्य ग्रंथ भी कम महत्त्व के नहीं हैं। इस प्रकार कन्नड के प्रथितयश महाकवियों ने वैद्यक विषय में भी अपनी अमूल्य सेवा प्रदान की है।

जैन वैद्यक ग्रन्थों में अहिंसा प्रधान दृष्टि रखी गई है, यह हम पहिले कह आये हैं। खाओ, पिओ, मजा करो इस दृष्टि से ही जैनाचार्यों ने काम नहीं लिया है, अपने शरीर के स्वास्थ्य के लिए अन्य असंख्य जीवों की हत्या करना मानवता नहीं हो सकती है, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स मानवः,' यह

व्याख्या आज भी करने की आवश्यकता है। आहार की न्यूनता के नाम से सजीव प्राणियों का उत्पीडन मानव व्यवहार नहीं हो सकता है, एक अहिंसा धर्मप्रेमी, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति की सहुलियत के लिए अनेक जीवों का संहार किया जाय। आज तो मांसाहार प्रधान पाश्चात्य देशों में भी अनेक सुसमंजस सुबुद्ध विद्वान् मांस की निरुपयोगिता को सिद्ध कर रहे हैं।

आयुर्विज्ञान–महार्णव, आयुर्वेदकलाभूषण श्री शेष शास्त्री ने आयुर्वेद सम्मेलन के एक भाषण में सिद्ध किया था कि मद्यमांसादिक का उपयोग औषध प्रयोग में करना उचिन नहीं है। और ये गलिच्छ पदार्थ भारतीयों के शरीर के लिए कदापि हितावह नहीं हैं।

काशी हिंदु विश्वविद्यालय के आयुर्वेद समारंभोत्सव के प्रसंग में महामहोपाध्याय, विद्यानिधि कविराज श्री गणनाथ सेन एम्. ए. ने इन मद्यमांसादिक के प्रयोग का तर्कशुद्ध पद्धति से निषेध किया था।

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन कानपुर के अधिवेशन में कविराज श्री योगींद्रनाथ सेन एम्. ए. ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि अंग्रेजी औषध प्रायः मद्यमांसादिक से मिश्रित होते हैं अतः वे भारतीयों की प्रकृति के लिए अनुकूल नहीं हो सकते।

वनस्पतियों में अचिंत्य शक्ति है, इसे भारतीय आयुर्वेद ग्रंथकारों ने प्रयोगों से सिद्ध किया है। भारतीय वनस्पति ही भारतीयों के स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त हो सकती है।

क्या आचार्य समंतभद्र का भस्मक रोग आयुर्वेद औषधों से दूर नहीं हुआ? महर्षि पूज्यपाद व नागार्जुन को गगन–गमन–सामर्थ्य व गत नेत्रों की प्राप्ति आयुर्वेद औषधों से नहीं हुई? लोक में कठिन से कठिन माने जानेवाले रोगों की चिकित्सा आयुर्वेद पद्धति से हो सकती है तो उसके प्रयोगों में निंद्य व गर्ह्य ऐसे मांसादिक का प्रयोग कर अहिंसा धर्म का गला क्यों घोटा जाता है? सर्व प्राणिहित करने का श्रेय वैद्य विद्वानों को मिल सकता है, इस दृष्टि से जैन आयुर्वेद ग्रंथकारों ने अपने सामने विश्वकल्याण का ध्येय रखा है। औषधिप्रयोग में भी किसी भी जीव को पीडा न पहुंचे यह उनकी भावना कितनी बडी उदारता की द्योति का है यह हमारे वाचक विचार करें।

विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज का जन्म शताब्द वर्ष मनाया जा रहा है। आचार्य श्री ने अपने पावन जीवन में लोककल्याण का कार्य किया है। वैद्य यदि व्यवहार स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं तो आचार्य श्री ने पारमार्थिक स्वास्थ्य की रक्षा की है। व्यावहारिक स्वास्थ्य अस्थायी है, नश्वर है, विकृतिसंभव है, परंतु पारमार्थिक स्वास्थ्य स्थायी है, नित्य है, अविकृत व प्रकृतिदत्त है। जैन महर्षि उस पारमार्थिक स्वास्थ का ही उपदेश देते हैं। उसका लक्षण करते हुए आचार्य देव कहते हैं कि—

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं यदेतदात्यंतिकमद्वितीयम्।
अतींद्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्॥

आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न, अत्यद्भुत, आत्यंतिक व परमश्रेष्ठ, विद्वानों के द्वारा सदा अपेक्षित जो अतींद्रिय परमानंद है वही पारमार्थिक स्वास्थ्य है।

उस पारमार्थिक स्वास्थ्य को एवं उसके लिए परंपरा साधनभूत लौकिक स्वास्थ्य को प्राप्त करने का उपाय आयुर्वेद ग्रंथकारों ने, उसमें भी निर्दोष पद्धति को जैनायुर्वेद ग्रंथकारों ने प्रतिपादन किया है। व्यावहारिक स्वास्थ्य व पारमार्थिक स्वास्थ्य दोनों ही इस जीव को आवश्यक है।

इस दृष्टि से आचार्य कुंदकुंद से लेकर आचार्य शांतिसागर तक के महर्षियों ने संसार के जीवों को स्वास्थ्य रक्षण का उपाय बताते हुए महान उपकार किया है। इस दिशा में अनेक अनुपम कृतियों को निर्माण कर आज के अध्ययन प्रेमियों को चिरऋणी बनाया है। परंतु आज उन ग्रंथोंको अध्ययन करनेवाले, दुर्लभ होगये हैं तो प्रयोग करनेवालों का तो अभाव ही है। इसलिए निकट भविष्यमें भगवान् महावीर का २५०० वा निर्वाण महोत्सव मनाने के लिए जैन समाज जा रहा है, उसमें मुख्यतः जैनायुर्वेद व जैन ज्योतिष ग्रंथों का प्रकाशन कर जिनवाणी की यथार्थ सेवा करें। हमारी उपेक्षा यदि इसी प्रकार रही तो रही सही ज्ञान भंडार भी लुप्त हो जायगा, उनके अनेक रत्नों के दर्शन से हम वंचित हो जावेंगे। पीछे की पीढी के हाथ में पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नहीं आवेगा। हाथ में उन प्राचीन महर्षियों के अनर्घ्य व महत्त्वपूर्ण कार्य देखते देखते नष्ट हो जावेंगे जिसका उत्तरदायित्व हमपर रहेगा। इस अपराध के लिए कहीं भी क्षमा नहीं हो सकेगी।

इत्यलं विस्तरेण। आयुर्वेदो विजयतेतराम्। भद्रं भूयात्।